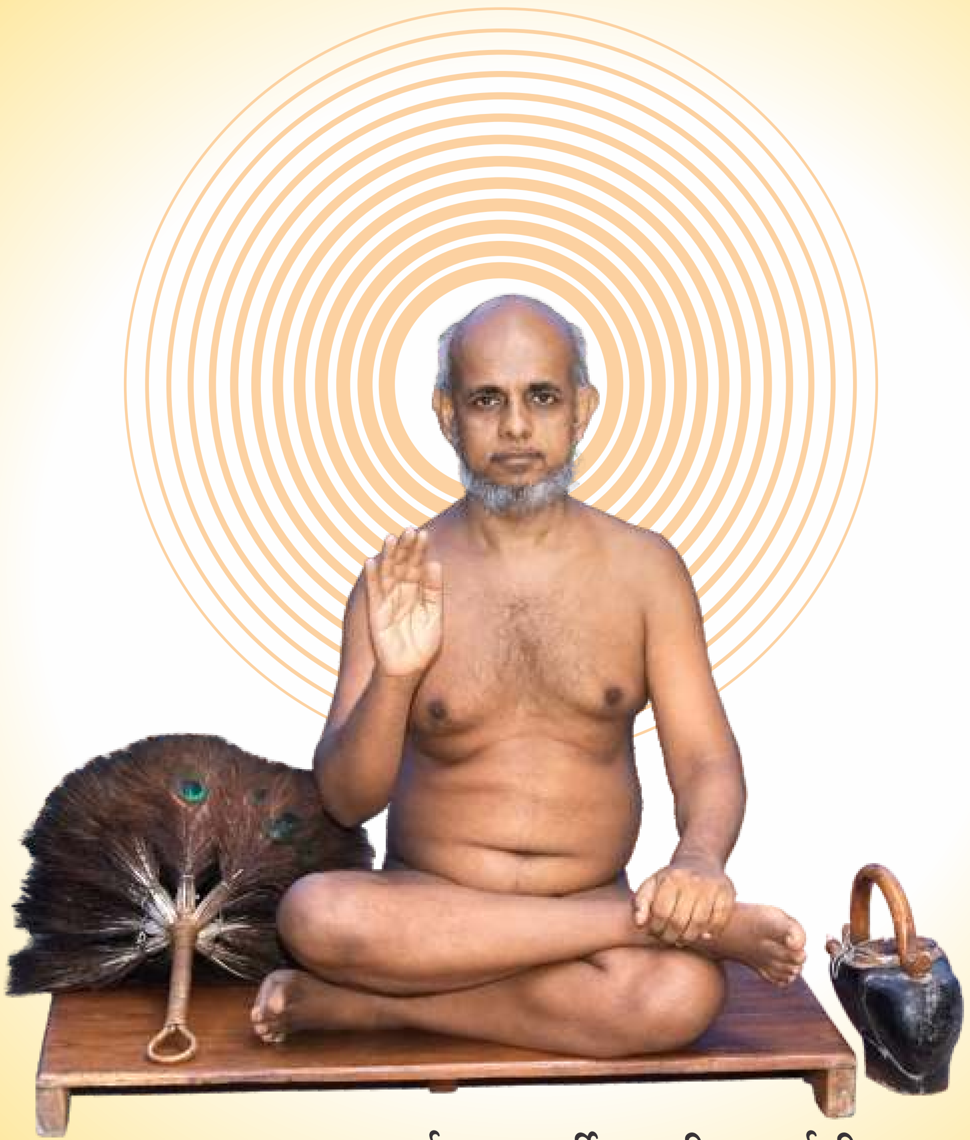

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19–03–1971 * मुनिदीक्षा–11–05–1989 * आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका

(कर्मकाण्ड एवं अर्थसंदृष्टि) भाग – 1

ग्रन्थकर्त्ता
परम पूज्य आचार्यश्री नेमिचन्द्र जी महाराज

अनुवादिका
डा. श्रीमती उज्ज्वला दि. शहा

सम्पादक
पं. दिनेशभाई शहा

प्रकाशक
वीतरागवाणीप्रकाशक, निर्मला निवास, मुंबई

(परम्परानायक)

परम पूज्य चारित्र–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त–शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

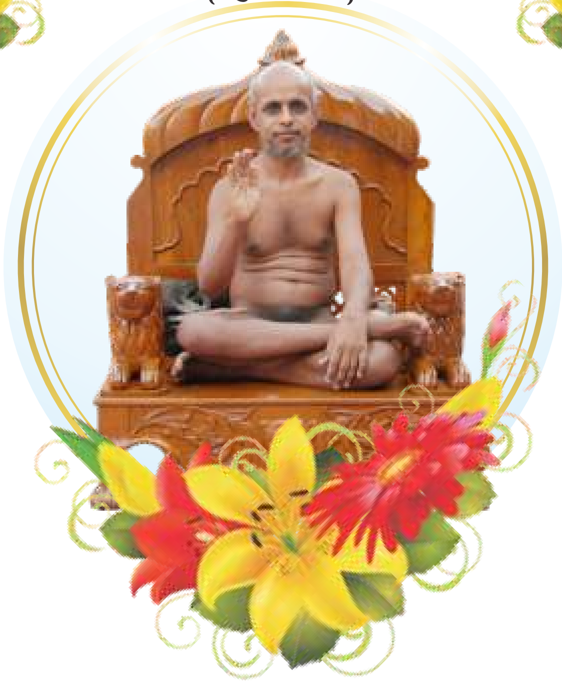

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्राय: होता है। फलत: उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तुत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि–परिवार

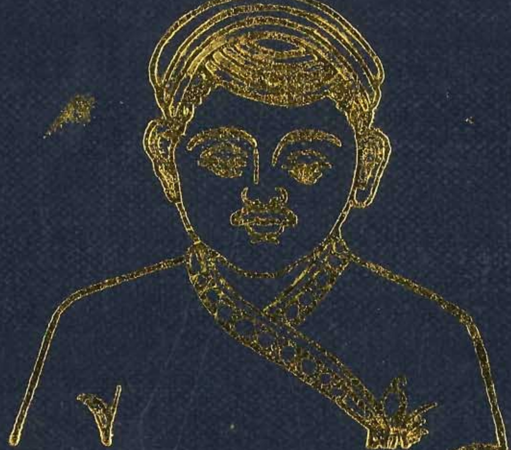

सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका

कर्मकाण्ड एवं अर्थसंदृष्टि

हिन्दी अनुवाद

भाग १

— अनुवादिका —

डॉ. श्रीमती उज्ज्वला दि. शहा

आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती विरचित गोम्मटसार कर्मकाण्ड की
पं. टोडरमलजी कृत भाषाटीका

सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका

(कर्मकाण्ड एवं अर्थसंदृष्टि)

का

हिन्दी अनुवाद

भाग १

— अनुवादिका —

डॉ. श्रीमती उज्ज्वला दि. शहा

एम.बी.बी.एस., डी.सी.एच., डी.जी.पी.

— सम्पादक —

पं. दिनेशभाई शहा

एम.ए., एल,एल.बी.

— प्रकाशक —

वीतरागवाणीप्रकाशक

१५७/९, निर्मला निवास, सायन (पूर्व), मुंबई ४०००२२

टेलि. २४०७३५८१

सम्यग्ज्ञानचकाण्ड एवं अर्थसंदृष्टि
टीका

प्रथम संस्करण ब्र, २००९ १६०० प्रत

काशन —

१) जैनतत्त्व परिचय - मराठी, हिंदी, गुजराती, इंग्लिश रु.१५
२) कारण कार्य रहस्य - मराठी, हिंदी, गुजराती, इंग्लिश रु.१५
३) करणानुयोग परिचय - मराठी, हिंदी, गुजराती रु.१५
४) पंचलब्धि - मराठी, हिंदी, गुजराती रु.१५
५) भक्तामरस्तोत्र प्रवचन - मराठी रु.१५
६) सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका जीवकाण्ड एवं - हिंदी रु.१२५
७) सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका कर्मकाण्ड एवं - हिंदी रु.१५०

स्थान —

वीप्रकाशक
१५७/९वास, सायन (पूर्व),
००२२
४०७३५८१
E mailhesh@yahoo.com

मूल्य रु. १५०/-
(भाग १ और २)

नेमिचन्द्र मुनिराज का अहो अहो उपकार ।
शिष्यों के प्रति करुणा कर लिख्खा गोम्मटसार ॥

जीवकाण्ड रु कर्मकाण्ड लब्धि-क्षपणासार ।
अद्‌भुत रचना हो गयी दिव्यध्वनी अनुसार ॥

चामुण्डराय ज्ञानी हुये कर्णाटक टीकाकार ।
जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका संस्कृतसार ॥

कन्नड लिपी में बद्ध था केशवकृत यह सार ।
टोडरमलजी ने कर दिया भाषा में विस्तार ॥

लिखा गणित को सरल कर संदृष्टि अधिकार ।
सब जन समझे इसीलिए खोला श्रुतभण्डार ॥

कठिन विषय को समझा कर हमें लगाया पार ।
जिनवाणी के मर्म की महिमा अपरम्पार ॥

जीवकाण्ड रु कर्मकाण्ड ग्रंथ बड़े विस्तार ।
सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका के ही ये अधिकार ॥

अनुवादित करके खुला मेरा भाग्य अपार ।
जिनवाणी की सेवा का अवसर बारम्बार ॥

'उज्ज्वल' अति मैं, भिन्न है कर्मबंध परिवार ।
कर्मकाण्ड पढ़ जीव करे भेदज्ञान अविकार ॥

— डॉ. श्रीमती उज्ज्वला शहा

MP3 सीडीज

(प्रत्येक सी.डी. में १२ घण्टों के प्रवचन हैं)

– पं. दिनेशभाई शहा –

१)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	७ सीडीज	११)	समयसार	७५ सीडीज
२)	बालबोध पाठमाला	४ ,,	१२)	पंचास्तिकाय*	६ ,,
३)	वीतराग विज्ञान	५ ,,	१३)	पंचाध्यायी*	८ ,,
४)	तत्त्वज्ञान पाठमाला	५ ,,	१४)	तत्त्वार्थसूत्र*	८ ,,
५)	गुणस्थान	५ ,,	१५)	योगसार	४ ,,
६)	रत्नकरंड श्रावकाचार	१३ ,,	१६)	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	१९ ,,
७)	मोक्षमार्ग प्रकाशक	२३ ,,	१७)	कारण कार्य रहस्य	१ ,,
८)	आत्मसिद्धि	१२ ,,	१८)	छहढाला	४ ,,
९)	नियमसार	३४ ,,	१९)	बृहद् द्रव्यसंग्रह	८ ,,
१०)	प्रवचनसार	५० ,,	२०)	अष्टपाहुड	२५ ,,

जैन सिद्धांत 1 - Visual DVD - 10 DVDs ● जैन सिद्धांत 2 - Visual DVD - 6 DVDs

गुणस्थान - Visual DVD - 10 DVDs

– डॉ. उज्ज्वला शहा –

१)	क्रमबद्धपर्याय	४ सीडीज	९)	संख्यामान	१ सीडीज
२)	करणानुयोग परिचय	३ ,,	१०)	सात तत्त्व	१ ,,
३)	निमित्त उपादान+पंचपरावर्तन	२ ,,	११)	लब्धिसार-क्षपणासार*	६ ,,
४)	पंचलब्धि	२ ,,	१२)	धवला(पु. १ से १६)	१०२ ,,
५)	पांच भाव	१ ,,	१३)	जयधवला(पु.१ से ९)	७६ ,,
६)	पांच भाव (तत्त्वार्थसूत्र)	१ ,,	१४)	योग	१ ,,
७)	प्रमाद के भेद	१ ,,	१५)	जैनभूगोल+१४ कलर चार्टस्	२० ,,
८)	षट्स्थानपतित हानि वृद्धि	१ ,,	१६)	सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका जीवकाण्ड	३० ,,

सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका जीवकाण्ड 1 - Visual DVD - 10 DVDs

सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका जीवकाण्ड 2 - Visual DVD - 6 DVDs

सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका कर्मकाण्ड - Visual DVD - 10 DVDs

*ये सीडीज 32 kbps की हैं ।

— प्रकाशकीय —

'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका जीवकाण्ड' शास्त्र जब हमने छपाया था उस वक्त मैंने ऐसी भावना भायी थी कि जिनवाणी की सेवा करने का सुअवसर हमें बारम्बार प्राप्त हो । और हमारा सौभाग्य देखो, कुछ ही दिनों में 'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका कर्मकाण्ड' छापने का सुअवसर प्राप्त हो रहा है ।

कोई भी अच्छा काम करो तो वह पूरा होता ही है । लेकिन इस वक्त न जाने कितनी ही रुकावटें, अड़चनें आयी उसका हिसाब नहीं । 'मैं जो काम हाथ में लेता हूँ वह जल्द से जल्द पूरा कर सकता हूँ' ऐसा जो वृथा अभिमान मुझे था वह चूरचूर हो गया और गहराई से पता लगा कि पर का कार्य मेरे से नहीं होता तो मैं क्यों अधीरा हो रहा हूँ ? लेकिन आखिर यह काम पूरा होना ही था और जो हुवा वह आपके सामने है।

इस शास्त्र की छपाई में श्री विनोदभाई सावला का पूरापूरा सहयोग रहा । ना केवल उन्हों ने कर्मकाण्ड के पहले भाग के डी.टी.पी.का काम किया लेकिन शास्त्र छापने में जो कठिनाईयां आती हैं उससे पार होकर उन्होंने जिनवाणी की सेवा में कोई कसर नहीं छोड़ी। उनके लौकिक जीवन में जिनवाणी की जो अमिट छाप है उसका द्योतक उनका यह कार्य है ।

अर्थसंदृष्टि के डी.टी.पी.का काम करने के लिये कम से कम पांच व्यक्ति अखाड़ा छोड़कर भाग गये। एक ने तो छह महिने के बाद मेरे से यह काम नहीं होगा कहकर नौ दो ग्यारह किया । इसके पश्चात् हमें श्री. विठ्ठल चोडणकर मिले । उन्हों ने अतिशीघ्र याने एक महिने में अर्थसंदृष्टि और एक महिने में कर्मकाण्ड भाग २ का अहोरात्र मेहनत करके डी.टी.पी. का काम पूर्ण किया । उन्हों ने बहुत ही सराहनीय काम किया है, इसलिए यह शास्त्र इतने जल्द आपके सामने प्रस्तुत करने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ ।

वास्तविक यह शास्त्र इससे भी पहले छप जाना चाहिये था लेकिन बहुत देरी हो गयी - इसका एक फायदा अवश्य हुआ कि हम कर्मकाण्ड शास्त्र छपवा रहे हैं यह बात देशविदेश में फैल गयी और सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका जीवकाण्ड के समय में हमने किसी से कोई आर्थिक सहाय नहीं लिया था, मानो इसका बदला लेने के लिये उत्स्फूर्तता से याने बिना मांगे हमें दातारों ने अधिक मात्रा में आर्थिक सहयोग दिया ।

मजे की बात देखो, एक बहन ने हम पर आरोप किया कि आप दोनों बहुत लोभी हो, आप दोनों ही सभी पुण्य कमाना चाहते हो । कम से कम शास्त्र छपाने में दान देकर हम अनुमोदना तो करे ! सच देखा जाये तो पुण्योपार्जन करने के लिये थोड़े ही हम किसी से दान नहीं ले रहे थे ? अपने पैसों का सही विनियोग हो ऐसी हमारी भी भावना हो सकती है ना ?

हम दोनों सभी दाताओं के ऋणी हैं । आशा करते हैं कि ऐसा ही जिनवाणी के प्रति उनका स्नेह बढ़ता ही रहे ।

जिन लोगों ने यह शास्त्र छपाने में हमारी मदद की है उन सबका आभार मानते हुये विराम लेता हूँ।

— पं. दिनेशभाई शहा

— दातारों की नामावली —

५७०००	दिगम्बर जैन कुन्दकुन्द कहान स्वाध्याय भवन, इन्दौर (४४ सहयोगी)
५०२६२	श्री जयप्रकाश-शिल्पा शहा, यु.एस.ए.
४८१७५	एक मुमुक्षु, यु.एस.ए.
२५००१	श्रीमती लक्ष्मी शशांक शहा, मुंबई
२५००१	श्रीमती सुशीला जयंतिलाल गाला, मुंबई
११०००	श्री अनंतराय अमुलख सेठ, मुंबई
११०००	श्री नीलेश शाह, मुंबई
११०००	श्री संदीप शिसोदिया, दुबई
११०००	श्रीमती प्रेरणा अश्विन शाह, मुंबई
१००००	सौ. चारुशीला विजय दोशी, मुंबई
१००००	श्री नवीन-इन्दिरा जोबालिया, मुंबई
१००००	श्री गांगजी गाला, देवलाली
१००००	श्री आदिनाथ-सौ.सुमनबाई काळे, रिसोड
५०००	श्री नितीन चिमनलाल शाह, मुंबई
५०००	श्री जीतेन्द्रप्रकाश दोशी, मुंबई
५०००	श्री नीरेन-जया नागडा, यू.एस.ए.
५०००	श्री आर्जव, पूजा, पिनांग शाह, मुंबई
३०००	श्रीमती मंदा मेहता, मुंबई
३०००	होशंगाबाद स्वाध्याय ग्रुप (५ सहयोगी)
२५००	श्री अशोक-आरती घिया, मुंबई

२५००	श्रीमती जया शांतिलाल गडा, मुंबई
२५००	डॉ. सरला एल. विसरीया, मुंबई
२५००	श्रीमती दिव्या मेहता, मुंबई
२३००	डॉ. श्री शिरढोणे बी.ए., मिरज
२०००	श्रीमती पानादेवी मोहनलाल सेठी, गोहाटी
१५००	श्रीमती मिनाक्षी शहा, म्हसरूळ
११००	श्री एम.डी.कोकिळे, बेळगाव
११००	श्री कैलासचंद सेठी, जयपुर
११००	श्रीमती अचरजकुमारी नि. जैन, जयपुर
११००	श्री टोडरमल स्मारक महिला मंडल, जयपुर
११००	श्री टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर
१०००	डॉ. श्री अजित एस. जैन, परभणी
१०००	श्री संतोष-मंजू पाटनी, वाशीम
१०००	योगीराज श्री रमेशचंद्र जैन, टिमरनी
५०१	श्रीमती प्रज्ञा डोणगावकर, कारंजा
५०१	श्रीमती भावना दिलीप शाह, मुंबई
५०१	श्रीमती मंगला विश्वास नाकील, नई मुंबई
५००	श्री शांतिलाल जैन अलवरवाले, जयपुर
५००	श्रीमती रोहिणी पवनकुमार जैन, अजमेर
१०१	श्री बाबूलाल जैन, बुरहानपुर

—o—

— मेरी बात —

षट्खण्डों पर विजय प्राप्त करनेपर चक्रवर्ती पद प्राप्त होता है । षट्खण्डागमरूप सिद्धान्त के पारगामी आचार्य नेमिचन्द्रजी सिद्धान्तचक्रवर्ती कहलाते हैं । आचार्यश्री ने गोम्मटसार जीवकाण्ड एवं कर्मकाण्ड ग्रंथों की विशाल रचना की । भगवान महावीर से चली आयी श्रुतधारा का आकंठ पान करके उसे गाथाओं में निबद्ध कर विषय को सरल कर शिष्यों के अनुग्रहार्थ ग्रंथ रचना की।

चामुण्डराय को सारा जगत जानता है जिन्होंने श्रवणबेलगोला में भगवान बाहुबली की महाकाय प्रतिमाजी बनवाकर दिगम्बर सम्प्रदाय में एक अभूतपूर्व बेजोड़ कार्य किया है । उन्हीं का दूसरा बेजोड़ कार्य है गोम्मटसार ग्रंथ की कर्णाटकभाषाटीका, जिससे लोग परिचित नहीं है। आपने महाराजजी से प्रश्न पूछा था कि, 'सूक्ष्म अपर्याप्त पृथ्वीकायादि इकतालीस जीवपदों में नामकर्म के सत्त्व का निरूपण कैसे है ? कृपा करके समझाइये।' इस प्रश्न का निमित्त पाकर सभी जीव समझे ऐसी वीतरागी करुणा के कारण आचार्यश्री नेमिचन्द्रजी ने गोम्मटसार जीवकाण्ड एवं कर्मकाण्ड ग्रंथों की रचना की । लब्धिसार-क्षपणासार, त्रिलोकसार, द्रव्यसंग्रह ग्रंथ भी आप ही की रचनायें हैं । आप करणानुयोग के महान ज्ञानी थे ।

चामुण्डराय की कर्णाटकभाषाटीका के अनुसार ब्र. केशववर्णीजी ने जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत (कन्नड) टीका लिखी जो कन्नड लिपी में है । पं.टोडरमलजी ने इसपर से देशभाषामय - ढूंढारी भाषा में सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका ग्रंथों की रचना की जो १) जीवकाण्ड २) कर्मकाण्ड ३) लब्धिसार-क्षपणासार ऐसे तीन भागों में विभाजित है । श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट की ओर से इसका प्रकाशन हुआ था ।

सन १९९३ से मैं और मेरे पति पं. श्री दिनेशभाई, हम दोनों ने इन ग्रंथों का पढ़ना शुरु किया । आद्योपांत स्वाध्याय के उपरांत मैंने इन ग्रंथों को रोज के सामूहिक स्वाध्याय में अनेक बार आद्योपांत पढ़ाया भी । परंतु ग्रंथ कहीं उपलब्ध नहीं थे इसकारण हम दोनों ने इन्हें छपवाने का नक्की किया । सर्वप्रथम सन २००६ में मैंने सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका जीवकाण्ड एवं अर्थसंदृष्टि का विशेषार्थ सहित हिन्दी अनुवाद किया जिसे हमने अपने 'वीतरागवाणीप्रकाशक' की ओर से प्रकाशित किया । लोगों ने इसे खूब सहारा एवं बारम्बार कर्मकाण्ड का भी हिन्दी अनुवाद करने की बिनती की ।

इतना होनेपर भी कर्मकाण्ड का अनुवाद करने का कोई विचार नहीं था, कोई योजना

भी नहीं थी फिर भी लोगों की मांग और विषय की गम्भीरता का ख्याल आनेपर सोचा कि मेरी बुद्धि - मेरा उपयोग इसमें विशेष लगता है, तो जरूर मैं इसे अनुवादित करूं । 'तादृशी जायते बुद्धि यादृशी भवितव्यता' - अनुवाद का कार्य सम्पन्न होना था तब वैसी बुद्धि भी सहज हुयी। अगस्त २००८ से अनुवाद का काम शुरु किया। पूर्वार्ध तो शीघ्र पूर्ण हुआ मगर संदृष्टि अधिकार और उत्तरार्ध लिखने के काल में अनेक अड़चनें आयी, समय ही नहीं जुटा पाती थी, फिर भी कमर कसकर अनुवाद का काम पूर्ण किया ।

परंतु अनुवाद करना, लिखना तो एक बात है परंतु उसकी डी.टी.पी. करवा लेना, प्रूफ रीडिंग करना, मूल ग्रंथों से मिलान करके जांचना अत्यंत जटिल काम होता है । एक भय सतत रहता है कि अपने से जिनवाणी में कोई गलत बात प्रस्तुत न की जाये और कोई त्रुटि न रह जाये। परंतु हजार पृष्ठों की बारम्बार प्रूफ रीडिंग कोई आसान बात नहीं है । इन सभी कामों में मेरे पति श्री. दिनेशचंद्रजी का हमेशा की तरह बहुत बड़ा सहयोग रहा ।

अनुवाद के लिये मैंने श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट की ओर से छपे 'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका कर्मकाण्ड पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध' ग्रंथ लिये हैं तथा 'अर्थसंदृष्टि अधिकार' ग्रंथ हमें ब्र. विमलाबहनजी, जबलपूरवालों से प्राप्त हुआ है । प्रत्येक गाथा इन ग्रंथों के साथ साथ भारतीय ज्ञानपीठ की ओर से छपे गोम्मटसार कर्मकाण्ड के साथ मिलान करके शुद्ध करके लिखी है । इन मूल ग्रंथों में कहीं कहीं कुछ अशुद्धियां, कुछ त्रुटियां ख्याल में आयी, उनको अर्थसंदृष्टि के आधार से तथा इन्हीं ग्रंथों में अन्यत्र आये हुये कथन के आधार से शुद्ध करके लिखा है । क्योंकि मुझे पता है कि प्रिंटिंग दरम्यान अनेक त्रुटियां रहती हैं, अशुद्धियां नजर में नहीं आती और इन्हें सुधारने की हमारी जिम्मेदारी है ।

मैंने जहां जहां फेरफार किये हैं, वे निम्नानुसार हैं –

पं. टोडरमलजी ने सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका कर्मकाण्ड और कर्मकाण्ड संबंधी अर्थसंदृष्टि ऐसी दो पृथक् पुस्तकें लिखी हैं । यहां दोनों को मिलाकर छाप रहे हैं, परंतु ग्रंथ बहुत बड़ा होने के कारण दो भागों में विभाजित किया है । मूल पुस्तक के पूर्वार्ध को भाग १ तथा मूल पुस्तक के उत्तरार्ध एवं अर्थसंदृष्टि अधिकार को भाग २ के रूप में प्रस्तुत किया है ।

सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका पीठिका के पश्चात् पं. टोडरमलजी ने जीवकाण्ड संबंधी प्रकरण, कर्मकाण्ड संबंधी प्रकरण, अर्थसंदृष्टि संबंधी प्रकरण, लब्धिसार-क्षपणासार संबंधी प्रकरण और परिकर्माष्टक संबंधी प्रकरण लिखे हैं । मैंने उनमें से पीठिका के पश्चात् कर्मकाण्ड संबंधी प्रकरण, परिकर्माष्टक

संबंधी प्रकरण प्रथम भाग में लिखा है । अर्थसंदृष्टि संबंधी प्रकरण अर्थसंदृष्टि अधिकार के पूर्व द्वितीय भाग में लिया है ।

प्रथम भाग की विषय-सूची प्रथम भाग में तथा द्वितीय भाग की विषय-सूची द्वितीय भाग में विस्तार के साथ दी है । अर्थसंदृष्टि की भी विषय-सूची नयी बनाकर जोड़ दी है ।

पुस्तक के नाम और पृष्ठ संख्या के साथ हर पृष्ठ पर विवक्षित अधिकार का नाम लिख दिया है, ताकि विषय को आसानी से ढूंढ़ सकें ।

गाथा १२४ के आधार से बनाये कोष्टक में नामकर्म की अध्रुवबंधी ५५ लिखी थी, वहां ५८ होनी चाहिये, वह लिखा है ।

गाथा १२५ के आधार से जो अप्रतिपक्षादिकृत भेदों का यंत्र बनाया है उसमें अनेक अशुद्धियां थी, शुद्ध करके लिखा है ।

गाथा १३८ की टीका में अनुकृष्टि रचना के दूसरे समय के चार खण्डों में तैंतालीस नहीं लिखा था, वह लिख दिया है ।

गाथा १४५ की टीका में 'तेंद्रि का स्थितिबंध सर्व कर्मनि का दूना दूना जानना' लिखा था वहां 'त्रीन्द्रिय के स्थितिबंध से चतुरिन्द्रिय का स्थितिबंध सर्व कर्मों का दोगुणा-दोगुणा जानना' लिखा है ।

गाथा १४८ की टीका में जो सात त्रैराशिक लिखे थे, उनको क्रमांक देकर अलग-अलग लिखा है ताकि समझने में आसानी हो । गाथा १५० की टीका में दूसरे क्रमांक के त्रैराशिक में प्रमाणराशि सत्तर कोडाकोडी सागर लिखी थी, वहां एक कोडाकोडी सागर होना चाहिये, वहां सुधारकर लिखा है ।

गाथा २३९ की टीका में ४५ से ५४ क्रमांक के योगस्थानों में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय लब्धिअपर्याप्तों के....... लिखा था उनमें संज्ञी पंचेन्द्रिय लिखना भी आवश्यक है क्योंकि इन पांचों के जघन्य और उत्कृष्ट स्थान मिलकर ४५ से ५४ तक दस स्थान होते हैं। इसलिए लिख दिया है ।

गाथा २४३ की टीका में योगस्थान की कालयवमध्य रचना के वर्णन में 'छह समय निरंतर प्रवर्तनेवाले योगस्थान आधे ऊपर लिखना' इतना ही लिखा था, उसके आगे 'और आधे नीचे लिखना' होना चाहिये, वह लिख दिया है ।

गाथा २४९ की टीका में 'द्वितीय गुणहानि के अंत निषेक में से एक घटानेपर तृतीय गुणहानि का प्रथम निषेक जानना' लिखा था, वहां 'एक चय घटानेपर' होना चाहिये, वह लिखा है ।

गाथा २५० की टीका में 'योगस्थान निरंतर बंध कर' लिखा था, वहां 'योगस्थान निरंतर बढ़ते हुये' होना चाहिये, वह लिखा है ।

गाथा ३०१ की टीका में मनुष्यणी संबंधी व्युच्छित्ति के प्रकरण में 'सयोगी में तीर्थंकर नहीं इसलिए ग्यारह' लिखा था, वहां 'सयोगी में तीस और अयोगी में तीर्थंकर नहीं इसलिए ग्यारह' होना चाहिये, वह लिखा है ।

व्युच्छित्ति के प्रकरण में पुस्तक में दिये हुये कोष्टक तो सभी लिखे ही हैं, उसके उपरांत अनेक कोष्टक नये बनाकर लिखे हैं या विशेषार्थ के रूप में दिये हैं, जो *Italic* (तिरछे) अक्षरों में लिखे हैं ।

गाथा ३२४ की टीका में देशसंयतादि में अनुदय उनतीस, पच्चीस... लिखा था, वहां उन्नीस, पच्चीस...होना चाहिये, सो लिखा है ।

गाथा ३६६-३६७ की टीका में बद्धायु-अबद्धायु के सत्त्वस्थान के भंगों के कथन में क्रमांक, नाम, स्थानसंख्या, भंगसंख्या लिख दी है । इसकारण विषय अधिक स्पष्ट होता है । दो पुनरुक्त स्थानों को १७ वें और १८ वें में से घटानेपर बीस के बदले १८ होते हैं । सत्त्वस्थान में विशेषार्थ लिखकर बड़ा कोष्टक बनाया है । त्रिचूलिका में भी विस्तार से नामादि लिखकर बड़ा चार्ट बनाया है ।

भाग २ में गाथा ६०७ की टीका में 'असंयत गुणस्थान में छब्बीस के उदयस्थान में कर्मभूमिया संज्ञी तिर्यंच के छह संस्थान, छह संहनन' कहे थे, परंतु जीवकाण्ड गाथा ७०३ की टीका में कहा है कि कर्मभूमिया तिर्यंच और भवनत्रिक देव ये पर्याप्त ही चतुर्थ गुणस्थान में पाये जाते हैं । इसलिए 'संज्ञी तिर्यंच' के स्थान में मैंने 'मनुष्य' लिखा है । वैसे भी छब्बीस के स्थान में मनुष्य के भंग अलग से नहीं लिखे थे तथा आगे भी अट्ठाइस और उनतीस के स्थानों में भोगभूमिया तिर्यंच और मनुष्य ऐसा ही वहां लिखा था, इसलिए जो शुद्ध करके लिखा है, वही समीचीन है ।

गाथा ७४५ की टीका में *(नामकर्म के)* उनतीस का बंध करनेवाले सासादन में सत्त्व बानबे, नब्बे का लिखा था, वहां 'नब्बे का ही है' लिख दिया उसके लिये देखिये गाथा ७३५ । आहारक

की सत्तावाला दूसरे गुणस्थान में नहीं आता इसलिए वहां तीर्थंकर और आहारकद्विक इन तीन बिना नब्बे का ही सत्त्व होता है ।

गाथा ७४५ की टीका में 'तिर्यंचों के सासादन में पंचेन्द्रिय तिर्यंचगति, मनुष्यगतियुत उनतीस का बंध होता है वहां उदय इक्कीस, चौबीस, छब्बीस, तीस का' लिखा था उसमें इकतीस का भी होना चाहिये, सो लिखा है ।

उसी गाथा की टीका में 'आनतादि उपरिम ग्रैवेयक तक सासादन में उदय इक्कीस, पच्चीस, सत्ताइस, अट्ठाइस, उनतीस का' लिखा था । परंतु देवों में अपर्याप्त अवस्था में सासादनवाला तो शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने के पहले ही शरीरमिश्रकाल में मिथ्यात्व में आता है इसलिए उसके सत्ताइस और अट्ठाइस के उदयस्थान नहीं हो सकते । इसलिए उन दोनों स्थानों को निकालकर 'इक्कीस, पच्चीस, उनतीस' इतना ही लिखा है ।

उसी गाथा की टीका में 'त्रस-पर्याप्त-तिर्यंचगति-उद्योतयुत तीस का बंध करनेवाले तिर्यंच के उदय इक्कीस, चौबीस, पच्चीस, छब्बीस, सत्ताइस, अट्ठाइस, उनतीस, तीस का' लिखा था, उसमें इकतीस का भी होना चाहिये, सो लिखा है ।

उसी गाथा की टीका में तीस का बंध करनेवाले देवों में उदयस्थान इक्कीस, पच्चीस, सत्ताइस, अट्ठाइस, उनतीस, तीस का लिखा है - एक ही पैरेग्राफ में तीन बार देवों में तीस का उदयस्थान बताया है - जो नहीं हो सकता, क्योंकि देवों में भाषापर्याप्तिकाल में उनतीस का ही उदय है । सर्वत्र सुधारकर लिख दिया है ।

गाथा ७४९ की टीका में 'तीस' के उदय में लिखा था - वह नहीं चाहिये क्योंकि मूल गाथा में भी वह नहीं है ।

गाथा ७७२ की टीका में सत्त्व 'अस्सी, सतहत्तर के दो' लिखा था, वहां 'अस्सी, अठहत्तर' होना चाहिये - गाथा में भी अष्टसप्तति लिखा है - इसे शुद्ध कर लिखा है ।

उसी गाथा की टीका में 'इक्कीस का उदयवाले मनुष्य असंयत में सत्त्व ९३, ९२, ९१' लिखा था, उसमें नब्बे भी होना चाहिये इसलिए '९३, ९२, ९१, ९०' लिख दिया है । आगे भवनत्रिक, कल्पवासिनी के इक्कीस के उदयरूप स्थान में सासादन में बंध तिर्यंच, मनुष्ययुत तीस का लिखा था वहां पंचेन्द्रिय तिर्यंच, मनुष्ययुत होना चाहिये, सो लिखा है ।

उसी गाथा की टीका में 'सामान्य केवली के कपाट *(समुद्घात)* में छब्बीस के उदय में

बंध नास्ति, उदय उन्नासी या सतहत्तर' लिखा था, वहां 'सत्त्व उन्नासी या सतहत्तर' होना चाहिये, वह लिख दिया है । उसी पृष्ठ पर 'एकेन्द्रिय के सत्ताइस का बंध हो वहां बंध....' लिखा था, वहां 'सत्ताइस का उदय हो वहां बंध.....' होना चाहिये, वह लिख दिया है ।

वहींपर आगे 'देव में शरीरपर्याप्तिकाल में सासादन छोड़कर मिथ्यात्व हो जाता है' लिखा था, वहां शरीरमिश्रकाल में मिथ्यात्वी होने के कारण शरीरपर्याप्तिवाला सत्ताइस का उदय नहीं होता ऐसा समझना चाहिये । वैसा लिखा है ।

आगे उनतीस के उदय में भवनत्रिक, कल्पवासिनी स्त्री के बंध पच्चीस, छब्बीस, उनतीस, तीस का लिखा था, वहां सौधर्मादिक के भी होना चाहिये - सो लिखा है । वहींपर आगे तीस के उदय सहित तिर्यंच के सासादन में तिर्यंच, मनुष्ययुत उनतीस और तिर्यंच-उद्योतयुत तीस का लिखा था, उसके साथ देवगतियुत अट्ठाइस का भी वहां बंध होता है, जो वहां नहीं लिखा था, सो लिख दिया है ।

उसी टीका में आगे मनुष्य के तीस के उदय में सासादन में बंध देवगतियुत अट्ठाइस का नहीं लिखा था, वह यहां लिखा है । इसके लिये आधार है गाथा ५५१ ।

गाथा ७५९ की टीका में बानबे के सत्त्व में 'वंशा से मघवी तक सासादनमिश्र में ऐसा सत्त्व नहीं है' लिखा था इसलिए वहां मिश्र के बंध और उदय भी नहीं लिखे थे, परंतु मात्र सासादन में ही बानबे का सत्त्व नहीं है, मिश्र में हो सकता है इसलए वैसा लिखकर मिश्र के बंध और उदय असंयतवत् लिखे हैं अर्थात् बंध मनुष्ययुत उनतीस और उदय उनतीस का ।

माघवी के बारे में भी वैसा ही लिखा था कि मिश्र में बानबे का सत्त्व नहीं, परंतु मिश्र में वह सत्त्व है, सो लिख दिया है । आगे इक्यानबे के सत्त्ववाले नारकी के कथन में मनुष्य-सम्यग्दृष्टि लिखा था वहां नारकी सम्यग्दृष्टि होना चाहिये, सो लिखा है ।

इक्यानबे की सत्तावाले मनुष्य-असंयत में बंध देव-तीर्थयुत उनतीस और उदय इक्कीस, छब्बीस, अट्ठाइस, उनतीस लिखा था, वहां उदय में तीस भी होना चाहिये, सो लिखा है ।

आगे अस्सी के सत्त्ववाले सयोगी में स्वस्थान में तीस ही का उदय कहा था, जो इकतीस का होना चाहिये क्योंकि वहां स्वस्थान तीर्थंकरकेवली की बात है - अस्सी का सत्त्व तीर्थंकर के ही होगा । उसके आगे समुद्घात केवली के स्थान कहे हैं, वे भी तीर्थंकर की अपेक्षासे ही हैं । आगे उन्नासी और सतहत्तर के सत्त्ववाले सयोगी में सामान्य समुद्घात केवली के उदयस्थान बीस, छब्बीस, अट्ठाइस, उनतीस कहे थे, वहां तीस भी होना चाहिये, क्योंकि भाषापर्याप्तिकाल

में तीस का उदय होता है । वह लिखा है ।

'उन्नासी, अठहत्तर, सतहत्तर के सत्त्व में बंध, उदय, सत्त्व अस्सी के सत्त्व में कहा वैसा है' लिखा था, यहां बंध और उदय इतना ही लिखना था । सो वैसा लिखा है ।

'दस, नौ के सत्त्व में सत्त्व नौ, आठ का' लिखा था, वहां 'उदय नौ, आठ का' चाहिये। वह लिखा है ।

गाथा ७७१ में अट्ठाइस का बंध, अट्ठासी का सत्त्व होनेपर इकतीस का उदय लिखा था वहां उदय तीस, इकतीस का लिखना चाहिये । सो लिखा है ।

गाथा ७७२'की टीका का विस्तार से विशेषार्थ दिया है ।

गाथा ७९३ की टीका में 'मिथ्यादृष्टि में आठ स्थान कहे' लिखा था, वहां 'नौ स्थान' होना चाहिये क्योंकि दस से अठारह तक नौ स्थान हैं । वह लिखा है ।

गाथा ७९५ की टीका में आस्रव में अक्षसंचार में सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग दोनों लिखे थे, परंतु मात्र एक ही योग होता है, आगे आलाप में सत्यमनोयोग कहा; इसलिए सुधारकर लिखा है ।

गाथा ७९६ की टीका में सासादन के वैक्रियिकमिश्र के भंग निकालते समय दो युगल लिखना रह गया था, वह लिखा है ।

गाथा ८४८ की टीका में असंयत में मिश्रभाव के तीन जातिपद लिखे थे - ज्ञान, दर्शन, लब्धि परंतु चार होने चाहिये - यहां वेदक सम्यक्त्व भी मिश्रभाव है, उसके बिना आगे के भंग घटित नहीं होते । इनको ब्रैकेट में लिखकर जोड़ दिया है (देखिये गाथा ८४६) ।

आगे देशसंयत में भी मिश्रभाव के जातिपद चार लिखे थे, वहां भी वेदक सम्यक्त्व सहित पांच होने चाहिये (देखिये गाथा ८४६) । उसे ब्रैकेट में लिखा है ।

गाथा ८६० की टीका में अनेक जगह जीवपद लिखा था - वहां जीवत्वपद होना चाहिये। तथा चारसंयोगी और बारहसंयोगी भंग तीन सौ इकसठ - तीन सौ इकसठ लिखा था, वहां तीन सौ चौंसठ - तीन सौ चौंसठ होना चाहिये, सो कर दिया है ।

गाथा ८६१ की टीका में मिश्र गुणस्थान में देवों की छह लेश्या कही थी, वहां तीन ही लिखना चाहिये, क्योंकि मिश्र गुणस्थान अपर्याप्तों में नहीं होता और अशुभ तीन लेश्या मात्र

भवनत्रिक के अपर्याप्त में ही होती हैं । सो ठीक करके लिखा है ।

आगे देशसंयत में भंग निकालते समय दो जगह तिर्यंच और मनुष्यों में छह लेश्या लिखा था - वहां तीन लेश्या होना चाहिये, क्योंकि देशसंयत में मात्र तीन शुभ लेश्या ही होती हैं । सो लिखा है ।

गाथा ९०१ की टीका में त्रैराशिक में सर्वधन ३०७२ को सत्ताइस के पांचवें भाग का भाग देनेपर ४८० आते हैं लिखा था, वहां सर्वधन की जगह आदिधन २५९२ होना चाहिये, सो लिखा है ।

गाथा ९१० की टीका में अपूर्वकरण के यंत्र को विस्तार करके लिख दिया है । तीनों करण का विस्तृत वर्णन एवं उनके यंत्र जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, लब्धिसार ग्रंथों के आधार से मैंने पंचलब्धि पुस्तक में लिखे हैं, वह वहां से पठनीय है ।

गाथा ९३१ की टीका में 'मिथ्यात्व की अन्योन्याभ्यस्तराशि पल्य की वर्गशलाका से हीन पल्यप्रमाण' लिखा था, वह 'पल्य की वर्गशलाका से भाजित पल्यप्रमाण' चाहिये, देखिये गाथा ९२६ । सो ठीक करके लिखा है ।

गाथा ९३४ की टीका में 'पल्य का छप्पनवां भाग' कहा था, वहां 'पल्य के अर्धच्छेद का छप्पनवां भाग' चाहिये । सो लिखा है ।

गाथा ९३६ की टीका में 'तिगुणा पल्य के अर्धच्छेदों के छप्पनवें भाग का भाग था' लिखा था वहां 'तिगुणा पल्य के अर्धच्छेदों के छप्पनवें भाग का प्रमाण था' चाहिये ।

गाथा ९३६ की टीका में 'पल्य की वर्गशलाका को घटाना - इसतरह पल्य की वर्गशलाका से हीन पल्य प्रमाण अन्योन्याभ्यस्तराशि होती है' लिखा था । भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित कर्मकाण्ड में भी ऐसा ही लिखा है । परंतु यह ठीक नहीं है । 'घटाना' की जगह 'उसका भाग पल्य को देना' चाहिये और 'हीन' की जगह 'भाजित' होना चाहिये । संदृष्टि में भी अनेकों बार अन्योन्याभ्यस्तराशि प/व अर्थात् पल्य की वर्गशलाका से भाजित पल्यप्रमाण ऐसा आता है । इसलिए सुधारकर लिखा है ।

गाथा ९३९ की टीका में पल्य की वर्गशलाका के छेद लिखा था । वहां अर्धच्छेद होना चाहिये । सो लिखा है ।

गाथा ९४४ की टीका में लिखा था 'याको गुणकार वा विषै कीजिये' उसके बदले वहां चाहिये

कि 'गुणकार और भागहार में तीन से गुणा कीजिये'। वहींपर सर्वत्र '८×८को २×१ का भागहार' लिखा था, वहां 'एक कम ८×८ को २×१ का भागहार' होना चाहिये । वैसा लिखा है ।

गाथा ९४५ की टीका में त्रैराशिक में लिखा था - 'बीस कोडाकोडीसागर उत्कृष्ट स्थितिधारक कर्मों की अंतःकोडाकोडी होगी, तो...' वहां चाहिये 'बीस कोडाकोडीसागर उत्कृष्ट स्थितिधारक कर्मों की जघन्य स्थिति अंतःकोडाकोडीसागर होगी, तो...' । उसे सुधारकर लिखा है ।

गाथा ९५५ की टीका में 'व्येकपदार्धघ्नचयगुणो' का अर्थ करते हुये 'एक कम गच्छ के आधे से चय को गुणा करनेपर चयधन आता है' लिखा था, वहां 'एक कम गच्छ के आधे से चय को तथा गच्छ को गुणा करनेपर...' होना चाहिये । वह किया है ।

संदृष्टि अधिकार सबसे अंत में दिया है । जीवकाण्ड में दिया हुआ 'सामान्य प्रकरण' भी उपयोगी जानकर यहां जोड़ दिया है ।

करणानुयोग के ग्रंथों को लोग कठिन मानकर पढ़ते ही नहीं, छोड़ देते हैं और इस विषय को जानने की आवश्यकता नहीं ऐसा उपदेश भी देते हैं । परंतु पं. टोडरमलजी ने इस विषय को अत्यंत सरल करके प्रस्तुत किया है । करणानुयोग का अभ्यास केवल पढ़ना और रटना नहीं है । हमें केवलज्ञानगम्य बातों का ज्ञान होता है, अनेक भ्रांतियां दूर होती हैं, उपयोग की सूक्ष्मता होती है, बारम्बार अभ्यास से बुद्धि तीक्ष्ण होती है, केवलज्ञान के साथ साथ अपने ज्ञानस्वभाव की महत्ता भासित होती है । भेदज्ञान करना ही हमारा उद्देश है, जो सभी अनुयोगों द्वारा सम्पन्न होता है ।

वैज्ञानिकों एवं गणितज्ञों को चौंका देनेवाली, आश्चर्य चकित करनेवाली अनेक सूक्ष्म बातों का इसमें रहस्योद्घाटन है । यह हमारी धरोहर है जो सीधी सर्वज्ञ भगवान से चली आ रही है।

मेरा यह परम सौभाग्य है कि मैंने इसे हिन्दी में अनुवादित करने का प्रयत्न किया । इसमें जो कोई त्रुटियां हैं, वह मेरी भूल है - गलती है तथा विषय समझने में सरलता लगती है वह पूर्वाचार्यों, ज्ञानियों तथा पं. टोडरमलजी का उपकार है ।

अधिकाधिक लोग इस विषय में रस ले, इसका अभ्यास कर भेदज्ञान में अग्रसर हो इस पवित्र भावना के साथ विराम लेती हूँ ।

— डॉ. श्रीमती उज्ज्वला शहा

विषय-सूची

प्रकरण — पृष्ठ संख्या

सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका पीठिका १

गोम्मटसार कर्मकाण्ड संबंधी प्रकरण १९

परिकर्माष्टक संबंधी प्रकरण ३५

१. प्रकृतिसमुत्कीर्तनाधिकार — **५० से**

कर्मों के भेद, उनके कार्य एवं दृष्टांत ५३

उत्तरप्रकृतियों के नाम एवं स्वरूप ५९

घातिकर्मों के सर्वघाति, देशघाति भेद ७८

अघातिकर्मों की प्रशस्त-अप्रशस्त प्रकृतियां ७९

कषायों के कार्य एवं वासनाकाल ८१

पुद्‌गलविपाकी आदि प्रकृतियां ८२

नामादि निक्षेपों का स्वरूप ८५

२. बंधोदयसत्त्वाधिकार — **१०१ से**

प्रकृतिबंध वर्णन –

बंध का कथन एवं भेद १०२

गुणस्थानों में व्युच्छित्ति, बंध, अबंध का वर्णन ११३

मूल तथा उत्तरप्रकृतियों में सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव बंध १३४

अप्रतिपक्ष, सप्रतिपक्षरूप भेद १३७

स्थितिबंधवर्णन —

उत्कृष्ट स्थितिबंध १३९

जघन्य स्थितिबंध १४७

आबाधाकाल १५१

जघन्य स्थितिबंध के साधनभूत करणसूत्र, आबाधाकांडक १५२

चौदह जीवसमासों में उत्कृष्ट, जघन्य स्थितिबंध १५७
स्थितिबंध एवं आबाधा के भेद तथा काल १६२
आबाधा लक्षण एवं प्रमाण १७४
उदीरणा की अपेक्षा आबाधा १७७
निषेक का स्वरूप १७९

अनुभागबंध वर्णन —

उत्कृष्ट अनुभागबंध स्वामीत्व १८१
जघन्य अनुभागबंध स्वामीत्व १८४
अनुभाग का स्वरूप एवं स्पर्धकों के नाम १८९

प्रदेशबंध का वर्णन —

प्रदेशबंध का प्रमाण १९३
समयप्रबद्ध का प्रमाण १९७
समयप्रबद्ध का मूलप्रकृतियों में विभाजन १९७
मूलप्रकृतियों के द्रव्य का उत्तरप्रकृतियों में विभाजन २००
सर्वघाति, देशघाति द्रव्य का बटवारा २०१
नोकषायकर्म का निरंतर बंधकाल २१०
नामकर्म के बंधस्थान २१२
उत्कृष्टादि प्रदेशबंधों के सादि आदि भेद २१५
उत्कृष्ट प्रदेशबंध होने की सामग्री, स्वामीत्व २१६
जघन्य प्रदेशबंध - स्वामीत्व २१८
योगस्थान भेद एवं स्वरूप २२२
योगस्थान के अवयव २२४
जघन्य योगस्थान का कथन २२७
जघन्य से उत्कृष्ट तक जीवों के योगस्थान २३४
कालयवमध्य रचना २४४
जीवयवमध्य रचना २५०

बंध के कारण २५८
योगस्थान, स्थितिभेद, स्थितिबंधाध्यवसायस्थान, अनुभाग-
बंधाध्यवसायस्थान और कर्मप्रदेशों का अल्पबहुत्व २५९

उदयवर्णन —

गुणस्थानों में व्युच्छित्ति, उदय, अनुदय २७४
उदीरणा की व्युच्छित्ति २८५
उदय के नियम २८७
मार्गणाओं में उदययोग्य प्रकृतियां, व्युच्छित्ति, उदय, अनुदय २८९

सत्त्ववर्णन —

गुणस्थानों में सत्ता का निरूपण ३४१
अनिवृत्तिकरण में क्षययोग्य प्रकृतियों का अनुक्रम ३४२
सत्त्व-असत्त्व का वर्णन ३४५
उपशमश्रेणी में उपशम विधान ३४६
मार्गणाओं में सत्त्ववर्णन ३४८
उद्वेलना वर्णन ३५१

३. सत्त्वस्थानभंगाधिकार ३६१ से

गुणस्थानों में आयु बंधाबंध के भेदों में स्थान और भंग संख्या ३६४
गुणस्थानों में स्थान एवं भंगों की संख्या ३६७

४. त्रिचूलिकाधिकार ३९८ से

नवप्रश्नचूलिका ३९८
पंचभागहारचूलिका ४०६
दशकरणचूलिका ४१९

—o—

आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमलजीकृत

सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका

पीठिका

।। मंगलाचरण ।।

बंदौ ज्ञानानंदकर, नेमिचन्द गुणकंद ।
माधव वंदित विमलपद, पुण्यपयोनिधि नंद ।।१।।

दोष दहन गुन गहन घन, अरि करि हरि अरहंत ।
स्वानुभूति रमनी रमन जगनायक जयवंत ।।२।।

सिद्ध सुद्ध साधित सहज, स्वरससुधारसधार ।
समयसार शिव सर्वगत, नमत होहु सुखकार ।।३।।

जैनी वानी विविध विधि, वरनत विश्वप्रमान ।
स्यात्पद-मुद्रित अहितहर, करहु सकल कल्यान ।।४।।

मैं नमो नगन जैन जन, ज्ञान-ध्यान धन लीन ।
मैन मान बिन दान धन, एन हीन तन छीन ।।५।।

इहविधि मंगल करन तैं, सबविधि मंगल होत ।
होत उदंगल दूरि सब, तम ज्यौं भानु उद्योत ।।६।।

सामान्य प्रकरण

अथ मंगलाचरण द्वारा श्रीमद् गोम्मटसार द्वितीय नाम पंचसंग्रह ग्रंथ, उसकी देशभाषामय टीका करने का उद्यम करता हूँ । सो यह ग्रंथसमुद्र तो ऐसा है जो सातिशय बुद्धि-बल संयुक्त जीवों के द्वारा भी जिसका अवगाहन होना दुर्लभ है । और मैं मन्दबुद्धि अर्थ प्रकाशनेरूप इसकी टीका करने का विचार कर रहा हूँ ।

सो यह विचार ऐसा हुआ जैसे कोई अपने मुख से जिनेन्द्रदेव के सर्व गुण वर्णन करना चाहे, वह कैसे बन सकता है ?

यहां कोई कहता है - नहीं बनता है तो उद्यम क्यों कर रहे हो ?

उसको कहते हैं – जैसे जिनेन्द्रदेव के सर्व गुण कहने की सामर्थ्य नहीं, तथापि भक्त पुरुष भक्ति के वश से अपनी बुद्धि अनुसार गुण वर्णन करता है, उसीप्रकार इस ग्रंथ का सम्पूर्ण अर्थ प्रकाशने की सामर्थ्य नहीं है, तथापि अनुराग के वश से मैं अपनी बुद्धि अनुसार (गुण) अर्थ प्रकाशूंगा ।

पुनश्च कोई कहता है कि – अनुराग है तो अपनी बुद्धि अनुसार ग्रंथाभ्यास करो, मन्दबुद्धियों को टीका करने का अधिकारी होना उचित नहीं है ।

उसको कहते हैं – जिसप्रकार किसी विद्यालय में बहुत बालक पढ़ते हैं उनमें कोई बालक विशेष ज्ञान रहित है, तथापि अन्य बालक से अधिक पढ़ा है, सो अपने से कम पढ़नेवाले बालकों को अपने समान ज्ञान होने के अर्थ कुछ लिख देना आदि कार्य का अधिकारी होता है । उसी प्रकार मुझे विशेष ज्ञान नहीं है, तथापि काल दोष से मुझ से भी मन्दबुद्धि हैं और होंगे । उनके मेरे समान इस ग्रंथ का ज्ञान होने के लिये टीका करने का अधिकारी हुआ हूँ ।

पुनश्च कोई कहता है कि – यह कार्य करने का विचार तो किया, परंतु जैसे छोटा मनुष्य बड़ा कार्य करने का विचार करे, वहां उस कार्य में भूल होती ही है, वहां वह हास्य का स्थान बन जाता है । वैसे तुम भी मन्दबुद्धि होकर, इस ग्रंथ की टीका करने का विचार कर रहे हो सो भूल होगी, वहां हास्य का स्थान बन जाओगे ।

उसको कहते हैं – यह तो सत्य है कि मैं मन्दबुद्धि होकर ऐसे महान ग्रंथ की टीका करने का विचार कर रहा हूँ, सो भूल तो होगी, परंतु सज्जन हास्य नहीं करेंगे । जैसे औरों से अधिक पढ़ा हुआ बालक कहीं भूल करता है तब बड़े ऐसा विचार करते हैं कि बालक है, भूलेगा ही भूलेगा, परंतु अन्य बालकों से भला है, ऐसा विचार कर हास्य नहीं करते । वैसे मैं यहां कहीं भूल करूंगा वहां सज्जन पुरुष ऐसा विचार करेंगे कि मन्दबुद्धि था, सो भूले ही भूले, परंतु कितने ही अति-मन्दबुद्धियों से भला है, ऐसा विचार कर हास्य नहीं करेंगे ।

सज्जन तो हास्य न करेंगे, परंतु दुर्जन तो हास्य करेंगे ?

उसको कहते हैं कि – दुष्ट तो ऐसे ही हैं, जिनके हृदय में औरों के निर्दोष भले गुण भी विपरीतरूप ही भासते हैं । सो उनके भय से जिसमें अपना हित हो

ऐसे कार्य को कौन नहीं करेगा ?

पुनश्च कोई कहता है – पूर्व ग्रंथ थे ही, उनका अभ्यास करने-कराने से ही हित होता है, मन्दबुद्धियों द्वारा ग्रंथ की टीका करने की महंतता क्यों प्रकट करते हो ?

उसको कहते हैं – ग्रंथ का अभ्यास करने से ग्रंथ की टीका रचना करने में उपयोग विशेष लगता है, अर्थ भी विशेष प्रतिभासित होता है । पुनश्च अन्य जीवों को ग्रंथ अभ्यास कराने का संयोग होना दुर्लभ है और संयोग हो तो किसी ही जीव के अभ्यास होता है; और ग्रंथ की टीका बने तो परम्परा अनेक जीवों को अर्थ का ज्ञान होता है । इसलिए अपना और अन्य जीवों का विशेष हित होने के लिये टीका करते हैं, महंतता का तो कोई प्रयोजन ही नहीं है ।

पुनश्च कोई कहता है कि – इस कार्य में विशेष हित होता है सो सत्य, परंतु मन्दबुद्धि के कारण कहीं भूल से अन्यथा अर्थ लिखनेपर, वहां महत् पाप उपजने से अहित भी तो होता है ?

उसको कहते हैं – यथार्थ सर्व पदार्थों के ज्ञाता तो केवली भगवान है, दूसरों को ज्ञानावरण के क्षयोपशम के अनुसार ज्ञान है, उनको कोई अर्थ अन्यथा भी प्रतिभासे, परंतु जिनदेव का ऐसा उपदेश है – कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्रों के वचन की प्रतीति से वा हठ से वा क्रोध, मान, माया, लोभ से वा हास्य भयादिक से यदि अन्यथा श्रद्धान करे वा उपदेश दे, तो वह महापापी है और विशेष ज्ञानवान गुरु के निमित्त बिना वा अपने विशेष क्षयोपशम बिना कोई सूक्ष्म अर्थ अन्यथा प्रतिभासित हो और यह ऐसा जाने कि जिनदेव का उपदेश ऐसा ही है - ऐसा जानकर कोई सूक्ष्म अर्थ का अन्यथा श्रद्धान करे वा उपदेश दे तो इसको महत् पाप नहीं होता । वही ग्रंथ में भी आचार्य ने कहा है –

सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ।। २७ ।। जीवकाण्ड ।

पुनश्च कोई कहता है कि – आपने विशेष ज्ञानी से ग्रंथ के यथार्थ सर्व अर्थ का निर्णय करके टीका करने का प्रारम्भ क्यों नहीं किया ?

उसको कहते हैं – कालदोष से केवली, श्रुतकेवली का तो यहां अभाव ही हुआ तथा विशेष ज्ञानी भी विरले ही पाये जाते हैं । जो कोई हैं तो वे दूर क्षेत्र में हैं उनका संयोग दुर्लभ है । पुनश्च आयु, बुद्धि, बल, पराक्रम आदि तुच्छ रह गये हैं । इसलिए जितना बन सके उतना अर्थ का निर्णय किया, अवशेष जैसे हैं, वैसे प्रमाण हैं ।

पुनश्च कोई कहता है कि – आपने कहा वह सत्य, परंतु इस ग्रंथ में जो भूल होगी, उसके शुद्ध होने का कुछ उपाय भी है ?

उसको कहते हैं – एक उपाय यह करते हैं – विशेष ज्ञानवान पुरुषों का प्रत्यक्ष तो संयोग नहीं है, इसलिए उनसे परोक्ष ही ऐसी बिनती करता हूं कि मैं मन्दबुद्धि हूँ, विशेष ज्ञानरहित हूँ, अविवेकी हूँ, शब्द, न्याय, गणित, धार्मिक आदि ग्रंथों का मुझे विशेष अभ्यास नहीं है इसलिए मैं शक्तिहीन हूँ; तथापि धर्मानुराग वश टीका करने का विचार किया, इसलिए इसमें जहां जहां भूल हो, अन्यथा अर्थ हो जाय, वहां-वहां मेरे ऊपर क्षमा करके उस अन्यथा अर्थ को दूर करके यथार्थ अर्थ लिखना । इस प्रकार बिनती करके जो भूल होगी, उसके शुद्ध होने का उपाय किया है ।

पुनश्च कोई कहता है कि – आपने टीका करने का विचार किया, वह तो अच्छा किया, परंतु ऐसे महान ग्रंथ की टीका संस्कृत ही चाहिये । भाषा में तो इसकी गम्भीरता भासित नहीं होती ।

उसको कहते हैं – इस ग्रंथ की 'जीवतत्त्वप्रदीपिका' नामक संस्कृत टीका तो पहले से है ही । परंतु वहां संस्कृत, गणित, आम्नाय आदि के ज्ञान रहित जो मन्दबुद्धि हैं, उनका प्रवेश नहीं होता । पुनश्च यहां कालदोष से बुद्धि आदि के तुच्छ होने से संस्कृतादि ज्ञान रहित जीव बहुत हैं, उन्हें इस ग्रंथ के अर्थ का ज्ञान होने के लिये भाषा टीका करते हैं । इसलिए जो जीव संस्कृतादि विशेष ज्ञानयुक्त हैं, वे मूलग्रंथ और संस्कृत टीका से अर्थ धारण करेंगे तथा जो जीव संस्कृतादि विशेष ज्ञान रहित हैं वे इस भाषा टीका से अर्थ धारण करें । पुनश्च जो जीव संस्कृतादि ज्ञान सहित हैं, परंतु गणित आम्नायादिक के ज्ञान के अभाव से मूलग्रंथ और संस्कृत टीका में प्रवेश नहीं पा सकते, वे इस भाषा टीका से अर्थ को धारण करके, मूलग्रंथ और संस्कृत टीका में प्रवेश करें । और यदि भाषा टीका से मूलग्रंथ और संस्कृत टीका में अधिक अर्थ हो, तो उसे जानने का अन्य उपाय बनें सो करें ।

यहां कोई कहता है – संस्कृत ज्ञानवालों का भाषा अभ्यास में अधिकार नहीं है ।

उसको कहते हैं – संस्कृत ज्ञानवालों को भाषा वांचने से कोई दोष तो नहीं उत्पन्न होते, अपना प्रयोजन जैसे सिद्ध हो वैसे ही करना । पहले अर्धमागधी आदि भाषामय महान ग्रंथ थे । जब जीवों के बुद्धि की मंदता हुयी, तब संस्कृतादि भाषामय ग्रंथ बने । अब जीवों के विशेष बुद्धि की मंदता हुयी, इसलिए देशभाषामय ग्रंथ करने का विचार हुआ । संस्कृतादि का अर्थ भी अब भाषा द्वारा जीवों को समझाते हैं, यहां भाषा द्वारा ही अर्थ लिखा है तो कुछ दोष नहीं है ।

इसप्रकार विचार कर श्रीमद् **गोम्मटसार** द्वितीय नाम **पंचसंग्रह** ग्रंथ की **'जीवतत्त्व-प्रदीपिका'** नामक संस्कृत टीका के अनुसार **'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका'** नामक यह देशाभाषामयी टीका करने का निश्चय किया है । सो श्री अरहंत देव, जिनवाणी और निर्ग्रंथ गुरुओं के प्रसाद से और मूलग्रंथकर्ता श्री नेमिचन्द्र आदि आचार्यों के प्रसाद से यह कार्य सिद्ध हो ।

अब इस शास्त्र के अभ्यास में जीवों को सन्मुख करते हैं । हे भव्य जीव ! तुम अपने हित की वांछा करते हो, तो तुमको जैसे बने वैसे इस शास्त्र का अभ्यास करना । क्योंकि आत्मा का हित मोक्ष है । मोक्ष के बिना अन्य जो है, वह परसंयोगजनित, विनाशिक और दुःखमय है और मोक्ष है, वही निजस्वभाव है, अविनाशी है, अनंत सुखमय है । इसलिए मोक्षपद प्राप्त करने का उपाय तुमको करना चाहिये । सो मोक्ष का उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र हैं । इनकी प्राप्ति जीवादिक का स्वरूप जानने से ही होती है ।

वही कहते हैं – जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, उसे बिना जाने श्रद्धान का होना आकाश के फूल के समान है । प्रथम जाने, पश्चात् वैसी ही प्रतीति करके श्रद्धान को प्राप्त होता है । इसलिए जीवादिक का जानना, श्रद्धान होने के पूर्व में होता है, वही उनके श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन का कारण जानना । तथा श्रद्धान होनेपर जो जीवादिक का जानना होता है, उसीका नाम सम्यग्ज्ञान है । पुनश्च श्रद्धानपूर्वक जीवादि जाननेपर स्वयमेव उदासीन होकर, हेय का त्याग करता है, उपादेय का ग्रहण करता है, तब सम्यक्चारित्र होता है । अज्ञानपूर्वक क्रियाकांड से सम्यक्चारित्र नहीं

होता । इसतरह जीवादिक को जानने ही से सम्यग्दर्शनादि मोक्ष के उपायों की प्राप्ति होती है – ऐसा निश्चय करना । इस शास्त्र के अभ्यास से जीवादिक का जानना यथार्थ होता है । क्योंकि संसार है वह जीव और कर्म के संबंधरूप है तथा विशेष जाननेपर इनका संबंध का जो अभाव होता है वही मोक्ष है और इस शास्त्र में जीव और कर्म का ही विशेष निरूपण है । अथवा जीवादिक षट्द्रव्य, सात तत्त्व आदि का भी इसमें यथार्थ निरूपण है । इसलिए इस शास्त्र का अभ्यास अवश्य करना।

अब यहां कितने ही जीव इस शास्त्र के अभ्यास में अरुचि होने के कारण विपरीत विचार प्रगट करते हैं, उनको समझाते हैं । वहां वे जीव प्रथमानुयोग, चरणानुयोग वा द्रव्यानुयोग का केवल पक्ष करके इस करणानुयोगरूप शास्त्र के अभ्यास का निषेध करते हैं ।

उनमें से **प्रथमानुयोग का पक्षपाती कहता है** कि इस काल में जीवों की बुद्धि बहुत मंद है, उनके तो ऐसे सूक्ष्म व्याख्यानरूप शास्त्र में से कुछ समझ में नहीं आता, इसलिए तीर्थंकरादि की कथा का उपदेश दिया जाय तो ठीक तरह से समझ कर पाप से डरकर धर्मानुरागरूप होगा, इसलिए प्रथमानुयोग का उपदेश कार्यकारी है।

उसको कहते हैं – अब भी सभी जीव तो एक से नहीं हुये हैं, उनकी हीनाधिक बुद्धि देखी जाती है । इसलिए जैसा जीव हो, वैसा उपदेश देना । अथवा मंदबुद्धि भी सिखानेपर अभ्यास से बुद्धिमान होते दिखते हैं । इसलिए जो बुद्धिमान हैं, उनको तो यह ग्रंथ कार्यकारी है ही और जो मंदबुद्धि हैं वे विशेष बुद्धिमानों से सामान्य-विशेषरूप गुणस्थानादिक का स्वरूप सीखकर इस शास्त्र के अभ्यास में प्रवर्तन करें ।

यहां मंदबुद्धि कहते हैं कि – इस गोम्मटसार शास्त्र में तो गणित समस्या अनेक अपूर्व कथन द्वारा बहुत कठिन है ऐसा सुनते हैं, हम इसमें किसतरह प्रवेश पा सकते हैं ?

उनको कहते हैं – भय मत करना, इस भाषा टीका में गणित आदि का अर्थ सुगमरूप करके कहा है, इसलिए प्रवेश पाना कठिन नहीं रहा । पुनश्च इस शास्त्र में कथन कहीं सामान्य है, कहीं विशेष है, कहीं सुगम है, कहीं कठिन है; वहां यदि सर्व अभ्यास बनता है, तो अच्छा ही है और यदि नहीं बनता तो अपनी बुद्धि के अनुसार जैसा बने वैसा ही अभ्यास करो । अपने उपाय में आलस नहीं करना।

पुनश्च तूने कहा – प्रथमानुयोग संबंधी कथादिक सुनने से पाप से ड़रते हैं और धर्मानुरागरूप होते हैं ।

वहां तो दोनों कार्य शिथिलता सहित होते हैं । यहां पुण्य-पाप के कारण-कार्यादिक विशेष जानने से वे दोनों कार्य दृढ़ता से होते हैं । इसलिए इसका अभ्यास करना । इसप्रकार प्रथमानुयोग के पक्षपाती को इस शास्त्र के अभ्यास में सन्मुख किया।

अब **चरणानुयोग का पक्षपाती कहता है** कि इस शास्त्र में कहा हुआ जीव-कर्म का स्वरूप जैसा है वैसा ही है, उसको जानने से क्या सिद्धि होती है ? यदि हिंसादिक का त्याग करके व्रत का पालन किया जाय, उपवासादि तप किया जाय, अरहंतादिक की पूजा, नामस्मरण आदि भक्ति की जाय, दान दिया जाय वा विषयादिक से उदासीन हो जाय इत्यादि शुभ कार्य किये जाय तो आत्महित हो । इसलिए इनका प्ररूपण करनेवाले चरणानुयोग का उपदेश करना ।

उसको कहते हैं – हे स्थूलबुद्धि ! तूने व्रतादिक शुभ कार्य कहे, वे करने योग्य ही हैं । परंतु वे सर्व सम्यक्त्व बिना ऐसे हैं जैसे अंक बिना बिंदी; और जीवादिक का स्वरूप जाने बिना सम्यक्त्व का होना ऐसा है जैसे बांझ का पुत्र । इसलिए जीवादिक जानने के लिये इस शास्त्र का अभ्यास अवश्य करना । तथा तूने जैसे व्रतादिक शुभ कार्य कहे और उनसे पुण्यबंध होता है, वैसे जीवादिक का स्वरूप जाननेरूप ज्ञानाभ्यास है, वह प्रधान शुभ कार्य है, इससे सातिशय पुण्य का बंध होता है । पुनश्च उन व्रतादिकों में भी ज्ञानाभ्यास की ही प्रधानता है, वह कहते हैं –

जो जीव प्रथम जीवसमासादिक जीवादिक के विशेष जानकर पश्चात् यथार्थ ज्ञान करके हिंसादिक का त्याग करके व्रत धारण करता है, वही व्रती है । तथा जीवादिक के विशेष जाने बिना किंचित् हिंसादिक के त्याग से अपने को व्रती मानता है, वह व्रती नहीं है । इसलिए व्रत पालने में ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है ।

पुनश्च तप दो प्रकार के हैं – एक बहिरंग, एक अंतरंग । वहां जिससे शरीर का दमन हो, वह बहिरंग तप है और जिससे मन का दमन हो वह अंतरंग तप है। इनमें बहिरंग तप से अंतरंग तप उत्कृष्ट है । उपवासादि तो बहिरंग तप है, ज्ञानाभ्यास अंतरंग तप है । सिद्धांत में भी छह प्रकार के अंतरंग तपों में चौथा स्वाध्याय नामक तप कहा है । उससे उत्कृष्ट व्युत्सर्ग और ध्यान ही है । इसलिए तप करने में भी

ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है । पुनश्च जीवादिक के विशेषरूप गुणस्थानादिकों का स्वरूप जाननेपर ही अरहंतादिकों का स्वरूप यथार्थ रीति से पहचाना जाता है तथा अपनी अवस्था पहचानी जाती है । ऐसी पहचान होनेपर जो अंतरंग तीव्र भक्ति प्रगट होती है, वही बहुत कार्यकारी है । तथा जो कुलक्रमादिक से भक्ति होती है, वह किंचित् मात्र फल की दाता है। इसलिए भक्ति में भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है ।

पुनश्च दान चार प्रकार का है – उनमें आहारदान, औषधदान, अभयदान तो तात्कालिक क्षुधा के दुःख को, रोग के दुःख को और मरणादि के भय के दुःख ही को दूर करते हैं । और ज्ञानदान है वह अनंत भवसंतान संबंधी दुःख दूर करने का कारण है । तीर्थंकर, केवली, आचार्यादिकों के भी ज्ञानदान की प्रवृत्ति है । इसलिए ज्ञानदान उत्कृष्ट है, सो स्वयं का ज्ञानाभ्यास हो जाय तो अपना भला कर लेता है और अन्य जीवों को ज्ञानदान देता है । ज्ञानाभ्यास बिना ज्ञानदान देना कैसे हो सकता है ? इसलिए दान में भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है ।

पुनश्च जिसप्रकार जन्म से ही कितने ही पुरुष ठगों के घर गये, वहां उन ठगों को अपना मानते हैं । उनमें से कदाचित् कोई पुरुष किसी निमित्त से अपने कुल का और ठगों का यथार्थ ज्ञान होने से ठगों से अंतरंग में उदासीन हुआ उनको पर जानकर संबंध छुड़ाना चाहता है । बाह्य में जैसा निमित्त है वैसा प्रवर्तन करता है । पुनश्च कोई पुरुष उन ठगों को अपना ही जानता है और किसी कारण से किसी ठग से अनुरागरूप प्रवर्तता है, किसी ठग से लड़ कर उदासीन होकर आहारादि का त्यागी होता है ।

उसप्रकार अनादि से सर्व जीव संसार को प्राप्त हैं, वहां कर्मों को अपना मानते हैं । उनमें से कोई जीव किसी निमित्त से जीव का *(अपना)* और कर्म का यथार्थ ज्ञान होने से कर्मों से उदासीन हुआ उनको पर जानकर उनसे संबंध छुड़ाना चाहता है । बाह्य जैसा निमित्त है वैसा प्रवर्तन करता है । इसतरह जो ज्ञानाभ्यास से उदासीनता होती है वही कार्यकारी है । पुनश्च कोई जीव उन कर्मों को अपने जानता है और किसी कारण से किसी शुभ कर्म से अनुरागरूप प्रवर्तता है, किसी अशुभ कर्म से दुःख का कारण जानकर उदासीन हुआ विषयादिक का त्यागी होता है । इसतरह ज्ञान बिना जो उदासीनता होती है वह पुण्यफल की दाता है, मोक्षकार्य को नहीं साधती । इसलिए उदासीनता में भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है ।

इसीप्रकार अन्य भी शुभ कार्यों में ज्ञानाभ्यास ही प्रधान जानना । देखो ! महामुनियों के भी ध्यान-अध्ययन दो ही कार्य मुख्य हैं । इसलिए शास्त्र अध्ययन से जीव और कर्म का स्वरूप जानकर स्वरूप का ध्यान करना ।

पुनश्च यहां कोई तर्क करे कि – कोई जीव शास्त्र अध्ययन तो बहुत करता है और विषयादिक का त्यागी नहीं होता, तो उसको शास्त्र अध्ययन कार्यकारी है या नहीं ? यदि है, तो महंत पुरुष क्यों विषयादिक का त्याग करते हैं ? और यदि नहीं है, तो ज्ञानाभ्यास की महिमा कहां रही ?

उसका समाधान – शास्त्राभ्यासी दो प्रकार के हैं – एक लोभार्थी, एक धर्मार्थी। वहां जो अंतरंग अनुराग के बिना ख्याति, पूजा, लाभादिक के लिये शास्त्राभ्यास करता है, वह लोभार्थी है, वह विषयादिक का त्याग नहीं करता । अथवा ख्याति, पूजा, लाभादिक के लिये विषयादिक का त्याग भी करता है, तो भी उसका शास्त्राभ्यास कार्यकारी नहीं है ।

तथा जो अंतरंग अनुराग से आत्महित के लिये शास्त्राभ्यास करता है, वह धर्मार्थी है। प्रथम तो जैनशास्त्र ऐसे हैं कि जिनका धर्मार्थी होकर जो अभ्यास करता है, वह विषयादिक का त्याग करता ही है । उसके तो ज्ञानाभ्यास कार्यकारी है ही। परंतु कदाचित् पूर्वकर्म के उदय की प्रबलता से न्यायरूप विषयों का त्याग न बन सके, तो भी उसके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान होने से ज्ञानाभ्यास कार्यकारी होता है । जैसे असंयत गुणस्थान में विषयादिक के त्याग बिना भी मोक्षमार्गपना होता है ।

यहां प्रश्न – जो धर्मार्थी होकर जैनशास्त्रों का अभ्यास करता है, उसके विषयादिक का त्याग न हो, ऐसा तो बन नहीं सकता । क्योंकि विषयादिक का सेवन परिणामों से होता है और परिणाम स्वाधीन हैं ।

वहां समाधान – परिणाम ही दो प्रकार के हैं – एक बुद्धिपूर्वक, एक अबुद्धिपूर्वक। वहां अपने अभिप्राय के अनुसार हो वे बुद्धिपूर्वक और दैव *(कर्म)*-निमित्त से अपने अभिप्राय से अन्यथा हो वे अबुद्धिपूर्वक । जिसप्रकार सामायिक करते हुये धर्मात्मा का अभिप्राय ऐसा है कि मैं मेरे परिणाम शुभरूप रखूं । वहां जो शुभपरिणाम ही हो, वे तो बुद्धिपूर्वक और कर्मोदय से स्वयमेव अशुभ परिणाम हो, वे अबुद्धिपूर्वक जानना । उसीप्रकार धर्मार्थी होकर जो जैनशास्त्रों का अभ्यास करता है उसका अभिप्राय

तो विषयादिक के त्यागरूप वीतराग भाव का ही होता है । वहां यदि वीतराग भाव हुआ, तो वह बुद्धिपूर्वक है और चारित्रमोह के उदय से सराग भाव हो जाय, तो वह अबुद्धिपूर्वक है । इसलिए बिना वश जो सराग भाव होते हैं, उनसे उसके विषयादिक की प्रवृत्ति दिखायी देती है । क्योंकि बाह्य प्रवृत्ति का कारण परिणाम है ।

यहां तर्क – यदि ऐसा है, तो हम भी विषयादिक का सेवन करेंगे और कहेंगे कि हमारे उदयाधीन कार्य हो रहे हैं ।

उसको कहते हैं – रे मूर्ख ! कुछ कहने से तो होता नहीं ! सिद्धि तो अभिप्राय के अनुसार है । इसलिए जैनशास्त्र के अभ्यास से अपने अभिप्राय को सम्यक्रूप करना । और अंतरंग में विषयादिक के सेवन का अभिप्राय हो, तो धर्मार्थी नाम नहीं पाता ।

इसतरह चरणानुयोग के पक्षपाती को इस शास्त्र के अभ्यास में सन्मुख किया।

अब द्रव्यानुयोग का पक्षपाती कहता है कि – इस शास्त्र में जीव के गुणस्थानादिकरूप विशेष और कर्म के विशेष इनका वर्णन किया है, उसको जानने से अनेक विकल्प तरंग उठते हैं तथा कुछ सिद्धि नहीं है । इसलिए अपने शुद्ध स्वरूप को अनुभवना तथा स्व और पर का भेदविज्ञान करना, इतना ही कार्यकारी है अथवा इनके उपदेशक जो अध्यात्मशास्त्र, उनका ही अभ्यास करना योग्य है ।

उसको कहते हैं – हे सूक्ष्माभासबुद्धि ! तूने कहा वह सत्य है, परंतु अपनी अवस्था देखना । यदि स्वरूपानुभव में वा भेदविज्ञान में उपयोग निरंतर रहता है, तो अन्य विकल्प क्यों करने ? वहां ही स्वरूपानंद सुधारस का स्वादी होकर संतुष्ट होना। परंतु निचली अवस्था में वहां निरंतर उपयोग रहता नहीं । उपयोग अनेक अवलंबन को चाहता है । इसलिए जिस काल में वहां उपयोग नहीं लगता, तब गुणस्थानादि विशेष जानने का अभ्यास करना ।

पुनश्च तूने कहा कि – अध्यात्मशास्त्रों का ही अभ्यास करना, वह योग्य ही है । परंतु वहां भेदविज्ञान करने के लिये स्व-पर का सामान्यपने स्वरूप निरूपण है और विशेष ज्ञान बिना सामान्य का जानना स्पष्ट नहीं होता । इसलिए जीव के और कर्म के विशेष अच्छी तरह जानने से ही स्व-पर का जानना स्पष्ट होता है । उन विशेषों को जानने के लिये इस शास्त्र का अभ्यास करना । क्योंकि सामान्यशास्त्र से

विशेषशास्त्र बलवान है । वही कहा है – "**सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान भवेत् ।**"

वहां वह कहता है कि – अध्यात्मशास्त्रों में तो गुणस्थानादि विशेषों से रहित शुद्धस्वरूप का अनुभवना उपादेय कहा है । यहां गुणस्थानादि सहित जीव का वर्णन है। इसलिए अध्यात्मशास्त्र और इस शास्त्र में तो विरोध भासित होता है, वह किसप्रकार है?

उसको कहते हैं – नय दो प्रकार के हैं – एक निश्चय, एक व्यवहार । वहां निश्चयनय से जीव का स्वरूप गुणस्थानादि विशेष रहित अभेद वस्तुमात्र ही है। और व्यवहारनय से गुणस्थानादि विशेषों से संयुक्त अनेक प्रकार का है । वहां जो जीव सर्वोत्कृष्ट, अभेद, एक स्वभाव को अनुभवते हैं, उनको तो वहां शुद्ध उपदेशरूप जो शुद्ध निश्चयनय, वही कार्यकारी है ।

पुनश्च जो स्वानुभवदशा को प्राप्त नहीं हुये हैं वा स्वानुभवदशा से छूटकर सविकल्पदशा को प्राप्त हुये हैं ऐसे अनुत्कृष्ट जो अशुद्ध स्वभाव, उसमें स्थित जीवों को व्यवहारनय प्रयोजनवान है । वही आत्मख्याति नामक अध्यात्मशास्त्र में कहा है –

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरसीहिं ।
ववहारदेसिदो पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे ।। समयसार गाथा १२।।

इस सूत्र के व्याख्यान का अर्थ विचार कर देखना ।

पुनश्च सुनो ! तुम्हारे परिणाम तो स्वरूपानुभव दशा में तो प्रवर्तते नहीं और विकल्प जानकर गुणस्थानादि भेदों का विचार न करोगे तो तुम इतो भ्रष्ट ततो भ्रष्ट होकर अशुभोपयोग में ही प्रवर्तन करोगे, वहां तुम्हारा बुरा होगा । पुनश्च सुनो ! सामान्यपने से तो वेदांत आदि शास्त्राभासों में *(शास्त्र नहीं शास्त्र का आभास है)* भी जीव का स्वरूप शुद्ध कहा है, वहां विशेष को जाने बिना यथार्थ-अयथार्थ का निश्चय कैसे हो ? इसलिए गुणस्थानादि विशेष जाननेपर जीव की शुद्ध, अशुद्ध, मिश्र अवस्था का ज्ञान होता है, तब निर्णय करके यथार्थ को अंगीकार करता है । पुनश्च सुनो ! जीव का गुण ज्ञान है, सो विशेष जानने से आत्मगुण प्रकट होता है, अपना श्रद्धान भी दृढ़ होता है । जैसे सम्यक्त्व है, वह केवलज्ञान प्राप्त होनेपर परमावगाढ़ नाम पाता है । इसलिए विशेष जानना ।

पुनश्च वह कहता है – आपने कहा वह सत्य है, परंतु करणानुयोग से विशेष जाननेपर भी द्रव्यलिंगी मुनि अध्यात्म श्रद्धान के बिना संसारी ही रहता है और अध्यात्म का अनुसरण करनेवाले तिर्यंचादिक को अल्प श्रद्धान से भी सम्यक्त्व होता है । और तुषमाष भिन्न इतने मात्र श्रद्धान से शिवभूति मुनि मुक्त हुये । इसलिए हमारी बुद्धि से तो विशेष विकल्पों का साधन होता नहीं । प्रयोजनमात्र अध्यात्म का अभ्यास करेंगे ।

इसको कहते हैं – द्रव्यलिंगी जैसे करणानुयोग से विशेष जानते हैं, वैसे अध्यात्मशास्त्रों का ज्ञान भी उनको होता है, परंतु मिथ्यात्व के उदय से अयथार्थ साधन करते हैं, तो शास्त्र क्या करें ? शास्त्र में तो परस्पर विरोध है नहीं। कैसे ? वह कहते हैं–

करणानुयोग शास्त्रों में भी तथा अध्यात्मशास्त्रों में भी रागादिक भाव आत्मा के कर्म निमित्त से उत्पन्न होते हैं कहा । द्रव्यलिंगी उनका स्वयं कर्ता होकर प्रवर्तता है । पुनश्च शरीराश्रित सर्व शुभाशुभ क्रियायें पुद्‌गलमयी कही हैं, द्रव्यलिंगी उन्हें अपनी जानकर उनमें ग्रहण-त्याग की बुद्धि करता है । पुनश्च सर्व ही शुभाशुभ भाव आस्रव, बंध के कारण कहे । द्रव्यलिंगी शुभभावों को संवर, निर्जरा, मोक्ष का कारण मानता है । पुनश्च शुद्धभाव संवर, निर्जरा, मोक्ष का कारण कहा, उसको द्रव्यलिंगी पहचानता ही नहीं है । पुनश्च शुद्धात्मस्वरूप मोक्ष कहा, उसका द्रव्यलिंगी को यथार्थ ज्ञान नहीं है । इसतरह अन्यथा साधन करता है, तो शास्त्रों का क्या दोष है ?

पुनश्च तुमने तिर्यंचादिक के सामान्य श्रद्धान से कार्यसिद्धि कही परंतु उनके भी अपने क्षयोपशम के अनुसार विशेष का जानना होता है अथवा पूर्व पर्यायों में विशेष का अभ्यास किया था, उस संस्कार के बल से होता है । जिसप्रकार किसी ने कहीं गड़ा हुआ धन पाया इसलिए हम भी ऐसे ही पायेंगे मानकर सभी को व्यापारादिक का त्याग नहीं करना चाहिये । उसीप्रकार किसी ने अल्प श्रद्धान से ही कार्य सिद्ध किया इसलिए हम भी ऐसे ही कार्य सिद्ध करेंगे मानकर सभी को विशेष अभ्यास का त्याग करना योग्य नहीं है क्योंकि यह राजमार्ग नहीं है । राजमार्ग तो यह ही है कि नानाप्रकार के विशेष जानकर तत्त्वों का निर्णय होनेपर ही कार्यसिद्धि होती है।

पुनश्च तुमने कहा मेरी बुद्धि से विकल्पसाधन नहीं होता, तो जितना बन सके उतना ही अभ्यास करो । तुम पापकार्य में तो प्रवीण हो और इस अभ्यास में कहते हो मेरी बुद्धि नहीं है, यह तो पापी का लक्षण है ।

इसतरह द्रव्यानुयोग के पक्षपाती को इस शास्त्र के अभ्यास में सन्मुख किया।

अब अन्य विपरीत विचारवालों को समझाते हैं –

वहां **शब्द-शास्त्रादिक का पक्षपाती कहता है कि** व्याकरण, न्याय, कोश, छंद, अलंकार, काव्यादिक ग्रंथों का अभ्यास किया जाय तो अनेक ग्रंथों का स्वयमेव ज्ञान होता है और पंडितपना प्रकट होता है और इस शास्त्र के अभ्यास से तो एक इसी का ज्ञान हो और पंडितपना विशेष प्रकट न हो, इसलिए शब्द-शास्त्रादिक का अभ्यास करना ।

उसको कहते हैं – यदि तुम लोक में ही पंडित कहलाना चाहते हो, तो तुम उसी का अभ्यास किया करो और यदि अपना कार्य करना चाहते हो तो ऐसे जैनग्रंथों का अभ्यास करना ही योग्य है । तथा जैनी तो जीवादिक तत्त्वों के निरूपक जैनग्रंथ हैं, उन्हीं का अभ्यास होनेपर पंडित मानेंगे ।

पुनश्च वह कहता है कि – मैं जैनग्रंथों का विशेष अभ्यास करने के लिये ही व्याकरणादि का अभ्यास करता हूँ ।

उसको कहते हैं – यदि ऐसा है तो भला ही है, परंतु इतना है कि जिसतरह चतुर किसान अपनी शक्ति के अनुसार हलादिक द्वारा थोड़े बहुत खेत को संवारकर योग्य समय में बीज बोवे तो उसको फल की प्राप्ति होगी । उसीतरह तुम भी अपनी शक्ति के अनुसार व्याकरणादिक के अभ्यास से थोड़ी बहुत बुद्धि को संवारकर जब तक मनुष्यपर्याय और इन्द्रियों की प्रबलता आदि वर्तते हैं, तब तक उतने समय में तत्त्वज्ञान के कारणभूत जो शास्त्र, उनका अभ्यास करोगे, तो तुम्हें सम्यक्त्वादि की प्राप्ति होगी ।

इससे विपरीत जिसतरह अनाड़ी किसान यदि हलादिक से खेत को संवारते-संवारते ही समय खो देगा, तो उसको फल की प्राप्ति होनेवाली नहीं है, वृथा ही खेदखिन्न होगा । उसीप्रकार तुम भी यदि व्याकरणादिक से बुद्धि को संवारते-संवारते ही समय खो दोगे, तो सम्यक्त्वादि की प्राप्ति होनेवाली नहीं है, वृथा ही खेदखिन्न हो जाओगे ।

पुनश्च इस काल में आयु, बुद्धि आदि अल्प है इसलिये प्रयोजनमात्र अभ्यास करना, शास्त्रों का तो पार है नहीं । और सुनो ! कितने ही जीव व्याकरणादि के

ज्ञान बिना भी तत्त्वोपदेशरूप भाषा शास्त्रों से वा उपदेश सुनकर वा सीखने से तत्त्वज्ञानी होते हुए देखे जाते हैं और कितने ही जीव केवल व्याकरणादिक के ही अभ्यास में जन्म गंवाते हैं और तत्त्वज्ञानी नहीं होते देखे जाते हैं ।

और सुनो ! व्याकरणादि के अभ्यास करने से पुण्य की प्राप्ति नहीं होती, धर्मार्थी होकर उनका अभ्यास करे तो किंचित् पुण्य उपजता है । परंतु तत्त्वोपदेशक शास्त्रों के अभ्यास से सातिशय महान पुण्य उपजता है । इसलिए भला यही है कि ऐसे तत्त्वोपदेशक शास्त्रों का अभ्यास करना । इसतरह शब्द-शास्त्रादिक के पक्षपाती को इस शास्त्र के अभ्यास में सन्मुख किया ।

पुनश्च अर्थ का पक्षपाती कहता है कि – इस शास्त्र का अभ्यास करने से क्या है ? सर्व कार्य धन से होते हैं, धन से ही प्रभावना आदि धर्म उत्पन्न होते हैं । धनवान के निकट अनेक पंडित आकर उपस्थित होते हैं । अन्य भी सर्व कार्यों की सिद्धि होती है । इसलिए धन प्राप्ति का उद्यम करना ।

उसको कहते हैं – अरे पापी ! धन कुछ अपने उत्पन्न कराने से उत्पन्न नहीं होता, भाग्य से होता है । ग्रंथाभ्यास आदि धर्मसाधन से जो पुण्य की उत्पत्ति होती है, उसी का नाम भाग्य है । इसलिए धन प्राप्त होना है तो शास्त्राभ्यास करने से कैसे नहीं होगा ? और यदि नहीं होना है तो शास्त्राभ्यास नहीं करने से कैसे होगा? इसलिए धन का होना, न होना तो उदयाधीन है, शास्त्राभ्यास में क्यों शिथिल होते हो ? और सुनो ! धन है वह तो विनाशिक है, भय संयुक्त है, पाप से उत्पन्न होता है, नरकादि का कारण है ।

और यह शास्त्राभ्यासरूप ज्ञानधन है वह अविनाशी है, भय रहित है, धर्मरूप है, स्वर्ग मोक्ष का कारण है । इसलिए महंत पुरुष तो धनादिक को छोड़कर शास्त्राभ्यास में लगते हैं । और तुम पापी शास्त्राभ्यास को छोड़कर धन उत्पन्न करने की बड़ाई करते हो, सो तुम अनंत संसारी हो ।

तथा तुमने कहा – प्रभावना आदि धर्म भी धन ही से होते हैं ।

समाधान – सो प्रभावना आदि धर्म हैं वे किंचित् सावद्य क्रिया संयुक्त हैं। उनसे समस्त सावद्य रहित शास्त्राभ्यासरूप धर्म है, वह प्रधान है । यदि ऐसा न होता तो गृहस्थ अवस्था में प्रभावना आदि धर्म साधते थे, उनको छोड़कर संयमी होकर

शास्त्राभ्यास में क्यों लगते हैं ? तथा शास्त्राभ्यास से प्रभावनादि भी विशेष होती हैं।

तथा तुमने कहा – धनवान के निकट पंडित भी आकर उपस्थित होते हैं ।

समाधान – सो लोभी पंडित हो और अविवेकी धनवान हो वहां ऐसा होता है । और शास्त्राभ्यासवालों की तो इन्द्रादिक सेवा करते हैं । यहां भी बड़े बड़े महंत पुरुष दास होते देखे जाते हैं । इसलिए शास्त्राभ्यासवालों से धनवान को महंत मत जानो ।

तथा तुमने कहा – धन से सर्व कार्यसिद्धि होती है ।

समाधान – सो धन से तो इस लोक संबंधी कुछ विषयादिक कार्य ऐसे सिद्ध होते हैं, जिनसे बहुत काल तक नरकादि दुःख सहन करने पड़ते हैं और शास्त्राभ्यास से ऐसे कार्य सिद्ध होते हैं, जिनसे इस लोक में तथा परलोक में अनेक सुखों की परम्परा होती है । इसलिए धन उपजाने के विकल्प छोड़कर शास्त्राभ्यास करना । और यदि सर्वथा ऐसा न बन सके तो संतोष सहित धन उपजाने का साधन कर शास्त्राभ्यास में तत्पर रहना । इसतरह धनोत्पादन के पक्षपाती को इस शास्त्र के अभ्यास में सन्मुख किया ।

पुनश्च कामभोगादिक का पक्षपाती कहता है कि – शास्त्राभ्यास करने में सुख नहीं है, बड़ाई नहीं है । इसलिये जिनके द्वारा यहां ही सुख उत्पन्न हो ऐसे जो स्त्रीसेवन, खाना, पहनना इत्यादि विषय, उनका सेवन करना चाहिये अथवा जिनके द्वारा यहां ही बड़ाई हो ऐसे विवाहादिक कार्य करना चाहिये ।

उसको कहते हैं – विषयजनित जो सुख है, वह दुःख ही है । क्योंकि विषयसुख है वह परनिमित्त से होता है । पहले, पीछे और तत्काल आकुलता सहित है, जिसके नाश होने के अनेक कारण मिलते हैं । आगामी नरकादि दुर्गति को प्राप्त करानेवाला है । ऐसा होनेपर भी तुम्हारे चाहने से मिलता नहीं, पूर्व पुण्य से मिलता है, इसलिये विषम है । जैसे खाज से पीड़ित मनुष्य अपने अंग को कठोर वस्तु से खुजाता है, वैसे इन्द्रियों से पीड़ित जीव, उनकी पीड़ा सही नहीं जाती तब किंचित् मात्र इस पीड़ा के प्रतिकार से भासित होते हैं ऐसे जो विषयसुख, उनमें झंपापात करते हैं, वह परमार्थरूप सुख नहीं है ।

पुनश्च शास्त्राभ्यास करने से हुआ जो सम्यग्ज्ञान, उससे उत्पन्न जो आनंद, वह सच्चा सुख है । क्योंकि वह सुख स्वाधीन है, आकुलता रहित है, किसी से नष्ट नहीं होता, मोक्ष का कारण है, विषम नहीं है । जैसे खाज की पीड़ा नहीं होती, तब सहज ही सुखी होता है, वैसे वहां इन्द्रियां पीड़ने के लिये समर्थ नहीं होती, तब सहज ही सुख को प्राप्त होता है । इसलिए विषयसुख छोड़कर शास्त्राभ्यास करना। यदि सर्वथा न छूटे तो जितना बन सके उतना छोड़कर, शास्त्राभ्यास में तत्पर रहना।

पुनश्च तुमने विवाहादिक कार्य में बड़ाई होने की बात कही, तो कितने दिन वह बड़ाई रहेगी ? जिसके लिये महापापारंभ द्वारा नरकादि में बहुत काल तक दुःख भोगना होगा । अथवा तुमसे भी उन कार्यों में धन लगानेवाले बहुत हैं, इसलिए विशेष बड़ाई भी होनेवाली नहीं है ।

शास्त्राभ्यास से तो ऐसी बड़ाई होती है कि जिसकी सर्वजन महिमा करते हैं, इन्द्रादिक भी प्रशंसा करते हैं और परम्परा स्वर्ग-मोक्ष का कारण है । इसलिए विवाहादिक कार्यों के विकल्प छोड़कर शास्त्राभ्यास का उद्यम रखना । सर्वथा न छूटे तो बहुत विकल्प न करना । इसतरह कामभोगादिक के पक्षपाती को शास्त्राभ्यास में सन्मुख किया । इसीप्रकार अन्य जीव भी जो विपरीत विचार से इस ग्रंथ के अभ्यास में अरुचि प्रकट करते हैं, उन्हें यथार्थ विचार से इस शास्त्र के अभ्यास में सन्मुख होना योग्य है ।

यहां अन्यमती कहते हैं – तुमने अपने ही शास्त्रों का अभ्यास करने के लिये दृढ़ किया । हमारे मत में नाना युक्ति आदि से संयुक्त शास्त्र हैं, उनका भी अभ्यास क्यों नहीं कराते ?

उसको कहते हैं – तुम्हारे मत के शास्त्रों में आत्महित का उपदेश नहीं है। क्योंकि कहीं शृंगार का, कहीं युद्ध का, कहीं कामसेवनादि का, कहीं हिंसादि का कथन है । ये सब तो बिना उपदेश के सहज ही हो रहे हैं । इनको त्यागने से हित होता है, वे उनका उलटा पोषण करते हैं, इसलिए उनसे हित कैसे होगा ?

वहां वह कहता हैं – ईश्वर ने ऐसी लीला की है, उसको गाते हैं, उससे भला होता है ।

वहां कहते हैं – ईश्वर को सहज सुख नहीं होगा, तब तो संसारीवत् लीला

करके सुखी हुआ । यदि वह सहज सुखी होता तो किसलिये विषयादि सेवन और युद्धादि करता ? क्योंकि मंदबुद्धि भी बिना प्रयोजन किंचित् मात्र भी कार्य नहीं करते। इससे जाना जाता है कि वह ईश्वर हम सरिखा ही है, उसका यश गाने से क्या सिद्धि है ?

पुनश्च वह कहता है कि – हमारे शास्त्रों में वैराग्य, त्याग, अहिंसादिक का भी उपदेश है ।

वहां कहते हैं – वह उपदेश पूर्वापर विरोध सहित है । कहीं विषयों का पोषण करते हैं, कहीं निषेध करते हैं । कहीं वैराग्य दिखाकर पश्चात् हिंसादिक के करने का पोषण किया है । वहां वातुलवचनवत् प्रमाण क्या ?

पुनश्च वह कहता है कि – वेदांत आदि शास्त्रों में तो तत्त्व का ही निरूपण है।

वहां कहते हैं – वह निरूपण प्रमाण से बाधित है, अयथार्थ है । उसका निराकरण जैन के न्यायशास्त्रों में किया है, वह जानना । इसलिए अन्यमत के शास्त्रों का अभ्यास नहीं करना ।

इसतरह जीवों को इस शास्त्र के अभ्यास में सन्मुख किया, उनको कहते हैं–

हे भव्य ! शास्त्राभ्यास के अनेक अंग हैं । शब्द का और अर्थ का वांचना या सीखना, सिखाना, उपदेश देना, विचारना, सुनना, प्रश्न करना, समाधान जानना, बारम्बार चर्चा करना इत्यादि अनेक अंग हैं । वहां जैसे बने वैसे अभ्यास करना। यदि सर्व शास्त्र का अभ्यास न बने तो इस शास्त्र में सुगम और दुर्गम अनेक अर्थों का निरूपण है । वहां जिसका बने उसीका अभ्यास करना । परंतु अभ्यास में आलसी मत होना ।

देखो ! शास्त्राभ्यास की महिमा जिसके होनेपर परम्परा आत्मानुभव दशा को प्राप्त होकर मोक्षरूप फल उत्पन्न होता है । वह तो दूर ही रहो, शास्त्राभ्यास से तत्काल ही इतने गुण प्रकट होते हैं –

१) क्रोधादि कषायों की तो मंदता होती है । २) पांच इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति रुकती है । ३) अति चंचल मन भी एकाग्र होता है । ४) हिंसादि पांच पाप नहीं होते । ५) अल्प ज्ञान होनेपर भी त्रिलोक के त्रिकाल संबंधी समस्त चराचर

पदार्थों का जानना होता है । ६) हेय उपादेय की पहचान होती है । ७) आत्मज्ञान सन्मुख होता है (ज्ञान आत्मसन्मुख होता है) । ८) अधिक अधिक ज्ञान होनेपर आनंद उत्पन्न होता है । ९) लोक में महिमा, यश विशेष होता है । १०) सातिशय पुण्य का बंध होता है – इत्यादिक गुण शास्त्राभ्यास करने से तत्काल ही प्रकट होते हैं। इसलिए शास्त्राभ्यास अवश्य करना ।

पुनश्च हे भव्य ! शास्त्राभ्यास करने का समय *(अवसर)* पाना महादुर्लभ है । किस कारण ? सो कहते हैं –

एकेन्द्रियादि असंज्ञी पर्यंत जीवों के तो मन ही नहीं है । और नारकी वेदना से पीड़ित, तिर्यंच विवेकरहित, देव विषयासक्त, इसलिए मनुष्यों को अनेक सामग्री मिलनेपर शास्त्राभ्यास होता है । सो मनुष्यपर्याय की प्राप्ति होना ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से महादुर्लभ है ।

वहां द्रव्य से *(संख्या से)* लोक में मनुष्य जीव बहुत थोड़े हैं, तुच्छ संख्यातमात्र ही हैं *(पर्याप्त मनुष्यों की अपेक्षा)* और अन्य जीवों में निगोदिया अनंत हैं, दूसरे जीव असंख्यात हैं ।

पुनश्च क्षेत्र से मनुष्यों का क्षेत्र बहुत छोटा है, अढ़ाई द्वीपमात्र ही है । तथा अन्य जीवों में एकेन्द्रियों का क्षेत्र सर्वलोक है, औरों का कितनेक राजूप्रमाण है ।

पुनश्च काल से मनुष्यपर्याय में उत्कृष्ट रहने का काल अल्प है, कर्मभूमि की अपेक्षा पृथक्त्व कोडि पूर्व मात्र ही है । तथा अन्य पर्यायों में उत्कृष्ट रहने का काल- एकेन्द्रियों में तो असंख्यात पुद्गल परिवर्तन मात्र और दूसरों में संख्यात पल्यमात्र है।

पुनश्च भाव से तीव्र शुभाशुभपना रहित ऐसे मनुष्यपर्याय के कारणभूत परिणाम होना अत्यंत दुर्लभ है । अन्य पर्याय के कारणभूत अशुभरूप और शुभरूप परिणाम होना सुलभ है ।

इसतरह शास्त्राभ्यास का कारण जो पर्याप्त कर्मभूमिया मनुष्यपर्याय, उसका दुर्लभपना जानना ।

वहां सुवास, उच्चकुल, पूर्ण आयु, इन्द्रियों की सामर्थ्य, निरोगपना, सुसंगति, धर्मरूप अभिप्राय, बुद्धि की प्रबलता इत्यादिक की प्राप्ति होना उत्तरोत्तर महादुर्लभ है।

वह प्रत्यक्ष देखते हैं । और इतनी सामग्री मिले बिना ग्रंथाभ्यास बन नहीं सकता। सो तुमने भाग्य से यह अवसर पाया है । इसलिए तुमको हठ से भी तुम्हारे हित के लिये प्रेरित करते हैं । जैसे बने वैसे इस शास्त्र का अभ्यास करो । तथा अन्य जीवों को जैसे बने वैसे शास्त्राभ्यास कराओ । तथा जो जीव शास्त्राभ्यास करते हैं, उनकी अनुमोदना करो । पुस्तक लिखवाना और पढ़ने-पढ़ानेवालों की स्थिरता करना इत्यादिक शास्त्राभ्यास के बाह्य कारण, उनका साधन करना । क्योंकि इनके द्वारा भी परम्परा कार्यसिद्धि होती है और महत् पुण्य उपजता है ।

इसतरह इस शास्त्र के अभ्यासादि में जीवों को रुचिवान किया ।

— o —

गोम्मटसार कर्मकाण्ड संबंधी प्रकरण

ॐ नमः । यहां कर्मकाण्ड (अजीवकाण्ड) नामक महाअधिकार के नौ अधिकार हैं । उनके व्याख्यान की सूचना मात्र क्रम से कहते हैं –

वहां **पहले प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकार** में मंगलाचरणपूर्वक प्रतिज्ञा करके प्रतिज्ञा के स्वरूप का, जीव-कर्म के संबंध का, उनके अस्तित्व का, दृष्टांतपूर्वक कर्मपरमाणुओं के ग्रहण का, बंध-उदय-सत्त्वरूप कर्मपरमाणुओं के प्रमाण का वर्णन है । पुनश्च ज्ञानावरणादि आठ मूलप्रकृतियों के नाम का, इनमें घाति-अघाति भेद का, इनके द्वारा जो कार्य होते हैं उनका, इनके क्रम पाये जाने का, दृष्टांत और निरुक्ति के साथ इनके स्वरूप का वर्णन है । पुनश्च इनकी उत्तरप्रकृतियों का कथन है । वहां पांच निद्रा का, तीन दर्शनमोह होने के विधान का, पांच शरीरों के पंद्रह भंगों का, विवक्षित संहननवाले जीव देव-नरकगति में जहां उपजते हैं उसका, कर्मभूमि के स्त्रियों के तीन संहनन हैं उसका, आतप प्रकृति के स्वरूप एवं स्वामीत्व का विशेष व्याख्यान है ।

पुनश्च मतिज्ञानावरणादि उत्तरप्रकृतियों के निरुक्ति सहित स्वरूप का वर्णन है । वहां प्रसंग पाकर अभव्य के केवलज्ञान के सद्भाव के बारे में प्रश्नोत्तर का, सात धातु, सात उपधातु का इत्यादि वर्णन है । अभेद विवक्षा द्वारा जो प्रकृतियां गर्भित हैं उनका वर्णन करके बंध-उदय-सत्तारूप जितनी-जितनी प्रकृतियां हैं, उनका वर्णन है। घातिकर्मों में सर्वघाति-देशघाति प्रकृतियों का और सभी प्रकृतियों में प्रशस्त-अप्रशस्त प्रकृतियों का वर्णन है । पुनश्च अनंतानुबंधी आदि कषायों के कार्य और वासनाकाल

का वर्णन है । कर्मप्रकृतियों में पुद्गलविपाकी, भवविपाकी, क्षेत्रविपाकी और जीवविपाकी प्रकृतियों का वर्णन है ।

पुनश्च प्रसंग पाकर संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय के वर्णनपूर्वक तीन प्रकार के श्रोताओं का वर्णन करके प्रकृतियों के चार निक्षेपों का वर्णन है । वहां नामादि निक्षेपों का स्वरूप कहकर नामनिक्षेप का तथा तदाकार-अतदाकाररूप दो प्रकार के स्थापनानिक्षेप का तथा आगम-नोआगमरूप दो प्रकार के द्रव्यनिक्षेप का वर्णन है । वहां नोआगम के ज्ञायकशरीर, भावी, तद्व्यतिरिक्तरूप तीन प्रकारों का, वहां भी भूत, भावी, वर्तमानरूप ज्ञायकशरीर के तीन भेदों का, वहां भी च्युत, च्यावित, त्यक्तरूप भूतज्ञायकशरीर के तीन भेदों का, वहां भी त्यक्त के भक्तप्रतिज्ञा, इंगिनी, प्रायोपगमनरूप भेदों का, वहां भी भक्तप्रतिज्ञा के उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्यरूप तीन प्रकारों का और तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यनिक्षेप के कर्म-नोकर्म भेदों का वर्णन है । पुनश्च भावनिक्षेप के आगम-नोआगम भेदों का वर्णन है । वहां इनको मूलप्रकृतियों में बताकर उत्तरप्रकृतियों में वर्णन है। वहां औरौं का सामान्यपने से पाया जाना कहकर नोकर्मरूप तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्य का जुदी-जुदी प्रकृतियों में वर्णन है तथा नोआगमभाव का समुच्चयरूप वर्णन है ।

पश्चात् **दूसरा बंध-उदय-सत्त्वयुक्तस्तव** नामक अधिकार है । वहां नमस्कारपूर्वक प्रतिज्ञा करके स्तवनादिक के लक्षण का वर्णन है । बंध व्याख्यान में बंध के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेशरूप भेदों का तथा उनमें उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य, अजघन्यपने का और इनमें भी सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव के पाये जाने का वर्णन है ।

प्रकृतिबंध के कथन में गुणस्थानों में प्रकृतिबंध के नियम का, वहां भी तीर्थंकर प्रकृति बंधने के विशेष का और गुणस्थानों में व्युच्छित्ति-बंध-अबंध प्रकृतियों का, वहां भी व्युच्छित्ति का स्वरूप दिखाने के लिये द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा का, गति आदि मार्गणा के भेदों में सामान्यपने और वहां पाये जानेवाले गुणस्थान की अपेक्षा व्युच्छित्ति-बंध-अबंध प्रकृतियों के विशेष का, मूल-उत्तर प्रकृतियों में पाये जानेवाले सादि आदि बंध का, वहां अध्रुव प्रकृतियों में सप्रतिपक्ष-निःप्रतिपक्ष प्रकृतियों का तथा निरंतर बंध होने के काल का वर्णन है ।

पुनश्च स्थितिबंध के वर्णन में मूल-उत्तर प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध का तथा उत्कृष्ट स्थितिबंध संज्ञी पंचेन्द्रिय ही के होता है उसका, तथा जिस परिणाम से और

जिस जीव के जिस प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है उसका, वहां प्रसंग पाकर उत्कृष्ट ईषत्, मध्यम संक्लेश परिणामों के स्वरूप दिखाने के लिये अनुकृष्टि आदि विधान का, मूल-उत्तर प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबंध के प्रमाण का तथा जघन्य स्थितिबंध जिसके होता है उसका वर्णन है । एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी-संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मोहादिक की उत्कृष्ट-जघन्य स्थिति के प्रमाण का, वहां प्रसंग पाकर उनके आबाधा के कालभेद काण्डकों के प्रमाण को कहकर भेद प्रमाण द्वारा गुणितकाण्डक प्रमाण को उत्कृष्ट स्थिति में से घटानेपर जघन्य स्थिति का प्रमाण होने का वर्णन है ।

पुनश्च एकेन्द्रियादि जीवों के स्थितिभेदों का स्थापन करके वहां चौदह जीवसमासों में जघन्य-उत्कृष्ट स्थितिबंध और आबाधा तथा भेदों के प्रमाण और उनके जानने के विधान का वर्णन है । वहां प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध जिनके होता है उनका, जघन्य आदि स्थितिबंध में सादि आदि की संभावना का, विशुद्ध-संक्लेश परिणामों से जैसा जघन्य-उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है उसका, आबाधा के लक्षण का, मोहादिक की आबाधा के काल का, आयु की आबाधा के विशेष का वर्णन है । वहां प्रसंग पाकर देव, नारकी, भोगभूमियों, कर्मभूमियों के आयुबंध होने के समय का वर्णन है। उदीरणा की अपेक्षा आबाधाकाल के प्रमाण का, प्रसंग पाकर अचलावली, उदयावली, उपरितन स्थिति में कर्मपरमाणु खिरने का, उदीरणा के स्वरूप का, आयु तथा अन्य कर्मों के निषेकों के स्वरूप का, अंकसंदृष्टिपूर्वक निषेकों में द्रव्यप्रमाण का और वहां गुणहानि आदि का वर्णन है ।

पुनश्च अनुभागबंध के व्याख्यान में प्रकृतियों का अनुभाग जिसप्रकार से संक्लेश-विशुद्ध परिणामों द्वारा बंधता है उसका, तथा जिस प्रकृति का जिसके तीव्र वा जघन्य अनुभाग बंधता है उसका वर्णन है । वहां प्रसंग पाकर अपरिवर्तमान, परिवर्तमान मध्यम परिणामों के स्वरूप का और उत्कृष्टादि अनुभागबंध में सादि आदि भेदों की संभावना का वर्णन है । पुनश्च घातिकर्मों में लता, दारु, अस्थि, शैलभागरूप अनुभाग का, वहां देशघाति स्पर्धकों का मिथ्यात्व में विशेष है उसका, जिन प्रकृतियों में जितने प्रकार के अनुभाग प्रवर्तते हैं उसका, अघातिकर्मों में प्रशस्त प्रकृतियों के गुड़, खाण्ड, शर्करा, अमृतरूप तथा अप्रशस्त प्रकृतियों के निंब(नीम), कांजीर, विष, हलाहलरूप अनुभाग का और इन प्रकृतियों के तीन-तीन प्रकार से अनुभाग प्रवर्तते हैं, उसका वर्णन है।

पुनश्च प्रदेशबंध के कथन में एकक्षेत्र, अनेकक्षेत्र संबंधी और वहां कर्मरूप होने के योग्य-अयोग्यरूप, उनमें भी जीव के ग्रहण की अपेक्षा सादि-अनादिरूप पुद्‌गलों के प्रमाणादिक बताकर, वहां जिन पुद्‌गलों को समयप्रबद्ध में ग्रहण करते हैं उसका और ग्रहण किये हुये परमाणुओं का प्रमाण बताकर उनका आठ वा सात मूलप्रकृतियों में जैसा विभाग होता है उसका, वहां हीनाधिक विभाग होने के कारण का वर्णन है । उत्तरप्रकृतियों में विभाग के अनुक्रम का और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय में सर्वघाति-देशघाति द्रव्य के विभाग का वर्णन है । वहां प्रसंग पाकर मतिज्ञानावरणादि प्रकृतियों में सर्वघाति-देशघाति स्पर्धकों का, वहां अनुभाग संबंधी नानागुणहानि, अन्योन्याभ्यस्त राशि, द्रव्य, स्थिति, गुणहानि का प्रमाण बताकर वहां वर्गणाओं का प्रमाण लाकर उनमें जहां सर्वघाति-देशघातिपना पाया जाता है उसका वर्णन करके चार घातकर्मों की उत्तरप्रकृतियों में कर्मपरमाणुओं के विभाग का वर्णन है । वहां संज्वलन और नोकषाय में विशेष है उसका, नोकषाय में जिनका युगपत् बंध होता है उनका, उनके निरंतर बंधने के काल का, अंतराय की प्रकृतियों में सर्वघातिपना नहीं है उसका वर्णन है। पुनश्च नामकर्म की युगपत् तेइस आदि प्रकृति बंधती हैं उनमें विभाग का और वेदनीयादिक की एक-एक ही प्रकृति बंधती है इसलिए वहां विभाग न करने का वर्णन है ।

पुनश्च मूल-उत्तर प्रकृतियों के उत्कृष्टादि प्रदेशबंध में सादि इत्यादि भेद पाये जाने का, जिस प्रकृति का उत्कृष्ट-जघन्य प्रदेशबंध जिसके होता है उसका, वहां प्रसंग पाकर एक जीव के युगपत् जितनी-जितनी प्रकृति बंधती हैं उसका थोडासा वर्णन है। पुनश्च यहां प्रसंग पाकर योगों का कथन है । वहां उपपाद, एकांतवृद्धि, परिणामरूप योगों के स्वरूपादिक का वर्णन है । योगों के अविभाग प्रतिच्छेद, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, गुणहानि, नानागुणहानि, स्थानों के स्वरूप, प्रमाण, विधान का योगशक्ति या प्रदेश अपेक्षा विशेष वर्णन है । योगों के जघन्य स्थान से लेकर स्थानों में वृद्धि के अनुक्रम आदि का वर्णन है । सूक्ष्म निगोदिया लब्धिअपर्याप्त के जघन्य उपपादयोगस्थान से लेकर चौरासी स्थानों का और बीच-बीच में जिनका स्वामी नहीं पाया जाता उनका, उनमें गुणकार के अनुक्रम का, जघन्य स्थान से उत्कृष्ट स्थान के गुणकार का वर्णन है। तीन प्रकार के योग निरंतर जितने काल तक प्रवर्तते हैं उसका, पर्याप्त त्रस संबंधी परिणामयोगस्थानों में जो-जो, जितने-जितने योगस्थान दो आदि आठ समय तक निरंतर प्रवर्तते हैं उनका प्रमाण लाने के लिये कालयवमध्य रचना का और पर्याप्त त्रस संबंधी

परिणाम योगस्थानों में जितने-जितने जीव पाये जाते हैं उनका प्रमाण जानने के लिये गुणहानि आदि विशेषों सहित जीवयवमध्य रचना का वर्णन है । योगस्थानों से जितना-जितना प्रदेशबंध होता है उसका, जघन्य से उत्कृष्ट स्थान तक बंधने के क्रम के बीच-बीच में जितने अविभाग-प्रतिच्छेद होते हैं उनका वर्णन है ।

पुनश्च चार प्रकार के बंध के कारणों का वर्णन है । योगस्थानादिक के अल्पबहुत्व का वर्णन है । वहां योगस्थान श्रेणी के असंख्यातवें भागमात्र, उनका वर्णन करके उनसे असंख्यात लोकगुणे कर्मप्रकृतियों के भेदों के वर्णन में मतिज्ञानादिकों के भेदों का और क्षेत्र अपेक्षा आनुपूर्वी के भेदों का कथन है । पुनश्च उनसे असंख्यातगुणे कर्मस्थिति के भेदों के वर्णन में उन एक-एक प्रकृति के जघन्यादि उत्कृष्ट तक स्थिति भेदों का कथन है । पुनश्च उनसे असंख्यातगुणे स्थितिबंधअध्यवसायों के वर्णन में द्रव्य, स्थिति, गुणहानि, निषेक, चय आदि द्वारा स्थितिबंध के कारणभूत परिणामों का अल्पसा कथन है । पुनश्च उनसे असंख्यात लोकगुणे अनुभागबंधअध्यवसायस्थानों के वर्णन में द्रव्य, स्थिति, गुणहानि आदि द्वारा अनुभागबंध के कारणभूत परिणामों का अल्पसा कथन है । पुनश्च उनसे अनंतगुणे कर्मप्रदेशों के वर्णन में द्रव्य, स्थिति, गुणहानि, नानागुणहानि, चय, निषेक इनका अंकसंदृष्टि तथा अर्थ द्वारा कथन है । वहां एक समय में समयप्रबद्ध मात्र पुद्गल बंधता है, एक-एक निषेक मिलकर समयप्रबद्धमात्र ही निर्जरित होता है, ऐसा होते हुये डेढ़ गुणहानि गुणित समयप्रबद्ध मात्र सत्त्व रहता है, उसका विधान जानने के लिये त्रिकोणयंत्र की रचना की है ।

इसतरह बंध का वर्णन करके उदय के वर्णन में उदयरूप प्रकृतियों का नियम बताकर गुणस्थानों में व्युच्छित्ति, उदय, अनुदयरूप प्रकृतियों का वर्णन है । यहीं पर उदीरणा में विशेष बताकर गुणस्थानों में व्युच्छित्ति, उदीरणा, अनुदीरणारूप प्रकृतियों का वर्णन है । मार्गणा में उदयरूप प्रकृतियों का नियम बताकर गति आदि मार्गणाओं के भेदों में पाये जानेवाले गुणस्थानों की अपेक्षा सहित व्युच्छित्ति, उदय, अनुदयरूप प्रकृतियों का वर्णन है । यहां पर प्रसंग पाकर अनेक कथन है ।

पुनश्च सत्त्व के कथन में तीर्थंकर, आहारक की सत्ता का, मिथ्यादृष्टि आदि में विशेष तथा आयुबंध होने के पश्चात् सम्यक्त्व-व्रत होने का विशेष, क्षायिक सम्यक्त्व होने का विशेष बताकर मिथ्यादृष्टि आदि सात गुणस्थानों में सत्त्व प्रकृतियों का वर्णन करके ऊपर क्षपकश्रेणी की अपेक्षा व्युच्छित्ति, सत्त्व, असत्त्व प्रकृतियों का वर्णन है।

मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में सत्त्व, असत्त्व प्रकृतियों का वर्णन करके उपशमश्रेणी में इक्कीस मोहप्रकृति उपशमावने के क्रम का तथा वहां सत्त्व प्रकृतियों का कथन है। पुनश्च मार्गणाओंमें सत्त्व, असत्त्व प्रकृतियों का नियम बताकर गति आदि मार्गणाओं में पाये जानेवाले गुणस्थानों की अपेक्षा सहित व्युच्छित्ति, सत्त्व, असत्त्व प्रकृतियों का वर्णन है । वहां प्रसंग पाकर इन्द्रिय-काय मार्गणा में प्रकृतियों की उद्वेलना का इत्यादि अनेक वर्णन हैं ।

पुनश्च विशेष सत्त्वरूप **तीसरे सत्त्वस्थान अधिकार** में एक जीव के एक काल में जितनी प्रकृतियां पायी जाती हैं उनके प्रमाण की अपेक्षा स्थान तथा स्थानों में प्रकृति बदलने की अपेक्षा भंग, उनका वर्णन है । वहां नमस्कारपूर्वक प्रतिज्ञा करके स्थानभंगों का स्वरूप बताकर गुणस्थानों में सामान्य सत्त्व प्रकृतियों का वर्णन करके, विशेष वर्णन में मिथ्यात्वादि गुणस्थानों में जितने स्थान और भंग पाये जाते हैं उनको बताकर, जुदे-जुदे कथन में उनका विधान और प्रकृति घटने बढ़ने, बदलने के विशेष का बद्धायु-अबद्धायु की अपेक्षा वर्णन है । वहां प्रसंग पाकर मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थंकर सत्तावाले के नरकायु ही का सत्त्व होता है उसका, एकेन्द्रियादिक के उद्वेलना का, सासादन में आहारक की सत्ता के विशेष, मिश्र में अनंतानुबंधी रहित सत्त्वस्थान जैसे पाये जाते हैं उसका, असंयत में मनुष्यायु-तीर्थंकर सहित एक सौ अड़तीस प्रकृति की सत्तावाले के दो या तीन ही कल्याणक होते हैं उसका, अपूर्वकरणादि में उपशमक-क्षपक श्रेणी की अपेक्षा का इत्यादि अनेक वर्णन है । आचार्यों के मत से जो विशेष है उसे बताकर उसकी अपेक्षा कथन है।

पुनश्च **चौथा त्रिचूलिका अधिकार** है । वहां नौ प्रश्नों द्वारा प्रथम चूलिका का व्याख्यान है । उसमें पहले तीन प्रश्नों के उत्तर में जिन प्रकृतियों की उदयव्युच्छित्ति के पहले बंधव्युच्छित्ति हुयी उनका, जिनकी उदयव्युच्छित्ति के पश्चात् बंधव्युच्छित्ति हुयी उनका और जिनकी उदयव्युच्छित्ति-बंधव्युच्छित्ति युगपत् हुयी उनका वर्णन है ।

पुनश्च दूसरे तीन प्रश्नों के उत्तर में जिनका अपना उदय होनेपर ही बंध होता है, उनका और जिनका अन्य प्रकृतियों का उदय होनेपर ही बंध होता है उनका तथा जिनका अपना वा अन्य प्रकृतियों का उदय होनेपर बंध होता है उन प्रकृतियों का वर्णन है । पुनश्च तीसरे तीन प्रश्नों के उत्तर में जिनका निरंतर बंध होता है उनका, जिनका सांतर बंध होता है उनका और जिनका सांतर वा निरंतर बंध होता है उनका

कथन है । यहां तीर्थंकरादि प्रकृति निरंतरबंधी जैसी है उसका और सप्रतिपक्ष-निःप्रतिपक्ष अवस्था में सांतर-निरंतर बंध जैसा पाया जाता है उसका वर्णन है ।

पुनश्च द्वितीय पंचभागहारचूलिका के व्याख्यान में मंगलाचरण करके उद्वेलन, विध्यात, अधःप्रवृत्त, गुणसंक्रमण, सर्वसंक्रमण इन पांच भागहारों के नाम का, स्वरूप का तथा वे भागहार जिन जिन प्रकृतियों में और गुणस्थानों में होते हैं उनका वर्णन है । तथा सर्वसंक्रमण भागहार, गुणसंक्रमण भागहार, उत्कर्षण वा अपकर्षण भागहार, अधःप्रवृत्त भागहार, योगों में गुणकार, स्थिति में नानागुणहानि, पल्य के अर्द्धच्छेद, पल्य का वर्गमूल, स्थिति में गुणहानि आयाम, स्थिति में अन्योन्याभ्यस्तराशि, पल्य, कर्म की उत्कृष्ट स्थिति, विध्यातसंक्रमण भागहार, उद्वेलन भागहार, अनुभाग में नानागुणहानि, गुणहानि, डेढ़गुणहानि, दो गुणहानि, अन्योन्याभ्यस्तराशि इनके प्रमाणपूर्वक अल्पबहुत्व का कथन है ।

पुनश्च तृतीय दशकरणचूलिका के व्याख्यान में बंध, उत्कर्षण, संक्रमण, अपकर्षण, उदीरणा, सत्त्व, उदय, उपशम, निधत्ति, निःकाचना इन दस करणों के नाम का, स्वरूप का, जिन जिन प्रकृतियों में और गुणस्थानों में जैसे पाये जाते हैं उनका वर्णन है।

पुनश्च **पांचवें बंध-उदय-सत्त्व सहित स्थानसमुत्कीर्तन अधिकार** में मंगलाचरण करके एक जीव के युगपत् पाये जानेवाले बंधादिक प्रकृतियों के प्रमाणरूप स्थान तथा वहां प्रकृति बदलने से होनेवाले भंगों का वर्णन है । वहां मूलप्रकृतियों के बंधस्थानों का और वहां पाये जानेवाले भुजाकारादि बंध विशेष का, तथा भुजाकार, अल्पतर, अवस्थित, अवक्तव्यरूप बंध विशेषों के स्वरूप का और मूलप्रकृतियों के उदयस्थान, उदीरणास्थान, सत्त्वस्थानों का वर्णन है । उत्तरप्रकृतियों के कथन में दर्शनावरण, मोहनीय, नाम की प्रकृतियों में विशेष है ।

वहां दर्शनावरण के बंधस्थानों का और वहां गुणस्थान की अपेक्षा भुजाकारादि विशेष होने का और दर्शनावरण के गुणस्थानों में पाये जानेवाले बंधस्थान, उदयस्थान, सत्त्वस्थानों का वर्णन है ।

पुनश्च मोहनीय के बंधस्थानों का और वे गुणस्थानों में जैसे पाये जाते हैं उनका, वहां प्रकृतियों के नाम जानने को ध्रुवबंधी प्रकृति और कूटरचना आदि का, वहां प्रकृति बदलने से हुये भंगों का, उन बंधस्थानों में पाये जानेवाले भुजाकारादि विशेषों का, भुजाकारादि के लक्षण का, सामान्य-अवक्तव्य भंगों की संख्या का तथा भुजाकारादि

होने के विधान का वर्णन है । यहां प्रसंग पाकर गुणस्थानों में चढ़ना उतरना इत्यादि विशेषों का वर्णन है । पुनश्च मोह के उदयस्थानों का और गुणस्थानों में पाये जानेवाले दर्शनमोह के उदय बताकर वहां मोह के उदयस्थानों का, वहां प्रकृति आदि के जानने के लिये कूटरचना आदि का, वहां प्रकृति बदलने से हुये भंगों का, अनिवृत्तिकरण में वेदादिक के उदयकालादिक का वर्णन है । सर्वमोह के उदयस्थान, उनकी प्रकृतियों का विधान, संख्या, मिलायी हुयी संख्या का, गुणस्थानों में पाये जानेवाले उपयोग, योग, संयम, लेश्या, सम्यक्त्व की अपेक्षा से मोह के उदयस्थानों का और उनकी प्रकृतियों का विधान, संख्या आदि का, वहां अनंतानुबंधी रहित उदयस्थान मिथ्यादृष्टि की अपर्याप्त अवस्था में नहीं पाया जाता इत्यादि विशेष का वर्णन है ।

पुनश्च मोह के सत्त्वस्थानों का और वहां प्रकृति घटने का, वे गुणस्थानों में जैसे पाये जाते हैं उसका, अनिवृत्तिकरण में विशेष है, उसका वर्णन है ।

पुनश्च नामकर्म के कथन में आधारभूत इकतालीस जीवपदों और चौंतीस कर्मपदों का व्याख्यान करके नामकर्म के बंधस्थानों का और वे गुणस्थानों में जैसे पाये जाते हैं उसका, वे जिस-जिस कर्मपद सहित बंधते हैं उसका, उनमें क्रम से नौ ध्रुवबंधी आदि प्रकृतियों के नाम का, नामकर्म के बंधस्थानों में तेइस आदि प्रकृतियों से लेकर जो-जो प्रकृतियां जैसी पायी जाती हैं उनका तथा वहां प्रकृति बदलने से हुये भंगों का वर्णन है । यहां प्रसंग पाकर जीव मरकर जहां उपजता है उसके वर्णन में प्रथमादि पृथ्वी के नारकी मरकर जहां उपजते हैं और जहां नहीं उपजते उसका वर्णन है । वहां प्रसंग पाकर स्वयंभूरमण समुद्र के बाहर चार कोणों में कर्मभूमियां तिर्यंच हैं इत्यादि विशेष का वर्णन है । बादर-सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त अग्निकायिक आदि जीव जहां उपजते हैं उसका, वहां सूक्ष्म निगोद से आये हुये मनुष्य सकल संयम ग्रहण नहीं कर सकता इत्यादि विशेष का, अपर्याप्त मनुष्य जहां उपजता है उसका, भोगभूमि-कुभोगभूमि के तिर्यंच-मनुष्य और कर्मभूमि के मनुष्य जहां उपजते हैं उसका, सर्वार्थसिद्धि से लेकर भवनत्रिक तक के देव जहां उपजते हैं उसका वर्णन है । पुनश्च जैसे च्यवन-उत्पाद कहे, चौदह मार्गणाओं में गुणस्थानों की अपेक्षा जैसे जो-जो नामकर्म के बंधस्थान पाये जाते हैं उनका वर्णन है । वहां गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद मार्गणाओं में तो लेश्या की अपेक्षा बंधस्थानों का कथन है । कषायमार्गणा में अनंतानुबंधी आदि जैसे उदय होता है उसका और इनके देशघाति-सर्वघाति स्पर्धकों का, सम्यक्त्व-संयम

घातने का और लेश्या की अपेक्षा बंधस्थानों का कथन है । ज्ञानमार्गणा में गति आदि की अपेक्षा बंधस्थानों का कथन है । संयममार्गणा में सामायिकादि के स्वरूप का, संयतासंयत में दो गतियों की अपेक्षा और असंयम में चार गतियों की अपेक्षा बंधस्थानों का कथन है । वहां निर्वृत्तिअपर्याप्त देव के बंधस्थान कहने के लिये देवगति में जो जो जीव जहां तक उपजते हैं उसका, सासादन में बंधस्थान कहने के लिये जो-जो जीव जैसे उपशमसम्यक्त्व को छोड़कर सासादन होते हैं उसका कथन है । दर्शनमार्गणा में गति अपेक्षा बंधस्थानों का कथन है ।

लेश्यामार्गणा में प्रथमादि नरक पृथ्वियों में जो लेश्या होती हैं उनका, जिस-जिस संहनन के धारी जो-जो जीव जहां तक नरक में उपजते हैं उसका, नरकों में पर्याप्त-निर्वृत्तिअपर्याप्त अवस्था की अपेक्षा बंधस्थानों का, तिर्यंचों में एकेन्द्रियादिकों की और भोगभूमियां तिर्यंचों की जो-जो लेश्या पायी जाती हैं उसका, जो-जो जीव जिस-जिस लेश्या द्वारा तिर्यंच में उपजते हैं उसका, उनके निर्वृत्तिअपर्याप्त अवस्था में बंधस्थानों का, जहां से आकर सासादन वा असंयत होते हैं और उनके जो बंधस्थान होते हैं उनका, शुभाशुभ लेश्याओं में परिणामों का वर्णन है । वहां प्रसंग पाकर कषायों के स्थान और वहां संक्लेश-विशुद्धस्थान तथा कषायों के चार शक्तिस्थान, चौदह लेश्यास्थान, बीस आयु बंधाबंधस्थान उनका, लेश्या के छब्बीस अंश, वहां आयुबंध के कारणभूत आठ मध्यम अंश आठ अपकर्षकालों में होते हैं तथा अन्य अठारह अंश चार गतियों में गमन के कारणभूत हैं उनके विशेष का वर्णन है । लेश्याओं के पलटने के क्रम का वर्णन है । तिर्यंच के मिथ्यात्व आदि गुणस्थानों में जैसे मिथ्यात्व-कषाय का उदय पाया जाता है उसका कथन करके वहां जो बंधस्थान पाये जाते हैं उसका, भोगभूमियां तिर्यंच के और प्रसंग पाकर औरों के निर्वृत्तिअपर्याप्त और पर्याप्त मिथ्यात्व आदि गुणस्थानों में जैसे लेश्या द्वारा बंधस्थान पाये जाते हैं और भोगभूमि में जैसे उपजना होता है, उसका वर्णन है ।

पुनश्च मनुष्यगति में लब्धिअपर्याप्त, निर्वृत्तिअपर्याप्त, पर्याप्त दशा में जो जो लेश्या पायी जाती हैं और वहां पा- जानेवाले गुणस्थानों में बंधस्थान पाये जाते हैं उसका वर्णन है ।

पुनश्च देवगति में भवनत्रिक आदि के निर्वृत्तिअपर्याप्त और पर्याप्त दशा में जो-जो लेश्या पायी जाती हैं और देवों के जहां जन्मस्थान हैं तथा जो जीव जिस-

जिस लेश्या से जहां-जहां देवगति में उपजते हैं तथा निर्वृत्तिअपर्याप्त और पर्याप्त दशा में मिथ्यादृष्टि आदि जीवों के जो-जो बंधस्थान पाये जाते हैं उनका वर्णन है । वहां प्रासंगिक गाथाओं द्वारा जो-जो जीव देवगति में जहां तक उपजते हैं, अनुदिशादि विमानों से चय कर जो पद नहीं प्राप्त होते तथा जो जीव देवगति से चय कर मनुष्य होकर निर्वाण ही प्राप्त करते हैं तथा जहां से आनेवाले तिरसठ शलाका पुरुष नहीं होते तथा देवपर्याय पाकर जिसतरह जिनपूजादिक कार्य करते हैं उनका वर्णन है ।

भव्यमार्गणा में बंधस्थानों का वर्णन है ।

सम्यक्त्वमार्गणा में सम्यक्त्व के लक्षण तथा भेदों का, जहां मरण नहीं होता उसका, प्रथमोपशम सम्यक्त्व जिसके होता है उसका और उसके जिन प्रकृतियों का उपशम होता है उसका, वहां लब्धि आदि होने का, प्रथमोपशम सम्यक्त्व होनेपर मिथ्यात्व के तीन खण्ड होते हैं उसका वर्णन है । वहां नारकादिक के जो बंधस्थान पाये जाते हैं उनका, वहां नरक में तीर्थंकर प्रकृति का बंध होने के विधान का, साकार-उपयोग होने का, निसर्गज-अधिगमज के स्वरूप का वर्णन है । द्वितीयोपशम सम्यक्त्व जिसके होता है उसका, वहां अपूर्वकरणादि में जो-जो क्रिया करते हुये चढ़ता और उतरता है उसका, वहां जो बंधस्थान होते हैं उसका, तथा वहां मरकर देव होते हैं उनके जो बंधस्थान पाये जाते हैं उसका वर्णन है । पुनश्च क्षायिक सम्यक्त्व का प्रारंभ-निष्ठापन जिसके होता है उसका तथा वहां तीन करण होते हैं उनका, वहां गुणश्रेणी आदि होने का, अनंतानुबंधी की विसंयोजना करके पश्चात् किसी क्रिया द्वारा करणादि विधान से दर्शनमोह की क्षपणा का, वहां प्रारंभ-निष्ठापन के काल का, उनके स्वामियों का और वहां तीर्थंकर सत्तावाले के तद्भव-अन्यभव में मुक्ति होने का वर्णन करके क्षायिकसम्यक्त्व में पाये जानेवाले बंधस्थानों का वर्णन है । पुनश्च वेदकसम्यक्त्व जिसके होता है उनका, प्रथमोपशम, द्वितीयोपशम सम्यक्त्व से और मिथ्यात्व से जैसे वेदकसम्यक्त्व हो उसका तथा उनके जो बंधस्थान पाये जाते हैं उनका वर्णन है ।

पुनश्च सासादन, मिश्र, मिथ्यात्व जहां-जहां जिस-जिस दशा में पाये जाते हैं और वहां जो बंधस्थान पाये जाते हैं उनका वर्णन है । वहां प्रसंग पाकर विवक्षित गुणस्थान से जिस जिस गुणस्थान को प्राप्त होता है उसका वर्णन है ।

पुनश्च संज्ञी और आहारमार्गणा में बंधस्थानों का वर्णन है । पुनश्च नामकर्म

के बंधस्थानों में भुजाकारादि का कथन करने के लिये पुनरुक्त, अपुनरुक्त भंगों का और स्वस्थानादि तीन भेदों का, प्रसंग पाकर गुणस्थानों से चढ़ने उतरने का, जहां मरण नहीं होता उसका, कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि मरकर जहां उपजता है उसका, भुजाकारादि के लक्षण का, इकतालीस जीवपदों में भंग सहित बंधस्थानों का वर्णन करके मिथ्यात्वादि गुणस्थानों में पाये जानेवाले भुजाकार, अल्पतर, अवस्थित, अवक्तव्य भंगों का वर्णन है ।

पुनश्च नामकर्म के उदयस्थानों के वर्णन में कार्माण, मिश्रशरीर, शरीरपर्याप्ति, उच्छ्वासपर्याप्ति, भाषापर्याप्ति इन पांचों कालों का स्वरूप, प्रमाण आदि बताकर तथा केवली के समुद्घात अपेक्षा इनका पाया जाना बताकर नामकर्म के उदयस्थान होने के विधान में ध्रुवोदयी आदि प्रकृतियों का वर्णन किया । उन पांच कालों की अपेक्षा जिस-जिस प्रकार से बीस प्रकृतिरूप स्थान से लेकर पाये जानेवाले नामकर्म के उदयस्थानों का तथा वहां प्रकृति बदलने से होनेवाले भंगों का वर्णन है । पुनश्च नामकर्म के सत्त्वस्थानों के वर्णन में तिरानबे प्रकृतिरूप स्थान आदि जैसे जो सत्त्वस्थान हैं उनका, वहां जिन प्रकृतियों की उद्वेलना होती है उनके स्वामी, क्रम और कालादिक विशेष का वर्णन है । सम्यक्त्व, देशसंयम, अनंतानुबंधी का विसंयोजन, उपशमश्रेणी चढ़ना, सकलसंयम धारण करना ये उत्कृष्टपने से कितनी बार हो सकते हैं उनका, चारों गतियों की अपेक्षा गुणस्थानों में जो सत्त्वस्थान होते हैं उनका तथा इकतालीस जीवपदों में सत्त्वस्थान होते हैं उनका वर्णन है ।

पुनश्च त्रिसंयोग में स्थान और भंगों का वर्णन है । वहां मूलप्रकृतियों में जिस-जिस बंधस्थान के होनेपर जो-जो उदयस्थान और सत्त्वस्थान होते हैं उसका तथा वे गुणस्थानों में जैसे पाये जाते हैं उसका वर्णन है । पुनश्च उत्तरप्रकृतियों में ज्ञानावरण, अंतराय का तो पांच-पांच ही का बंध, उदय, सत्त्व होता है इसलिए वहां विशेष वर्णन नहीं है । दर्शनावरण में जिस-जिस बंधस्थान के होनेपर जो-जो उदयस्थान और सत्त्वस्थान गुणस्थान की अपेक्षा पाये जाते हैं उसका वर्णन है । वेदनीय में एक-एक प्रकृति का उदय-बंध होनेपर भी प्रकृति बदलने की अपेक्षा तथा सत्त्व दो का या एक का भी होता है उसकी अपेक्षा गुणस्थानों में पाये जानेवाले भंगों का वर्णन है । पुनश्च गोत्र में नीच, उच्च गोत्र के बंध, उदय, सत्त्व के बदलने की अपेक्षा गुणस्थानों में पाये जानेवाले भंगों का वर्णन है । पुनश्च आयु में भोगभूमियां आदि

जिस काल में आयुबंध करते हैं उसका, एकेन्द्रियादिक जिस आयु को बांधते हैं उसका, नारकादिकों के आयु का उदय, सत्त्व पाया जाता है उसका, आठ अपकर्षों में बंधती है उसका, वहां दूसरी, तीसरी बार आयुबंध होने में घटने-बढ़ने का तथा बध्यमान-भुज्यमान आयु के घटनेरूप अपवर्तनघात, कदलीघात का वर्णन करके बंध, अबंध, उपरितबंध की अपेक्षा गुणस्थानों में पाये जानेवाले भंगों का वर्णन है । पुनश्च वेदनीय, गोत्र, आयु इनके भंग मिथ्यात्व आदि गुणस्थानों में जितने-जितने होते हैं तथा सर्व भंग जितने-जितने हैं उनका वर्णन है ।

पुनश्च मोह के स्थानों की अपेक्षा भंग बताकर गुणस्थानों में बंध, उदय, सत्त्व स्थान जैसे पाये जाते हैं उसका वर्णन करके मोह के त्रिसंयोग में एक आधार दो आधेय तीन प्रकार के, वहां जिस जिस बंधस्थान में जो जो उदयस्थान और सत्त्वस्थान पाये जाते हैं, जिस-जिस उदयस्थान में जो-जो बंधस्थान और सत्त्वस्थान पाये जाते हैं और जिस-जिस सत्त्वस्थान में जो-जो बंधस्थान और उदयस्थान पाये जाते हैं उनका वर्णन है । पुनश्च मोह॰ के बंध, उदय, सत्त्व इनमें दो आधार-एक आधेय तीन प्रकार के - वहां जिस-जिस बंधस्थान सहित उदयस्थान में जो-जो सत्त्वस्थान जिसप्रकार से पाये जाते हैं, जिस-जिस बंधस्थानसहित सत्त्वस्थान में जो-जो उदयस्थान पाये जाते हैं और जिस-जिस उदयस्थान सहित सत्त्वस्थान में जो-जो बंधस्थान पाये जाते हैं उसका वर्णन है । पुनश्च नामकर्म के स्थानोक्त भंग बताकर, गुणस्थानों में, चौदह जीवसमासों में और गति आदि मार्गणाओं के भेदों में पाये जानेवाले बंध-उदय-सत्त्वस्थानों का वर्णन करके एक आधार-दो आधेय के वर्णन में जिस-जिस बंधस्थान में जो-जो उदयस्थान और सत्त्वस्थान जिस प्रकार पाये जाते हैं और जिस-जिस उदयस्थान में जो-जो बंधस्थान और सत्त्वस्थान जिसप्रकार पाये जाते हैं और जिस-जिस सत्त्वस्थान में जो-जो बंधस्थान और उदयस्थान जिसप्रकार पाये जाते हैं उनका वर्णन है । पुनश्च दो आधार और एक आधेय में जिस-जिस बंधस्थानसहित उदयस्थान में जो जो सत्त्वस्थान पाये जाते हैं तथा जिस-जिस बंधस्थान सहित सत्त्वस्थान में जो-जो उदयस्थान पाये जाते हैं और जिस-जिस उदयस्थान सहित सत्त्वस्थान में जो-जो बंधस्थान पाये जाते हैं उनका वर्णन है।

पुनश्च **छठवां प्रत्यय अधिकार** है । वहां नमस्कारपूर्वक प्रतिज्ञा करके चार मूलआस्रव और सत्तावन उत्तरआस्रवों का और वे जैसे गुणस्थानों में पाये जाते हैं उसका, वहां व्युच्छित्ति और आस्रवों के प्रमाण, नाम आदि का वर्णन करके वहां विशेष जानने

के लिये पांच प्रकारों का वर्णन है । वहां प्रथम प्रकार में एक जीव के एक काल में पाये जानेवाले ऐसे जघन्य, मध्यम, उत्कृष्टरूप आस्रवस्थान जितने जितने गुणस्थानों में पाये जाते हैं उनका वर्णन है ।

दूसरे प्रकार में एक एक स्थान में आस्रवभेद बदलने से जितने-जितने प्रकार होते हैं, उनका वर्णन है ।

तीसरे प्रकार में उन स्थानों के प्रकारों में पाये जानेवाले आस्रवों की अपेक्षा कूटरचना के विधान का वर्णन है ।

चौथे प्रकार में उन्हीं कूटों के अनुसार अक्षसंचार विधान से आस्रवस्थानों के कथन के विधानरूप कूटोच्चारण विधान का वर्णन है । वहां अविरत(असंयत) में युगपत् पाये जानेवाले हिंसा के प्रत्येक, द्विसंयोगी आदि भेदों का और वे भेद जितने होते हैं उनका वर्णन है ।

पांचवें प्रकार में उन स्थानों में भंग लाने के विधान का और गुणस्थानों में पाये जानेवाले भंगों का, वहां अविरत में हिंसा के प्रत्येक, द्विसंयोगी आदि भंग लाने के लिये गणितशास्त्र के अनुसार प्रत्येक, द्विसंयोगी, त्रिसंयोगी आदि भंगों के लाने के विधान का वर्णन है । आस्रवों के विशेषभूत जिन-जिन भावों से स्थिति-अनुभाग की विशेषता के साथ ज्ञानावरणादि अन्य-अन्य प्रकृति का बंध होता है उनका क्रम से वर्णन है ।

पुनश्च **सातवां भावचूलिका अधिकार** है । वहां नमस्कारपूर्वक प्रतिज्ञा करके भावों से गुणस्थान संज्ञा होती है कहकर पांच मूलभावों का और इनके स्वरूप का, तिरपन उत्तरभावों का और मूल-उत्तर भावों में अक्षसंचार विधान से प्रत्येक, परसंयोगी, स्वसंयोगी, द्विसंयोगी आदि भंग जैसे होते हैं उसका, तथा नाना जीव, नाना काल की अपेक्षा गुणस्थानों में पाये जानेवाले भावों का वर्णन है ।

पुनश्च एक जीव के युगपत् पाये जानेवाले भावों का वर्णन है । वहां गुणस्थानों में मूलभावों के प्रत्येक, परसंयोगी, द्विसंयोगी आदि पाये जानेवाले भंगों का वर्णन है। वहां प्रसंग पाकर प्रत्येक, द्विसंयोगी, त्रिसंयोगी आदि भंग लाने के विधान का गणितशास्त्र के अनुसार वर्णन है । गुणस्थानों में मूलभावों की और उनके भंगों की संख्या का वर्णन है ।

पुनश्च उत्तरभावों के भंग स्थानगत, पदगत भेद से दो प्रकार के कहे हैं । वहां एक जीव के एक काल में पाये जानेवाले भावों का समूह वह स्थान है । उसकी अपेक्षा जो स्थानगत भंग हैं उनमें स्वसंयोगी भंग के अभाव का वर्णन है। पुनश्च गुणस्थानों में पाये जानेवाले औपशमिक आदि भावों का और औदयिक के स्थानों के भंगों का वर्णन करके, वहां पाये जानेवाले स्थानों के परस्पर संयोग की अपेक्षा गुण्य, गुणकार, क्षेपादि विधान से जैसे जितने प्रत्येक भंग तथा परसंयोगी में द्विसंयोगी आदि भंग होते हैं उनका और वहां गुण्य, गुणकार, क्षेप का प्रमाण बताकर सर्व भंगों के प्रमाण का वर्णन है ।

पुनश्च जातिभेद, सर्वपदभेद से पदगत भंग दो प्रकार का है । उनका स्वरूप बताकर गुणस्थानों में जितने-जितने जातिपद पाये जाते हैं उनका और उनको परस्पर लगाने की अपेक्षा गुण्य, गुणकार, क्षेप आदि विधान से प्रत्येक, स्वसंयोगी, परसंयोगी, द्विसंयोगी आदि भंग पाये जाते हैं उनका वर्णन है । वहां गुण्य, गुणकार, क्षेप का प्रमाण बताकर सर्व भंगों के प्रमाण का वर्णन है ।

पुनश्च पिंडपद, प्रत्येकपद भेद से सर्वपद भंग दो प्रकार के हैं । उनके स्वरूप का तथा गुणस्थान में ये जितने और जैसे पाये जाते हैं उसका कथन है । वहां परस्पर लगाने से प्रत्येक, द्विसंयोगी आदि भंग करनेपर जो भंग होते हैं उनका वर्णन है । वहां मिथ्यादृष्टि के पंद्रहवें प्रत्येकपद में भंग लाने का वर्णन है । वहां प्रसंग पाकर गणितशास्त्र के अनुसार एकबार, दो बार आदि संकलन धन के विधान का गुणस्थानों में प्रत्येकपद, पिंडपद इनकी रचना के विधान का, प्रत्येकपदों के प्रमाण का, वहां जितने सर्वपद भंग हुये उनका वर्णन है । पुनश्च यहां तीन सौ तिरसठ कुवाद के भेदों का और उनमें जैसी प्ररूपणा है उसका, एकांतरूप मिथ्यावचन, स्याद्वादरूप सम्यक् वचन का वर्णन है ।

पुनश्च **आठवां त्रिकरण चूलिका अधिकार** है । वहां मंगलाचरण करके करणों का प्रयोजन बताकर अधःकरण के वर्णन में उसके काल का और वहां पाये जानेवाले सर्व परिणाम, प्रथम समय संबंधी परिणाम, समय-समय प्रति वृद्धिरूप परिणाम, द्वितीयादि समय संबंधी परिणाम और समय-समय संबंधी परिणामों में खण्ड रचना द्वारा अनुकृष्टि विधान का वर्णन है । वहां खण्डों में प्रथम खण्ड में तथा खण्ड खण्ड प्रति वृद्धिरूप ऐसे द्वितीयादि खण्डों में परिणाम होते हैं उनका अंकसंदृष्टि और अर्थ अपेक्षा वर्णन

है । वहां श्रेणीव्यवहार नामक गणित के सूत्र के अनुसार ऊर्ध्वरूप गच्छ, चय, उत्तरधन, आदिधन, सर्वधन इत्यादि का तथा अनुकृष्टि में तिर्यक्रूप गच्छादिक के प्रमाण लाने के विधान का वर्णन है । उन खण्डों में विशुद्धि के अल्पबहुत्व का वर्णन है । पुनश्च अपूर्वकरण के वर्णन में अनुकृष्टि विधान नहीं है । उसमें उर्ध्वरूप गच्छ आदि का प्रमाण लाने के विधानपूर्वक उसके काल, सर्व परिणाम, प्रथम समय संबंधी परिणाम, समय-समय प्रति वृद्धिरूप परिणाम, द्वितीयादि समय संबंधी परिणाम इन सबका अंकसंदृष्टि और अर्थ अपेक्षा वर्णन है । पुनश्च अनिवृत्तिकरण में भेद नहीं है इसलिए वहां कालादिक का वर्णन है ।

पुनश्च **नौवां कर्मस्थिति अधिकार** है । वहां नमस्कारपूर्वक प्रतिज्ञा करके आबाधा के लक्षण का तथा स्थिति के अनुसार उसके काल का और उदीरणा की अपेक्षा आबाधाकाल का वर्णन है । पुनश्च कर्मस्थिति में निषेकों का वर्णन है । प्रथमादि गुणहानियों के प्रथमादि निषेकों का वर्णन है । स्थितिरचना में द्रव्य, स्थिति, गुणहानि, नानागुणहानि, दो गुणहानि, अन्योन्याभ्यस्तराशि के स्वरूप का तथा अंकसंदृष्टि और अर्थ की अपेक्षा उनके प्रमाण का वर्णन है । वहां नानागुणहानि और अन्योन्याभ्यस्तराशि सर्व कर्मों में समान नहीं है, इसलिए इसका विशेष वर्णन है । वहां मिथ्यात्व कर्म की नानागुणहानि, अन्योन्याभ्यस्तराशि जानने के विधान का वर्णन है । यहां प्रसंग पाकर **'अंतधणं गुणगुणियं'** इत्यादि करणसूत्र द्वारा गुणकाररूप पंक्ति के जोड़ने के विधान आदि का वर्णन है । गुणहानि, दो गुणहानि के प्रमाण का वर्णन है । वहां विशेष अर्थात् चय के प्रमाण का वर्णन है । इसतरह प्रमाण बताकर प्रथमादि गुणहानियों का तथा उनमें प्रथमादि निषेकों के द्रव्य को जानने के विधान का और उनके प्रमाण का अंकसंदृष्टि तथा अर्थ की अपेक्षा वर्णन है ।

पुनश्च मिथ्यात्व के समान अन्य कर्मों की रचना है । वहां गुणहानि, दो गुणहानि तो समान है परंतु नानागुणहानि, अन्योन्याभ्यस्तराशि समान नहीं है । उनके जानने के लिये सात पंक्तियों द्वारा विधान बताकर उनके प्रमाण का तथा जिस-जिसका जितना-जितना नानागुणहानि और अन्योन्याभ्यस्तराशि का प्रमाण आया उसका वर्णन है । उसके पश्चात् अंकसंदृष्टि की अपेक्षा त्रिकोणयंत्र और त्रिकोणयंत्र का प्रयोजन बताया है । वहां एक-एक निषेक मिलकर एक समयप्रबद्ध का उदय त्रिकोणयंत्र होता है । त्रिकोणयंत्र के सर्व निषेकों को जोड़नेपर किंचित् कम डेढ़ गुणहानि से गुणित समयप्रबद्ध प्रमाण

सत्त्व होता है उसका वर्णन है ।

पुनश्च निरंतर-सांतररूप स्थिति के भेद, स्वरूप और स्वामियों का वर्णन है । स्थितिबंध के कारणभूत जो स्थितिबंधाध्यवसायस्थान होते हैं उनके वर्णन में आयु आदि कर्मों के स्थितिबंधाध्यवसायस्थानों के प्रमाण का वर्णन है । स्थितिबंधाध्यवसाय के स्वरूप को जानने के लिये सिद्धांत वचनिका का वर्णन करके स्थिति के भेदों को बताकर उनमें जितने-जितने स्थितिबंधाध्यवसायस्थान पाये जाते हैं उनको जानने के लिये द्रव्य, स्थिति, गुणहानि, नानागुणहानि, दो गुणहानि, अन्योन्याभ्यस्तराशि, चय का तथा प्रथमादि गुणहानियों का और उनके निषेकों का और आदिधन आदि के द्रव्यप्रमाण तथा उनको जानने के विधान का वर्णन है । यहां एक-एक स्थितिभेद संबंधी स्थितिबंधाध्यवसायस्थानों में नाना जीवों की अपेक्षा खण्ड होते हैं । वहां ऊपर की तथा नीचे की स्थिति संबंधी निषेक समान भी हो सकते हैं इसलिए वहां अनुकृष्टि रचना का वर्णन है । वहां आयुकर्म का जुदा ही विधान है इसलिए पहले आयु का कथन करके पश्चात् मोहादिक की अनुकृष्टि रचना का अंकसंदृष्टि एवं अर्थ अपेक्षा से वर्णन है । वहां खण्डों की समानता-असमानता इत्यादि अनेक कथन हैं।

पुनश्च अनुभागबंध के कारणभूत जो अनुभागबंधाध्यवसायस्थान हैं उनके वर्णन में उन सबका प्रमाण बताकर वहां एक-एक स्थितिभेद संबंधी स्थितिबंधाध्यवसायस्थानों में द्रव्य, स्थिति, गुणहानि आदि के प्रमाणादिक बताकर एक-एक स्थितिबंधाध्यवसायस्थानरूप जो निषेक उनमें जितने-जितने अनुभागबंधाध्यवसाय स्थान पाये जाते हैं उनका वर्णन है ।

पुनश्च मूलग्रंथकर्ता द्वारा किये हुये ग्रंथ की संपूर्णता होने में ग्रंथ के हेतु का, चामुंडराय राजा को आशीर्वाद का, उन्हों ने बनाये हुये चैत्यालय और जिनबिंब का, वीर मार्तंड राजा को आशीर्वाद का वर्णन है । संस्कृत टीकाकार अपने गुरु का तथा ग्रंथ होने के समाचार कहते हैं उसका वर्णन है ।

ऐसे आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती विरचित श्रीमद् गोम्मटसार द्वितीय नाम पंचसंग्रह ग्रंथ की जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका के अनुसार सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका नामक इस भाषाटीका में अर्थ का वर्णन होगा उसको सूचनिका कहा ।

— ० —

परिकर्माष्टक संबंधी प्रकरण

इस करणानुयोगरूप शास्त्र का अभ्यास करने के लिये गणित का ज्ञान अवश्य चाहिये, क्योंकि अलंकारादिक जानने से प्रथमानुयोग का, गणितादिक जानने से करणानुयोग का, सुभाषितादिक जानने से चरणानुयोग का, न्यायादि जानने से द्रव्यानुयोग का विशिष्ट ज्ञान होता है, इसलिए गणित ग्रंथों का अभ्यास करना । और यदि न बन सके तो परिकर्माष्टक तो अवश्य जानना चाहिये । क्योंकि इसको जानने से अन्य गणित कर्मों का भी विधान जानकर, उनको जाननेपर इस शास्त्र में प्रवेश पाते हैं । इसलिए इस शास्त्र का अभ्यास करने के लिये प्रयोजनमात्र परिकर्माष्टक का वर्णन यहां करते हैं।

वहां परिकर्माष्टक में संकलन, व्यवकलन, गुणकार, भागहार, वर्ग, घन, वर्गमूल, घनमूल ये आठ नाम जानना । ये लौकिक गणित में भी होते हैं और अलौकिक गणित में भी होते हैं । लौकिक गणित तो प्रवृत्ति में प्रसिद्ध ही है और अलौकिक गणित जघन्य संख्यातादिक और पल्यादिक का व्याख्यान आगे जीवसमासाधिकार पूर्ण होने के पश्चात् होगा, वहां जानना । अब संकलनादि का स्वरूप कहते हैं ।

किसी प्रमाण को किसी प्रमाण में जोड़ना, उसे संकलन कहते हैं । जैसे सात में पांच जोड़नेपर बारह होते हैं । और पुद्गलराशि में जीवादिक द्रव्यों का प्रमाण जोड़नेपर सर्व द्रव्यों का प्रमाण होता है ।

किसी प्रमाण में से किसी प्रमाण को घटाना, उसे व्यवकलन कहते हैं । जैसे बारह में से पांच घटानेपर सात होते हैं । और संसारीराशि में से त्रसराशि घटानेपर स्थावरों का प्रमाण होता है ।

किसी प्रमाण को किसी प्रमाण से गुणा करना, उसे गुणकार कहते हैं । जैसे पांच को चार से गुणा करनेपर बीस होते हैं । और जीवराशि को अनंत से गुणा करनेपर पुद्गलराशि होती है ।

किसी प्रमाण को किसी प्रमाण का जहां भाग देते हैं, वहां भागहार कहते हैं । जैसे बीस को चार का भाग देनेपर पांच होते हैं । और जगत्श्रेणी को सात का भाग देनेपर राजू होता है ।

किसी प्रमाण को दो जगह मांडकर परस्पर गुणा करते हैं, वहां उस प्रमाण

का वर्ग कहते हैं । जैसे पांच को दो जगह मांडकर परस्पर गुणा करनेपर पांच का वर्ग पच्चीस होता है । और सूच्यंगुल को दो जगह मांडकर परस्पर गुणा करनेपर सूच्यंगुल का वर्ग प्रतरांगुल होता है ।

किसी प्रमाण को तीन जगह लिखकर परस्पर गुणा करनेपर उस प्रमाण का घन कहते हैं । जैसे पांच को तीन जगह मांडकर परस्पर गुणा करनेपर पांच का घन एक सौ पच्चीस होता है । और जगत्श्रेणी को तीन जगह मांडकर परस्पर गुणा करनेपर लोक (जगत्घन) होता है ।

जो प्रमाण जिसका वर्ग करनेपर होता हो, उस प्रमाण का वह वर्गमूल होता हैं । जैसे पच्चीस पांच का वर्ग करनेपर होता है इसलिए पच्चीस का वर्गमूल पांच है । और प्रतरांगुल है वह सूच्यंगुल का वर्ग करनेपर होता है, इसलिए प्रतरांगुल का वर्गमूल सूच्यंगुल है ।

जो प्रमाण जिसका घन करनेपर होता है, उस प्रमाण का वह घनमूल कहते हैं । जैसे एक सौ पच्चीस पांच का घन करनेपर होता है इसलिए एक सौ पच्चीस का घनमूल पांच है । और लोक है वह जगत्श्रेणी का घन करनेपर होता है, इसलिए लोक का घनमूल जगत्श्रेणी है ।

अब कितने ही संज्ञाविशेष कहते हैं । संकलन में जोड़ने योग्य राशि का नाम धन है । मूलराशि को उस धन से अधिक कहते हैं । जैसे पांच अधिक कोटि और जीवराश्यादिक से अधिक पुद्गल, इत्यादि जानना ।

व्यवकलन में घटानेयोग्य राशि का नाम ऋण है । मूलराशि को उस ऋण से हीन वा न्यून वा शोधित वा स्फोटित इत्यादि कहते हैं । जैसे पांच से हीन कोटि वा त्रसराशि से हीन संसारी, इत्यादि जानना । कहीं मूलराशि का नाम धन भी कहते हैं ।

गुणकार में जिसको गुणा करते हैं, उसको गुण्य कहते हैं । जिससे गुणा करते हैं, उसे गुणकार या गुणक कहते हैं ।

गुण्यराशि को गुणकार द्वारा गुणित वा हत वा अभ्यस्त वा घ्नत आदि कहते हैं । जैसे पांच गुणित लक्ष वा असंख्यात गुणित लोक कहते हैं । कहीं गुणकार प्रमाण गुण्य कहते हैं । जैसे पांच गुणा वीस को पांच वीसी कहते हैं और असंख्यात

गुणा लोक को असंख्यातलोक कहते हैं, इत्यादि जानना । गुणा करने का नाम गुणन वा हनन वा घात इत्यादि कहते हैं ।

भागहार में जिसको भाग देते हैं उसका नाम भाज्य वा हार्य इत्यादि है । और जिसका भाग देते हैं, उसका नाम भागहार वा हार वा भाजक इत्यादि है । भाज्यराशि को भागहार से भाजित, भक्त, हत वा खण्डित इत्यादि कहते हैं । जैसे पांच से भाजित कोटि वा असंख्यात से भाजित पल्य इत्यादि जानना । भागहार का भाग देकर एक भाग ग्रहण करना हो वहां तितनेवां भाग वा एकभाग कहते हैं । जैसे वीस का चौथा भाग वा पल्य का असंख्यातवां भाग वा असंख्यातैक भाग इत्यादि जानना । पुनश्च जहां एकभाग बिना अवशेष भाग ग्रहण करना हो, वहां बहुभाग कहते हैं । जैसे बीस के चार बहुभाग वा पल्य के असंख्यात बहुभाग इत्यादि जानना।

वर्ग का नाम कृति भी है । वर्गमूल का नाम कृतिमूल वा मूल वा पद वा प्रथम मूल भी है । प्रथम मूल के मूल को द्वितीय मूल कहते हैं । द्वितीय मूल के मूल को तृतीय मूल कहते हैं । ऐसे चतुर्थादि मूल जानना । जैसे पैंसठ हजार पांच सौ छत्तीस का प्रथम मूल दो सौ छप्पन, द्वितीय मूल सोलह, तृतीय मूल चार, चतुर्थ मूल दो है । इसीतरह पल्य वा केवलज्ञानादि के प्रथमादि मूल जानना । ऐसे अन्य भी अनेक संज्ञाविशेष यथासंभव जानना ।

अब यहां विधान कहते हैं । वह प्रथम लौकिक गणित की अपेक्षा से कहते हैं । वहां ऐसा जानना **'अंकानां वामतो गतिः'** अंकों का अनुक्रम बायीं तरफ से होता है । जैसे दो सौ छप्पन (२५६) के तीन अंकों में छह पहला अंक, पांच दूसरा अंक, दो अंतिम अंक कहते हैं । ऐसे ही अन्यत्र जानना । पुनश्च प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ आदि अंकों को क्रम से एक स्थानीय, दस स्थानीय, शत स्थानीय, सहस्र स्थानीय आदि कहते हैं । प्रवृत्ति में इन्हीं को इकाई, दहाई, सैंकडा (सौ), हजार आदि कहते हैं ।

संकलनादि होनेपर प्रमाण लाने के लिये गणित कर्म को कारण जो करणसूत्र, उनके द्वारा गणित शास्त्रों में अनेक प्रकार के विधान कहे हैं, उन्हें वहां से जानना अथवा त्रिलोकसार की भाषाटीका बनी है वहां लौकिक गणित को प्रयोजन जानकर पीठबंध में कुछ वर्णन किया है, उसे वहां से जानना ।

इस शास्त्र में गणित के कथन की मुख्यता नहीं है वा लौकिक गणित का बहुत विशेष प्रयोजन नहीं है, इसलिए यहां बहुत वर्णन नहीं करते । विधान का स्वरूप मात्र दिखाने के लिये एक प्रकार से किंचित् वर्णन करते हैं ।

वहां संकलन में जिनका संकलन करना हो, उनके एकस्थानीय आदि अंकों को क्रम से यथास्थान जोड़नेपर जो-जो अंक आते हैं, वे-वे अंक जोड़ में क्रम से यथास्थान लिखना । प्रवृत्ति में ज़ैसा जोड़ देने का विधान है, वैसा ही यह जानना। जो एक स्थानीय आदि अंक जोड़नेपर दो, तीन आदि अंक आवे, तो प्रथम अंक को जोड़ में प्रथम लिखना । द्वितीय आदि अंकों को दस स्थानीय आदि अंकों में जोड़ना । इसको प्रवृत्ति में हाथिलागा कहते हैं । इसतरह करते हुये जो अंक होगा वह जोड़ा हुआ प्रमाण जानना ।

यहां उदाहरण – जैसे दो सौ छप्पन और चौरासी (२५६+८४) जोड़ते हैं । वहां एक स्थानीय छह और चार जोड़नेपर दस हुये । वहां जोड़ में एक स्थानीय शून्य लिखा और रहा एक, उसको और दस स्थानीय पांच, आठ इनको जोड़नेपर चौदह हुये । वहां जोड़ में दस स्थानीय चार लिखा और रहा एक, उसको और शत स्थानीय दो को जोड़नेपर तीन हुआ, उसे जोड़ में शत स्थानीय लिखा । ऐसे जोड़नेपर तीन सौ चालीस हुये । ऐसे ही अन्यत्र जानना ।

व्यवकलन में मूलराशि के एकस्थानीय आदि अंकों में से ऋणराशि के एक स्थानीय आदि अंकों को यथाक्रम घटाना । यदि मूलराशि के एक स्थानीय आदि अंकों से ऋणराशि के एक स्थानीय आदि अंक अधिक प्रमाणवाले हो तो धनराशि के दस स्थानीय आदि अंक में से एक घटाकर धनराशि के एक स्थानीय आदि अंक में दस जोड़कर उसमें से ऋणराशि का अंक घटाना । सो प्रवृत्ति में जैसे बाकी निकालने का विधान है वैसे ही यह जानना । ऐसे करनेपर जो हो, वह अवशेष प्रमाण जानना।

यहां उदाहरण – जैसे छह सौ पचहत्तर मूलराशि में से बानबे (६७५-९२) ऋण घटाना हो, वहां एक स्थानीय पांच में से दो घटानेपर तीन रहे और दस स्थानीय सात में से नौ घटते नहीं है इसलिए शत स्थानीय छह में से एक घटाकर उसके दस सात में जोड़नेपर सत्रह हुये, उसमें से नौ घटानेपर आठ रहे । शत स्थानीय छह में से एक घटानेपर पांच रहे, उसमें से ऋण अंक घटाने के लिये है नहीं इसलिए पांच ही रहे । ऐसे पांच सौ तिरासी प्रमाण आया । ऐसे ही अन्यत्र जानना ।

गुणकार के गुण्य के अंतिम अंक से लेकर आदि अंक तक एक-एक अंक को क्रम से गुणकार के अंकों से गुणा करके यथास्थान लिखने और जोड़नेपर गुणित राशि का प्रमाण आता है ।

यहां उदाहरण – जैसे गुण्य दो सौ छप्पन और गुणकार सोलह (२५६×१६)। वहां गुण्य का अंतिम अंक दो को सोलह से गुणा करना । वहां छह तो दो के ऊपर और एक उसके पीछे १६ ऐसे स्थापन करके एक से दो को गुणा करनेपर
२५६

दो आये उसे एक के नीचे लिखना और छह से दो को गुणा करनेपर बारह आये, उसमें से दो तो गुण्य की जगह लिखना और एक को पहले दो लिखे थे उसमें जोड़ना तब (३२५६) ऐसे हुये । पुनश्च इसीतरह गुण्य का उपांत अंक पांच उसको सोलह से गुणा करना । वहां ऐसे १६ स्थापित करके एक से पांच को गुणा करनेपर
३२५६

पांच आये वह तो एक के नीचे दो है उसमें जोड़ना और छह से पांच को गुणा करनेपर तीस आये वहां शून्य पांच की जगह लिखकर, तीन पिछले अंक में जोड़ना, ऐसे करनेपर ऐसा ४००६ हुआ । पुनश्च गुण्य के आदि अंक छह को सोलह से गुणा करना । वहां ऐसे १६ स्थापित कर एक से छह को गुणा करनेपर छह आये,
४००६

उसे तो एक के नीचे शून्य है उसमें जोड़ना और छह को छह से गुणा करनेपर छत्तीस हुये वहां छह को तो गुण्य के छह की जगह लिखना और तीन को पिछला अंक छह उसमें जोड़ना, ऐसे करनेपर ४०९६ हुये । इसप्रकार गुणित राशि चार हजार छानबे आयी । ऐसे ही अन्यत्र विधान जानना ।

भागहार में भाज्य के जितने अंकों में भागहार का भाग देना संभव है उतने अंकों को उसका भाग देकर प्राप्त अंक को जुदा लिखकर उस प्राप्त अंक से भागहार को गुणा करनेपर जो प्रमाण हो उतना जिसको भाग दिया था उसमें से घटाकर अवशेष वहां लिखना । पुनश्च वैसे ही भाग देनेपर जो अंक प्राप्त हो उसको पहले जो अंक लिखा था उसके आगे लिखकर उससे भागहार को गुणा करके उसीप्रकार से घटाना। इसतरह जब तक भाज्य राशि निःशेष हो जाय तब तक करनेपर जुदे लिखे अंकप्रमाण एकभाग आता है ।

यहां उदाहरण – जैसे भाज्यराशि चार हजार छानबे, भागहार सोलह । वहां भाज्य के अंतिम अंक चार को तो सोलह का भाग संभव नहीं है इसलिए दो अंक चालीस है उसको भाग देना, वहां $\frac{४०९६}{१६}$ ऐसे लिखना । यहां तीन आदि अंकों से सोलह को गुणा करनेपर चालीस से अधिक हो जाते हैं इसलिए दो प्राप्त हुये, सो दो जुदे लिखकर उससे सोलह को गुणा करके चालीस में से घटानेपर ऐसा ८९६ हुआ ।

पुनश्च यहां नवासी को सोलह का भाग देनेपर $\frac{८९६}{१६}$ पांच आये, उसे दो के आगे लिखकर, उससे सोलह को गुणा करके नवासी में से घटानेपर ऐसा ९६ रहा। इसको सोलह का भाग देनेपर छह आये, उसे पांच के आगे लिखकर उससे सोलह को गुणा करनेपर छानबे हुये, उसे घटानेपर भाज्यराशि निःशेष हुयी । इसतरह जुदे लिखे अंक, उनसे एक भाग का प्रमाण दो सौ छप्पन आता है । पुनश्च **'भागो नास्ति लब्धं शून्यं'** इस वचन से जहां भाग टूट जाय वहां शून्य आता है । जैसे भाज्य तीन हजार छत्तीस(३०३६), भागहार छह(६), वहां तीस को छह का भाग देनेपर पांच आये, उससे छह को गुणा करके घटानेपर तीस निःशेष हुआ । सो यहां भाग टूटा, इसलिये पांच के आगे शून्य लिखना । पुनश्च अवशेष छत्तीस को छह का भाग देनेपर छह आये उसे शून्य के आगे लिखकर, उससे छह को गुणा करके घटानेपर सर्व भाज्य निःशेष हुआ । इसतरह लब्ध का प्रमाण पांच सौ छह प्राप्त हुआ । ऐसे ही अन्यत्र जानना ।

वर्ग में गुणकारवत् विधान जानना । क्योंकि दो जगह समान राशि लिखकर एक को गुण्य, एक को गुणकार स्थापित कर परस्पर गुणा करनेपर वर्ग होता है । जैसे सोलह को सोलह से गुणा करनेपर सोलह का वर्ग दो सौ छप्पन होता है ।

घन में भी गुणकारवत् ही विधान है । क्योंकि तीन जगह समान राशि मांडकर परस्पर गुणा करना । वहां पहले राशिरूप गुण्य को दूसरे राशिरूप गुणकार से गुणा करनेपर जो प्रमाण हो उसको गुण्य स्थापित कर उसे तीसरे राशिरूप गुणकार से गुणा करनेपर जो प्रमाण आता है, वही उस राशि का घन जानना । जैसे सोलह को सोलह से गुणा करनेपर दो सौ छप्पन, उसको सोलह से गुणा करनेपर चार हजार छानबे होते हैं, वही सोलह का घन है । ऐसे ही अन्यत्र जानना ।

वर्गमूल में वर्गरूप राशि के प्रथम अंक के ऊपर विषम की, दूसरे अंक के ऊपर सम की, तीसरे अंक के ऊपर विषम की, चौथे अंक के ऊपर सम की इसतरह क्रम से अंतिम अंक तक उभी आडी रेषा करके सहनानी (चिह्न) करना । यदि अंतिम अंक सम हो तो वहां उपांत और अंतिम दोनों अंकों की विषम संज्ञा जानना । वहां अंतिम एक या दो जो विषम अंक, उसके प्रमाण में से जिस अंक का वर्ग संभवता है उसका वर्ग करके अंत के विषम प्रमाण में से घटाना । अवशेष रहे उसे वहां लिखना । जिसका वर्ग किया था उस मूल अंक को जुदा लिखना । अवशेष रहे अंकों सहित जो उस विषम अंक के आगे सम अंक उसके प्रमाण को जुदा स्थापित जो अंक, उससे दुगुणे प्रमाणरूप भागहार का भाग देनेपर जो अंक आये उसे उस जुदे स्थापित अंक के आगे लिखना । और उस अंक से गुणित भागहार के प्रमाण को उस भाज्य में से घटानेपर अवशेष वहां लिख देना । इस अवशेष सहित जो उस सम के आगे विषम अंक, इसमें से जो अंक पाया था उसका वर्ग करनेपर जो प्रमाण हो वह घटाना, अवशेष वहां लिखना । पुनश्च इस अवशेष सहित जो उस विषम के आगे सम अंक, उसको उन जुदे लिखे हुये सर्व अंकरूप प्रमाण से दुगुणे प्रमाणरूप भागहार का भाग देकर प्राप्त अंक को उन जुदे लिखे हुये अंकों के आगे लिखना । और इस प्राप्त अंक से भागहार को गुणित कर, भाज्य में से घटाकर अवशेष वहां लिखना । पुनश्च इस अवशेष सहित जो सम अंक के आगे विषम अंक, उसमें से प्राप्त अंक का वर्ग घटाना । ऐसे ही क्रम से जब तक वर्गित राशि निःशेष हो जाय, तब तक करनेपर वर्गमूल का प्रमाण आता है ।

यहां उदाहरण – जैसे वर्गित राशि पैंसठ हजार पांच सौ छत्तीस (६५५३६)

।-।-।

यहां विषम सम की सहनानी ऐसी ६५५३६ करनी । अंतिम विषम छह में से तीन का वर्ग तो बहुत होता है इसलिए दो का वर्ग चार घटाकर अवशेष दो वहां लिखना। और मूल अंक दो जुदी पंक्ति में लिखना । उस अवशेष सहित अगला अंक ऐसा (२५) । उसको जुदे लिखे हुये दो से दुगुणे चार का भाग देनेपर छह आये परंतु आगे वर्ग घटाने का निर्वाह नहीं है । इसलिए प्राप्त पांच को जुदे लिखे हुये दो के आगे लिखना । और प्राप्त अंक पांच से भागहार चार को गुणा करके भाज्य में से घटानेपर पच्चीस की जगह पांच रहे, उस सहित अगला विषम अंक ऐसा (५५)।

उसमें से प्राप्त अंक पांच का वर्ग पच्चीस घटानेपर अवशेष तीस, उससहित अगला सम अंक ऐसा ३०३, उसको जुदे लिखे अंकों से दुगुणा प्रमाण पचास का भाग देनेपर छह आये, उसे जुदे लिखे अंकों के आगे लिखना और छह से भागहार पचास को गुणा करके भाज्य में से घटानेपर अवशेष ३ रहा, उस सहित आगे का विषम अंक ऐसा (३६) इसमें से प्राप्त अंक छह का वर्ग घटानेपर राशि निःशेष हुयी । ऐसे जुदे लिखे हुये अंकों से पैंसठ हजार पांच सौ छत्तीस का वर्गमूल दो सौ छप्पन आया । ऐसे ही अन्यत्र विधान जानना ।

पुनश्च घनमूल में घनरूप राशि के अंकों के ऊपर पहला घन, दूसरा तीसरा अघन, चौथा घन, पांचवां-छठवां अघन ऐसे क्रम से उभी आडी रेषारूप सहनानी करना। यदि अंतिम घन अंक न हो तो अंतिम अंक और उपांत अंक इन दो अंकों की घन संज्ञा जानना । और वे दोनों घन न हो तो अंत के तीन अंकों की घन संज्ञा जानना । वहां एक, दो या तीन अंकरूप जो अंत का घन उसमें जिसका घन संभवे उसका घन करके उसको अंत के घन अंकरूप प्रमाण में से घटानेपर अवशेष जो रहे उसे वहां लिखना । और जिसका घन किया था उस मूल अंक को जुदी पंक्ति में लिखना । उस अवशेष सहित अगले अंक को उस मूल अंक के वर्ग से तीनगुणे भागहार का भाग देना, जो अंक आये उसको जुदे लिखे हुये अंक के आगे लिखना और प्राप्त अंक से भागहार को गुणा करके भाज्य में से घटाकर अवशेष वहां लिख देना । पुनश्च इस अवशेष सहित अगला अंक, उसमें प्राप्त अंक के वर्ग को पूर्व पंक्ति में स्थित अंकों से गुणा करनेपर जो प्रमाण हो उसे तीनगुणा करके घटाना । अवशेष वहां लिखना । इस अवशेष सहित अगले अंक में से उस प्राप्त अंक का घन घटाना । पुनश्च अवशेष सहित अगले अंक को जुदा लिखकर अंकों के प्रमाण के वर्ग को तीनगुणा करके निर्वाह हो वैसे भाग देना । प्राप्त अंक पंक्ति में आगे लिखना। इसी अनुक्रम से जब तक घनराशि निःशेष हो जाय तब तक करनेपर घनमूल का प्रमाण आता है ।

यहां उदाहरण – जैसे घनराशि पंद्रह हजार छह सौ पच्चीस (१५६२५) । यहां घन-अघन की सहनानी करनेपर ऐसा होता है –

–|––|
१५६२५

। यहां अंतिम अंक घन नहीं है इसलिए दो अंकरूप अंतघन (१५) । यहां तीन का घन करनेपर बहुत हो

जाय, इसलिए दो का घन आठ घटानेपर अवशेष सात लिखना और घनमूल दो जुदी पंक्ति में लिखना । उस अवशेष सहित अगला अंक ऐसा (७६) । उसको मूल अंक का वर्ग चार, उसका तीनगुणा बारह, उसका भाग देनेपर छह आये परंतु आगे निर्वाह नहीं है इसलिए पांच आया उसे दो के आगे पंक्ति में लिखना और इस पांच से भागहार बारह को गुणा करके भाज्य में से घटानेपर अवशेष सोलह (१६), उस सहित अगला अंक ऐसा (१६२) उसमें प्राप्त अंक पांच, उसका वर्ग पच्चीस, उसको पूर्व पंक्ति में स्थित दो, उससे गुणा करनेपर हुये पचास, उसके तीनगुणे डेढ़ सौ (१५०) घटानेपर अवशेष रहे बारह, उस सहित अगला अंक एक सौ पच्चीस (१२५) इसमें से पांच का घन घटानेपर राशि निःशेष हुयी । इसतरह पंद्रह हजार छह सौ पच्चीस का घनमूल पच्चीस प्रमाण आया । ऐसे ही सर्वत्र जानना ।

इसतरह वर्णन करके अब भिन्न परिकर्माष्टक कहते हैं । वहां अंश और हार इनके संकलनादि जानना । अंश और हार किसे कहते हैं ? जैसे छह पंचमांश कहे, वहां एक के पांच भाग करके उस समान छह अंश जानने । वा छह का पांचवां भाग जानना । वहां छह को अंश वा लव कहते हैं और पांच को हार, हर वा छेद कहते हैं । वहां अंश को ऊपर लिखते हैं और हार को नीचे लिखते हैं । जैसे छह पंचमांश को $\frac{६}{५}$ ऐसा लिखते हैं । ऐसे ही अन्यत्र जानना । वहां भिन्न संकलन-व्यवकलन के लिये भागजाति, प्रभागजाति, भागानुबंध, भागापवाह ये चार जाति हैं । उनमें से यहां विशेष प्रयोजनभूत समच्छेद विधानवाली भागजाति कहते हैं ।

जुदे जुदे अंश और उनके हार लिखकर एक-एक अंश को अन्य अंशों के हारों से गुणा करना तथा सर्व हारों को परस्पर गुणा करना । ऐसा करनेपर यदि संकलन करना हो तो अंशों को परस्पर जोड़ देना और यदि व्यवकलन करना हो तो मूलराशि के अंश में से ऋणराशि के अंश घटा देना और हार सबके समान हुये इसलिये हारों को परस्पर गुणा करनेपर जितने हुये उतने ही रखना । ऐसे समान हार वा छेद होने से इसका नाम समच्छेद विधान है ।

यहां उदाहरण – वहां संकलन में पांच षष्टांश (पांच बटे छह), दो तृतीयांश (दो बटे तीन) और तीन चतुर्थांश (तीन बटे चार) इनको जोड़ना हो वहां| $\frac{५}{६}$ | $\frac{२}{३}$ | $\frac{३}{४}$ | ऐसा लिखकर पांच अंश को अन्य के तीन और चार हारों से, दो अंश को अन्य

के छह, चार हारों से और तीन अंश को अन्य के छह, तीन हारों से गुणा करनेपर क्रम से साठ, अड़तालीस और चौवन अंश होते हैं । और हारों को परस्पर गुणा करनेपर सर्व बहत्तर हार| $\frac{६०}{७२}$| $\frac{४८}{७२}$| $\frac{५४}{७२}$| ऐसे हुये । यहां सर्व अंशों का जोड़ एक सौ बासठ अंश और बहत्तर हार हुये $\frac{१६२}{७२}$। वहां अंश को हार का भाग देनेपर दो आये और अठारह का बहत्तरवां भाग रहा । उसको अठारह से अपवर्तन करनेपर एक का चौथा भाग हुआ । ऐसे इनका जोड़ सवा दो आया । कोई यथासंभव प्रमाण का भाग देकर भाज्य और भाजक राशि के महत् प्रमाण को थोड़ा करना या निःशेष करना, उसे अपवर्तन कहते हैं । सो यहां अठारह का भाग देनेपर भाज्य अठारह था वहां एक हुआ और भागहार बहत्तर था, वहां चार हुये, इसलिये अठारह से अपवर्तन हुआ ऐसा कहा । ऐसे ही अन्यत्र अपवर्तन का स्वरूप जानना ।

पुनश्च व्यवकलन में जैसे तीन में से पांच चतुर्थांश घटाना है । वहां **'कल्प्यो हरो रूपमहारराशेः'** इस वचन से जिसके हार नहीं हो वहां एक हार मानना, सो यहां तीन का हार नहीं है, इसलिये एक हार मानकर ऐसे लिखना| $\frac{३}{१}$| $\frac{५}{४}$|यहां तीन अंश को अन्य के चार हार से और पांच अंश को अन्य के एक हार से गुणा करके और हारों का परस्पर गुणा करके| $\frac{१२}{४}$| $\frac{५}{४}$|ऐसे हुये । यहां बारह अंशों में से पांच घटानेपर सात अंश हुये और हार चार हुये । वहां अंश को हार का भाग देनेपर एक और तीन का चौथा भाग पौण इतना फल आया ।

पुनश्च भिन्न गुणकार में गुण्य और गुणकार के अंश को अंश से और हार को हार से गुणा करना । जैसे दस चतुर्थांश $\frac{१०}{४}$ को चार तृतीयांश $\frac{४}{३}$ से गुणा करना हो वहां| $\frac{१०}{४}$| $\frac{४}{३}$| ऐसा लिखकर गुण्य-गुणकार के अंश और हारों को गुणा करनेपर चालीस अंश और बारह हार $\frac{४०}{१२}$ हुये । वहां अंश को हार का भाग देनेपर तीन आये । अब शेष चार का बारहवां भाग उसको चार से अपवर्तन करनेपर एक का तीसरा भाग आया। ऐसे ही अन्यत्र जानना ।

पुनश्च भिन्न भागहार में भाजक के अंश को हार करना और हार को अंश करना । ऐसे पलटकर भाज्य-भाजक का गुण्य-गुणकारवत् विधान करना । जैसे सैंतीस के आधे को तेरह के चौथाई का भाग देना हो वहां ऐसे $\frac{३७}{२} \div \frac{१३}{४}$ लिखना और भाजक के अंश और हार पलटकर $\frac{३७}{२} \times \frac{४}{१३}$ ऐसे लिखना । पुनश्च गुणनविधि करनेपर

एक सौ अड़तालीस अंश और छब्बीस हार $\frac{१४८}{२६}$ हुये । वहां हार का अंश को भाग देनेपर पांच आये और अवशेष अठारह छब्बीसवां भाग, उसको दो से अपवर्तन करनेपर नौ तेरहवां भागमात्र हुआ । ऐसे ही अन्यत्र जानना ।

पुनश्च भिन्न वर्ग और घन का विधान गुणकारवत् जानना । क्योंकि समान दो राशियों को परस्पर गुणा करनेपर वर्ग होता है और समान तीन राशियों को परस्पर गुणा करनेपर घन होता है । जैसे तेरह का चौथा भाग दो जगह मांडकर | $\frac{१३}{४}$ | $\frac{१३}{४}$ परस्पर गुणा करनेपर उसका वर्ग एक सौ उनहत्तर का सोलहवां भागमात्र $\frac{१६९}{१६}$ होता है । तथा तीन जगह मांडकर | $\frac{१३}{४}$ | $\frac{१३}{४}$ | $\frac{१३}{४}$ | परस्पर गुणा करनेपर इक्कीस सौ सत्तानबे का चौंसठवां भागमात्र $\frac{२१९७}{६४}$ घन होता है ।

पुनश्च भिन्न वर्गमूल, घनमूल में अंशों का और हारों का पूर्वोक्त विधान से जुदा-जुदा मूल ग्रहण करना । जैसे वर्गित राशि एक सौ उनहत्तर का सोलहवां भाग $\frac{१६९}{१६}$ । वहां पूर्वोक्त विधान से एक सौ उनहत्तर का वर्गमूल तेरह और सोलह का चार ऐसे तेरह का चौथा भाग मात्र $\frac{१३}{४}$ वर्गमूल आया । पुनश्च घनराशि इक्कीस सौ सत्तानबे का चौंसठवां भाग $\frac{२१९७}{६४}$ । वहां पूर्वोक्त विधान से इक्कीस सौ सत्तानबे का घनमूल तेरह, चौंसठ का चार ऐसे तेरह का चौथा भागमात्र $\frac{१३}{४}$ घनमूल आया । ऐसे ही अन्यत्र जानना ।

अब शून्य परिकर्माष्टक लिखते हैं । शून्य अर्थात् बिंदी, उसके संकलनादिक कहते हैं । वहां शून्य में अंक जोड़नेपर अंक ही होता है । जैसे पचास में पांच जोड़ना है वहां एक स्थानीय शून्य में पांच जोड़नेपर पांच होते हैं, दस स्थानीय पांच है ही, ऐसे पचपन हुये ।

अंक में से शून्य घटानेपर अंक ही रहता है । जैसे पचपन में से दस घटानेपर एक स्थानीय पांच में से शून्य घटानेपर पांच ही रहे, दस स्थानीय पांच में से एक घटानेपर चार रहे ऐसे पैंतालीस हुये ।

गुणकार में अंक को शून्य से गुणा करनेपर शून्य होता है । जैसे बीस को पांच से गुणा करना है वहां गुण्य के दो को पांच से गुणा करनेपर दस हुये । और शून्य को पांच से गुणा करनेपर शून्य ही आया । ऐसे सौ हुये ।

पुनश्च अंक को शून्य से भाग देनेपर खहर कहते हैं । क्योंकि जैसे-जैसे भागहार घटता हो, वैसे-वैसे लब्धराशि बढ़ती जाती है । जैसे दस को एक के छठवें भाग का भाग देनेपर साठ आते हैं, एक के बीसवें भाग से भाग देनेपर दो सौ आते हैं, सो बिंदी अर्थात् शून्य का भाग देनेपर फल का प्रमाण अवक्तव्य है । इसका हार शून्य है इतना ही कह सकते हैं । शून्य का वर्ग, घन, वर्गमूल, घनमूल में गुणकारादिवत् शून्य ही होता है । इसतरह लौकिक गणित की अपेक्षा परिकर्माष्टिक का विधान कहा ।

पुनश्च अलौकिक गणित अपेक्षा विधान है वह सातिशय ज्ञानगम्य है । क्योंकि वहां अंकादिक का अनुक्रम व्यक्तरूप नहीं है । वहां कहीं तो संकलनादि होनेपर जो प्रमाण हुआ उसका नाम कहतें हैं । जैसे उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात में एक जोड़नेपर जघन्य परीतानंत होता है । (जघन्य परीतानंत में से एक घटानेपर उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात होता है) । और जघन्य परीतासंख्यात में से एक घटानेपर उत्कृष्ट संख्यात होता है। पल्य को दस कोडाकोडि से गुणा करनेपर सागर होता है । जगत्श्रेणी को सात का भाग देनेपर राजू होता है । जघन्य युक्तासंख्यात का वर्ग करनेपर जघन्य असंख्यातासंख्यात होता है । सूच्यंगुल का घन करनेपर घनांगुल होता है । प्रतरांगुल का वर्गमूल ग्रहण करनेपर सूच्यंगुल होता है । लोक का घनमूल ग्रहण करनेपर जगत्श्रेणी होती है, इत्यादि जानना ।

पुनश्च कहीं संकलनादि होनेपर जो प्रमाण हुआ, उसका नाम न कहकर, संकलनादिरूप ही कथन करते हैं । क्योंकि सर्व संख्यात, असंख्यात, अनंत के भेदों के नाम वक्तव्यरूप नहीं है । जैसे जीवराशि से अधिक पुद्गलराशि कहते हैं वा सिद्धराशि से हीन जीवराशि कहते हैं वा असंख्यातगुणा लोक कहते हैं वा संख्यात प्रतरांगुलों से भाजित जगत्प्रतर कहते हैं वा पल्य का वर्ग कहते हैं वा पल्य का घन कहते हैं वा केवलज्ञान का वर्गमूल कहते हैं वा आकाश प्रदेशराशि का घनमूल कहते हैं इत्यादि जानना ।

पुनश्च अलौकिक मान की सहनानी स्थापित करके इनके लिखने का और वहां संकलनादि होनेपर लिखने का जो विधान है, उसे आगे संदृष्टि अधिकार में वर्णन करेंगे, वहां से जानना । वहां ही लौकिक मान का भी लिखने का और संकलनादि होनेपर लिखने का जो विधान है, उसका वर्णन करेंगे । यहां लिखने से ग्रंथ में प्रवेश करते ही शिष्य को कठिनता भासित हो जाती, वहां अरुचि होती, इसलिए यहां नहीं

लिख रहे हैं । उदाहरणमात्र यहां इतना ही जानना, संकलन में तो अधिक राशि को ऊपर लिखना जैसे पांच अधिक सहस्र $\overset{५}{\overline{१०००}}$ ऐसे लिखना । व्यवकलन में हीन राशि को ऊपर लिखकर वहां पूछड़ी जैसा आकार करके, बिंदी देना जैसे पांच हीन सहस्र $\overset{५}{१०००}$ ऐसे लिखना । गुणकार में गुण्य के आगे गुणकार लिखना । जैसे पांच गुणा सहस्र १०००×५ ऐसे लिखना । भागहार में भाज्य के नीचे भाजक को लिखना जैसे पांच से भाजित सहस्र $\frac{१०००}{५}$ ऐसे लिखना । वर्ग में राशि को दो बार बराबर मांडना। जैसे पांच के वर्ग को ५×५ ऐसे लिखना । घन में राशि को तीन बार बराबर मांडना। जैसे पांच के घन को ५×५×५ ऐसे लिखना । वर्गमूल-घनमूल में वर्गरूप-घनरूप राशि के आगे मूल की सहनानी करना । जैसे पच्चीस के वर्गमूल को '२५ व.मू.' ऐसे लिखना । एक सौ पच्चीस के घनमूल को '१२५ घ.मू.' ऐसे लिखना । इसतरह लिखने के विधान अनेक प्रकार के हैं । ऐसा परिकर्माष्टक का व्याख्यान किया, उसे जानना ।*

पुनश्च त्रैराशिक का जहां-तहां प्रयोजन जानकर स्वरूपमात्र कहते हैं । वहां तीन राशियां होती हैं – प्रमाण, फल, इच्छा । वहां जिस विवक्षित प्रमाण से जो फल प्राप्त होता है, उसे प्रमाणराशि और फलराशि जानना । अपना इच्छित प्रमाण हो, वह इच्छाराशि जानना । वहां फल को इच्छा से गुणा करके प्रमाण का भाग देनेपर अपने इच्छित प्रमाण से प्राप्त जो फल, उसका प्रमाण आता है, इसका नाम लब्ध है । यहां प्रमाण और इच्छा की एक जाति जानना तथा फल और लब्ध की एक जाति जानना । यहां उदाहरण – जैसे पांच रुपये का सात मण अन्न आवे, तो सात रुपये का कितना अन्न आयेगा ऐसा त्रैराशिक किया । यहां प्रमाणराशि पांच, फलराशि सात, इच्छाराशि सात, वहां फल से इच्छा को गुणित करके प्रमाण का भाग देनेपर उनचास का पांचवां भागमात्र लब्ध आया । उसका नौ मण और चार मण का पांचवां भागमात्र लब्धराशि हुयी ।

इसीतरह छह सौ आठ (६०८) सिद्ध छह महिने और आठ समयों में होते हैं, तो सर्व सिद्ध कितने काल में होंगे, ऐसा त्रैराशिक करते हैं, वहां प्रमाणराशि छह सौ आठ, फलराशि छह महिने और आठ समयों की संख्यात आवली, इच्छाराशि सिद्धराशि । वहां फल से इच्छा को गुणा करके प्रमाण का भाग देनेपर लब्धराशि संख्यात आवली से गुणित सिद्धराशि मात्र अतीत काल का प्रमाण आता है । ऐसे

ही अन्यत्र जानना ।

पुनश्च कितने ही गणितों का कथन आगे इस शास्त्र में जहां प्रयोजन आयेगा वहां कहेंगे । जैसे श्रेणीव्यवहार का कथन गुणस्थानाधिकार में करणों का कथन करते हुये कहेंगे । तथा एक बार, दो बार आदि संकलन का कथन ज्ञानाधिकार में पर्यायसमासज्ञान का कथन करते हुये कहेंगे । गोल आदि क्षेत्रव्यवहार का कथन जीवसमासादिक अधिकारों में कहेंगे । ऐसे ही और भी गणितों का जहां प्रयोजन होगा, वहां ही कथन करेंगे, उसे जानना ।

पुनश्च अज्ञातराशि लाने के विधान वा सुवर्णगणित आदि गणितों का यहां प्रयोजन नहीं है, इसलिए उनका यहां कथन नहीं करते । ऐसा गणित का कथन किया । इसको स्मरण में रखकर जहां प्रयोजन हो, वहां यथार्थरूप जानना । ऐसे ही इस शास्त्र में करणसूत्रों का वा कितनी ही संज्ञाओं का वा कितने ही अर्थों का स्वरूप एक बार जहां कहा हो, वहां से स्मरण में रखकर, उनका जहां प्रयोजन आवे, वहां वैसा ही स्वरूप जानना ।

इसप्रकार श्री गोम्मटसार शास्त्र की सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका नामक
भाषाटीका में पीठिका समाप्त हुयी ।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड

सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका

भाषाटीका सहित

परम भए सब खंडिकैं, करमकांड समुदाय ।
सहज अखंडित ज्ञानमय, जयवंते जिनराय ॥१॥

विघनहरन मंगलकरन, नमौ सिद्ध सुखकार ।
नेमिचंद जिन जगतपति साधुवचन गुनधार ॥२॥

अथ श्रीमत् गोम्मटसार द्वितीय नाम पंचसंग्रह में कर्मकाण्ड महाअधिकार की रचना करने का उद्यम करते हैं, वहां प्रथम ही आचार्य अपने इष्ट को नमस्कारपूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं ।

पणमिय सिरसा णेमिं गुणरयणविभूसणं महावीरं ।
सम्मत्तरयणणिलयं पयडिसमुक्कित्तणं वोच्छं ॥१॥

प्रणम्य शिरसा नेमिं गुणरत्नविभूषणं महावीरम् ।
सम्यक्त्वरत्ननिलयं प्रकृतिसमुत्कीर्तनं वक्ष्यामि ॥१॥

टीका – श्री नेमिनाथ तीर्थंकर परमदेव को मस्तक झुकाकर नमस्कार करके ज्ञानावरणादि कर्मों की मूलप्रकृतियों और उत्तरप्रकृतियों का है **समुत्कीर्तन** अर्थात् व्याख्यान जिसमें ऐसे **प्रकृतिसमुत्कीर्तन** नामक ग्रंथ को मैं कहूंगा । कैसा है नेमि तीर्थंकर ? **'गुणरत्नविभूषणं'** अर्थात् ज्ञानादिक गुण ही हुये रत्न, वे ही हैं आभूषण जिनके, ऐसा है । पुनश्च कैसा है ? **'महावीरं'** अर्थात् विशिष्ट जो **'ई'** अर्थात् लक्ष्मी, उसे **'राति'** अर्थात् दे वह वीर, महान जो वीर वह महावीर कहलाता है, ऐसा है । पुनश्च कैसा है ? **'सम्यक्त्वरत्ननिलयं'** अर्थात् आत्मस्वरूप की उपलब्धिरूप जो सम्यक् स्वरूप भाव वह सम्यक्त्व अथवा क्षायिक सम्यक्त्व वही हुआ रत्न, उसका आश्रयस्थान है। ऐसे अपने विशेषरूप इष्टदेव को नमस्कारपूर्वक प्रकृतिसमुत्कीर्तन कथन करने की आचार्य की प्रतिज्ञा जाननी ॥१॥

प्रकृति क्या है ? वह कहते हैं -

पयडी सील सहावो जीवंगाणं अणाइसंबंधो ।
कणयोवले मलं वा ताणत्थित्तं सयं सिद्धं ॥२॥

प्रकृतिः शीलं स्वभावः जीवाङ्गयोरनादिसम्बन्धः ।
कनकोपले मलं वा तयोरस्तित्वं स्वयं सिद्धम् ॥२॥

टीका – जो अन्य कारण बिना वस्तु का सहज स्वभाव हो, जैसे अग्नि का ऊर्ध्वगमन, पवन का तिर्यग्गमन, जल का अधोगमन स्वभाव है, उसको प्रकृति, शील वा स्वभाव कहते हैं - ये सब एकार्थ हैं । वह स्वभाव स्वभाववान वस्तु की अपेक्षा सहित होता है; इसलिए यह स्वभाव किसका है, वह कहते हैं - **'जीवांगयोः'** अर्थात् जीव और कर्म का स्वभाव है । वहां रागादिरूप परिणमना जीव का स्वभाव है, रागादिक को उपजाना कर्म का स्वभाव है ।

यहां अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य के आश्रय से हुआ, इसलिए इस दोष को दूर करने के लिये कहते हैं –

जीव का और कर्म का अनादिसंबंध है । जिसतरह कनकोपल अर्थात् सुवर्णसहित पाषाण में मल पाया जाता है । सुवर्ण और पाषाण यद्यपि भिन्न भिन्न वस्तु हैं तथापि उनका अनादिसंबंध है, नये मिले हुये नहीं हैं, उसतरह जीव और कर्म का अनादिसंबंध है, नये मिले हुये नहीं हैं ।

ऐसा भी कोई कहता है कि अमूर्तिक जीव के साथ मूर्तिक कर्म का संबंध कैसे हुआ ? वहां भी यही समाधान है कि नवीन संबंध नहीं हुआ, अनादि से ही संबंध है, वहां तर्क कैसा ?

पुनश्च उनका अस्तित्व स्वयंसिद्ध है, क्योंकि **'अहं'** आदि मानना जीव के बिना शक्य नहीं है तथा दरिद्री, लक्ष्मीवान इत्यादि विचित्रता कर्म के बिना शक्य नहीं है, इसलिए जीव भी है और कर्म भी है । इसप्रकार अस्तित्व स्वयंसिद्ध है ॥२॥

संसारी जीवों के कर्म, नोकर्म का ग्रहण कैसे होता है ? वह कहते हैं -

देहोदयेण सहिओ जीवो आहरदि कम्म णोकम्मं ।
पडिसमयं सव्वंगं तत्तायसपिंडओव्व जलं ॥३॥

देहोदयेन सहितो जीव आहरति कर्म नोकर्म ।
प्रतिसमयं सर्वाङ्गं तप्तायःपिंडमिव जलम् ॥३॥

टीका – देह अर्थात् औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तेजस, कार्माणरूप शरीर नामक नामकर्म; वहां कार्माणशरीर नामकर्म के उदय से योगसहित जीव ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्म का ग्रहण करता है । अवशेष शरीर नामकर्मों के उदय से औदारिकादि नोकर्मों का ग्रहण करता है, इसलिए उनके उदयकाल में समय-समय प्रति वर्गणाओं का ग्रहण करता है । कैसे ? **'सर्वांगं'** अर्थात् आत्मा के सभी प्रदेशों द्वारा ग्रहण करता है । दृष्टांत क्या है ? **'तप्तायसपिंडं जलमिव'** अर्थात् जैसे अग्नि से बहुत तप्तायमान हुआ लोहे का पिंड जल में डुबोनेपर जल को सर्वांगपने से शोषता है, वैसे शरीर नामकर्म के उदयसंयुक्त जीव प्रतिसमय कर्म और नोकर्म को ग्रहण करता है ॥३॥

कितने परमाणुओं को ग्रहण करता है वह कहते हैं -

सिद्धाणंतिमभागं अभव्वसिद्धादणंतगुणमेव ।
समयपबद्धं बंधदि जोगवसादो दु विसरित्थं ॥४॥

सिद्धानन्तिमभागं अभव्यसिद्धादनन्तगुणमेव ।
समयप्रबद्धं बध्नाति योगवशात्तु विसदृशम् ॥४॥

टीका – सिद्धराशि के अनंतवें भाग, अभव्यराशि से अनंतगुणा जो समयप्रबद्ध उसको बांधता है । समय-समय प्रति बांधता है उसे समयप्रबद्ध कहते हैं । अभव्यराशि से अनंतगुणा ऐसा जो सिद्धराशि का अनंतवां भाग, उस प्रमाण परमाणुओं के समूहरूप जो वर्गणा तथा उतनी ही वर्गणाओं के समूहरूप जो समयप्रबद्ध, उसको समय-समय प्रति बांधता है । योग के वश विसदृश बंध होता है, कभी बहुत परमाणुओं का बंध होता है, कभी थोड़े परमाणुओं का बंध होता है । सामान्यपने पूर्वोक्त प्रमाण ही कहते हैं ॥४॥

आगे समय-समय प्रति बंध के प्रमाण द्वारा उदय और सत्त्व का प्रमाण कहते हैं-

जीरदि समयपबद्धं पओगदो णेगसमयबद्धं वा ।
गुणहाणीण दिवड्ढं समयपबद्धं हवे सत्तं ।।५।।

जीर्यते समयप्रबद्धं प्रयोगतः अनेकसमयबद्धं वा ।
गुणहानीनां द्व्यर्द्धं समयप्रबद्धं भवेत् सत्त्वम् ।। ५।।

टीका – समय-समय प्रति एक एक कार्माण का समयप्रबद्ध निर्जरित होता है, उदयरूप होता है । अथवा सातिशय क्रियासंयुक्त जो आत्मा उसके सम्यक्त्वादि की प्रकृतिरूप योग, उसके द्वारा निर्जरा के जो ग्यारह स्थान गुणस्थानाधिकार में कहे हैं, उनकी विवक्षा से एक समय में अनेक समयप्रबद्ध निर्जरित होते हैं ।

*(**विशेषार्थ** - स्थिति पूरी होनेपर उदयरूप होकर खिर जाने को ही निर्जरा कहते हैं । यह सामान्य निर्जरा है -संवरपूर्वक की निर्जरा- मोक्षमार्ग में होनेवाली निर्जरा नहीं है । ऊपर सातिशय क्रियासंयुक्त आत्मा ऐसा जो कथन आया है उसका अर्थ सम्यक्त्व प्राप्ति, अनंतानुबंधी की विसंयोजना, श्रावक, सकलसंयम, दर्शनमोह की क्षपणा, तथा श्रेणी चढ़ना, अरहंत अवस्था आदि में असंख्यातगुणा असंख्यातगुणा निर्जरा होती है । देखिये गोम्मटसार जीवकाण्ड ६६,६७; तत्त्वार्थसूत्र अध्याय - ९ सूत्र -४५)*

पुनश्च डेढ़ गुणहानि के प्रमाण से समयप्रबद्ध को गुणा करनेपर जो प्रमाण आता है उतने परमाणु प्रतिसमय सत्तारूप रहते हैं ।

यहां प्रश्न – यदि प्रतिसमय एक समयप्रबद्ध का बंध कहा तथा एक समयप्रबद्ध की निर्जरा कही, तो सत्त्व डेढ़ गुणहानि से गुणित समयप्रबद्ध प्रमाण कैसे कहते हो?

उसका समाधान – जो योगमार्गणा में पहले व्याख्यान किया था, आगे भी कथन दिखायेंगे, वहां त्रिकोणरचना में बंध, निर्जरा, सत्त्व का प्रमाण यहां कहा है उतना ही व्यक्तपने पाया जाता है ।।५।।

आगे कर्मों के सामान्यादिक भेद और भेदों के भेद दो गाथाओं द्वारा कहते हैं–

कम्मत्तणेण एक्कं दव्वं भावोत्ति होदि दुविहं तु ।
पोग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु ।।६।।

कर्मत्वेन एकं द्रव्यं भाव इति भवति द्विविधं तु ।
पुद्गलपिण्डो द्रव्यं तच्छक्तिः भावकर्म तु ॥६॥

टीका – कर्म सामान्य भावरूप कर्मत्व से एक प्रकार का है । वही कर्म द्रव्य-भाव के भेद से दो प्रकार का है । वहां ज्ञानावरणादिरूप पुद्गल द्रव्य का पिंड द्रव्यकर्म है तथा उस पिंड में फल देने की जो शक्ति है वह भावकर्म है । अथवा कार्य में कारण का उपचार से उस शक्ति से उत्पन्न हुये अज्ञानादि और क्रोधादि भी भावकर्म हैं ॥६॥

वह कहते हैं –

तं पुण अट्ठविहं वा अडदालसयं असंखलोगं वा ।
ताणं पुण घादित्ति अघादित्तिय होंति सण्णाओ ॥७॥

तत् पुनरष्टविधं वा अष्टचत्वारिंशच्छतमसंख्यलोकं वा ।
तेषां पुनः घातीति अघातीति च भवतः संज्ञे ॥७॥

टीका – पुनश्च वह सामान्य कर्म आठ प्रकार का है वा एक सौ अड़तालीस प्रकार का है वा असंख्यात लोकप्रमाण प्रकार का है । उनकी पृथक् पृथक् घाति, अघाति ऐसी संज्ञा है ॥७॥

जैसे नाम कहना वैसे ही विशेष कहना, इसलिए प्रथम आठ प्रकार के कर्म के घाति-अघाति भेद दो गाथाओं द्वारा दिखाते हैं –

णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेयणीयमोहणियं ।
आउगणामं गोदंतरायमिदि अट्ठ पयडीओ ॥८॥

ज्ञानस्य दर्शनस्य च आवरणं वेदनीयमोहनीयम् ।
आयुष्कनाम गोत्रान्तरायमिति अष्ट प्रकृतयः ॥८॥

टीका – ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अंतराय ये आठ कर्मों की मूलप्रकृतियां हैं ॥८॥

आवरणमोहविग्घं घादी जीवगुणघादणत्तादो ।
आउगणामं गोदं वेयणियं तह अघादित्ति ॥९॥

आवरणमोहविघ्नं घाति जीवगुणघातनत्वात् ।
आयुष्कनाम गोत्रं वेदनीयं तथा अघातीति ॥९॥

टीका – ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय ये चार घातिकर्म हैं क्योंकि ये जीवों के गुणों का घात करते हैं । आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय ये वैसे जीवों के गुणों का घात नहीं करते, इसलिए ये अघातिकर्म हैं ॥९॥

उन जीवों के गुणों को कहते हैं -

केवलणाणं दंसणमणंतविरियं च खयियसम्मं च ।
खयियगुणे मदियादी खयोवसमिए य घादी दु ॥१०॥

केवलज्ञानं दर्शनमनन्तवीर्यं च क्षायिकसम्यक्त्वं च ।
क्षायिकगुणान् मत्यादीन् क्षायोपशमिकांश्च घातीनि तु ॥१०॥

टीका – केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंतवीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व, चकार से क्षायिक चारित्र, दूसरे चकार से क्षायिक दानादि पांच - ये तो क्षायिक भाव तथा मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ज्ञानादि क्षायोपशमिक भाव ये जीव के गुण हैं । इनको ज्ञानावरणादि घातते हैं, इसलिए उनको घातिकर्म कहते हैं ॥१०॥

आयुकर्म का कार्य कहते हैं –

कम्मकयमोहवड्ढिय संसारम्हि य अणादिजुत्तम्हि ।
जीवस्स अवट्ठाणं करेदि आऊ हलिव्व णरं ॥११॥

कर्मकृतमोहवर्धित संसारे च अनादियुक्ते ।
जीवस्यावस्थानं करोति आयुः हलीव नरं ॥११॥

टीका – आयुकर्म का उदय कर्म द्वारा किये हुये तथा अज्ञान, असंयम, मिथ्यात्व द्वारा वृद्धि को प्राप्त हुये ऐसे अनादि संसार में चारों गतियों में जीव के अवस्थान को करता है । जिसतरह काष्ठ का खोडा अपने छिद्र में जिस के पैर आ जाये उसकी वहीं पर स्थिति कराता है, उसतरह आयुकर्म जिस गति संबंधी उदयरूप हो जाये, उसी गति में जीव की स्थिति कराता है ॥११॥

आगे नामकर्म का कार्य कहते हैं –

गदिआदि जीवभेदं देहादी पोग्गलाण भेदं च ।
गदियंतरपरिणमनं करेदि णामं अणेयविहं ।।१२।।

गत्यादिजीवभेदं देहादि पुद्गलानां भेदं च ।
गत्यंतरपरिणमनं करोति नाम अनेकविधं ।।१२।।

टीका – गति आदि अनेक प्रकार का नामकर्म जीव के पर्यायों के नारकादि भेद को तथा औदारिकशरीर आदिरूप पुद्गल के भेद को तथा एक गति से अन्य गतिरूप परिणमने को अनेक प्रकार करता है, इसलिए वह नामकर्म जीवविपाकी, पुद्गलविपाकी, क्षेत्रविपाकी और चकार से भवविपाकी जानना ।।१२।।

आगे गोत्रकर्म के कार्य को कहते हैं –

संताणकमेणागय जीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा ।
उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं ।।१३।।

संतानक्रमेणागत जीवाचरणस्य गोत्रमिति संज्ञा ।
उच्चं नीचं चरणं उच्चं नीचं भवेत् गोत्रं ।।१३।।

टीका – अनुक्रम परिपाटी से चला आया जो आचरण उसको गोत्र कहते हैं । जहां उच्च-उत्कृष्ट आचरण हो वह उच्चगोत्र है, जहां नीचा-निकृष्ट आचरण हो वह नीचगोत्र है ।।१३।।

आगे वेदनीयकर्म के कार्य को कहते हैं –

अक्खाणं अणुभवणं वेयणियं सुहसरूवयं सादं ।
दुक्खसरूवमसादं तं वेदयदीदि वेदणियं ।।१४।।

अक्षाणामनुभवनं वेदनीयं सुखस्वरूपं सातं ।
दुःखस्वरूपमसातं तद्वेदयतीति वेदनीयं ।।१४।।

टीका – इन्द्रियों के अपने विषयों का अनुभवन-जानना वह वेदनीय है । वहां सुखस्वरूप साता है, दुःखस्वरूप असाता है । उन सुख-दुःखों को **वेदयति** अर्थात्

अनुभव कराता है-जनाता है वह वेदनीयकर्म है ॥१४॥

अत्थं देक्खिय जाणदि पच्छा सद्दहदि सत्तभंगीहिं ।
इदि दंसणं च णाणं सम्मत्तं होंति जीवगुणा ॥१५॥

अर्थं दृष्ट्वा जानाति पश्चात् श्रद्दधाति सप्तभंगीभिः ।
इति दर्शनं च ज्ञानं सम्यक्त्वं भवंति जीवगुणाः ॥१५॥

टीका – संसारी जीव पहले पदार्थों को देखकर पश्चात् जानता है । पुनश्च उस पदार्थ को अस्ति, नास्ति इत्यादि सप्तभंगों द्वारा निश्चय करके पश्चात् श्रद्धा करता है । इसप्रकार देखना वह दर्शन, जानना वह ज्ञान, श्रद्धान करना वह सम्यक्त्व ये जीव के गुण हैं ॥१५॥

आगे उन गुणों के आवरण का शास्त्र में अनुक्रम किसतरह कहा है वह कहते हैं –

अब्भरहिदादु पुव्वं णाणं तत्तो हि दंसणं होदि ।
सम्मत्तमदो विरियं जीवाजीवगदमिदि चरिमे ॥१६॥

अभ्यर्हितात् पूर्वं ज्ञानं ततो हि दर्शनं भवति ।
सम्यक्त्वमतो वीर्यं जीवाजीवगतमिति चरमे ॥१६॥

टीका – आत्मा के सर्व गुणों में ज्ञान अभ्यर्हित है, पूज्य है, प्रधान है, इसलिए पहले कहा है । व्याकरण में भी कहा है 'अल्पादच्र्य्यं' जिसके अक्षर थोड़े हो, इसलिए भी प्रधान को पहले कहते हैं । उसके पश्चात् दर्शन कहा । उसके पश्चात् सम्यक्त्व कहा । वीर्य है वह ज्ञानादिक की शक्तिरूप जीव में पाया जाता है और शरीरादिक की शक्तिरूप पुद्गल में पाया जाता है, इसलिए सबके पश्चात् अंत में कहा है । ऐसे इनके आवरण ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय इनका अनुक्रम जानना ॥१६॥

घादीवि अघादिं वा णिस्सेसं घादणे असक्कादो ।
णामतियणिमित्तादो विग्घं पडिदं अघादिचरिमम्हि ॥१७॥

घात्यपि अघातीव निःशेषं घातने अशक्यात् ।
नामत्रयनिमित्ताद् विघ्नं पठितमघातिचरमे ॥१७॥

टीका – अंतरायकर्म घातिकर्म है तथापि अघातिकर्मवत् है । समस्त जीव के गुणों का घात करने के लिये समर्थ नहीं है । नाम, गोत्र, वेदनीय इन तीन कर्मों के निमित्त से यह है, इसलिए अघाति के पश्चात् अंत में अंतरायकर्म कहा है ॥१७॥

आउबलेण अवट्ठिदि भवस्स इधि णाममाउपुव्वं तु ।
भवमस्सिय णीचुच्चं इदि गोदं णामपुव्वं तु ॥१८॥

आयुर्बलेन अवस्थितिः भवस्य इति नाम आयुःपूर्वं तु ।
भवमाश्रित्य नीचोच्चमिति गोत्रं नामपूर्व्वं तु ॥१८॥

टीका – पुनश्च आयुकर्म के बल से नामकर्म के कार्यभूत जो चतुर्गतिरूप भव, उसकी अवस्थिति है इसलिए आयुकर्म पहले कहकर पश्चात् नामकर्म कहा । पुनश्च चतुर्गतिरूप भव के आश्रय से नीचपना या उच्चपना है, इसलिए पहले नामकर्म कहकर पश्चात् गोत्रकर्म कहा ॥१८॥

घादिंव वेयणीयं मोहस्स बलेण घाददे जीवं ।
इदि घादीणं मज्झे मोहस्सादिम्हि पढिदं तु ॥१९॥

घातीवत् वेदनीयं मोहस्य बलेन घातयति जीवं ।
इति घातीनां मध्ये मोहस्यादौ पठितं तु ॥१९॥

टीका – वेदनीयकर्म घातिकर्मों के समान मोहनीयकर्म का भेद जो रति-अरति के उदय के बल से ही जीव का घात करता है । सुखदुःखरूप साता असाता का कारण इन्द्रियों के विषय, उनका अनुभवन करवाकर घात करता है, इसलिए घातिकर्मों के बीच मोहनीयकर्म के पहले वेदनीयकर्म कहा ॥१९॥

णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेयणीयमोहणीयं ।
आउगणामं गोदंतरायमिदि पढिदमिदि सिद्धं ॥२०॥

ज्ञानस्य दर्शनस्य चावरणं वेदनीयमोहनीयम् ।
आयुष्कनाम गोत्रांतरायमिति पठितमिति सिद्धं ॥२०॥

टीका – ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अंतराय ऐसा जो अनुक्रम से पाठ कहा वह पूर्वोक्त प्रकार से सिद्ध हुआ । अब इनकी निरुक्ति कहते हैं –

'ज्ञानं आवृणोति' अर्थात् ज्ञान को आवरित करे-आच्छादित करे वह ज्ञानावरणीय है । उसकी प्रकृति ऐसी है – जैसे देवता के मुखपर वस्त्र डाले तो देवता का विशेष ज्ञान नहीं होने देता, वैसे ज्ञानावरण ज्ञान को आच्छादित करता है । पुनश्च **'दर्शनं आवृणोति'** अर्थात् दर्शन को आवरित करे वह दर्शनावरणीय है । उसकी प्रकृति ऐसी है – जैसे राजद्वारपर खड़ा द्वारपाल राजा को देखने नहीं देता, वैसे दर्शनावरण दर्शन को आवरित करता है । पुनश्च **'वेदयति'** अर्थात् सुखदुःख का अनुभव कराये वह वेदनीय है । इसकी प्रकृति ऐसी है – जैसे शहद से लिपटी हुयी खड्ग की धारा सुखदुःख को कारण है, वैसे वेदनीय सुखदुःख को उपजाता है । पुनश्च **'मोहयति'** अर्थात् मोहित करे-असावधान करे वह मोहनीय है । इसकी प्रकृति ऐसी है - जैसे मदिरा या धत्तुरा या मादक कोदों भक्षण करनेपर असावधान करते हैं, वैसे मोह आत्मा को मोहित करता है ।

पुनश्च **'एति'** अर्थात् पर्याय धारण करने के लिये प्राप्त होती है वह आयु है । इसकी प्रकृति ऐसी है – जैसे बेडी या खोड़ा आदमी को एक ही स्थान में स्थित रखता है, वैसे आयु पर्याय में स्थित रखती है । पुनश्च **'नाना मिनोति'** अर्थात् नाना प्रकार के कार्य उत्पन्न करे वह नाम है । इसकी प्रकृति ऐसी है – जैसे चित्रकार अनेक चित्र बनाता है वैसे नाम नरनारकादि अनेक रूप बनाता है । पुनश्च **'गमयति'** अर्थात् उच्च नीचपने को प्राप्त करता है वह गोत्र है । इसकी प्रकृति ऐसी है – जैसे कुम्हार मिट्टी का ऊंचा-नीचा बर्तन बनाता है, वैसे गोत्र आत्मा को उच्च-नीच दशा को प्राप्त कराता है । पुनश्च **'अंतरं एति'** अर्थात् दातार और पात्र आदि में परस्पर अंतर को प्राप्त कराये वह अंतराय है । इसकी प्रकृति ऐसी है – जैसे भंडारी देने में विघ्न डालता है, वैसे अंतराय दानादिक में विघ्न डालता है ॥२०॥

अब जो दृष्टांत कहे, उन्हीं को कहते हैं –

पडपडिहारसिमज्जा हलिचित्तकुलालभंडयारीणं ।
जह एदेसिं भावा तहवि य कम्मा मुणेयव्वा ॥२१॥

पटप्रतीहारासिमद्य हलिचित्रकुलालभांडागारिकाणां ।
यथा एतेषां भावा तथैव च कर्माणि मंतव्यानि ॥२१॥

टीका – देवता के मुखपर वस्त्र, राजद्वारपर खड़ा द्वारपाल, शहद से लिपटी खड्ग की धारा, मदिरा, खोडा, चित्रकार, कुम्हार, भंडारी इनके जैसे भाव हैं वैसे कर्मों के स्वभाव जानना ॥२१॥

आगे उत्तरप्रकृतियों की उत्पत्ति का अनुक्रम कहते हैं –

पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चउरो कमेण तेणउदी ।
तेउत्तरं सयं वा दुगपणगं उत्तरा होंति ॥२२॥

पंच नव द्वौ अष्टाविंशतिः चत्वारः क्रमेण त्रिनवतिः ।
त्र्युत्तरं शतं वा द्विकपंचकमुत्तरा भवंति ॥२२॥

टीका – ज्ञानावरणादि कर्मों की उत्तरप्रकृतियां अनुक्रम से पांच ५, नौ ९, दो २, अट्ठाइस २८, चार ४, तिरानबे ९३, अथवा एक सौ तीन १०३, दो २, पांच ५ जाननी । वही कहते हैं –

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अंतराय - ये आठ मूलप्रकृतियां हैं । वहां ज्ञानावरण पांच प्रकार का है - मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण चार ये और एक केवलज्ञानावरण ऐसे पांच भेद हैं । दर्शनावरण नौ प्रकार का है - स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, निद्रा, प्रचला ये पांच निद्रा और चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण ये तीन तथा एक केवलदर्शनावरण ऐसे नौ भेद जानना ॥२२॥

थीणुदयेणुट्ठविदे सोवदि कम्मं करेदि जप्पदि य ।
णिद्दाणिद्दुदयेण य ण दिट्ठिमुग्घादिदुं सक्को ॥२३॥

स्त्यानगृद्ध्युदयेन उत्थापिते स्वपिते कर्म करोति जल्पति च ।
निद्रानिद्रोदयेन च न दृष्टिमुद्घाटयितुं शक्यः ॥२३॥

टीका – स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण के उदय में जगानेपर भी सोता रहे, उस निद्रा में ही अनेक कार्य करे, बोले, कोई सावधानी नहीं होती । पुनश्च निद्रानिद्रा के उदय

से बहुत प्रकार से सावधानी करता है परंतु नेत्र खोलने में समर्थ नहीं होता॥२३॥

पयलापयलुदयेण य वहेदि लाला चलंति अंगाइं ।
णिद्दुदये गच्छंतो ठाइ पुणो वइसइ पडेई ॥२४॥

प्रचलाप्रचलोदयेन च वहति लाला चलन्ति अङ्गानि ।
निद्रोदये गच्छन् तिष्ठति पुनः विशति पतति ॥२४॥

टीका – प्रचलाप्रचला के उदय में मुख से लार बहती है, हाथ-पैर आदि अंग चलरूप होते हैं । निद्रा के उदय में चलता हुआ खड़ा रह जाये, खड़ा हुआ बैठ जाये-गिर पड़े ऐसा होता है ॥२४॥

पयलुदयेण य जीवो ईसुम्मीलिय सुवेइ सुत्तोवि ।
ईसं ईसं जाणदि मुहं मुहं सोवदे मंदं ॥२५॥

प्रचलोदयेन च जीव ईषदुन्मील्य स्वपिति सुप्तोऽपि ।
ईषदीषज्जानाति मुहुर्मुहुः स्वपिति मन्दम् ॥२५॥

टीका – प्रचला के उदय में जीव कुछ नेत्र खोलकर सो जाये, सोते हुये भी **ईषत्-ईषत्** अर्थात् कुछ-कुछ जाना करे, **मुहुर्मुहुः** अर्थात् बारम्बार मंद सो जाये। बारम्बार सो जाये जग जाये इसतरह बारम्बार सोये ।

पुनश्च वेदनीय दो प्रकार का है – सातावेदनीय, असातावेदनीय । वहां रति मोहनीयकर्म के उदय के बल से जीव को सुख के कारणभूत ऐसे इन्द्रियों के विषयों का अनुभवन कराये वह सातावेदनीय है । पुनश्च अरति मोहनीयकर्म के उदय के बल से दुःख के कारणभूत ऐसे इन्द्रियों के विषयों का अनुभवन कराये वह असातावेदनीय है । पुनश्च मोहनीय दो प्रकार का है – दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय । वहां दर्शनमोहनीय बंध की अपेक्षा मिथ्यात्वरूप एक प्रकार का है तथा उदय और सत्त्व की अपेक्षा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति ऐसे तीन प्रकार का है ॥२५॥

ये तीन भेद कैसे होते हैं, कहते हैं –

जंतेण कोद्दवं वा पढमुवसमसम्मभावजंतेण ।
मिच्छं दव्वं तु तिधा असंखगुणहीणदव्वकमा ॥ २६॥

यन्त्रेण कोद्रवं वा प्रथमोपशमसम्यक्त्वभावयन्त्रेण।
मिथ्यात्व द्रव्यं तु त्रिधा असंख्यगुणहीनद्रव्यक्रमात् ॥२६॥

टीका – यंत्र अर्थात् चक्की से पीसे हुये कोदों जैसे तुष, चावल, कणी इन तीन अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं, वैसे प्रथमोपशम सम्यक्त्वरूप भावयंत्र द्वारा एक मिथ्यात्वप्रकृति का द्रव्य यानि परमाणुओं का समूह मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति इन तीन प्रकृतिरूप होकर असंख्यातगुणा-असंख्यातगुणा हीन द्रव्य के अनुक्रम से तीन प्रकार का होता है, वही कहते हैं —

आयु बिना सात कर्मों के परमाणुओं का प्रमाण, किंचित् कम डेढ़ गुणहानि से समयप्रबद्ध को गुणित करनेपर जो प्रमाण आता है, उतना है । उसको सात का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है उतने मोहनीय के परमाणु हैं । इसको अनंत का भाग देनेपर एकभागप्रमाण सर्वघाति प्रकृतियों के परमाणु हैं । अवशेष देशघाति प्रकृतियों के परमाणु हैं । उस एकभाग को एक मिथ्यात्व और सोलह कषाय इनका भाग देने के लिये सत्रह का भाग देनेपर जो प्रमाण आया उतने मिथ्यात्व प्रकृति के परमाणु हैं ।

यहां प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अंतर्मुहूर्त काल के प्रथम समय से लेकर अंतिम समय तक गुणसंक्रमण भागहार द्वारा उस मिथ्यात्व के परमाणुओं के प्रमाण को अपकर्षण कर-करके उसके तीन पुंज करता है । वहां मिथ्यात्व के जितने परमाणु हैं इनसे असंख्यातगुणा हीन (असंख्यातवें भागप्रमाण) सम्यग्मिथ्यात्व के परमाणु हैं । इनसे असंख्यातगुणा हीन सम्यक्त्वप्रकृति के परमाणु हैं । ऐसे होनेपर उसके अंतिम समय में भी वैसे ही रहते हैं । इसतरह एक मिथ्यात्व के परमाणु तीन पुंजरूप हुये ।

प्रश्न – यहां मिथ्यात्व तो था ही, उसको मिथ्यात्वरूप क्या किया ?

समाधान – पहले जो स्थिति थी उसमें से अतिस्थापनावली प्रमाण घटाया ऐसा विधान मन में धरकर आचार्य ने कहा कि असंख्यातगुणा हीन द्रव्य के अनुक्रम से मिथ्यात्व द्रव्य तीन प्रकार का है ।

पुनश्च चारित्रमोहनीय दो प्रकार का है - कषायवेदनीय, नोकषायवेदनीय । वहां कषायवेदनीय सोलह प्रकार का हैं । यदि उनके क्षय होने के अनुक्रम से उनका कथन करते हैं तो इसतरह अनुक्रम कहते हैं – अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ; अप्रत्याख्यानावरण

क्रोध, मान, माया, लोभ; प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; क्रोध-संज्वलन, मान-संज्वलन, माया-संज्वलन, लोभ-संज्वलन । ये सोलह भेद जानना ।

पुनश्च प्रदेशबंध में परमाणुओं का बटवारा है उसकी अपेक्षा से कहते हैं तो इस अनुक्रम से कहते हैं – अनंतानुबंधी लोभ, माया, क्रोध, मान; संज्वलन लोभ, माया, क्रोध, मान; प्रत्याख्यानावरण लोभ, माया, क्रोध, मान; अप्रत्याख्यानावरण लोभ, माया, क्रोध, मान; । ये सोलह भेद तो कषायवेदनीय के हैं । नोकषायवेदनीय नौ प्रकार का है । पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, रति, अरति, हास्य, शोक, भय, जुगुप्सा – ये नौ जानना ।

पुनश्च आयुकर्म चार प्रकार का है – १) नरकायु, २) तिर्यंचायु, ३) मनुष्यायु, ४) देवायु ।

पुनश्च नामकर्म पिंड-अपिंड करनेपर बयालीस प्रकार का है – १) गति, २) जाति, ३) शरीर, ४) बंधन, ५) संघात, ६) संस्थान, ७) अंगोपांग, ८) संहनन, ९) वर्ण, १०) गंध, ११) रस, १२) स्पर्श, १३) आनुपूर्वी, १४) अगुरुलघु, १५) उपघात, १६) परघात, १७) उच्छ्वास, १८) आतप, १९) उद्योत, २०) विहायोगति, २१) त्रस, २२) स्थावर, २३) बादर, २४) सूक्ष्म, २५) पर्याप्त, २६) अपर्याप्त, २७) प्रत्येकशरीर, २८) साधारणशरीर, २९) स्थिर, ३०) अस्थिर, ३१) शुभ, ३२) अशुभ, ३३) सुभग, ३४) दुर्भग, ३५) सुस्वर, ३६) दुस्वर, ३७) आदेय, ३८) अनादेय, ३९) यशस्कीर्ति, ४०) अयशस्कीर्ति, ४१) निर्माण, ४२) तीर्थंकर । ये बयालीस भेद हैं । वहां चौदह पिंडप्रकृति हैं । उनके भेद कहते हैं – गति नामकर्म चार प्रकार का – १) नरकगति, २) तिर्यंचगति, ३) मनुष्यगति, ४) देवगति । जाति नामकर्म पांच प्रकार का – १) एकेन्द्रियजाति, २) द्वीन्द्रियजाति, ३) त्रीन्द्रियजाति, ४) चतुरिन्द्रियजाति, ५) पंचेन्द्रियजाति । शरीर नामकर्म पांच प्रकार का है – १) औदारिकशरीर, २) वैक्रियिकशरीर, ३) आहारकशरीर, ४) तेजसशरीर, ५) कार्माणशरीर(कार्मणशरीर) ॥२६॥

इन पांच शरीरों के भंग कहते हैं -

तेजाकम्मेहिं तिए तेजा कम्मेण कम्मणा कम्मं ।
कयसंजोगे चदुचदु चदुदुग एक्कं च पयडीओ ॥२७॥

तैजसकार्म्मणाभ्यां त्रये तैजसं कार्म्मणेन कार्म्मणेन कार्म्मणं ।
कृतसंयोगे चतुश्चतुश्चतुर्द्विकमेकं च प्रकृतयः ॥२७॥

टीका – औदारिक, वैक्रियिक, आहारक इन तीनों में से तेजस-कार्माण के साथ संयोग करनेपर चार-चार भंग होते हैं, वे इस प्रकार हैं – औदारिक-औदारिक, औदारिक-तेजस, औदारिक-कार्माण, औदारिक-तेजस-कार्माण ये चार हुये । पुनश्च वैक्रियिक-वैक्रियिक, वैक्रियिक-तेजस, वैक्रियिक-कार्माण, वैक्रियिक-तेजस-कार्माण - ये चार हुये। पुनश्च आहारक-आहारक, आहारक-तेजस, आहारक-कार्माण, आहारक-तेजस-कार्माण - ये चार हुये । पुनश्च तेजस-कार्माण के संयोग से दो भंग होते हैं – तेजस-तेजस, तेजस-कार्माण ये दो हुये । पुनश्च कार्माण-कार्माण के संयोग से एक भंग होता है - कार्माण-कार्माण – यह एक हुआ । ऐसे सब मिलकर पंद्रह भेद हुये ।

गाथा २७ के आधारपर शरीर नामकर्म के १५ भंग -

क्रम	प्रधानशरीर	मिश्रितशरीर				योग
१	औदारिक	औ.औ.	औ.ते.	औ.का.	औ.ते.का.	४
२	वैक्रियिक	वै.वै.	वै.ते.	वै.का.	वै.ते.का.	४
३	आहारक	आ.आ.	आ.ते.	आ.का.	आ.ते.का.	४
४	तेजस	ते.ते	ते.का.			२
५	कार्माण	का.का.				१
					कुल योग	१५

यहां शरीरों के परस्पर संयोग से भेद कहे हैं । जैसे चक्रवर्ती आदि के औदारिक शरीर था, उससे और औदारिक हुये, वहां औदारिक-औदारिक कहते हैं । ऐसें ही यथासंभव और भी भेद जानने । इनमें से औदारिक-औदारिक, वैक्रियिक-वैक्रियिक, आहारक-आहारक, तेजस-तेजस, कार्माण-कार्माण ये पांच भेद ऊपर औदारिकादि पांच शरीर कहे थे उसमें गर्भित हुये । जैसे, औदारिक से औदारिक का संयोग कहा, वहां दोनों सदृश हैं, इसलिए ऊपर शरीरप्रकृति के भेदों में औदारिकशरीर कहा, उसमें गर्भित हुआ । ऐसे ही अन्य चारों का गर्भितपना जानना । इसलिए पंद्रह में से पांच घटानेपर दस हुये । नामकर्म के तिरानबे प्रकृतियों में ये दस प्रकृति मिलानेपर एक

सौ तीन (९३+१०=१०३) प्रकृतियां होती हैं ।

पुनश्च शरीरबंधन नामकर्म पांच प्रकार का है – औदारिकशरीरबंधन, वैक्रियिकशरीरबंधन, आहारकशरीरबंधन, तेजसशरीरबंधन, कार्माणशरीरबंधन । पुनश्च शरीरसंघात नामकर्म पांच प्रकार का है – औदारिकशरीरसंघात, वैक्रियिकशरीरसंघात, आहारकशरीरसंघात, तेजसशरीरसंघात, कार्माणशरीरसंघात । पुनश्च शरीरसंस्थान नामकर्म छह प्रकार का है – समचतुरस्रसंस्थान, न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान, स्वातिसंस्थान, कुब्जकसंस्थान, वामनसंस्थान, हुंडकसंस्थान । पुनश्च शरीरअंगोपांग नामकर्म तीन प्रकार का है – औदारिकशरीरअंगोपांग, वैक्रियिकशरीरअंगोपांग, आहारकशरीरअंगोपांग । तेजस, कार्माण के अंगोपांग का अभाव है ॥२७॥

णलया बाहू य तहा णियंबपुट्ठी उरो य सीसो य ।
अट्ठेव दु अंगाइं देहे सेसा इवंगाइं ॥२८॥

नलकौ बाहू च तथा नितम्बपृष्ठे उरश्च शीर्षं च ।
अष्टैव तु अङ्गानि देहे शेषाणि उपाङ्गानि ॥२८॥

टीका – '**नलकौ**' अर्थात् दो पैर, ''**बाहू**' अर्थात् दो हाथ, '**नितंब**' अर्थात् एक पुट्ठा, '**पृष्ठ**' अर्थात् एक पीठ, '**उरः**' अर्थात् एक हृदय, '**शीर्ष**' अर्थात् एक मस्तक - ये शरीर के आठ अंग हैं । इनके अलावा और सब उपांग जानना ।

पुनश्च संहनन नामकर्म छह प्रकार का है – वज्रवृषभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन, नाराचसंहनन, अर्धनाराचसंहनन, कीलितसंहनन, असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन ॥२८॥

सेवट्टेण य गम्मइ आदीदो चदुसु कप्पजुगलोत्ति ।
तत्तो दुजुगलजुगले खीलियणारायणद्धोति ॥२९॥

सृपाटेन च गम्यते आदितः चतुर्षु कल्पयुगल इति ।
ततः द्वियुगलयुगले कीलितनाराचार्द्ध इति ॥२९॥

टीका – असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन से संयुक्त जीव स्वर्ग में उपजे तो सौधर्म युगल से लेकर लांतव युगल पर्यंत चार युगलों में उपजता है । पुनश्च उसके ऊपर दो युगलों में शतार युगल तक कीलितसंहनन युक्त जीव उपजता है । उसके ऊपर दो युगलों में आरण-अच्युत तक अर्धनाराचसंहनन युक्त जीव उपजता है ॥२९॥

णवगेविज्जाणुद्दिस णुत्तरवासीसु जांति ते णियमा ।
तिदुगेगे संघडणे णारायणमादिगे कमसो ।।३०।।

नवग्रैवेयिकानुदिशानुत्तरवासिषु यान्ति ते नियमात् ।
त्रिद्विकैकेन संहनेन नाराचादिकेन क्रमशः ।।३०।।

टीका – नाराच, वज्रनाराच, वज्रवृषभनाराच इन तीन संहननवाले जीव नौ ग्रैवेयक तक उपजते हैं । वज्रनाराच, वज्रवृषभनाराच इन दो संहननवाले जीव नौ अनुदिश विमान तक उपजते हैं । वज्रवृषभनाराच एक संहननवाला जीव पांच अनुत्तर विमानवासी देवों तक उपजता है – ऐसा नियम से जानना ।।३०।।

सण्णी छस्संहडणो वज्जदि मेघं तदो परं चापि ।
सेवट्टादीरहिदो पण पणचदुरेगसंहडणो ।।३१।।

संज्ञी षट्संहननो व्रजति मेघां ततः परं चापि ।
सृपाटाविरहितः पञ्चमीं पंञ्चचतुरेकसंहननः ।।३१।।

टीका – छह संहनन युक्त संज्ञी जीव नरक में उपजते हैं तो मेघा नामक तीसरी पृथ्वी तक उपजते हैं । असंप्राप्तासृपाटिका बिना शेष पांच संहननवाले जीव अरिष्टा नामक पांचवीं पृथ्वी तक उपजते हैं । असंप्राप्तासृपाटिका-कीलित बिना चार संहननवाले जीव मघवी नामक छठवीं पृथ्वी तक उपजते हैं । एक वज्रवृषभनाराच संहननवाले जीव ही माघवी नामक सातवीं पृथ्वी तक उपजते हैं ।।३१।।

अंतिमतियसंहडणस्सुदओ पुण कम्मभूमिमहिलाणं ।
आदिमतिगसंहडणं णत्थित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।।३२।।

अन्तिमत्रयसंहननस्योदयः पुनः कर्मभूमिमहिलानां ।
आदिमत्रिकसंहननं नास्तीति जिनैर्निर्दिष्टम् ।।३२।।

टीका – कर्मभूमि में महिला अर्थात् स्त्रियों के अर्धनाराच, कीलित, असंप्राप्तासृपाटिका इन तीन संहनन ही का उदय है, आदि के वज्रवृषभनाराच आदि तीन संहनन नहीं होते, ऐसा जिनदेव ने कहा है ।।३२।।

पुनश्च वर्ण नामकर्म पांच प्रकार का है – काला, नीला, लाल, पीला, सफेद। गंध नामकर्म दो प्रकार का है – सुगंध, दुर्गंध । रस नामकर्म पांच प्रकार का है - खट्टा, मीठा, कड़वा, कषायला, चरपरा । स्पर्श नामकर्म आठ प्रकार का है - हलका-भारी, रूखा-चिकना, कड़ा-नरम, ठंडा-गरम ।

पुनश्च आनुपूर्वी नामकर्म चार प्रकार का है - नरकगति प्रायोग्यानुपूर्वी, तिर्यंचगति प्रायोग्यानुपूर्वी, मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी, देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी । पुनश्च अगुरुलघुत्व, उपघात, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत – ये एक एक । विहायोगति नामकर्म दो प्रकार का है – प्रशस्त विहायोगति, अप्रशस्त विहायोगति । पुनश्च त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशस्कीर्ति, निर्माण, तीर्थंकर – ये एक एक । पुनश्च स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारणशरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयशस्कीर्ति – ये एक एक ऐसी सर्व मिलकर नामकर्म की उत्तरप्रकृतियां तिरानबे (९३) या एक सौ तीन (१०३) हैं ।

मूलुण्हपहा अग्गी आदावो होदि उण्हसहियपहा ।
आइच्चे तेरिच्छे उण्हूणपहा हु उज्जोओ ।।३३।।

मूलोष्णप्रभा अग्निः आतापो भवति उष्णसहितप्रभा ।
आदित्ये तिरश्चि उष्णोनप्रभा हि उद्योतः ।।३३।।

टीका – यहां कोई भ्रम करेगा कि आतप प्रकृति का उदय अग्निकायिक में होगा, इसलिए कहते हैं कि अग्नि मूल में ही उष्ण प्रभा सहित है इसकारण उसके स्पर्श का भेद उष्णता का उदय जानना । परंतु जिसकी प्रभा ही उष्ण होती है उसके आतप प्रकृति का उदय जानना । इसलिए सूर्य के बिम्ब में उपजते हैं ऐसें बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक तिर्यंच जीवों के ही आतप प्रकृति का उदय है । पुनश्च उष्णता रहित प्रभा होती है वहां उद्योत जानना ।

गोत्रकर्म दो प्रकार का है – उच्चगोत्र, नीचगोत्र ।

अंतरायकर्म पांच प्रकार का है – दानांतराय, लाभांतराय, भोगांतराय, उपभोगांतराय, वीर्यांतराय ।

ऐसी उत्तर प्रकृति कही । आत्मा के प्रदेशों में एकक्षेत्रावगाहीपने से रहनेवाले

जो कर्मरूप होनेयोग्य कार्माणवर्गणा उनका अविभाग एकत्वपने से युक्त होना, वह बंध कहलाता है । जैसे यथायोग्य बरतन में रखे हुये नाना प्रकार के रस, बीज, फल, फूल मदिराभाव को प्राप्त होते हैं, वैसे कार्माणवर्गणारूप पुद्गल योग, कषाय के निमित्त से कर्मभाव को प्राप्त होते हैं । पुनश्च जैसे एक बार ही भक्षण किया हुआ अन्न, वह रस, रुधिर, मांसादिक अनेकरूप होकर परिणमता है, वैसे एक ही आत्मा के परिणाम द्वारा ग्रहण किये हुये पुद्गल ज्ञानावरणादि अनेक भेदरूप होकर परिणमते हैं।

अब जो उत्तरप्रकृतियां बतायी उनकी निरुक्ति कहते हैं –

जो मतिज्ञान को आवरित करे या मतिज्ञान जिससे आवरित हो, वह मतिज्ञानावरण है । पुनश्च जो श्रुतज्ञान को आवरित करे या श्रुतज्ञान जिसके द्वारा आवरित हो वह श्रुतज्ञानावरण है । पुनश्च जो अवधिज्ञान को आवरित करे या अवधिज्ञान जिसके द्वारा आवरित हो वह अवधिज्ञानावरण है । पुनश्च जो मनःपर्ययज्ञान को आवरित करे या मनःपर्ययज्ञान जिसके द्वारा आवरित हो, वह मनःपर्ययज्ञानावरण है । पुनश्च जो केवलज्ञान को **'आवृणोति'** अर्थात् आवरित करे या केवलज्ञान जिसके द्वारा **'आव्रियते'** अर्थात् आवरित हो, वह केवलज्ञानावरण है ।

यहां प्रश्न – अभव्य के मनःपर्यय, केवलज्ञान की शक्ति है या नहीं है ? यदि है तो भव्य, अभव्य का भेद नहीं होगा । यदि नहीं है तो दोनों ज्ञान के आवरण कहना निरर्थक है ?

उसका समाधान – द्रव्यार्थिकनय से उसके दोनों ज्ञान की शक्ति पायी जाती है । पर्यायार्थिकनय से वह शक्ति व्यक्तरूप होकर कभी भी प्रकटरूप नहीं परिणमित होती, इसलिए जो दोष कहे वे लगते नहीं । जैसे अंधपाषाण में सुवर्ण की शक्ति है, वैसे जानना ।

पुनश्च **'आवृणोति आव्रियते अनेन इति आवरणं'** जो आवरित करता है या जिसके द्वारा आवरित होता है वह आवरण है, इसलिए चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण ये चार प्रकार के दर्शन के आवरणरूप चार दर्शनावरण जानने । पुनश्च पांच निद्रा - वहां जिसके द्वारा सोने में वीर्य विशेष प्रगट हो वह स्त्यानगृद्धि है । **'स्त्यायति'** धातु के अनेक अर्थ हैं । यहां सो जाना अर्थ लेना। तथा **'गृद्धि'** धातु का यहां दीप्ति अर्थ लेना । इसलिए **'स्त्यान'** अर्थात् सो जाना

उसमें **'गृध्यते'** अर्थात् दिपे; जिसके उदय में आर्त, रौद्र के साथ उठना-बैठना, उठाना-पकडना इत्यादि अनेक कार्य करे, वह स्त्यानगृद्धि है । स्त्यानगृद्धि आदि से दर्शनावरण का सामान्याधिकरण जानना । स्त्यानगृद्धि वह दर्शनावरण, निद्रानिद्रा वह दर्शनावरण इत्यादि जानना ।

भावार्थ – चक्षुदर्शनावरणादि में तो षष्ठी तत्पुरुष समास है, स्त्यानगृद्धि दर्शनावरणादि में कर्मधारय समास जानना ।

पुनश्च जिसके उदय से निद्रा की ऊपरी ऊपरी (बारम्बार) प्रवृत्ति हो, वह निद्रानिद्रा दर्शनावरण है । जिसके उदय से क्रिया आत्मा को बारम्बार चलावे वह प्रचलाप्रचला दर्शनावरण है, सो शोक, खेद या मद आदि से उत्पन्न निद्रा में रहते हुये भी नेत्र, शरीरादिक का हिलाना-चलाना आदि विक्रिया करे, सो बारम्बार ऐसे जहां हो वह प्रचलाप्रचला है । जिसके उदय में मद, खेद आदि मिटाने के लिये सो जाये, वह निद्रा दर्शनावरण है । जिसके उदय में क्रिया आत्मा को चलावे, कुछ सावधानी रहे, वह प्रचला दर्शनावरण है ।

पुनश्च जिसके उदय से देवादिक गतियों में शारीरिक, मानसिक सुख की प्राप्ति होना वह साता, उसका वेदन कराये, भोग कराये तथा जिसके द्वारा साता का वेदन करे, भोग करे वह सातावेदनीय है । पुनश्च जिसके उदय का फल अनेक प्रकार का दुःख है वह असाता, उसका वेदन कराये, भोग कराये तथा जिसके द्वारा असाता का भोग करे, वह असातावेदनीय है ।

पुनश्च मोहनीयकर्म चार प्रकार का है – दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, कषायवेदनीय, नोकषायवेदनीय । वहां दर्शनमोहनीय तीन प्रकार का – मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति; परंतु वहां बंध की अपेक्षा एक प्रकार का है, उदय और सत्ता की अपेक्षा तीन प्रकार का है । वहां जिसके उदय से सर्वज्ञप्रणीत मार्ग से परांगमुख हो, तत्त्वार्थश्रद्धान का उद्यमी न हो, हिताहित का विचार करने के लिये समर्थ न हो, ऐसी मिथ्यादृष्टि हो, वह मिथ्यात्व है । पुनश्च वही मिथ्यात्व शुभपरिणामों से अनुभाग रस रुकने से उदासीनरूप रहता हुआ आत्मा के श्रद्धान को रोकता नहीं, जिसके उदय को भोगनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि ही कहलाता है, वह सम्यक्त्वप्रकृति जानना । जैसे मादक कोदों में पाखालने के विशेष द्वारा कुछ मदशक्ति रहती है, कुछ क्षीण हो जाती है, वैसे कुछ अनुभाग

क्षीण हो गया हो, कुछ रहा हो ऐसा वही मिथ्यात्व हुआ, उसे सम्यग्मिथ्यात्व कहते हैं । इसके उदय से जैसे शुद्ध मादक कोदों खाने से कुछ मदवान हो, कुछ सयाना रहे, वैसे आत्मा के सम्यक्रूप और मिथ्यारूप मिश्र परिणाम होते हैं ।

पुनश्च चारित्रमोहनीय कर्म दो प्रकार का है । आचारता है या जिसके द्वारा आचरित होता है या आचरणमात्र हो, वह चारित्र है, उससे मोहित करे या चारित्र इसके द्वारा मोहित हो वह चारित्रमोहनीय है । वह दो प्रकार का है – एक कषायवेदनीय, एक नोकषायवेदनीय । वहां **'कषंति'** अर्थात् आत्मा के चारित्र का घात करे उन्हें कषाय कहते हैं तथा **'नो'** अर्थात् **'ईषत्'** - किंचित् मात्र कषाय, उन्हें नोकषाय कहते हैं ।

वहां कषायवेदनीय सोलह प्रकार का है । वह कहते हैं – कषाय– क्रोध, मान, माया, लोभ; इनकी चार अवस्थायें हैं – अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; क्रोधसंज्वलन, मानसंज्वलन, मायासंज्वलन, लोभसंज्वलन । वहां **'अनंत'** अर्थात् अनंत संसार का कारण मिथ्यात्व, उसे **'अनुबध्नंति'** अर्थात् संबंधरूप करे वे अनंतानुबंधी जानना । पुनश्च **'अ'** अर्थात् ईषत्–किंचित्मात्र **'प्रत्याख्यान'** अर्थात् संयम, जो देशसंयम को आवरित करे -अल्पमात्र भी होने न दे, वे अप्रत्याख्यानावरण हैं । पुनश्च **'प्रत्याख्यान'** अर्थात् सकलसंयम, उसे **'आवृणंति'** अर्थात् आवरित करे-ढक दे-न होने दे, वे प्रत्याख्यानावरण हैं । पुनश्च **'सं'** अर्थात् एकीभूत होकर **'ज्वलंति'** अर्थात् संयम सहित अपने प्रकाश को करे अथवा इनके होनेपर भी संयम है, **'ज्वलंति'** अर्थात् प्रकाशरूप करते हैं, वे संज्वलन हैं – ये सब मिलकर सोलह कषाय हुये ।

पुनश्च **'नो'** अर्थात् ईषत्–किंचित् मात्र । क्रोधादि के समान जो प्रबल नहीं है ऐसे जो कषाय, वे नोकषाय हैं । उनका वेदन करे अथवा इनके द्वारा वेदे जाये, नोकषायरूप अनुभव करे, वे नोकषायवेदनीय हैं । वे नौ प्रकार के हैं - वहां जिसके उदय से हास्य प्रकट हो जाये वह हास्य है । जिसके उदय से क्षेत्रादि में उत्सुकता-प्रीति हो जाये, वह रति है । जिसके उदय से क्षेत्रादि में निरुत्सुकता-अप्रीति हो जाये, वह अरति है । जिसके उदय से इष्टवियोग होने से क्लेश हैं, वह शोक है । जिसके उदय से उद्वेग-उच्चाटन हो-डर लगे वह भय है । जिसके उदय से अपने दोष को ढांके, अन्य वस्तु के दोष को देखे, वह जुगुप्सा है । जिसके उदय से स्त्री संबंधी

(स्त्री जैसे) भावों को प्राप्त हो वह स्त्रीवेद है । जिसके उदय से पुरुष संबंधी *(पुरुष जैसे)* भावों को प्राप्त हो, वह पुरुषवेद है । जिसके उदय से नपुंसक संबंधी *(नपुंसक जैसे)* भावों को प्राप्त हो, वह नपुंसकवेद है ।

*(**विशेषार्थ** – स्त्री के पुरुष प्रति आकर्षण-मैथुनसेवन के भाव स्त्रीवेद है, पुरुष के स्त्री प्रति आकर्षण पुरुषवेद है । दोनों के साथ रममाण होने का भाव नपुंसक वेद है । द्रव्यपुरुष के पुरुष ही के प्रति आकर्षण भावस्त्रीवेद है । ऐसे ही सब में लगाना । जन्म से मरण तक एक ही वेद का उदय रहता है । तिर्यंच, मनुष्यों में नाना जीवों में तीनों ही वेद पाये जाते हैं । नारकियों में नपुंसकवेद होता है। देव, भोगभूमि में जैसा द्रव्यवेद वैसा हा भाववेद होता है । अधिक जानकारी के लिये देखिये वेदमार्गणा–सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका जीवकाण्ड ।)*

पुनश्च पर्याय धारण करने का कारण **'एति'** अर्थात् प्राप्त हो वह आयु है। नारकादि पर्यायों में प्राप्त होने के संबंध से आयु के भेद करते हैं । वहां जो नरक में प्राप्त वह नरकायु है, तिर्यग् योनि में प्राप्त वह तिर्यंचायु है, मनुष्य में प्राप्त वह मनुष्यायु है, देव में प्राप्त वह देवायु है । वहां तीव्र शीत-उष्ण वेदनासहित नरक में बहुत काल जीना वह नरकायु है, ऐसे ही अन्य तीनों का स्वरूप जानना ।

पुनश्च नामकर्म पिंड-अपिंड प्रकृति के भेद से बयालीस प्रकार का है । वहां जिसके उदय से आत्मा पर्याय से पर्यायांतर को **गच्छति** अर्थात् प्राप्त हो जाये, उसे गति कहते हैं । वह गति नामकर्म चार प्रकार का है – वहां जिसके उदय के निमित्त से आत्मा की नारकपर्याय होती है, वह नरकगति नामकर्म है । जिसके उदय से आत्मा की तिर्यंचपर्याय होती है, वह तिर्यंचगति नामकर्म है । जिसके उदय से आत्मा की मनुष्यपर्याय होती है, वह मनुष्यगति नामकर्म है । जिसके उदय से आत्मा की देवपर्याय होती है, वह देवगति नामकर्म है ।

पुनश्च उन गतियों में अव्यभिचारी सादृश्यभाव द्वारा एकत्रित किये हुये जीव, वह जाति है । जैसे, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रियादि परस्पर समानरूप होकर मिलते नहीं हैं इसलिए अव्यभिचारी हैं तथा एकेन्द्रिय जितने जीव हैं, उनके एकेन्द्रिय अस्तित्व की अपेक्षा समानता है, यह सादृश्यभाव है । इसतरह जिस एक अव्यभिचारी सादृश्यभाव में जीव एकत्रित किये जाते हैं वह जाति है । जाति नामकर्म पांच प्रकार का है।

वहां जिसके उदय से आत्मा एकेन्द्रिय है कहते हैं, वह एकेन्द्रियजाति नामकर्म है। जिसके उदय से आत्मा द्वीन्द्रिय है कहते हैं, वह द्वीन्द्रियजाति नामकर्म है । जिसके उदय से आत्मा त्रीन्द्रिय है कहते हैं, वह त्रीन्द्रियजाति नामकर्म है । जिसके उदय से आत्मा चतुरिन्द्रिय है कहते हैं, वह चतुरिन्द्रियजाति नामकर्म है । जिसके उदय से आत्मा पंचेन्द्रिय है कहते हैं, वह पंचेन्द्रियजाति नामकर्म है ।

पुनश्च जिसके निमित्त से शरीर की निष्पत्तिं होती है, वह शरीर नामकर्म है, वह पांच प्रकार का है । वहां जिसके उदय से औदारिकशरीर की निष्पत्ति होती है, वह औदारिकशरीर नामकर्म है । जिसके उदय से वैक्रियिकशरीर की निष्पत्ति होती है वह वैक्रियिकशरीर नामकर्म है । जिसके उदय से आहारकशरीर की निष्पत्ति होती है वह आहारकशरीर नामकर्म है । जिसके उदय से तेजसशरीर की निष्पत्ति होती है वह तेजसशरीर नामकर्म है । जिसके उदय से कार्माणशरीर की निष्पत्ति होती है वह कार्माणशरीर नामकर्म है ।

पुनश्च शरीर नामकर्म के उदय के वश से जो आहारवर्गणारूप पुद्‌गलस्कंध ग्रहण किये, उनके प्रदेशों का परस्पर संश्लेष संबंध जिसके उदय से होता है, वह बंधन नामकर्म है । वह औदारिकादि शरीरों की अपेक्षा पांच प्रकार का है । पुनश्च जिसके उदय से औदारिकादि शरीरों का छिद्र रहित परस्पर प्रदेशों का एकक्षेत्रावगाह से एकत्वपने को प्राप्त होना होता है, वह संघात नामकर्म है । वह औदारिकादि शरीरों की अपेक्षा पांच प्रकार का है ।

पुनश्च जिसके उदय से औदारिकादि शरीरों का आकार निपजता है, वह संस्थान नामकर्म है, वह छह प्रकार का है । वहां जिससे समान चौकोर आकार होता है, वह समचतुरस्रसंस्थान नामकर्म है । न्यग्रोध अर्थात् बड(वटवृक्ष), उसके समान ऊपर मोटा, नीचे पतला ऐसा आकार जिससे हो, वह न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान नामकर्म है । स्वाति अर्थात् ऊपर पतला नीचे मोटा ऐसा आकार जिससे हो, वह स्वातिसंस्थान नामकर्म है । कुब्जा आकार जिससे हो, वह कुब्जकसंस्थान नामकर्म है । ठिंगना आकार जिससे हो वह वामनसंस्थान नामकर्म है । अनेक अवक्तव्य आकार जिससे हो, वह हुंडकसंस्थान नामकर्म है ।

पुनश्च जिसके उदय से अंगोपांग के भेद होते हैं, वह अंगोपांग नामकर्म है। वह तीन प्रकार का है - औदारिक अंगोपांग, वैक्रियिक अंगोपांग, आहारक अंगोपांग।

पुनश्च जिसके उदय से हड्डियों के बंधन की विशेषता होती है, वह संहनन नामकर्म है । वह छह प्रकार का है – वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलित, असंप्राप्तासृपाटिका संहनन । वहां **'संहनन'** नाम तो हड्डियों के समूह का है । **'ऋषभ'** अर्थात् जिसके द्वारा वेष्टित करे-बांधे, जैसे रस्सी से बांध देते हैं। **'नाराच'** नाम कील का है, जैसे लोहे की कील लकड़े में ठोंकते हैं । पुनश्च वज्रसमान जो भेदा न जाये ऐसा हो, उसे वज्र कहते हैं । इसतरह जिस वज्रसंहनन युक्त शरीर में वज्र का ऋषभ, वज्र का नाराच हो ऐसा शरीर जिसके उदय से होता है, वह वज्रवृषभनाराच शरीरसंहनन नामकर्म है । पुनश्च जहां वज्र का ऋषभ नहीं है, सामान्य ऋषभ द्वारा वेष्टित हो ऐसा शरीर जिसके उदय से हो, वह वज्रनाराच शरीरसंहनन नामकर्म है । पुनश्च वज्र विशेषण रहित साधारण नाराच से कीलित हड्डियों की संधि हो ऐसा शरीर जिसके उदय से हो, वह नाराच शरीरसंहनन नामकर्म है । पुनश्च जहां हड्डियों की संधि नाराच से अर्धकीलित हो ऐसा शरीर जिसके उदय से हो, वह अर्धनाराच शरीरसंहनन नामकर्म है । पुनश्च जहां वज्र की हड्डी नहीं है तथा वे परस्पर कीलित हो ऐसा शरीर जिसके उदय से हो, वह कीलित शरीरसंहनन नामकर्म है । पुनश्च जहां परस्पर प्राप्त नहीं होती, जुदीजुदी सरीसृप की हड्डियों की तरह नसों द्वारा बंधी हुयी हड्डियां हो ऐसा शरीर जिसके उदय से हो वह असंप्राप्तासृपाटिका शरीरसंहनन नामकर्म है ।

पुनश्च जिसके निमित्त से शरीर का वर्ण होता है, वह वर्ण नामकर्म है । वह पांच प्रकार का है – कृष्णवर्ण नाम, नीलवर्ण नाम, रक्तवर्ण नाम, पीतवर्ण नाम, श्वेतवर्ण नाम ।

जिसके उदय से शरीर में गंध होता है, वह गंध नामकर्म है । वह दो प्रकार का है – सुरभिगंध नाम, दुरभिगंध नाम ।

जिसके उदय से शरीर में रस होता है, वह रस नामकर्म है । वह पांच प्रकार का है – तिक्त(चरपरा) नाम, कटुक(कड़वा) नाम, कषाय नाम, आम्ल नाम, मधुर नाम ।

जिसके उदय से शरीर में स्पर्श हो, वह स्पर्श नामकर्म है । वह आठ प्रकार का है – कर्कश नाम, मृदु नाम, गुरु नाम, लघु नाम, शीत नाम, उष्ण नाम, स्निग्ध नाम, रूक्ष नाम ।

जिसके उदय से पहले जो शरीर था, (विग्रहगति में) उसके आकार का नाश न हो वह आनुपूर्व्य नामकर्म है । वह चार प्रकार का है – नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नाम, तिर्यंचगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नाम, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नाम, देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नाम। नरकगति प्राप्त होने को योग्य ऐसे पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव के विग्रहगति में पंचेन्द्रिय पर्याप्त शरीर का आकार जिसके उदय से रहे, वह नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नाम है, ऐसे ही सब जानना ।

जिसके उदय से शरीर भारी नहीं होता इस कारण लोहे के पिंड की तरह नीचे नहीं गिरता, हलका भी नहीं होता इसकारण आक के फूल *(सेमर की रुई)* के समान ऊंचा नहीं उड़ता ऐसा शरीर हो, वह अगुरुलघु नामकर्म है ।

पुनश्च **'उपेत्य घातः उपघातः'** अपने घात का नाम है । जिसके उदय से अपने अंगों से अपना घात हो ऐसे बड़े सींग, लंबे स्तन, मोटा उदर इसतरह के अंग हो, वह उपघात नामकर्म है ।

जिसके उदय से औरों का घात करे ऐसे तीक्ष्ण सींग, नख, सांप आदि की डाढ इत्यादि अवयव हो, वह परघात नामकर्म है ।

जिसके उदय से आतापरूप शरीर उत्पन्न हो, वह आतप नामकर्म है । इसका उदय सूर्यबिम्ब में उपजे हुये बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक जीवों के ही पाया जाता है। जिसके उदय से उद्योतरूप शरीर उत्पन्न हो, वह उद्योत नामकर्म है । इसका उदय चन्द्रमा के बिम्ब, जुगनू आदि के है ।

पुनश्च विहाय अर्थात् आकाश, उसमें गमन करने को कारण, वह विहायोगति नामकर्म है । वह मनोज्ञ-अमनोज्ञरूप प्रशस्त-अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का है। जिसके उदय से द्वीन्द्रियादिकों में जन्म होता है, वह त्रस नामकर्म है । जिसके उदय से जो औरों को रोके तथा स्वयं दूसरों द्वारा रोका जाये ऐसा शरीर निपजता है, वह बादर नामकर्म है ।

जिसके उदय से आहारादि पर्याप्ति पूर्ण हो, वह पर्याप्त नामकर्म है । पर्याप्ति छह प्रकार की हैं – आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मनपर्याप्ति ।

शरीर नामकर्म के उदय से उत्पन्न शरीर, वह जिसके उदय से एक शरीर एक आत्मा के उपभोग का कारण हो, एक शरीर में एक ही आत्मा हो, वह प्रत्येकशरीर नामकर्म है ।

जिसके उदय से रसादिक धातु और उपधातु अपने अपने स्थान पर स्थिर रहे, वह स्थिर नामकर्म है । कहा ही है –

रसाद्रक्तं ततो मासं मासान्मेदः प्रवर्तते ।
मेदतोऽस्थि ततो मज्जं मज्जाच्छुक्रं ततः प्रजाः ॥१॥

वातः पित्तं तथा श्लेष्मा सिरा स्नायुश्च चर्म च ।
जठराग्निरिति प्राज्ञैः प्रोक्ताः सप्तोपधातवः ॥२॥

अर्थ – रस से लोही (खून-रक्त) होता है, रक्त से मांस होता है, मांस से मेद होता है, मेद से हड्डी होती है, हड्डी से मज्जा होती है, मज्जा से शुक्र होता है । शुक्र से प्रसूतिरूप प्रजा की उत्पत्ति होती है । ये सात धातु इस क्रम से परिणमित होते हैं । ये सात धातु तीस दिन में होते हैं, तो एक धातु चार दिन और दो दिन के सातवें भाग में होता है ऐसा जानना । पुनश्च वात, पित्त, श्लेष्म, सिरा, स्नायु, चर्म, उदराग्नि ये सात उपधातु हैं । इनका शरीर में जहां स्थान है वहीं स्थिर रहे, वे स्थिर प्रकृति के उदय से रहते हैं ।

पुनश्च जिसके उदय से मस्तकादि शरीर के अवयव मनोज्ञ-रमणीय-प्रशस्त हो, वह शुभ नामकर्म है । जिसके उदय से अन्य जीव आपसे प्रीति करे, वह सुभग नामकर्म है । जिसके उदय से मनोज्ञ-सुहावना स्वर-शब्द निपजे, वह सुस्वर नामकर्म है । जिस के उदय से प्रभा-कांति युक्त शरीर निपजे, वह आदेय नामकर्म है । जिसके उदय से अपना पुण्यरूप पवित्र गुण जगत में प्रकट हो, यश हो, वह यशस्कीर्ति नामकर्म है ।

जिसके उदय से यथायोग्य निष्पत्ति होती है, वह निर्माण नामकर्म है । वह दो प्रकार का है – स्थाननिर्माण, प्रमाणनिर्माण। वहां जाति नामकर्म के उदय की सापेक्षता के साथ नेत्रादिक जिस स्थान में होना चाहिये, उसी स्थान पर निपजावे, वह स्थाननिर्माण है तथा नेत्रादिक का जितना प्रमाण होना चाहिये उतने ही निपजावे, वह प्रमाणनिर्माण है । पुनश्च श्रीमत् अर्हंत तीर्थंकर पद को कारण, वह तीर्थंकर नामकर्म है ।

पुनश्च जिसके उदय से एकेन्द्रिय में उपजता है, वह स्थावर नामकर्म है । जिसके उदय से किसी के द्वारा रोका नहीं जाता तथा जो किसी को रोकता नहीं ऐसा सूक्ष्म शरीर प्राप्त हो, वह सूक्ष्म नामकर्म है । छह पर्याप्ति के अभाव को कारण ऐसा अपर्याप्त नामकर्म है । पर्याप्ति नाम पूर्ण होने का है, यह अपर्याप्त नामकर्म पर्याप्तियों को पूर्ण नहीं होने देता । जहां एक शरीर में अनंत आत्मा पाये जाते हैं वह एक शरीर अनंत जीवों के उपभोग का कारण है, उसे साधारणशरीर कहते हैं, उसके साधारणशरीर नामकर्म का उदय पाया जाता है । इसका उदय निगोद जीवों के ही है । पुनश्च धातु और उपधातु अपने अपने स्थान पर स्थिर न रहे, जिसके उदय से चलायमान हो, वह अस्थिर नामकर्म है । जिसके उदय से मस्तकादि अवयव अमनोज्ञ-अप्रशस्त-बुरे निपजते हैं वह अशुभ नामकर्म है । पुनश्च रूपादिक गुणसंयुक्त होनेपर भी जिसके उदय से अन्य जन अप्रीति करते हैं; प्रीति नहीं करते, वह दुर्भग नामकर्म है । जिसके उदय से अमनोज्ञ-असुहावना स्वर-शब्द निपजता है, वह दुस्वर नामकर्म है । जिसके उदय से प्रभा-कांति रहित शरीर निपजता है, वह अनादेय नामकर्म है । जिसके उदय से पुण्य गुण से उलटा अपयश जगत में प्रकट हो, वह अयशस्कीर्ति नामकर्म है ।

पुनश्च जिसके उदय से लोकपूजित कुल में जन्म होता है, वह उच्चगोत्र है तथा जिसके उदय से लोकनिंदित कुल में जन्म होता है, वह नीचगोत्र है ।

पुनश्च जिसके उदय से देना चाहता है परंतु दे न सके, वह दानांतराय है । जिसके उदय से लाभ को चाहनेपर भी लाभ नहीं होता, वह लाभांतराय है । जिसके उदय से पुष्पादिक भोगना चाहे परंतु भोग न सके, वह भोगांतराय है । जिसके उदय से स्त्री आदि को बारम्बार भोगना चाहता है परंतु उपभोग नहीं होता, वह उपभोगांतराय है । जिसके उदय से अपनी शक्ति प्रकट करना चाहता है परंतु शक्ति प्रकट नहीं होती, वह वीर्यांतराय है । यहां '**दानस्य अंतरायः**' इत्यादि में षष्ठी तत्पुरुष समास जानना । क्योंकि दानादि परिणमन के विघ्न का कारण अंतरायकर्म है । इसतरह उत्तरप्रकृतियों की निरुक्ति कही ॥३३॥

आगे नामकर्म की उत्तरप्रकृतियों में अभेदविवक्षा से जो प्रकृतियां गर्भित हैं, उन्हें दिखाते हैं –

देहे अविणाभावी बंधणसंघाद इदि अबंधुदया ।
वण्णचउक्केऽभिण्णे गहिदे चत्तारि बंधुदये ॥३४॥

देहे अविनाभाविनो बंधनसंघातौ इति अबंधोदयो ।
वर्णचतुष्केऽभिन्ने गृहीते चतस्रःबंधोदययोः ॥३४॥

टीका – देह जो पांच प्रकार के शरीर नामक नामकर्म, उनमें अपने अपने बंधन और अपने अपने संघात अविनाभावी हैं । उसके बिना वह न हो, उसे अविनाभावी कहते हैं । इस कारण वे पांच बंधन और पांच संघात ये दस प्रकृतियां बंधरूप और उदयरूप नहीं हैं ।

भावार्थ – बंध और उदय में ये दस जुदे नहीं कहे, शरीर नामकर्मों में ही गर्भित किये हैं ।

पुनश्च वर्णादि चार – वर्ण, गंध, रस, स्पर्श इनमें अभेदविवक्षा से इनके बीस भेद ग्रहण किये । ये मूल चार ही प्रकृतियां बंध और उदय में कहते हैं । उनके बीस भेद मूल चार भेदों में गर्भित किये हैं । इसलिए सोलह प्रकृतियां बंध और उदय में जुदी जुदी नहीं कही ॥३४॥

ऐसा होनेपर वे बंधरूप, उदयरूप और सत्तारूप प्रकृतियां कितनी-कितनी हैं ? वह चार गाथाओं द्वारा कहते हैं –

पंच णव दोण्णि छव्वीसमवि य चउरो कमेण सत्तट्ठी ।
दोण्णि य पंच य भणिया एदाओ बंधपयडीओ ॥३५॥

पंच नव द्वौ षड्विंशतिरपि च चतस्रः क्रमेण सप्तषष्टिः ।
द्वौ च पंच च भणिता एता बंधप्रकृतयः ॥३५॥

टीका – पांच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, दो वेदनीय, छब्बीस मोहनीय क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति ये दोनों बंध में नहीं हैं, उदय और सत्त्व में ही पायी जाती हैं । चार आयु, सड़सठ नामकर्म - क्योंकि तिरानबे में से दस बंधन-संघात और सोलह वर्णादिक ए छब्बीस गर्भित कराके घटा दिये । दो गोत्र, पांच अंतराय इसप्रकार ये सब एक सौ बीस प्रकृतियां बंधयोग्य हैं ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है ॥३५॥

आगे उदय प्रकृतियों को कहते हैं –

पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चउरो कमेण सत्तट्ठी ।
दोण्णि य पंच य भणिया एदाओ उदयपयडीओ ॥३६॥

पंच नव द्वौ अष्टाविंशतिः चतस्रः क्रमेण सप्तषष्टिः ।
द्वौ च पंच च भणिता एता उदयप्रकृतयः ॥३६॥

टीका – ज्ञानावरणादि कर्मों की अनुक्रम से पांच, नौ, दो, अट्ठाइस, चार, सड़सठ, दो, पांच प्रकृति मिलकर एक सौ बाइस उदय होनेयोग्य प्रकृतियां कही हैं ॥३६॥

आगे उन बंधरूप और उदयरूप प्रकृतियों की भेदविवक्षा से तथा अभेदविवक्षा से संख्या कहते हैं –

भेदे छादालसयं इदरे बंधे हवंति वीससयं ।
भेदे सव्वे उदये बावीससयं अभेदम्हि ॥३७॥

भेदेषट्चत्वारिंशच्छतमितरे बंधे भवंति विंशशतं ।
भेदे सर्वे उदये द्वाविंशशतमभेदे ॥३७॥

टीका – बंध में भेदविवक्षा से अर्थात् गर्भित न करे तो, मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व) और सम्यक्त्वप्रकृति बिना एक सौ छियालीस प्रकृतियां हैं । अभेदविवक्षा से अर्थात् गर्भित करे तो एक सौ बीस प्रकृतियां हैं ।

पुनश्च उदय में भेदविवक्षा से सर्व एक सौ अड़तालीस प्रकृतियां हैं तथा अभेदविवक्षा से एक सौ बाइस प्रकृतियां हैं ॥३७॥

आगे सत्त्व प्रकृतियों को कहते हैं –

पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चउरो कमेण तेणउदी ।
दोण्णि य पंच य भणिदा एदाओ सत्तपयडीओ ॥३८॥

पंच नव द्वौ अष्टाविंशतिः चत्वारः क्रमेण त्रिनवतिः ।
द्वौ च पंच च भणिताः एताः सत्त्वप्रकृतयः ॥३८॥

टीका – ज्ञानावरणादि कर्मों की अनुक्रम से पांच, नौ, दो, अट्ठाइस, चार, तिरानबे, दो, पांच ये सब प्रकृतियां मिलकर एक सौ अड़तालीस सत्त्वरूप प्रकृतियां सर्वज्ञदेव ने कही हैं ॥३८॥

पहले जो घातिकर्म कहे थे उनके दो भेद हैं – सर्वघाति और देशघाति ।

वहां सर्वघाति प्रकृतियों के नाम तथा संख्या कहते हैं –

केवलणाणावरणं दंसणछक्कं कसायबारसयं ।
मिच्छं च सव्वघादी समामिच्छं अबंधह्मि ॥३९॥

केवलज्ञानावरणं दर्शनषट्कं कषायद्वादशकं ।
मिथ्यात्वं च सर्वघातीनि सम्यग्मिथ्यात्वमबंधे ॥३९॥

टीका – केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, स्त्यानगृद्धि आदि पांच निद्रा, अनंतानुबंधी-अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान-क्रोध, मान, माया, लोभ (१२), मिथ्यात्व ये सर्व बीस प्रकृतियां सर्वघाति हैं । सम्यग्मिथ्यात्व बंध में नहीं है, उदय और सत्ता में ही जुदी ही जाति की सर्वघाति है, इसलिए बंध में बीस प्रकृतियां सर्वघाति हैं । उदय और सत्त्व में इक्कीस प्रकृतियां सर्वघाति हैं । जिनके उदय होनेपर जीव का गुण सर्वथा प्रकट न हो, उन्हें सर्वघाति प्रकृति जानना; जैसे केवलज्ञानावरण का उदय होनेपर केवलज्ञान प्रकट नहीं होता ॥३९॥

आगे देशघाति प्रकृतियों का कथन करते हैं –

णाणावरणचउक्कं तिदंसणं सम्मगं च संजलणं ।
णव णोकसाय विग्घं छव्वीसा देसघादीओ ॥४०॥

ज्ञानावरणचतुष्कं त्रिदर्शनं सम्यक्त्वं च संज्वलनं ।
नव नोकषाया विघ्नं षड्विंशतिः देशघातीनि ॥४०॥

टीका – मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय ज्ञानावरण चार, चक्षु-अचक्षु-अवधि दर्शनावरण तीन, सम्यक्त्वप्रकृति, संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ चार, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद ये नौ नोकषाय, दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्य अंतराय पांच - ये छब्बीस देशघाति प्रकृतियां हैं । जिनके उदय होते

हुये भी जीव का गुण प्रकट हो, उन्हें देशघाति जानना । जैसे बारहवें गुणस्थान तक मतिज्ञानावरण का उदय भी पाया जाता है और मतिज्ञान भी पाया जाता है ॥४०॥

गाथा ३९-४० के आधारपर देशघाति एवं सर्वघाति प्रकृतियां –

क्रम	मूलकर्म	देशघाति प्रकृति	सर्वघाति प्रकृति
१	ज्ञानावरण	मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय-ज्ञानावरण	केवलज्ञानावरण
२	दर्शनावरण	चक्षु, अचक्षु, अवधि दर्शनावरण	केवलदर्शनावरण, निद्रा,निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि
३	मोहनीय	सम्यक्त्व, ४ संज्वलन कषाय, ९ नोकषाय	मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी ४ अप्रत्याख्यानावरण ४ प्रत्याख्यानावरण ४,
४	अंतराय	दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य-अंतराय	
योग	४	२६	२१

इसतरह घातिकर्मों का देशघाति और सर्वघाति भेद बताकर अब अघातिकर्मों के प्रशस्त-अप्रशस्त दो भेदों में से प्रशस्त प्रकृतियों के नाम और संख्या दो गाथाओं द्वारा कहते हैं –

सादं तिण्णेवाउं उच्चं णरसुरदुगं च पंचिंदी ।
देहा बंधणसंघा दंगोवंगाइं वण्णचओ ॥४१॥

समचउरवज्जरिसहं उवघादूणगुरुछक्क सग्गमणं ।
तसबारसट्ठसट्ठी बादालमभेददो सत्था ॥४२॥

सातं त्रीण्येवायूषि उच्चं नरसुरद्विकं च पंचेंद्रिय ।
देहा बंधनसंघातांगोपांगानि वर्णचतुष्कं ॥४१॥

समचतुरस्रवज्रर्षभमुपघातोनागुरुषट्कं सद्गमनं ।
त्रसद्वादशाष्टषष्टिः द्वाचत्वारिंशदभेदतः शस्ताः ॥४२॥

टीका – सातावेदनीय, तिर्यंच-मनुष्य-देव आयु, उच्चगोत्र, मनुष्यगति-मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रियजाति, पांच शरीर, पांच बंधन, पांच संघात, तीन अंगोपांग, शुभ वर्ण-गंध-रस-स्पर्श बीस, समचतुरस्र संस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशस्कीर्ति, निर्माण, तीर्थंकर ये अड़सठ प्रकृतियां (६८) भेदविवक्षा से प्रशस्त-पुण्यरूप हैं । अभेदविवक्षा से पांच बंधन, पांच संघात, सोलह वर्णादिक घटानेपर बयालीस प्रकृतियां प्रशस्त हैं । सूत्र में कहा है – **'सद्वेद्य शुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यं'** (तत्त्वार्थसूत्र – अध्याय ८, सूत्र २५) ॥४१-४२॥

आगे अप्रशस्त प्रकृतियां दो गाथाओं द्वारा बताते हैं –

घादी णीचमसादं णिरयाऊ णिरयतिरियदुग जादी ।
संठाणसंहदीणं चदुपणपणगं च वण्णचओ ॥४३॥

उवघादमसग्गमणं थावरदसयं च अप्पसत्था हु ।
बंधुदयं पडि भेदे अडणउदि सयं दुचदुरसीदिदरे ॥४४॥

घातीनि नीचमसातं निरयायुः निरयतिर्यग्द्विकं जाति ।
संस्थानसंहतानां चतुःपंचपंचकं च वर्णचतुष्कं ॥४३॥

उपघातमसद्गमनं स्थावरदशकं च अप्रशस्ता हि ।
बंधोदयं प्रति भेदे अष्टनवतिः शतं द्विचतुरशीतिरितरे ॥४४॥

टीका – घातिकर्म सर्व अप्रशस्त ही हैं । उनकी सैंतालीस प्रकृतियां और नीचगोत्र, असातावेदनीय, नरकायु, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगति-तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रियादि चार जाति, न्यग्रोधपरिमण्डल आदि पांच संस्थान, वज्रनाराच आदि पांच संहनन, अशुभ वर्ण-गंध-रस-स्पर्श बीस या चार, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर,

सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयशस्कीर्ति ये अप्रशस्त प्रकृतियां हैं । (अतोऽन्यत्पापं - तत्त्वार्थसूत्र-अध्याय ८, सूत्र २६) । वे भेदविवक्षा से बंधरूप अट्ठानबे (९८) प्रकृतियां हैं, उदयरूप सौ (१००) प्रकृतियां हैं। अभेदविवक्षा से वर्णादि में से सोलह घटानेपर बंधरूप बयासी (८२) प्रकृतियां हैं, उदयरूप चौरासी (८४) प्रकृतियां हैं । सत्तारूप सौ (१००) प्रकृतियां हैं ॥४३-४४॥

प्रशस्त प्रकृतियां		अप्रशस्त प्रकृतियां	
भेद	अभेद	भेद	अभेद
सातावेद., मनुष्य-तिर्यंच-देवायु, उच्चगोत्र, मनुष्य-देवगति-गत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय, ५ शरीर, ५ बंधन, ५ संघात, ३ अंगोपांग, शुभ स्पर्श-रस-गंध-वर्ण संबंधी २०, समचतुरस्र संस्थान, वज्रवृषभनाराचसंहनन, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रसादि १२	५ शरीर, ५ बंधान ५ संघात में से ५ २० स्पर्शादि में से ४, इसप्रकार १०+१६ =२६ कम करने से शेष ४२	ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ९, मोह. २८, अंतराय ५, नीचगोत्र, असातावेदनीय, नरकायु, नरक-तिर्यंच गति और गत्यानुपूर्वी, द्वीन्द्रियादि ४ जाति, शेष ५ संस्थान, शेष ५ संहनन, अशुभ स्पर्श-रस-गंध-वर्ण संबंधी २०, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावरादि १०.	अशुभ स्पर्शादि २० में से ४ ग्रहण करनेपर १६ कम हो जाने से शेष ८२
योग ६८	४२	९८	८२

आगे कषायों का कार्य कहते हैं –

पढमादीया कसाया सम्मत्तं देससयलचारित्तं ।
जहखादं घादंति य गुणणामा होंति सेसा वि ॥४५॥

प्रथमादिकाः कषायाः सम्यक्त्वं देशसकलचारित्रं ।
यथाख्यातं घातयंति च गुणनामानो भवंति शेषा अपि ॥४५॥

टीका – अनंतानुबंधी कषाय सम्यक्त्व का घात करती है । अप्रत्याख्यानावरण कषाय देशचारित्र का घात करती है । प्रत्याख्यानावरण कषाय सकलचारित्र का घात करती है । संज्वलन कषाय यथाख्यातचारित्र का घात करती है । इसलिए ये सार्थक गुणसहित नाम के धारक हैं । वही कहते हैं –

अनंत संसार को कारणभूत होने से **'अनंत'** अर्थात् मिथ्यात्व, उसको **'अनुबध्नंति'** अर्थात् संबंधरूप करे वे अनंतानुबंधी हैं । पुनश्च **'अप्रत्याख्यान'** अर्थात् ईषत् देशचारित्र, उसे **'कषंति'** यानि घातते हैं वे अप्रत्याख्यान कषाय हैं । पुनश्च **'प्रत्याख्यान'** अर्थात् सकलसंयम उसे **'कषंति'** अर्थात् घातते हैं, वे प्रत्याख्यान कषाय हैं । **सं** अर्थात् एकीभूत होकर संयम के साथ **'ज्वलंति'** अर्थात् प्रकाशरूप रहे अथवा जिनके होनेपर भी संयम **'ज्वलंति'** अर्थात् प्रकट रहे, वे संज्वलन कषाय हैं । इसीतरह अवशेष नोकषाय तथा ज्ञानावरणादि कर्म भी सार्थक नाम के धारक हैं । पहले निरुक्ति द्वारा उनका कथन किया ही है ।।।४५।।

आगे संज्वलनादि चार कषायों का वासनाकाल कहते हैं –

अंतोमुहुत्त पक्खं छम्मासं संखऽसंखणंतभवं ।
संजलणमादियाणं वासणकालो दु णियमेण ।।४६।।

अंतर्मुहूर्तः पक्षः षणमासाः संख्यासंख्यानंतभवाः ।
संज्वलनाद्यानां वासनाकालः तु नियमेन ।।४६।।

टीका – उदय के अभाव होनेपर भी कषायों का संस्कार जितने काल तक रहता है, उसका नाम वासनाकाल है । संज्वलन कषायों का वासनाकाल अंतर्मुहूर्तमात्र है । प्रत्याख्यानावरण कषायों का एक पक्ष (१५ दिन) है । अप्रत्याख्यानावरण कषायों का छह मास है । अनंतानुबंधी कषायों का संख्यातभव, असंख्यातभव, अनंतभव पर्यंत वासनाकाल है । जैसे किसी पुरुष ने क्रोध किया, पश्चात् क्रोध मिटकर अन्य कार्य में लग गया, वहां क्रोध का उदय तो नहीं है, परंतु वासनाकाल रहता है । इसलिए जिस पर क्रोध किया था, उससे क्षमारूप भी नहीं प्रवर्तता । ऐसा वासनाकाल सब कषायों का नियम से जानना ।।४६।।

आगे पुद्गलविपाकी प्रकृतियों का कथन करते हैं –

देहादी फासंता पण्णासा णिमिणतावजुगलं च ।
थिरसुहपत्तेयदुगं अगुरुतियं पोग्गलविवाई ।।४७।।

देहादयः स्पर्शांताः पंचाशत् निर्माणातापयुगलं च ।
स्थिरशुभप्रत्येकद्विकमगुरुत्रयं पुद्गलविपाकिन्यः ।।४७।।

टीका – पांच शरीर, पांच बंधन, पांच संघात, छह संस्थान, तीन अंगोपांग, छह संहनन, पांच वर्ण, दो गंध, पांच रस, आठ स्पर्श – ये पचास और निर्माण, आतप, उद्योत, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, प्रत्येक, साधारण, अगुरुलघु, उपघात परघात – ये बारह, ऐसी सभी बासठ प्रकृतियां पुद्गलविपाकी हैं । पुद्गल ही में इनका उदय है । जैसे – शरीरप्रकृति के उदय से पुद्गल ही शरीररूप होकर परिणमता है । इसीतरह सब प्रकृतियों का स्वरूप जानना ॥४७॥

आगे भवविपाकी, क्षेत्रविपाकी, जीवविपाकी प्रकृतियों का कथन करते हैं –

आऊणि भवविवाई खेत्तविवाई य आणुपुव्वीओ ।
अट्ठत्तरि अवसेसा जीवविवाई मुणेयव्वा ॥४८॥

आयूंषि भवविपाकीनि क्षेत्रविपाकीनि च आनुपूर्व्याणि ।
अष्टसप्ततिरवशिष्टा जीवविपाकिन्यःमंतव्याः ॥४८॥

टीका – चार आयु कर्मों की प्रकृतियां भवविपाकी हैं, क्योंकि मनुष्यादि पर्यायों में ही इनका उदय है । चारों आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकी हैं, क्योंकि जीव के परलोक गमन के क्षेत्र ही में इनका उदय है । अवशेष रही अठहत्तर प्रकृतियां जीवविपाकी हैं । क्योंकि ये जीव की नरकादि पर्यायों को उपजाने में कारण है, इसलिए जीवविपाकी कहते हैं ॥४८॥

वे जीवविपाकी प्रकृतियां कौनसी है ? वह कहते हैं –

वेदणियगोदघादी णेकावण्णं तु णामपयडीणं ।
सत्तावीसं चेदे अट्ठत्तरि जीवविवाई (ओ) ॥४९॥

वेदनीयगोत्रघातिनामेकपंचाशत्तु नामप्रकृतिनां ।
सप्तविंशतिश्चैता अष्टसप्ततिः जीवविपाकिन्यः ॥४९॥

टीका – वेदनीय दो, गोत्र दो, घातिकर्मों की सैंतालीस - इक्यावन तो ये हुयी तथा नामकर्म की सत्ताइस - ये सब अठहत्तर प्रकृतियां जीवविपाकी हैं ।

नामकर्म की सत्ताइस प्रकृतियां कौनसी हैं ? वह कहते हैं –

तित्थयरं उस्सासं बादरपज्जत्तसुस्सरादेज्जं ।
जसतसविहायसुभगदु चउगइ पणजाइ सगवीसं ॥५०॥

तीर्थंकरमुच्छ्वासं बादरपर्याप्तसुस्वरादेयं ।
यशस्त्रसविहायस्सुभगद्वयं चतुर्गतयःपंचजातयः सप्तविंशतिः ॥५०॥

टीका – तीर्थंकर, उच्छ्वास, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, सुस्वर, दुस्वर, आदेय, अनादेय, यशस्कीर्ति, अयशस्कीर्ति, त्रस, स्थावर, प्रशस्त विहायोगति, अप्रशस्त विहायोगति, सुभग, दुर्भग, चार गति, पांच जाति – ये नामकर्म की सत्ताइस प्रकृतियां जीवविपाकी हैं ॥५०॥

इन्हीं का दुबारा अनुक्रम से कथन करते हैं –

गदि जादी उस्सासं विहायगदि तसतियाण जुगलं च ।
सुभगादिचउज्जुगलं तित्थयरं चेदि सगवीसं ॥५१॥

गतिः जातिरुच्छ्वासं विहायोगतिस्त्रसत्रयाणां युगलं च ।
सुभगादिचतुर्युगलं तीर्थंकरं चेति सप्तविंशतिः ॥५१॥

टीका – चार गति, पांच जाति, उच्छ्वास, विहायोगति-त्रस-बादर-पर्याप्त के युगलों की आठ प्रकृतियां, सुभग-सुस्वर-आदेय-यशस्कीर्ति के युगलों की आठ प्रकृतियां और तीर्थंकर इसतरह नामकर्म की सत्ताइस प्रकृतियां जीवविपाकी जानना ॥५१॥

गाथा ४७ से ५१ तक के आधारपर विपाककृत कर्मप्रकृति भेद –

पुद्गलविपाकी	भवविपाकी	क्षेत्रविपाकी	जीवविपाकी
५ शरीरों से लेकर स्पर्श नामकर्म तक ५०, निर्माण, आतप, उद्योत, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, प्रत्येक, साधारण, अगुरुलघु, उपघात, परघात ।	नरकायु तिर्यंचायु मनुष्यायु देवायु	नरकगत्यानुपूर्वी तिर्यंचगत्यानुपूर्वी मनुष्यगत्यानुपूर्वी देवगत्यानुपूर्वी	वेदनीय २, गोत्र २, ज्ञाना.५, दर्शना.९, मोहनीय २८, अंतराय ५, नामकर्म २७ (तीर्थंकर, उच्छ्वास, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, सुस्वर, दुस्वर, आदेय, अनादेय, यशस्कीर्ति, अयशस्कीर्ति, त्रस, स्थावर, प्रशस्त-अप्रश. विहायोगति, सुभग, दुर्भग, गति ४, जाति ५)
कुल योग　६२	४	४	७८

यहां सुननेवाले श्रोता तीन प्रकार के हैं - अव्युत्पन्न, अवगताशेषविवक्षितपदार्थ, एकदेशतोऽवगतविवक्षितपदार्थ ।

वहां पहला अव्युत्पन्न है । उसको तो मूर्खपने से विवक्षित पदार्थ का विचार ही नहीं है – 'यह ऐसा ही है' इसप्रकार के यथार्थ प्रतीति की उसको अप्राप्ति है । जैसे, गमन करते हुये पुरुष को तृणों का स्पर्श हुआ, वहां कुछ उसके तृणों का विचार नहीं है, वैसे अव्युत्पन्न श्रोता सुनते हैं परंतु उनके विचार नहीं है । इसलिए उनके तो अनध्यवसाय पाया जाता है ।

पुनश्च जिसने अपनी बुद्धि से सर्व कथित अर्थ जाना ऐसा दूसरा श्रोता संशय उत्पन्न करता है । जैसे, किसी ने खेत में दूर से पुरुषाकार देखकर सन्देह किया कि यह मिट्टी का स्तम्भ है कि पुरुष है, वैसे यह जो अर्थ सुनता है वहां इसके सामान्य भाव तो प्रत्यक्ष है, विशेष भाव अतिशय-ज्ञान के अभाव से प्रत्यक्ष नहीं है और यह दोनों का विचार करे, वहां 'ऐसा है कि ऐसा है' इसतरह संशय को उत्पन्न करे ही करे ।

अथवा कथित अर्थ अन्य हो उसे और अन्य प्रकार से ग्रहण करके विपर्ययरूप प्रवर्तता है । जैसे 'सीप के टुकड़े में रूपा है' मानना, वैसे इसके सामान्य तो प्रत्यक्ष है, विशेष प्रत्यक्ष नहीं है तथा इसके विपरीत विचार होता है इसकारण कथित अर्थ को अन्यथा निश्चय करता है । इसतरह इस दूसरे श्रोता के संशय और विपर्यय दोनों पाये जाते हैं ।

पुनश्च जिसके एकदेशपने से कथित अर्थ को जाना ऐसा तीसरा श्रोता भी दूसरे श्रोता के समान संशय और विपर्ययरूप प्रवर्तता है । इसलिए अयथार्थ का निवारण करने के लिये, यथार्थ प्ररूपणा के लिये, संशय का नाश होने के लिये, तत्त्व के अवधारण के लिये, सामान्यादि भेद तथा भेदों के भेदरूप कर्म कहे उनका नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेपों द्वारा कथन करते हैं । यदि कथन न करेंगे तो उनका मन संशयादि रहित नहीं होगा, इसलिए कथन करते हैं ।

प्रथम ही नामादि निक्षेपों का स्वरूप कहते हैं –

अतद्गुणेषु भावेषु व्यवहारप्रसिद्धये ।
यत्संज्ञाकर्म तन्नाम नरेच्छावशवर्तनात् ॥१॥

साकारे वा निराकारे काष्ठादौ यन्निवेशनं ।
सोऽयमित्यवधानेन स्थापना सा निगद्यते ।।२।।

आगामि गुणयोग्योऽर्थो द्रव्यं न्यायस्य गोचरः ।
तत्कालपर्ययाक्रांतं वस्तुभावोऽभिधीयते ।।३।।

जिसमें तद्गुण नहीं है ऐसा जो पदार्थ, उसमें व्यवहार की सिद्धि के लिये मनुष्य अपनी इच्छानुसार संज्ञा दे-नाम रखे, वहां नामनिक्षेप है । पुनश्च तदाकार तथा अतदाकार काष्ठादि में यह विवक्षित पदार्थ है, इसतरह अपने परिणामों द्वारा स्थापना करे वहां स्थापनानिक्षेप है । पुनश्च जिसमें आगामी काल में गुण प्रगट होगा *(पर्याय होगी)* ऐसा पदार्थ द्रव्यनिक्षेप के गोचर है । पुनश्च जिसमें वर्तमान काल में तद्गुणरूप पर्याय पायी जाती है उसको वस्तु भाव कहते हैं *(यह भावनिक्षेप है)* ।

यहां उदाहरण बताते हैं – जैसे, यहां पृथ्वी का स्वामी राजा विवक्षित है *(राजा शब्द पर चारों निक्षेप बताते हैं -)* । मनुष्यों ने अपनी इच्छानुसार व्यवहार की सिद्धि के लिये किसी पुरुष का नाम राजा रखा, उसको राजा कहना नामनिक्षेप है ।

पुनश्च काष्ठ-चित्रादि के तदाकार या अतदाकार में यह राजा है ऐसा स्थापित करके काष्ठ-चित्र आदि के बने आकार को राजा कहना स्थापनानिक्षेप है । वहां तदाकारस्थापना राजा के समान आकार हो वहां जानना, अतदाकारस्थापना जहां राजा जैसा आकार न हो और राजा को स्थापित करे वहां जानना । *(जैसे शतरंज में राजा, वजीर, हाथी आदि की अतदाकार स्थापना है)।*

पुनश्च जो आगामी काल में राजा होगा उसे राजा कहते हैं, वहां द्रव्यनिक्षेप है।

पुनश्च वर्तमान में जो पृथ्वी का स्वामी है उसे राजा कहते हैं, वहां भावनिक्षेप है।

इसीतरह जो पदार्थ विवक्षित हो, उसके नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव निक्षेप जानना। यहां कर्म विवक्षित है इसलिए इसके चार निक्षेपों का कथन चौंतीस गाथाओं द्वारा कहते हैं ।

प्रथम ही सर्व ज्ञानावरणादि समुदायरूप सामान्य कर्म के नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव का कथन करते हैं –

णामट्ठवणा दवियं भावो त्ति चउव्विहं हवे कम्मं ।
पयडी पावं कम्मं मलंति सण्णा हु णाममलं ।।५२।।

नाम स्थापना द्रव्यं भाव इति चतुर्विधं भवेत्कर्म ।
प्रकृतिः पापं कर्ममलमिति संज्ञा हि नाममलं ।।५२।।

टीका – सामान्य कर्म नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव भेद से चार प्रकार का है । वहां प्रकृति या पाप या कर्म या मल ऐसा जो नाम वह **'नाममलं'** अर्थात् नामनिक्षेपरूप कर्म जानना ।।५२।।

सरिसासरिसे दव्वे मदिणा जीवट्ठियं खु जं कम्मं ।
तं एदत्ति पदिट्ठा ठवणा तं ठावणाकम्मं ।।५३।।

सदृशासदृशे द्रव्ये मतिना जीवस्थितं खलु यत्कर्म ।
तदेतदिति प्रतिष्ठा स्थापना तत्स्थापनाकर्म ।।५३।।

टीका – सदृश अर्थात् कर्मसमान, असदृश अर्थात् कर्मसमान न हो ऐसे किसी द्रव्य में *(पदार्थ में)* बुद्धि द्वारा ऐसी प्रतिष्ठा-स्थापना करना कि जीव के समस्त प्रदेशों के समूह में रहनेवाला सामान्यकर्म यह पदार्थ है । उसे स्थापनानिक्षेपरूप कर्म कहते हैं ।।५३।।

दव्वे कम्मं दुविहं आगमणोआगमंति तप्पढमं ।
कम्मागमपरिजाणुगजीवो उवजोग परिहीणो ।।५४।।

द्रव्ये कर्म द्विविधमागमनोआगममिति तत्प्रथमं ।
कर्मागमपरिज्ञायक जीव उपयोगपरिहीनः ।।५४।।

टीका – द्रव्यनिक्षेपरूप कर्म दो प्रकार का है - एक आगमद्रव्यकर्म, एक नोआगमद्रव्यकर्म । वहां कर्म का स्वरूप जिस आगमशास्त्र में प्रतिपादन किया है ऐसे आगम को अर्थ-शब्द के संबंध से अथवा ज्ञाता-ज्ञेय के संबंध से जाननेवाला जीव, जो वर्तमानकाल में उस आगम के पदार्थ के अर्थ के अवधारण या चिंतवन आदि परिणमनरूप उपयोग से रहित हो-अन्यत्र उपयोग युक्त हो, वह जीव आगमद्रव्यकर्म है ।।५४।।

जाणगसरीर भवियं तव्वदिरित्तं तु होदि जं विदियं ।
तत्थ सरीरं तिविहं तियकालगयंति दो सुगमा ।।५५।।

ज्ञायकशरीरं भावि तद्व्यतिरिक्तं तु भवति यद्द्वितीयं ।
तत्र शरीरं त्रिविधं त्रयकालागतमिति द्वे सुगमे ।।५५।।

टीका – दूसरा नोआगमद्रव्यकर्म है, वह तीन प्रकार का है – ज्ञायकशरीर, भावि, तद्व्यतिरिक्त इन तीन भेदरूप है । वहां ज्ञायक अर्थात् कर्मस्वरूप को जाननेवाला जीव, उसका जो शरीर, उसको ज्ञायकशरीर-नोआगमद्रव्यकर्म कहते हैं । वहां ज्ञायकशरीर तीन प्रकार का है – भूत, वर्तमान, भावि इसतरह त्रिकालगत है । वहां जिस शरीर सहित जीव कर्मस्वरूप को जाननेवाला है वह वर्तमानशरीर, इसके पहले जिस शरीर को छोड़कर आया है वह भूतशरीर तथा आगामी *(भव में)* जो शरीर धारण करेगा वह भाविशरीर है । वहां वर्तमानशरीर और भाविशरीर ये दोनों सुगम है । वर्तमान-शरीर को तो धारण कर ही रहा है, भाविशरीर आगामी काल में धारण करेगा ही।।५५।।

भूतशरीर छोड़कर आया है तो किस-किस प्रकार से शरीर का त्यजन होता है इस अपेक्षा से भूतशरीर के विशेष कहते हैं –

भूदं तु चुदं चइदं चदंति तेधा चुदं सपाकेण ।
पडिदं कदलीघादपरिच्चागेणूणयं होदि ।।५६।।

भूतं तु च्युतं च्यावितं त्यक्तमिति त्रेधा च्युतं स्वपाकेन ।
पतितं कदलीघातपरित्यागेनोनं भवति ।।५६।।

टीका – ज्ञायक का जो भूतशरीर है वह तीन प्रकार का है – च्युत, च्यावित, त्यक्त । वहां अन्य कारण बिना, अपने उदय ही से शरीर छूट जाये-नष्ट हो उसे च्युत कहते हैं । इसलिए यह शरीर कदलीघात अथवा संन्यास इनसे **'ऊनः'** अर्थात् रहित जानना ।।५६।।

वहां कदलीघात का लक्षण कहते हैं –

विसवेयणरत्तक्खय भयसत्थग्गहणसंकिलेसेहिं ।
उस्सासाहाराणं णिरोहदो छिज्जदे आऊ ।।५७।।

विषवेदनारक्तक्षय भयशस्त्रघात संक्लेशैः ।
उच्छ्वासाहारयोर्निरोधतः छिद्यते आयुः ॥५७॥

टीका – विष, तीव्र वेदना, रक्त का क्षय *(तीव्र रक्तस्राव)*, तीव्र भय, शस्त्र से घात, क्रोधादिरूप तीव्र संक्लेश, श्वासोच्छ्वास का रुकना, आहार का रुकना आदि कारणों से यदि आयु का छेद-नाश हो जाये तो उसे कदलीघात कहते हैं ॥५७॥

कदलीघादसमेदं चागविहीणं तु चइदमिदि होदि ।
घादेण अघादेण व पडिदं चागेण चत्तमिदि ॥५८॥

कदलीघातसमेतं त्यागविहीनं तु त्यक्तमिति भवति ।
घातेन अघातेन वा पतितं त्यागेन त्यक्तमिति ॥५८॥

टीका – ज्ञायक का भूतशरीर यदि कदलीघात से छूट जाये-नष्ट हो जाये तथा संन्यास से रहित हो तो वह शरीर अन्य कारण से छूटा होने से उसे च्यावित कहते हैं । पुनश्च कदलीघात से युक्त अथवा कदलीघात बिना यदि संन्यास के साथ शरीर छूट जाये-नष्ट हो, तो उसे त्यक्त कहते हैं । अपने परिणामों से संन्यास धारण करके शरीर छोड़ा इसलिए उसे त्यक्त कहते हैं ॥५८॥

उस संन्यासमरण के तीन विधान कहते हैं –

भत्तपइण्णाइंगिणि पाउग्गविधीहिं चत्तमिति तिविहं ।
भत्तपइण्णा तिविहा जहण्णमज्झिमवरा य तहा ॥५९॥

भक्तप्रतिज्ञेंगिनी प्रायोग्यविधिभिः त्यक्तमिति त्रिविधं ।
भक्तप्रतिज्ञा त्रिविधा जघन्यमध्यमवरा च तथा ॥५९॥

टीका – त्यक्त शरीर तीन प्रकार का है । क्योंकि भक्तप्रतिज्ञा, इंगिनी और प्रायोपगमन ये तीन संन्यासमरण के विधान हैं । वहां जैसे ज्ञायक का भूतत्यक्तशरीर तीन प्रकार का कहा, वैसे भक्तप्रतिज्ञा के तीन भेद जानने – जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट ॥५९॥

वहां इनके काल का प्रमाण कहते हैं –

भत्तपइण्णाइविही जहण्णमंतोमुहुत्तयं होदि ।
बारसवरिसा जेट्ठा तम्मज्झे होदि मज्झिमया ॥६०॥

भक्तप्रतिज्ञादिविधिः जघन्योऽन्तर्मुहूर्तको भवति ।
द्वादशवर्षा ज्येष्ठः तन्मध्ये भवति मध्यमकः ॥६०॥

टीका – भक्त अर्थात् भोजन, उसके संबंध में प्रतिज्ञा करके संन्यासमरण हो जाये, उसे भक्तप्रतिज्ञा कहते हैं । जिसके काल का प्रमाण जघन्य तो अंतर्मुहूर्त है तथा उत्कृष्ट बारह वर्षप्रमाण है । तिनके मध्यवर्ती एक एक समय से बढ़ते हुये सर्व मध्यम काल का प्रमाण जानना । इसतरह काल के भेद से तीन भेद कहे हैं ॥६०॥

इंगिनी, प्रायोपगमन मरण के लक्षण कहते हैं –

अप्पोवयारवेक्खं परोवयारूणमिंगिणीमरणं ।
सपरोवयारहीणं मरणं पाओवगमणमिदि ॥६१॥

आत्मोपकारापेक्षं परोपकारोनमिंगिनीमरणं ।
स्वपरोपकारहीनं मरणं प्रायोपगमनमिति ॥६१॥

टीका – अपने शरीर का अपने अंगों से उपचार करे, अन्य किसी जीव से उपचार-वैयावृत्य न करवाये इस विधान द्वारा संन्यास धारण करके मरे, वह इंगिनीमरण है । भक्तप्रतिज्ञावाला अन्य के द्वारा भी उपचार कराता है, यह नहीं करवाता । पुनश्च अन्य जीव द्वारा भी उपचार न करवाये और स्वयं भी अपने हाथ आदि अंगों से अपना उपचार न करे इस विधान द्वारा संन्यास धारण करके मरे वह प्रायोपगमनमरण है । इसतरह ज्ञायकशरीर के तीन भेद कहे ॥६१॥

आगे नोआगमद्रव्यकर्म का दूसरा भेद भावि, उसका कथन करते हैं –

भवियंति भवियकाले कम्मागमजाणगो स जो जीवो ।
जाणगसरीरभवियं एवं होदि त्ति णिद्दिट्ठं ॥६२॥

भविष्यति भाविकाले कर्मागमज्ञायकः स यो जीवः ।
ज्ञायकशरीरभावि एवं भवतीति निर्दिष्टं ॥६२॥

टीका – जो जीव भविष्यकाल-भावि अर्थात् अनागतकाल में कर्मस्वरूप के प्रतिपादक आगम को जाननेवाला होगा अर्थात् भविष्यकाल में कर्मस्वरूप के प्रतिपादक आगम को जानेगा उस जीव को ज्ञायकभाविशरीर *(नोआगमद्रव्यकर्म)* कहते हैं । इसतरह भावि ऐसा कहा हुआ ज्ञायकशरीर जिनदेव ने बताया है ॥६२॥

(विशेषार्थ – गाथा ५५ में ज्ञायकशरीर नोआगमद्रव्यकर्म के तीन भेद बताये हैं - भूतज्ञायकशरीर, वर्तमानज्ञायकशरीर, भाविज्ञायकशरीर । यहां कर्मस्वरूप के प्रतिपादक आगम को जाननेवाले जीव को ज्ञायक कहा उसको तो 'आगमद्रव्यकर्म' कहेंगे परंतु ज्ञायक का शरीर जानता नहीं उसे नोआगमद्रव्यकर्म कहा । वर्तमान में जाननेवाले जीव के भविष्यकालीन शरीर को भाविज्ञायकशरीरनोआगमद्रव्यकर्म कहा है ।

अब यहां गाथा ६२ में शरीर की नहीं परंतु जीव की बात है । जीव वर्तमान में कर्मागम को नहीं जान रहा, परंतु वही जीव भविष्य में जानेगा इसलिए यहां शरीर को नहीं परंतु नहीं जाननेवाले जीव को जो भविष्य में ज्ञायक होगा उसे भाविनोआगमद्रव्यकर्म कहा है ।)

आगे नोआगमद्रव्यकर्म का तीसरा भेद तद्व्यतिरिक्त का कथन करते हैं –

तव्वदिरित्तं दुविहं कम्मं णोकम्ममिदि तहिं कम्मं ।
कम्मसरूवेणागय कम्मं दव्वं हवे णियमा ।।६३।।

तद्व्यतिरिक्तं द्विविधं कर्म नोकर्मेति तस्मिन् कर्म ।
कर्मस्वरूपेणागतं कर्म द्रव्यं भवेन्नियमात् ।।६३।।

टीका – तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यकर्म दो प्रकार का है – एक कर्म, एक नोकर्म । वहां ज्ञानावरणादि मूलप्रकृति तथा उनकी उत्तरप्रकृतिरूप होकर परिणत हुये पुद्गलद्रव्य को नियम से कर्मतद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यकर्म जानना ।।६३।।

कम्मद्दव्वादण्णं दव्वं णोकम्मदव्वमिदि होदि ।
भावे कम्मं दुविहं आगमणोआगमंति हवे ।।६४।।

कर्मद्रव्यादन्यद्द्रव्यं नोकर्मद्रव्यमिति भवति ।
भावे कर्म द्विविधमागमनोआगममिति भवेत् ।।६४।।

टीका – कर्म के द्वारा जो कार्य होता है, उस कार्य के लिये बाह्य कारणभूत ऐसी कर्मस्वरूप से अन्य जो वस्तु, उसे नोकर्मरूप तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यकर्म जानना। 'नो' अर्थात् किंचित्मात्र कर्म के समान कारण होने से इसे नोकर्म कहते हैं । पुनश्च भावनिक्षेपरूप कर्म दो प्रकार का है – एक आगमभावकर्म, एक नोआगमभावकर्म ।।६४।।

कम्मागमपरिजाणग जीवो कम्मागमम्हि उवजुत्तो ।
भावागमकम्मोत्ति य तस्स य सण्णा हवे णियमा ॥६५॥

कर्मागमपरिज्ञायक जीवः कर्मागमे उपयुक्तः ।
भावागमकर्मेति च तस्य च संज्ञा भवेन्नियमात् ॥६५॥

टीका – कर्मस्वरूप के प्रतिपादक आगम शास्त्र को जाननेवाला तथा वर्तमानकाल में उस आगम ही के विचाररूप-चिंतवनरूप उपयोग से युक्त ऐसा जीव आगमभावकर्म संज्ञा का धारक है, इसतरह नियम से जानना ॥६५॥

णोआगमभावो पुण कम्मफलं भुञ्जमाणगो जीवो ।
इदि सामण्णं कम्मं चउव्विहं होदि णियमेण ॥६६॥

नोआगमभावः पुनः कर्मफलं भुंजमानको जीवः ।
इति सामान्यं कर्म चतुर्विधं भवति नियमेन ॥६६॥

टीका – कर्म के उदय अर्थात् फल को भोगनेवाला जीव नोआगमभावकर्म जानना । इसतरह अभेदरूप सामान्यकर्म नियम से चार प्रकार का है ॥६६॥

निक्षेपकृत कर्म-भेद

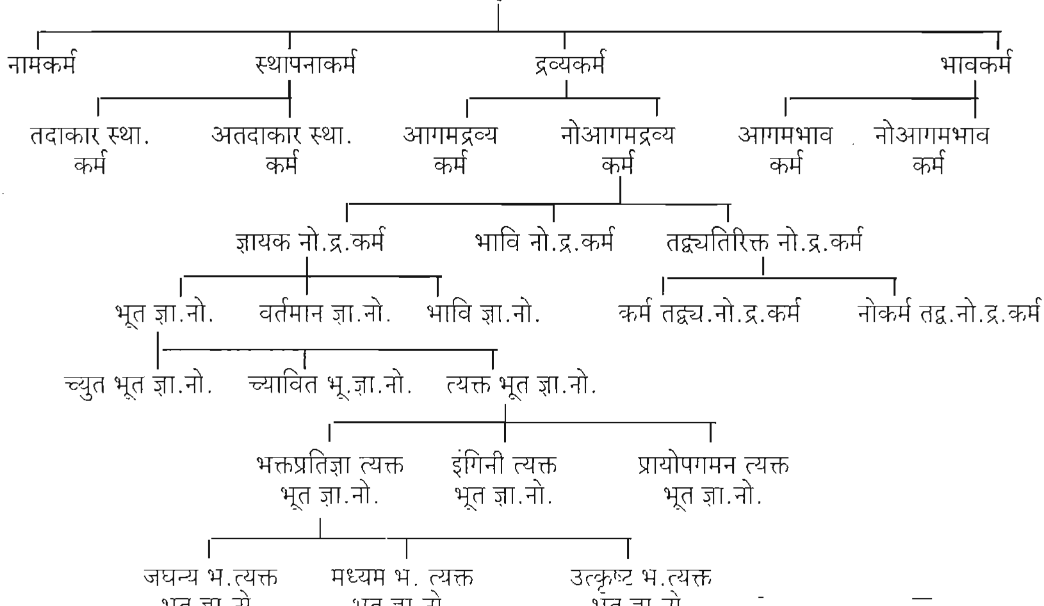

आगे मूल प्रकृतियों और उत्तरप्रकृतियों के नामादिक भेदों का कथन करते हैं–

मूलुत्तरपयडीणं णामादी एवमेव णवरिं तु ।
सगणामेण य णामं ठवणा दवियं हवे भावो ।।६७।।

मूलोत्तरप्रकृतीनां नामादय एवमेव नवरिं तु ।
स्वकनाम्ना च नाम स्थापना द्रव्यं भवेत् भावः।।६७।।

टीका – मूलप्रकृतियां आठ, उत्तरप्रकृतियां एक सौ अड़तालीस । इनके नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव जैसे सामान्य कर्मों का वर्णन किया वैसे ही जानना । विशेष इतना है कि वहां सामान्य कर्मों की अपेक्षा कथन था, यहां जिस जिस प्रकृति का जो जो नामादिक हो, उस-उस अपने नामादिक की अपेक्षा नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव जानना ।।६७।।

पुनश्च और भी विशेष कहते हैं –

मूलुत्तरपयडीणं णामादि चउव्विहं हवे सुगमं ।
वज्जिता णोकम्मं णोआगमभावकम्मं च ।।६८।।

मूलोत्तरप्रकृतीनां नामादि चतुर्विधं भवेत्सुगमं ।
वर्जयित्वा नोकर्म नोआगमभावकर्म च ।।६८।।

टीका – मूलप्रकृतियों और उत्तरप्रकृतियों के नामादि चार प्रकार के निक्षेप सुगम हैं । परंतु नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यकर्म और नोआगमभावकर्म दोनों में विशेष है । इसलिए उनके बिना शेष सब निक्षेपों का व्याख्यान जैसा सामान्य कर्मोंका किया वैसा ही अपने नाम के अनुसार मूलप्रकृतियों तथा उत्तरप्रकृतियों का जानना ।

आगे नोकर्मद्रव्यकर्म और नोआगमभावकर्म इन दोनों को मूलप्रकृतियों और उत्तरप्रकृतियों में जोड़ते हैं । वहां प्रथम ही नोकर्मद्रव्यकर्म को जोड़ते हैं । वहां इतना अर्थ जानना- पहले द्रव्यनिक्षेप के दो भेद किये-आगम, नोआगम । वहां नोआगम द्रव्य के तीन भेद किये - ज्ञायकशरीर, भावि, तद्व्यतिरिक्त । वहां तद्व्यतिरिक्त के दो भेद किये- कर्म, नोकर्म । यहां नोकर्म-तद्व्यतिरिक्त-नोआगम-द्रव्यकर्म का वर्णन सर्व प्रकृतियों में करते हैं । नोकर्म-द्रव्यकर्म शब्द से नोकर्म-तद्व्यतिरिक्त-नोआगम-द्रव्यकर्म जानना । पुनश्च

जिस-जिस प्रकृति का जो जो उदयरूप-फलरूप कार्य है, उस-उस कार्य को जो-जो बाह्यवस्तु कारणभूत हो, वह-वह वस्तु उस-उस प्रकृति का नोकर्मद्रव्यकर्म जानना ॥६८॥

वहां प्रथम ही मूलप्रकृतियों में कहते हैं –

पडपडिहारसिमज्जा आहारं देह उच्चणीचंगं ।
भंडारी मूलाणं णोकम्मं दवियकम्मं तु ॥६९॥

पटप्रतीहारासिमद्यानि आहारं देह उच्चनीचांगं ।
भांडारी मूलानां नोकर्म द्रव्यकर्म तु ॥६९॥

टीका – ज्ञानावरण का नोकर्म-द्रव्यकर्म सपीठ वस्त्र है । क्योंकि जिसतरह ज्ञानावरण विशेष ग्रहणरूप ज्ञान को रोकता है, उसतरह आड़ा सपीठवस्त्र वस्तु के विशेष ग्रहण को रोकता है । दर्शनावरण का नोकर्म-द्रव्यकर्म द्वार में खड़ा द्वारपाल जानना । यह दर्शनावरणवत् राजादि के सामान्य अवलोकन को रोकता है । वेदनीयकर्म का नोकर्म-द्रव्यकर्म शहद से लिपटी खड्ग की धारा जानना क्योंकि वह वेदनीयवत् सुखदुःख का कारण है । मोहनीयकर्म का नोकर्म-द्रव्यकर्म मदिरा है, क्योंकि मोहनीय के समान जीव के सम्यग्दर्शनादि गुणों का घात करती है ।

आयुकर्म का नोकर्म-द्रव्यकर्म चार प्रकार का आहार है, क्योंकि आयुवत् शरीर के बल का कारण होने से शरीर की स्थिति का कारण है । नामकर्म का नोकर्म-द्रव्यकर्म औदारिकादि शरीर हैं, क्योंकि औदारिकादि शरीर योगों के उपजानेवाले हैं । योग नामकर्म के समान औदारिकादि शरीरों के निपजानेवाले हैं । गोत्रकर्म का नोकर्म-द्रव्यकर्म उच्च-नीच शरीर है, क्योंकि गोत्रकर्म के समान उच्च-नीच कुल को प्रकट करता है । अंतरायकर्म का नोकर्म-द्रव्यकर्म भंडारी है, क्योंकि अंतरायवत् भोग-उपभोगरूप वस्तु के विघ्न करने का कारण है । यहां एक-एक वस्तु कहने से वैसी ही अन्य वस्तुयें जान लेना । उदाहरण मात्र एक-एक बस्तु का कथन किया है ॥६९॥

आगे उत्तरप्रकृतियों में कहते हैं –

पडविसयपहुदि दव्वं मदिसुदवाघादकरणसंजुत्तं ।
मतिसुदबोहाणं पुण णोकम्मं दवियकम्मं तु ॥७०॥

पटविषयप्रभृतिद्रव्यं मतिश्रुतव्याघातकरणसंयुक्तं ।
मतिश्रुतबोधयोः पुनः नोकर्म द्रव्यकर्म तु ॥७०॥

टीका – पट अर्थात् वस्त्र आदि से लेकर मतिज्ञान को रोकने की कारणभूत वस्तु मतिज्ञानावरण का नोकर्म-द्रव्यकर्म है । इन्द्रिय विषयों से लेकर श्रुतज्ञान को रोकने को कारणभूत वस्तु श्रुतज्ञानावरण का नोकर्म-द्रव्यकर्म है ॥७०॥

ओहिमणपज्जवाणं पडिघादणिमित्तसंकिलेसयरं ।
जं बज्झट्ठं तं खलु णोकम्मं केवले णत्थि ॥७१॥

अवधिमनःपर्ययो प्रतिघातिनिमित्तसंक्लेशकरः ।
यो बाह्यार्थः स खलु नोकर्म केवले नास्ति ॥७१॥

टीका – अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान का घात करने का कारण संक्लेश परिणाम है । वह संक्लेश परिणाम जिससे हो ऐसा जो बाह्य पदार्थ, वह अवधिज्ञानावरण और मनःपर्ययज्ञानावरण का नोकर्म-द्रव्यकर्म जानना । केवलज्ञानावरण का नोकर्म-द्रव्यकर्म नहीं है, क्योंकि केवलज्ञान क्षायिक है । इसलिए उसका घात करने को कारणभूत संक्लेश परिणामों को उपजानेवाली कोई वस्तु नहीं है । अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान क्षायोपशमिक हैं, इसलिए वहां संभव है ॥७१॥

पंचण्हं णिद्दाणं माहिसदहिपहुदि होदि णोकम्मं ।
वाघादकरपडादी चक्खुअचक्खूण णोकम्मं ॥७२॥

पंचानां निद्राणां माहिषदधिप्रभृति भवति नोकर्म ।
व्याघातकरपटादि चक्षुरचक्षुषोर्नोकर्म ॥७२॥

टीका – पांच निद्रारूप दर्शनावरण का **'माहिषदधि'** अर्थात् भैंस के दहि से लेकर लहसुन, खलि आदि वस्तुयें नोकर्म-द्रव्यकर्म हैं । क्योंकि ये वस्तुयें निद्रा का कारण हैं । चक्षु-अचक्षुदर्शन को रोकनेवाली वस्त्रादिक वस्तुयें चक्षु-अचक्षुदर्शनावरण का नोकर्म-द्रव्यकर्म हैं ॥७२॥

ओहीकेवलदंसण णोकम्मं ताण णाणभंगो व ।
सादेदरणोकम्मं इट्ठाणिट्ठण्णपाणादी ॥७३॥

अवधिकेवलदर्शन नोकर्म तयोर्ज्ञानभंगो वा ।
सातेतरनोकर्म   इष्टानिष्टान्नपानादि ॥७३॥

टीका – अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण का नोकर्म-द्रव्यकर्म अवधिज्ञान और केवलज्ञानवत् जानना । सातावेदनीय का नोकर्म-द्रव्यकर्म इष्ट-सुहावने अन्नपानादिक पदार्थ जानना, असातावेदनीय का नोकर्म-द्रव्यकर्म अनिष्ट-असुहावने अन्नपानादिक पदार्थ जानना ॥७३॥

आयदणाणायदणं सम्मे मिच्छे य होदि णोकम्मं ।
उभयं सम्मामिच्छे णोकम्मं होदि णियमेण ॥७४॥

आयतनानायतनं सम्यक्त्वे मिथ्यात्वे च भवति नोकर्म ।
उभयं सम्यग्मिथ्यात्वे नोकर्म भवति नियमेन ॥७४॥

टीका – आयतन अर्थात् जिन, जिनमंदिर, जिनागम, जिनागम के धारक, तप, तप के धारक ये सम्यक्त्व प्रकृति के नोकर्म-द्रव्यकर्म हैं । क्योंकि ये सम्यक्त्व के चल, मलिन, अगाढ़पने के कारण हैं । इन्हीं के बारे में अनेक विकल्प करके वेदक सम्यग्दृष्टि चल, मलिन, अगाढ़ होता है । पुनश्च अनायतन जो कुदेव, कुदेव का मंदिर, कुशास्त्र, कुशास्त्र के धारक, कुतप, कुतप के धारक ये मिथ्यात्व प्रकृति के नोकर्म-द्रव्यकर्म हैं, क्योंकि ये सम्यक्त्व के घातक हैं । पुनश्च आयतन और अनायतन दोनों का मिश्रपना सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के नोकर्म-द्रव्यकर्म है ऐसा नियम से अवधारण करना ॥७४॥

अणणोकम्मं मिच्छत्तायदणादी हु होदि सेसाणं ।
सगसगजोग्गं सत्थं सहायपहुदी हवे णियमा ॥७५॥

अननोकर्म मिथ्यात्वायतनादि हि भवति शेषाणां।
स्वकस्वकयोग्यं शास्त्रं सहायप्रभृति भवेन्नियमात् ॥७५॥

टीका – अनंतानुबंधी कषाय के नोकर्म-द्रव्यकर्म मिथ्यात्व-आयतन कुदेवादि हैं। अवशेष बारह कषायों के नोकर्म-द्रव्यकर्म अनुक्रम से देशचारित्र, सकलचारित्र, यथाख्यात चारित्र के घातक काव्यग्रन्थ, नाटकग्रन्थ, कोकादिग्रन्थ तथा पापी पुरुषों का सहाय इत्यादि नियम से जानना ॥७५॥

थीपुंसंढसरीरं ताणं णोकम्म दव्वकम्मं तु ।
वेलंबको सुपुत्तो हस्सरदीणं च णोकम्मं ।।७६।।

स्त्रीपुंषंढ शरीरं तेषां नोकर्मद्रव्यकर्म तु ।
विडंबकः सुपुत्रः हास्यरत्योश्च नोकर्म ।।७६।।

टीका – स्त्रीवेद और पुरुषवेद का नोकर्म-द्रव्यकर्म स्त्री और पुरुष का शरीर है । नपुंसकवेद का नोकर्म-द्रव्यकर्म स्त्री-पुरुष का शरीर या नपुंसक शरीर है । हास्य का नोकर्म-द्रव्यकर्म विडंबनारूप भूत या बहुरूपिया तथा हंसने के पात्र आदि हैं । रति का नोकर्म-द्रव्यकर्म अच्छे पुत्रादिक जानना ।।७६।।

इट्ठाणिट्ठविजोगं जोगं अरदिस्स मुदसुपुत्तादी ।
सोगस्स य सिंहादी णिंदिददव्वं च भयजुगले ।।७७।।

इष्टानिष्टवियोगोयोगः अरतेर्मृतसुपुत्रादयः ।
शोकस्य च सिंहादयः निंदितद्रव्यं च भययुगले ।।७७।।

टीका – इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग अरति का नोकर्म-द्रव्यकर्म है । सुपुत्रादि का मरना आदि शोक का नोकर्म-द्रव्यकर्म है । सिंहादि भयकारी वस्तु भय का नोकर्म-द्रव्यकर्म है । निंदित वस्तु आदि जुगुप्सा का नोकर्म-द्रव्यकर्म है ।।७७।।

णिरयायुस्स अणिट्ठाहारो सेसाणामिट्ठमण्णादी ।
गदिणोकम्मं दव्वं चउग्गदीणं हवे खेत्तं ।।७८।।

नरकायुषोऽनिष्टाहारः शेषाणामिष्टमन्नादयः ।
गतिनोकर्म द्रव्यं चतुर्गतीनां भवेत् क्षेत्रं ।।७८।।

टीका – नरकायु का नोकर्म-द्रव्यकर्म अनिष्ट आहार – नरक की विषरूप मिट्टी है । अवशेष तीन आयु का नोकर्म-द्रव्यकर्म इष्ट अन्नादिक वस्तु है । आहार शरीर की स्थिति का कारण है, इसलिए आयु का नोकर्म-द्रव्यकर्म आहार कहा । पुनश्च सामान्यपने से गति नामकर्म का नोकर्म-द्रव्यकर्म चतुर्गति का क्षेत्र जानना ।।७८।।

णिरयादीण गदीणं णिरयादी खेतयं हवे णियमा ।
जाईए णोकम्मं दव्विंदियपोग्गलं होदि ॥७९॥

निरयादीनां गतीनां निरयादिक्षेत्रकं भवेन्नियमात् ।
जातेर्नोकर्म द्रव्येंद्रियपुद्गलो भवति ॥७९॥

टीका – नरकादि गतियों का नोकर्म-द्रव्यकर्म नियम से अपनी अपनी गति का क्षेत्र जानना । गति के उदय से हुये नारकादि पर्यायों का उस क्षेत्र के बिना अन्यत्र अभाव है, इसलिए क्षेत्र को नोकर्म-द्रव्यकर्म कहा । जाति नामकर्म का नोकर्म-द्रव्यकर्म द्रव्येन्द्रियरूप पुद्गल है ॥७९॥

एइंदियमादीणं सगसगदव्विंदियाणि णोकम्मं ।
देहस्स य णोकम्मं देहुदयजदेहखंधाणि ॥८०॥

एकेंद्रियादीनां स्वकस्वकद्रव्येंद्रियाणि नोकर्म ।
देहस्य च नोकर्म देहोदयजदेहस्कंधाः ॥८०॥

टीका – एकेन्द्रियादि जाति का नोकर्म-द्रव्यकर्म अपने अपने द्रव्येन्द्रिय जानना। शरीर नामकर्म का नोकर्म-द्रव्यकर्म अपने अपने उदय से हुये शरीर-स्कंधरूप पुद्गल जानना ॥८०॥

ओरालियवेगुव्विय आहारयतेजकम्मणोकम्मं ।
ताणुदयजचउदेहा कम्मे विस्संचयं णियमा ॥८१॥

औदारिकवैगुर्विकाहारकतेजःकर्मनोकर्म ।
तेषामुदयजचतुर्देहाः कर्मणि विस्रसोपचयो नियमात् ॥८१॥

टीका – औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तेजस शरीर नामकर्मों का नोकर्म-द्रव्यकर्म अपने अपने उदय से प्राप्त हुयी शरीरवर्गणा है, क्योंकि वर्गणा शरीर का कारण है । कार्माणशरीर नामकर्म का नोकर्म-द्रव्यकर्म विस्रसोपचय है, क्योंकि विस्रसोपचयरूप परमाणु कर्म के कारण हैं ॥८१॥

बंधणपहुदिसमण्णिय सेसाणं देहमेव णोकम्मं ।
णवरि विसेसं जाणे सगखेत्तं आणुपुव्वीणं ॥८२॥

बंधनप्रभृतिसमन्वित शेषाणां देहमेव नोकर्म ।
नवरि विशेषं जानीहि स्वकक्षेत्रमानुपूर्वीणां ॥८२॥

टीका – बंधन से लेकर पुद्गलविपाकी प्रकृतियों से युक्त पूर्वोक्त से शेष रही जीवविपाकी नामकर्म की प्रकृतियों का नोकर्म-द्रव्यकर्म शरीर है, क्योंकि उन प्रकृतियों द्वारा किये गये जीव और पुद्गल के भाव तथा सुखादिरूप कार्य, उनका उपादान कारण शरीर संबंधी वर्गणा ही है । क्षेत्रविपाकी आनुपूर्वी प्रकृतियों का नोकर्म-द्रव्यकर्म अपना-अपना क्षेत्र ही है । इतना नवीन विशेष जानिये ॥८२॥

थिरजुम्मस्स थिराथिर रसरुहिरादीणि सुहजुगस्स सुहं ।
असुहं देहावयवं सरपरिणदपोग्गलाणि सरे ॥८३॥

स्थिरयुग्मस्य स्थिरास्थिर रसरुधिरादयः शुभयुगस्य शुभः ।
अशुभो देहावयवः स्वरपरिणतपुद्गलाः स्वरे ॥८३॥

टीका – स्थिर का स्थिर रस-रुधिरादिक, अस्थिर का अस्थिर रस-रुधिरादिक, शुभ प्रकृति का शुभ शरीर के अवयव, अशुभ प्रकृति का अशुभ शरीर के अवयव, स्वर प्रकृति का सुस्वर, दुस्वररूप परिणत पुद्गल स्कंध नोकर्म-द्रव्यकर्म जानना ॥८३॥

उच्चस्सुच्चं देहं णीचं णीचस्स होदि णोकम्मं ।
दाणादिचउक्काणं विग्घगणगपुरिसपहुदी हु ॥८४॥

उच्चस्योच्चं देहं नीचं नीचस्य भवति नोकर्म ।
दानादिचतुर्णां विघ्नकनगपुरुषप्रभृतयो हि ॥८४॥

टीका – उच्चगोत्र का नोकर्म-द्रव्यकर्म उच्च लोकपूजित कुल में उत्पन्न शरीर जानना । नीचगोत्र का नोकर्म-द्रव्यकर्म नीच कुल में उत्पन्न शरीर है । दानादि चार अंतराय के नोकर्म-द्रव्यकर्म दानादि में विघ्न करनेवाले पर्वत, नदी, पुरुष, स्त्री इत्यादि जानने ॥८४॥

विरियस्स य णोकम्मं रुक्खाहारादि बलहरं दव्वं ।
इदि उत्तरपयडीणं णोकम्मं दव्वकम्मं तु ॥८५॥

वीर्यस्य च नोकर्म रूक्षाहारादिबलहरं द्रव्यं ।
इत्युत्तरप्रकृतीनां नोकर्म द्रव्यकर्म तु ॥८५॥

टीका – वीर्यांतराय का नोकर्म-द्रव्यकर्म रूखे आहार से लेकर बल का नाश करनेवाली वस्तुयें जानना । इसतरह उत्तरप्रकृतियों के नोकर्म-तद्व्यतिरिक्त-नोआगम-द्रव्यकर्म कहे हैं ॥८५॥

आगे नोआगम भावकर्म कहते हैं –

णोआगमभावो पुण सगसगकम्मफलसंजुदो जीवो ।
पोग्गलविवाइयाणं णत्थि खु णोआगमो भावो ॥८६॥

नोआगमभावः पुनः स्वकस्वककर्मफलसंयुतो जीवः ।
पुद्गलविपाकिनां नास्ति खलु नोआगमो भावः ॥८६॥

टीका – जिस जिस प्रकृति का जो जो फल है, उस उस अपने अपने फल को भोगनेवाला जीव उस-उस प्रकृति का नोआगम-भावकर्म जानना । जो पुद्गलविपाकी प्रकृतियां हैं उनका नोआगम-भावकर्म नहीं है क्योंकि उनका उदय होनेपर भी जीवविपाकी प्रकृतियां की सहाय बिना साक्षात् सुखादि की उत्पत्ति नहीं होती ।

इसतरह सामान्यकर्म, मूलप्रकृतियां, उत्तरप्रकृतियां इनमें नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव चार निक्षेप कहकर यथार्थ स्वरूप दिखाया है ॥८६॥

इति आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती विरचित गोम्मटसार द्वितीय नाम पंचसंग्रह ग्रंथ की जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका के अनुसार सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाषाटीका में कर्मकाण्ड में प्रकृतिसमुत्कीर्तन नामक पहला अधिकार समाप्त हुआ ।

बंधोदयसत्त्वाधिकार ॥२॥

॥ दोहा ॥

बंध उदय सत्ता सहित, अहित-कर्म करि नाश ।
भए ज्ञान परकाशमय, नमौं तासु हुइ दास ॥

णमिऊण णेमिचंदं असहायपरक्कमं महावीरं ।
बंधुदयसत्तजुत्तं ओघादेसे थवं वोच्छं ॥८७॥

नत्वा नेमिचंद्रमसहायपराक्रमं महावीरं ।
बंधोदयसत्त्वयुक्तमोघादेशे स्तवं वक्ष्यामि ॥८७॥

टीका – **'अहं'** अर्थात् मैं- ग्रंथकर्ता **नेमिचन्द्र** अर्थात् नेमिनाथ नामक तीर्थंकर परमदेव वे ही हुये चन्द्रमा, उन्हें **'नत्वा'** अर्थात् नमस्कार करके **'ओघादेशेषु'** अर्थात् गुणस्थान और मार्गणास्थानों में **'बंधोदयसत्त्वयुक्तं'** अर्थात् कर्मों के बंध, उदय, सत्त्व का प्रतिपादक जो **स्तवं** अर्थात् सकल अंगों संबंधी अर्थ जिसमें पाया जाता है ऐसे स्तवरूप ग्रंथ को **'वदिष्ये'** अर्थात् कहूंगा या करूंगा । कैसे है नेमिचन्द्र ? **'महावीरं'** अर्थात् वंदनेवालों के समूह को मनवांछित अर्थ के दाता है । और कैसे है ? **'असहायपराक्रमं'** अर्थात् कर्मवैरी के जीतने में जिसके अन्य कोई सहाय नहीं है ऐसा जो रत्नत्रय स्वरूप निजभावना की सामर्थ्यरूप पराक्रम । ऐसा असहायपराक्रम जिनके पाया जाता है ऐसे नेमिनाथ तीर्थंकर परमदेव को नमस्कार करके बंध, उदय, सत्ता के प्रतिपादक स्तव को मैं कहूंगा । इसतरह आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं ॥८७॥

स्तव क्या है ? वह कहते हैं –

सयलंगेक्कंगेक्कंगहियार सवित्थरं ससंखेवं ।
वण्णणसत्थं थयथुइ धम्मकहा होइ णियमेण ॥८८॥

सकलांगैकांगैकांगमधिकारं सविस्तरं ससंक्षेपं ।
वर्णनशास्त्रं स्तवस्तुति धर्मकथा भवति नियमेन ॥८८॥

टीका – सकल अंगों संबंधी अर्थ विस्तारसहित वा संक्षेप सहित जिसमें पाया जाता है ऐसे शास्त्र को स्तव कहते हैं । पुनश्च एक अंग संबंधी अर्थ विस्तारसहित वा संक्षेपसहित जिसमें पाया जाता है ऐसे शास्त्र को स्तुति कहते हैं । एक अंग के अधिकार संबंधी अर्थ विस्तारसहित वा संक्षेपसहित जिसमें पाया जाता है ऐसे शास्त्र को वस्तु कहते हैं । पुनश्च प्रथमानुयोगादिरूप शास्त्र को नियम से धर्मकथा कहते हैं। यहां बंध, उदय, सत्तारूप कर्म के कथन में सकल अंगों संबंधी अर्थ विस्तारसहित वा संक्षेपसहित कहेंगे इसलिए स्तव कहते हैं ॥८८॥

वहां प्रथम ही बंध का कथन करते हैं । वहां बंध के भेदों को कहते हैं–

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधोत्ति चदुविहो बंधो ।
उक्कस्समणुक्कस्सं जहण्णमजहण्णगं त्ति पुधं ॥८९॥

प्रकृतिस्थित्यनुभाग प्रदेशबंध इति चतुर्विधो बंधः ।
उत्कृष्टोऽनुत्कृष्टः जघन्योऽजघन्यक इति पृथक् ॥८९॥

टीका – बंध चार प्रकार का है – प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध, प्रदेशबंध। वहां यथायोग्य मूलप्रकृतियों तथा उत्तरप्रकृतियों का जीव के साथ संबंध होना प्रकृतिबंध है । उन प्रकृतियों के जीव के साथ संबंधरूप रहने के काल का जो प्रमाण है, वह स्थितिबंध है । उन प्रकृतियों में फल देने की जो शक्ति है, वह अनुभागबंध है । उन प्रकृतिरूप परिणमित पुद्गल परमाणुओं का जो प्रमाण है, वह प्रदेशबंध है। पुनश्च पृथक् कहनेपर एक एक बंध चार प्रकार का है – उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, अजघन्य, जघन्य । वहां सबसे अधिक हो उसे उत्कृष्ट कहते हैं तथा उत्कृष्ट से जो हीन है उसे अनुत्कृष्ट कहते हैं । पुनश्च जघन्य से जो अधिक है, उसे अजघन्य कहते हैं तथा सबसे थोड़ा हो उसे जघन्य कहते हैं ॥८९॥

आगे उत्कृष्टादि के भी भेद करते हैं –

सादिअणादी धुव अद्धुवो य बंधो दु जेट्ठमादीसु ।
णाणेगं जीवं पडि ओघादेसे जहाजोग्गं ॥९०॥

साद्यनादि ध्रुवोऽध्रुवश्च बंधस्तु ज्येष्ठादिषु ।
नानैकं जीवं प्रति ओघादेशे यथायोग्यं ॥९०॥

टीका – पुनश्च उत्कृष्टादि कर्मों में चार प्रकार हैं – सादिबंध, अनादिबंध, ध्रुवबंध, अध्रुवबंध । वहां विवक्षित बंध का बीच में अभाव होकर पुनश्च यदि बंध हो, तो वह सादिबंध है । अनादि से जिस विवक्षित बंध का कभी अभाव न हुआ हो वह अनादिबंध है । निरंतर बंध हुआ करे वह ध्रुवबंध है । अंतर सहित बंध हो वह अध्रुवबंध है । इसतरह के बंध नाना जीवों की अपेक्षा और एक जीव की अपेक्षा गुणस्थानों और मार्गणास्थानों में यथायोग्य जानना ॥९०॥

ठिदिअणुभागपदेसा गुणपडिवण्णेसु जेसिमुक्कस्सा ।
तेसिमणुक्कस्सो चउव्विहोऽजहण्णेवि एमेव ॥९१॥

स्थित्यनुभागप्रदेशा गुणप्रतिपन्नेषु येषामुत्कृष्टाः ।
तेषामनुत्कृष्टश्चतुर्विधोऽजघन्येषु एवमेव ॥९१॥

टीका – **'गुणप्रतिपन्नेषु'** अर्थात् मिथ्यादृष्टि सासादनादि ऊपर-ऊपर गुणस्थानवर्ती जीवों में जिन कर्मों का उत्कृष्ट स्थिति-अनुभाग-प्रदेश बंध पाया जाता है उन्हीं कर्मों का अनुकृष्ट स्थिति, अनुभाग, प्रदेशबंध सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव भेद से चार प्रकार का होता है । उसीप्रकार अजघन्य भी अनुत्कृष्टवत् चार प्रकार का होता है । जिन कर्मों का स्थिति-अनुभाग-प्रदेशबंध ऊपर के गुणस्थानों में जघन्य पाया जाता है, इनका ही अजघन्य बंध चार प्रकार का होता है ।

इनका लक्षण आगे कहेंगे तथापि यहां भी उदाहरण मात्र कुछ कहते हैं – उपशमश्रेणी चढ़नेवाला जीव सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवर्ती हुआ वहां उच्चगोत्र का उत्कृष्ट अनुभागबंध करके पश्चात् उपशांतकषाय गुणस्थानवर्ती हुआ । वहां से उतरकर सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवर्ती हुआ वहां उच्चगोत्र का अनुत्कृष्ट अनुभागबंध किया । वहां उच्चगोत्र के इस अनुत्कृष्ट अनुभागबंध को सादि कहते हैं क्योंकि उच्चगोत्र के अनुत्कृष्ट अनुभागबंध का अभाव होकर पुनश्च सद्भाव हुआ, इसलिए इसे सादि कहते हैं । सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान से नीचे के गुणस्थानवर्ती जीवों के वह (अनुत्कृष्ट) बंध अनादि है । अभव्य में वह बंध ध्रुव है । उपशमश्रेणीवाले के जहां अनुत्कृष्ट को छोड़कर उत्कृष्ट बंध होता है वहां वह अध्रुव है । इसतरह उच्चगोत्र के अनुत्कृष्ट अनुभागबंध में सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव चार प्रकार कहे ।

इसीतरह अजघन्य भी चार प्रकार का है, वह कहते हैं ।

सप्तम नरक पृथ्वी में प्रथमोपशम सम्यक्त्व के सन्मुख हुआ मिथ्यादृष्टि जीव वहां मिथ्यादृष्टि (मिथ्यात्व) गुणस्थान के अंतिम समय में नीचगोत्र के जघन्य अनुभाग को बांधता है । वह जीव सम्यग्दृष्टि होकर पश्चात् मिथ्यात्व के उदय से मिथ्यादृष्टि हुआ, वहां नीचगोत्र के अजघन्य अनुभाग को बांधता है । वहां इस नीचगोत्र के अजघन्य अनुभागबंध को सादि कहते हैं । उस मिथ्यादृष्टि के उस अंतिम समय के पहले वह बंध अनादि है । अभव्य जीव के वह बंध ध्रुव है । वहां अजघन्य को छोड़कर जघन्य प्राप्त हुआ वहां वह बंध अध्रुव है । इसतरह नीचगोत्र के अजघन्य अनुभागबंध में सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव चार प्रकार कहे । इसीतरह यथासंभव अन्य बंध में भी सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव चार प्रकार जानने । प्रकृतिबंध में उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट अजघन्य, जघन्य भेद नहीं हैं । स्थितिबंध, अनुभागबंध तथा प्रदेशबंध में वे भेद यथायोग्य जानने ॥९१॥

आगे गुणस्थानों में प्रकृतिबंध का नियम कहते हैं –

सम्मेव तित्थबंधो आहारदुगं पमादरहिदेसु ।
मिस्सूणे आउस्स य मिच्छादिसु सेसबंधो दु ॥९२॥

सम्यक्त्वे एव तीर्थबंध आहारद्विकं प्रमादरहितेषु ।
मिश्रोने आयुषश्च मिथ्यात्वादिषु शेषबंधस्तु ॥९२॥

टीका – तीर्थंकर प्रकृति का बंध असंयत से लेकर अपूर्वकरण के छठवें भाग तक सम्यग्दृष्टियों में ही होता है । आहारक, आहारक अंगोपांग का बंध अप्रमत्त से लेकर अपूर्वकरण के छठवें भाग तक प्रमाद रहित गुणस्थानों में ही होता है । आयुकर्म का बंध मिश्र गुणस्थान तथा निर्वृत्तिअपर्याप्त अवस्था को प्राप्त मिश्रकाययोग इनको छोड़कर अवशेष मिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्त तक के गुणस्थानों में होता है, अपूर्वकरणादि में आयु का बंध नहीं है । इन प्रकृतियों के बिना शेष प्रकृतियों का बंध मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में अपनी-अपनी बंध की व्युच्छित्ति तक जानना ॥९२॥

वहां तीर्थंकर प्रकृति के बंध का विशेष नियम कहते हैं –

पढमुवसमये सम्मे सेसतिये अविरदादिचत्तारि ।
तित्थयरबंधपारंभया णरा केवलिदुगंते ॥९३॥

प्रथमोपशमे सम्यक्त्वे शेषत्रये अविरतादिचत्वारः ।
तीर्थकरबंधप्रारंभका नराः केवलिद्विकांते ॥९३॥

टीका – प्रथमोपशम सम्यक्त्व में या अवशेष द्वितीयोपशम, क्षायोपशमिक, क्षायिक सम्यक्त्व में असंयत से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तक मनुष्य ही तीर्थंकर प्रकृति के बंध को प्रारंभ करता है । वह भी प्रत्यक्ष केवली या श्रुतकेवली के चरणों के निकट ही करता है ।

यहां प्रथमोपशम सम्यक्त्व को जुदा कहने का अभिप्राय यह है कि कई आचार्यों का मत ऐसा है कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व का काल थोड़ा है – अंतर्मुहूर्त मात्र है, इसलिए यहां षोडशकारण भावना भायी नहीं जा सकती, इसलिए प्रथमोपशम सम्यक्त्व में तीर्थंकर प्रकृति के बंध का प्रारंभ नहीं है, इस अभिप्राय को सोचकर जुदा लिखा है । पुनश्च मनुष्य कहने का अभिप्राय यह है कि अन्य गतिवाले जीव तीर्थंकर प्रकृति के बंध का प्रारंभ नहीं करते, क्योंकि अन्य गतिवाले जीवों के विशिष्ट विचार, क्षयोपशमादि सामग्री का अभाव है, इसलिए प्रारंभ तो मनुष्य में ही है । तीर्थंकर प्रकृति का बंध तिर्यंच बिना तीन गतियों में पाया जाता है, क्योंकि पहले तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो उसे प्रारंभ कहते हैं, उस समय से लेकर प्रतिसमय समयप्रबद्धरूप बंध में तीर्थंकर प्रकृति का भी बंध हुआ करे तो उत्कृष्टपने से अंतर्मुहूर्त अधिक आठ वर्ष से हीन दो करोड पूर्व अधिक तैंतीस सागर प्रमाण काल तक बंध होता है । केवली के निकट कहने का अभिप्राय यह है कि अन्यत्र ऐसी विशुद्धि नहीं होती जिससे तीर्थंकर प्रकृति के बंध का प्रारंभ हो ।

*(**विशेषार्थ** – ऊपर जो उत्कृष्ट काल बताया है वह इसप्रकार घटित होता है – एक करोड पूर्व की आयुवाले मनुष्य ने आठ वर्ष और अंतर्मुहूर्त में सम्यक्त्व प्राप्त कर या जो सम्यक्त्व के साथ जन्मा है उसने वहां तीर्थंकर प्रकृति का बंध प्रारंभ किया । संयम धारण करके मरकर सर्वार्थसिद्धि में तैंतीस सागर का देव हुआ वहां से चयकर करोड पूर्व की आयुवाला मनुष्य हो यथायोग्य काल में संयम धारणकर आयु के अंत में ~~अंतर्मुहूर्त~~ वर्ष पृथक्त्व शेष रहनेपर क्षपकश्रेणी पर आरोहन किया । अपूर्वकरण के छठवें भाग तक लगातार-निरंतर बंध होता रहा ।)*

आगे गुणस्थानों में बंध की व्युच्छित्ति, बंध और अबंध कहते हैं ।

वहां जिस गुणस्थान में जितनी प्रकृतियों की व्युच्छित्ति कही हो, उन प्रकृतियों

का उस गुणस्थान के अंत समय तक बंध जानना । उसके ऊपर के गुणस्थानों में उन प्रकृतियों का बंध न जानना । पुनश्च जिस गुणस्थान में जितनी प्रकृतियों का बंध कहा हो, उतनी प्रकृतियों का वहां बंध जानना । पहले-पहले गुणस्थान में जितना बंध कहा हो उसमें से वहीं पर जितनी व्युच्छित्ति कही हो उसे घटानेपर आगे-आगे के गुणस्थानों में बंध का प्रमाण होता है ।

वहां यदि कोई विशेष प्रकृतियां आगे के गुणस्थानों में बंधयोग्य होगी तो उन प्रकृतियों को पहले गुणस्थानों के बंध में से घटा देना तथा पश्चात् जहां आ मिले वहां बंध में बढ़ा देना । पुनश्च जितनी प्रकृतियां बंध होनेयोग्य होती हैं उतनी प्रकृतियों में से जितनी प्रकृतियों का बंध कहा हो, उतनी प्रकृतियां घटानेपर अवशेष जितनी प्रकृतियां रहेगी, उतनी प्रकृतियां अबंधरूप जाननी ॥९३॥

यहां प्रथम ही गुणस्थानों में व्युच्छित्ति कहते हैं –

सोलस पणवीस णभं दस चउ छक्केक्क बंधवोच्छिण्णा ।
दुग तीस चदुरपुव्वे पण सोलस जोगिणो एक्को ॥९४ ॥

षोडश पंचविंशतिः नभः दश चतस्रः षडेकैकं बंधव्युच्छिन्नाः ।
द्विके त्रिंशत् चतस्रः अपूर्वे पंच षोडश योगिन एका ॥९४॥

टीका – मिथ्यात्व गुणस्थान में सोलह प्रकृतियां बंध से व्युच्छित्तिरूप होती हैं । मिथ्यात्व में तो इनका बंध है, सासादनादि ऊपर के गुणस्थानों में इनका बंध नहीं है, इसीतरह सर्वत्र व्युच्छित्ति का स्वरूप जानना । सासादन में पच्चीस प्रकृतियां व्युच्छित्तिरूप होती हैं । मिश्र में 'शून्य' कहने से व्युच्छित्ति का अभाव है । असंयत में दस, देशसंयत में चार, प्रमत्त में छह, अप्रमत्त में एक, अपूर्वकरण के सात भागों में से पहले भाग में दो, दूसरे से पांचवें भाग तक शून्य, छठवें भाग में तीस, सातवें भाग में चार, अनिवृत्तिकरण में पांच, सूक्ष्मसाम्पराय में सोलह, उपशांतमोह-क्षीणमोह में शून्य-नास्ति, सयोगकेवली में एक, अयोगकेवली में बंध भी नहीं और व्युच्छित्ति भी नहीं है ।

वहां व्युच्छित्ति के कथन में दो नय हैं – एक उत्पादानुच्छेद, एक अनुत्पादानुच्छेद।

वहां उत्पादानुच्छेद नाम द्रव्यार्थिकनय का है । इस नय के अभिप्राय से तो

जहां अस्तित्व है वहीं पर विनाश कहते हैं, क्योंकि जहां अस्तित्व ही नहीं वहां बुद्धि में कैसे आये ? जब बुद्धि में नहीं आयेगा, तब वचन से अगोचर होनेपर अभाव है इसतरह का व्यवहार कैसे किया जा सकता है ? अभाव कोई पदार्थ नहीं है क्योंकि अभाव को जाननेवाला सम्यग्ज्ञान नहीं है – प्रमाण नहीं है । प्रमाण हैं वे अस्तित्वरूप वस्तु ही को जानते हैं, उनकी नास्तित्वरूप वस्तु में कैसी प्रवृत्ति होगी? यदि उनकी नास्तित्वरूप वस्तु में भी प्रवृत्ति हो जाये तो गर्दभ के सींग नास्तित्वरूप हैं, उनमें भी सम्यग्ज्ञान की प्रवृत्ति होगी परंतु वह तो बनता नहीं । इसलिए जहां अस्तित्व पाया जाये वहीं पर नास्तित्व कहना योग्य है ।

पुनश्च 'अनुत्पादानुच्छेद' नाम पर्यायार्थिक नय का है । इस नय के अभिप्राय से जहां सत्त्व न हो वहीं पर अभाव कहते हैं, क्योंकि सद्भाव के होते हुये अभाव का विरोध है । पुनश्च सद्भाव के निषेध बिना अभाव होता नहीं । ऐसा भी नहीं है कि कर्मों का नाश नहीं है क्योंकि घाति-अघाति कर्म सर्वत्र नहीं पाये जाते । पुनश्च सद्भाव है वह अभावरूप नहीं है, क्योंकि सद्भाव का और अभाव का परस्पर विरोध है । इसलिए जहां नास्तित्व पाया जाये वहीं पर नास्तित्व कहना योग्य है। स्याद्वादमत में दोनों नय अविरोधी हैं, इसलिए यहां व्युच्छित्ति के कथन में द्रव्यार्थिकनयरूप उत्पादानुच्छेद की अपेक्षा कथन है । 'उत्पाद' अर्थ विद्यमान अस्तित्व, उसका 'अनुच्छेद' अर्थात् दूर होना जिसमें नहीं है ऐसा द्रव्यार्थिकनय है । इसतरह इस नय की अपेक्षा अपने-अपने गुणस्थान के अंतिम समय में व्युच्छित्ति कही । पुनश्च यदि पर्यायार्थिकनय कहे तो, उस अंतिम समय के पश्चात् जो अनंतर समय हो वहां उन प्रकृतियों का नाश कहते हैं ।

जैसे लौकिक व्यवहार में भी हम देखते हैं कि कोई पुरुष एक शहर में साथ थे । उनमें से एक पुरुष अन्य शहर गया । वहां उसे पूछा कि तुम कहां बिछुड़ गये, तब उसने कहा कि मैं अमुक शहर में बिछुड़ गया था । जहां उनका संयोग था वहीं बिछुड़ना कहा । वैसे यहां भी व्युच्छित्ति का स्वरूप जानना । यह तो द्रव्यार्थिकनय का अभिप्राय है । पुनश्च उसी पुरुष ने पूछनेपर ऐसा कहा कि मैं अमुक शहर को छोड़कर इस शहर में आया तब उनसे बिछुड़ गया । इसतरह इस कथन में जहां उसके संयोग का अभाव हुआ वहीं पर बिछुड़ना कहा । उसतरह अबंध में बंध का अभाव जानना, यहां पर्यायार्थिकनय का अभिप्राय है ॥९४॥

आगे उन्हीं व्युच्छित्तिरूप प्रकृतियों के नाम आठ गाथाओं द्वारा कहते हैं –

मिच्छत्तहुंडसंढाऽसंपत्तेयक्खथावरादावं ।
सुहुमतियं वियलिंदी णिरयदुणिरयाउगं मिच्छे ॥९५॥

मिथ्यात्वहुंडषंढा संप्राप्तैकाक्षस्थावरातपः ।
सूक्ष्मत्रयं विकलेंद्रियं निरयद्विनिरयायुष्कं ॥९५॥

टीका – मिथ्यात्व, हुंडक संस्थान, नपुंसकवेद, असंप्राप्तासृपाटिका संहनन, एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, विकलत्रय तीन -द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, नरकगति-नरकगत्यानुपूर्वी ये नरकद्विक और नरकायु इन सोलह प्रकृतियों के बंध का कारण मिथ्यात्व ही का उदय है । इसलिए ये प्रकृतियां मिथ्यात्व गुणस्थान के अंत समय में व्युच्छित्तिरूप हुयी ॥९५॥

विदियगुणे अणथीणति दुभगतिसंठाणसंहिदचउक्कं ।
दुग्गमणित्थीणीचं तिरियदुगुज्जोवतिरियाऊ ॥९६॥

द्वितीयगुणे अनस्त्यानत्रयदुर्भगत्रयसंस्थानसंहतिचतुष्कं ।
दुर्गमनस्त्रीनीचं तिर्यग्द्विकोद्योततिर्यगायुः ॥९६॥

टीका – दूसरे सासादन गुणस्थान के अंत समय में अनंतानुबंधी चार, स्त्यानगृद्धि-निद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचला ये तीन, दुर्भग-दुस्वर-अनादेय ये तीन, न्यग्रोधपरिमंडल-स्वाति-कुब्जक-वामन ये चार संस्थान, वज्रनाराच-नाराच-अर्धनाराच-कीलित ये चार संहनन, अप्रशस्त विहायोगति, स्त्रीवेद, नीचगोत्र, तिर्यंचगति और तिर्यंचगत्यानुपूर्वी ये तिर्यंचद्विक, उद्योत, तिर्यंचायु ये पच्चीस प्रकृतियां व्युच्छित्तिरूप होती हैं । ये प्रकृतियां अनंतानुबंधी के उदय बिना मिथ्यादृष्टि में केवल मिथ्यात्व से भी बंधती हैं और सासादन में मिथ्यात्व के उदय बिना केवल अनंतानुबंधी से भी बंधती हैं, इसलिए इनका कारण मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी दोनों जानना । मिश्र गुणस्थान में बंध की व्युच्छित्ति शून्य है, किसी भी प्रकृति की व्युच्छित्ति नहीं है ॥९६॥

*(**विशेषार्थ** – ऊपर जो मिथ्यात्व गुणस्थान में केवल मिथ्यात्व से बंध कहा उसका कारण यह है कि जो सम्यग्दृष्टि जीव अनंतानुबंधी की विसंयोजना करने के पश्चात् मिथ्यात्व में जाता है, उसके अनंतानुबंधी का नया बंध तो प्रारंभ होता है,*

परंतु आवली काल तक उसका उदय नहीं पाया जाता, इसकारण उतने काल तक मात्र मिथ्यात्व के उदय में ही बंधती हैं । सासादन में तो मिथ्यात्व का उदय है ही नहीं, वहां तो मात्र अनंतानुबंधी के उदय में ही ये प्रकृतियां बंधती हैं । ऊपर के किसी गुणस्थान में मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी प्रकृतियों का उदय होता ही नहीं, इसकारण इन पच्चीस का बंध भी आगे कहीं पर भी नहीं पाया जाता । इसकारण इन पच्चीस प्रकृतियों की बंधव्युच्छित्ति दूसरे गुणस्थान में होती है ऐसा कहा है ।)

अयदे बिदियकसाया वज्जं ओरालमणुदुमणुवाऊ ।
देसे तदियकसाया णियमेणिह बंधवोच्छिण्णा ॥९७॥

अयते द्वितीयकषाया वज्रमोरालमनुष्यद्विमानवायुः ।
देशे तृतीयकषाया नियमेनेह बंधव्युच्छिन्नाः ॥९७॥

टीका – असंयत गुणस्थान के अंतिम समय में अप्रत्याख्यानावरण कषाय चार, वज्रवृषभनाराच संहनन, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग ये दो, मनुष्यगति-मनुष्यगत्यानुपूर्वी ये दो तथा मनुष्यायु ये दस प्रकृतियां बंध से व्युच्छित्तिरूप होती हैं क्योंकि ये प्रकृतियां अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से बंधती हैं । पुनश्च देशसंयत गुणस्थान के अंतिम समय में चार प्रत्याख्यानावरण कषाय की नियम से व्युच्छित्ति होती है क्योंकि ये अपने उदय के निमित्त से बंधती हैं ॥९७॥

छट्ठे अथिरं असुहं असादमजसं च अरदिसोगं च ।
अपमत्ते देवाऊ णिट्ठवणं चेव अत्थित्ति ॥९८॥

षष्ठे अस्थिरमशुभमसातमयशश्च अरतिशोकं च ।
अप्रमत्ते देवायुर्निष्ठापनं चैव अस्तीति ॥९८॥

टीका – छठवें प्रमत्तसंयत गुणस्थान के अंतिम समय में अस्थिर, अशुभ, असातावेदनीय, अयशस्कीर्ति, अरति, शोक – ये छह नियम से व्युच्छित्तिरूप होती हैं क्योंकि ये प्रमाद के निमित्त से बंधती हैं । पुनश्च श्रेणी चढ़ने के लिये जिसके अधःकरणादि नहीं हुये हो ऐसे स्वस्थान अप्रमत्तसंयत के अंतिम समय में देवायु व्युच्छित्तिरूप होती है, क्योंकि अधःकरणादिरूप परिणत हुये सातिशय अप्रमत्तादि गुणस्थानों में देवायु के बंध के कारणभूत मध्यम विशुद्धतारूप संज्वलन के परिणाम नहीं पाये जाते ॥९८॥

आगे अपूर्वकरण के सात भागों में से तीन भागों का अंगीकार करके बंध की व्युच्छित्ति कहते हैं –

मरणूणम्हि णियट्टीपढमे णिद्दा तहेव पयला य ।
छट्ठे भागे तित्थं णिमिणं सग्गमणपंचिंदी ॥९९॥

तेजदुहारदुसमचउ सुरवण्णागुरुचउक्कतसणवयं ।
चरमे हस्सं च रदी भयं जुगुच्छा य बंधवोच्छिण्णा ॥१००॥

मरणोने निवृत्तिप्रथमे निद्रा तथैव प्रचला च ।
षष्ठे भागे तीर्थं निर्माणं सद्गमनपंचेंद्रियं ॥९९॥

तेजोद्विकाहारद्विसमचतुरस्रसुरवर्णागुरुचतुष्कत्रसनवकं ।
चरमे हास्यं च रतिः भयं जुगुप्सा च बंधव्युच्छिन्ना ॥१००॥

टीका – **'निवृत्ति'** अर्थात् अपूर्वकरण गुणस्थान । उसके चढ़ने के काल में मरण से रहित ऐसे प्रथम भाग में निद्रा और प्रचला इन दो की व्युच्छित्ति होती है । उसीप्रकार छठवें भाग के अंतिम समय में तीर्थंकर, निर्माण, शुभ विहायोगति, पंचेन्द्रियजाति, तेजसशरीर-कार्माणशरीर ये दो, आहारक-आहारक अंगोपांग ये दो, समचतुरस्र संस्थान, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अंगोपांग – ये चार, वर्ण-गंध-रस-स्पर्श – ये चार, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास ये चार, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय – ये नौ इसतरह तीस प्रकृतियां व्युच्छित्तिरूप होती हैं । पुनश्च सातवें भाग में हास्य, रति, भय, जुगुप्सा – ये चार प्रकृतियां बंध से व्युच्छित्तिरूप होती हैं ॥९९–१००॥

पुरिसं चदुसंजलणं कमेण अणियट्टिपंचभागेसु ।
पढमं विग्घं दंसण चउजसउच्चं च सुहुमंते ॥१०१॥

पुरुषः चतुःसंज्वलनः क्रमेण अनिवृत्तिपंचभागेषु ।
प्रथमं विघ्नं दर्शनचतुर्यशउच्चं च सूक्ष्मांते ॥१०१॥

टीका – अनिवृत्तिकरण के पांच भागों में से पहले भाग में पुरुषवेद, दूसरे भाग में संज्वलन क्रोध, तीसरे भाग में संज्वलन मान, चौथे भाग में संज्वलन माया,

पांचवें भाग में संज्वलन लोभ इसतरह इनकी क्रम से व्युच्छित्ति होती है । पुनश्च सूक्ष्मसाम्पराय के अंतिम समय में मतिज्ञानावरणादि पांच ज्ञानावरण, दानांतरायादि पांच अंतराय, चक्षुदर्शनावरण आदि चार दर्शनावरण, यशस्कीर्ति और उच्चगोत्र इन सोलह प्रकृतियों की बंधव्युच्छित्ति होती है ॥१०१॥

यहां गाथा में 'अंत' ऐसा कहा है, सो अंत में रखा हुआ दीपक जैसे वहां सर्वत्र प्रकाश करता है वैसे ये जितनी व्युच्छित्ति कही वे सब अंतिम समय में जानना ऐसा दिखाते हैं –

उवसंतखीणमोहे जोगिम्हि य समयियट्ठिदी सादं ।
णायव्वो पयडीणं बंधस्संतो अणंतो य ॥१०२॥

उपशांतक्षीणमोहे योगिनि च समयिकस्थितिः सातं ।
ज्ञातव्यः प्रकृतीनां बंधस्यांतः अनंतश्च ॥१०२॥

टीका – उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली – इनमें एक समय की स्थिति सहित एक सातावेदनीय ही का बंध है, वह योग के निमित्त से है क्योंकि कषाय का वहां अभाव है। पुनश्च अयोगकेवली में योग भी नहीं है और बंध भी नहीं है। इसतरह प्रकृतियों की **'बंधस्यांतः'** अर्थात् बंध की व्युच्छित्ति कही है, वह जानना॥१०२॥

आगे **'बंधस्य अनंतः'** अर्थात् बंध *(बंध का अंत नहीं होना यानि बंध होना)* और **चकार** से अबंध प्रकृतियां दो गाथाओं द्वारा कहते हैं –

सत्तरसेकग्गसयं चउसत्तत्तरि सगट्ठि तेवट्ठी ।
बंधा णवट्ठवण्णा दुवीस सत्तारसेकोघे ॥१०३॥

सप्तदशैकाग्रशतं चतुः सप्तसप्ततिः सप्तषष्ठिः त्रिषष्ठिः ।
बंधा नवाष्टपंचाशत् द्वाविंशतिः सप्तदश एकोघे ॥१०३॥

टीका – अभेद विवक्षा से बंधरूप एक सौ बीस प्रकृतियां हैं । वहां मिथ्यात्व में एक सौ सत्रह प्रकृतियों का बंध है, क्योंकि **'सम्मेव तित्थबंधो आहारदुगं पमादरहिदेसु'** *(तीर्थंकर प्रकृति का बंध सम्यग्दृष्टि के तथा आहारद्विक का बंध प्रमादरहितों में होता है)* इसलिए यहां तीर्थंकर प्रकृति, आहारद्विक इन तीन का बंध नहीं है । इन एक

सौ सत्रह में से मिथ्यात्व में व्युच्छित्ति होनेवाली सोलह घटानेपर सासादन में एक सौ एक का बंध है । पुनश्च इनमें से यहां पच्चीस की व्युच्छित्ति होती है तथा देवायु, मनुष्यायु का मिश्र में बंध नहीं है इसतरह सत्ताइस घटानेपर मिश्र गुणस्थान में चौहत्तर का बंध है । मिश्र में व्युच्छित्ति का अभाव है तथा बंध में देवायु, मनुष्यायु, तीर्थंकर ये तीन मिलाने से असंयत में सतहत्तर का बंध है ।

पुनश्च यहां दस की व्युच्छित्ति होती है, उनको घटानेपर देशसंयत में सड़सठ का बंध है । यहां चार की व्युच्छित्ति होती है, उनको घटानेपर प्रमत्तसंयत में तिरसठ का बंध है । यहां छह की व्युच्छित्ति होती है उनको घटाने और आहारद्विक को मिलानेपर अप्रमत्तसंयत में उनसठ का बंध होता है । यहां देवायु की व्युच्छित्ति होती है, उसको घटानेपर अपूर्वकरण में अट्ठावन का बंध है । यहां तीन भागों में छत्तीस की व्युच्छित्ति होती है उनको घटानेपर अनिवृत्तिकरण में बाइस का बंध है । यहां पांच भागों में पांच की व्युच्छित्ति होती है, उनको घटानेपर सूक्ष्मसाम्पराय में सत्रह का बंध है । यहां सोलह की व्युच्छित्ति होती है, उनको घटानेपर एक सातावेदनीय रही, उसका बंध उपशांतमोह, क्षीणमोह और सयोगकेवली में जानना । अयोगकेवली में बंध का अभाव है ॥१०३॥

तिय उणवीसं छत्तियतालं तेवण्ण सत्त वण्णं च ।
इगिदुगसट्ठी बिरहिय सय तियउणवीससहिय वीससयं ॥१०४॥

त्रयमेकोनविंशतिः षट्त्रिक चत्वारिंशत् त्रिपंचाशत् सप्तपंचाशच्च ।
एकद्वाषष्टिः द्विरहितं शतं त्र्येकोनविंशतिसहितं विंशतिशतं ॥१०४॥

टीका – मिथ्यात्व में तीर्थंकर, आहारकद्विक – ये तीन प्रकृतियां अबंध हैं। उनमें सोलह *(पहले गुणस्थान में व्युच्छित्ति होनेवाली)* मिलानेपर सासादन में उन्नीस अबंध हैं । उनमें पच्चीस व्युच्छित्तिरूप और मनुष्यायु, देवायु मिलानेपर मिश्र में छियालीस अबंध हैं । इनमें से मनुष्यायु, देवायु, तीर्थंकर इनको घटानेपर असंयत में तैंतालीस अबंध हैं । *(ये तीन यहां बंधती हैं इसलिए अबंध में से इनको घटाया है)* । इनमें *(यहां की व्युच्छित्तिरूप)* दस मिलानेपर, देशसंयत में तिरपन अबंध हैं । इनमें चार मिलानेपर प्रमत्तसंयत में सत्तावन अबंध हैं । इनमें छह व्युच्छित्तिरूप मिलाने और आहारद्विक को घटानेपर अप्रमत्त संयत में इकसठ अबंध है । इसमें देवायु मिलानेपर अपूर्वकरण

में बासठ अबंध हैं । इनमें छत्तीस मिलानेपर अनिवृत्तिकरण में अट्ठानबे अबंध हैं। इनमें पांच मिलाने पर सूक्ष्मसाम्पराय में एक सौ तीन अबंध हैं । इनमें सोलह मिलाने पर उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली में एक सौ उन्नीस अबंध हैं। इनमें सातावेदनीय मिलानेपर अयोगकेवली में एक सौ बीस प्रकृतियां अबंध हैं ।

गुणस्थानों में अनुक्रम से –

गुण.	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
व्यु.	१६	२५	०	१०	४	६	१	३६	५	१६	०	०	१	०
बंध	११७	१०१	७४	७७	६७	६३	५९	५८	२२	१७	१	१	१	०
अबं.	३	१९	४६	४३	५३	५७	६१	६२	९८	१०३	११९	११९	११९	१२०

– इसतरह जानना ॥१०४॥

आगे मार्गणा में व्युच्छित्ति, बंध, अबंध कहते हैं । वहां प्रथम ही नरकगति में तीन गाथाओं द्वारा कहते हैं –

ओघे वा आदेसे णारयमिच्छम्हि चारि वोच्छिण्णा ।
उवरिम बारस सुरचउ सुराउ आहारयमबंधा ॥१०५॥

ओघ इव आदेशे नारकमिथ्यात्वे चतस्रो व्युच्छिन्नाः ।
उपरितना द्वादश सुरचतुष्कं सुरायुराहारकमबंधाः ॥१०५॥

टीका – मार्गणाओं में व्युच्छित्ति, बंध, अबंध गुणस्थानवत् जानना । उसमें जो विशेष है *(अंतर है)* वह कहते हैं – **गतिमार्गणा** में नरकगति में मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्वादि पहली चार प्रकृतियों की ही व्युच्छित्ति होती है । मिथ्यात्व गुणस्थान में जिन सोलह प्रकृतियों की व्युच्छित्ति कही थी उनमें से आदि की चार प्रकृतियों को छोड़कर ऊपर की बारह प्रकृतियों का बंध नरकगति में नहीं है । एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकायु ये बारह जानना । पुनश्च देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, वैक्रियिक, वैक्रियिक अंगोपांग – ये चार, देवायु, आहारकद्विक इन उन्नीस प्रकृतियों का बंध नरकगति में नहीं होता, इसलिये घर्मादिक तीन पृथ्वियों में बंधयोग्य एक सौ एक प्रकृतियां हैं । अंजनादिक (४थी, ५वीं, ६वीं) तीन पृथ्वियों में तीर्थंकर बिना सौ प्रकृतियां बंधयोग्य हैं । माघवी-

सातवीं पृथ्वी में मनुष्यायु बिना निन्यानबे प्रकृतियां बंधयोग्य हैं । पुनश्च अपर्याप्त *(निर्वृत्ति अपर्याप्त)* काल में घर्मा-पहली पृथ्वी में तो एक सौ एक में से मनुष्यायु तिर्यंचायु बिना निन्यानबे प्रकृतियां बंधयोग्य हैं, क्योंकि मिश्रयोग में आयु का बंध नहीं होता। वंशादिक *(दूसरी आदि)* पांच पृथ्वियों में सम्यग्दृष्टि उपजते नहीं है इसलिए तीर्थंकर बिना अट्ठानबे प्रकृतियां बंधयोग्य हैं ।

*(**विशेषार्थ** – दूसरी या तीसरी नरक का आयुबंध करने के पश्चात् जिनके सम्यक्त्व हुआ हो ऐसे वेदक सम्यग्दृष्टि मनुष्य जिन्होंने तीर्थंकर प्रकृति का बंध प्रारंभ किया है, वे मरण के अंतर्मुहूर्त पहले मिथ्यात्व में जाते हैं, तब उनके तीर्थंकर प्रकृति का बंध रुक जाता है । दूसरे या तीसरे नरक में अपर्याप्त अवस्था में उनका मिथ्यात्व गुणस्थान रहता है, पर्याप्त होने पर वे सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं, तब तीर्थंकर प्रकृति का बंध पुनश्च प्रारंभ होता है, शेष आयु तक उसका बंध चालू ही रहता है ।)*

माघवी-सातवीं पृथ्वी में *(अपर्याप्त अवस्था में)* मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, उच्चगोत्र इन तीन बिना पंचानबे प्रकृतियां बंधयोग्य हैं । इसतरह जानकर गुणस्थानों में व्युच्छित्ति आदि का कथन किया ॥१०५॥

धम्मे तित्थं बंधदि वंसामेघाण पुण्णगो चेव ।
छट्ठोत्ति य मणुवाऊ चरिमे मिच्छेव तिरियाऊ ॥१०६॥

धर्मे तीर्थं बध्नाति वंशामेघयोः पूर्णकश्चैव ।
षष्ठ इति च मानवायुः चरमे मिथ्यात्वे एव तिर्यगायुः ॥१०६॥

टीका – घर्मा पृथ्वी में पर्याप्त-अपर्याप्त दोनों कालों में तीर्थंकर प्रकृति को बांधता है । वंशा-मेघा में पर्याप्त काल में ही तीर्थंकर प्रकृति को बांधता है, अपर्याप्त काल में नहीं । मघवी-छठवीं पृथ्वी तक मनुष्यायु का बंध है, माघवी-सातवीं पृथ्वी में नहीं ।

*(**विशेषार्थ** – पृथ्वियों के नाम क्रमशः इसतरह हैं – १) घर्मा, २) वंशा, ३) मेघा, ४) अंजना, ५) अरिष्टा, ६) मघवी, ७) माघवी)*

अब रचना कहते हैं – घर्मादिक तीन पृथ्वी की रचना – बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ एक । गुणस्थान चार । वहां मिथ्यात्व गुणस्थान में व्युच्छित्ति – मिथ्यात्व,

हुंडक संस्थान, नपुंसकवेद, असंप्राप्तासृपाटिका संहनन। बंध – सौ (१००) तीर्थंकर बिना तथा अबंध एक । सासादन में व्युच्छित्ति पूर्वोक्त पच्चीस, बंध छानबे, अबंध पांच। मिश्र में व्युच्छित्ति शून्य, बंध मनुष्यायु बिना सत्तर, अबंध इकतीस । पुनश्च असंयत में व्युच्छित्ति पूर्वोक्त दस, बंध मनुष्यायु, तीर्थंकर मिला कर बहत्तर, अबंध - उनतीस।

नारक अपर्याप्तों की रचना –

धर्मा पृथ्वी में बंधयोग्य प्रकृतियां निन्यानबे, गुणस्थान दो -मिथ्यात्व, असंयत क्योंकि नारक अपर्याप्त सासादन नहीं होता । *(सासादन गुणस्थान में जीव मरकर नरक में नहीं जाता।)* वहां मिथ्यात्व गुणस्थान में उस पहले गुणस्थान की चार तथा तिर्यंच आयु बिना सासादन में बतायी हुयी चौबीस इन अट्ठाइस प्रकृतियों की व्युच्छित्ति है । बंध तीर्थंकर बिना अट्ठानबे, अबंध एक । असंयत में व्युच्छित्ति – मनुष्यायु बिना पूर्वोक्त नौ, बंध – तीर्थंकर सहित इकहत्तर, अबंध – अट्ठाइस ।

(धर्मा पृथ्वी अपर्याप्त में गुणस्थान - मिथ्यात्व और असंयत । नीचे की सभी पृथ्वियों में अपर्याप्त अवस्था में एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही है ।)

अंजनादि तीन पृथ्वियों में *(पर्याप्तों में)* तीर्थंकर बिना सर्व रचना धर्मादिवत् जानना । बंधयोग्य प्रकृतियां सौ । वहां मिथ्यात्व में व्युच्छित्ति चार, बंध सौ, अबंध नास्ति । सासादन में व्युच्छित्ति पच्चीस, बंध छानबे, अबंध चार । मिश्र में व्युच्छित्ति शून्य, बंध मनुष्यायु बिना सत्तर, अबंध तीस । असंयत में व्युच्छित्ति दस, बंध मनुष्यायु सहित इकहत्तर, अबंध उनतीस ।

वंशा से लेकर पांच पृथ्वियों में *(२री से ६वीं तक)* अपर्याप्तों में एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही है । वहां अट्ठानबे प्रकृतियों का बंध जानना ॥१०६॥

मिस्साविरदे उच्चं मणुवदुगं सत्तमे हवे बंधो ।
मिच्छा सासणसम्मा मणुवदुगुच्चं ण बंधंति ॥१०७॥

मिश्राविरते उच्चं मनुष्यद्वयं सप्तमे भवेद् बंधः ।
मिथ्यात्विनः सासादन सम्यक्त्वा मनुष्यद्विकोच्चं न बध्नंति ॥१०७॥

टीका – सातवीं पृथ्वी में मिश्र और असंयत में ही उच्चगोत्र और मनुष्यद्विक *(मनुष्यगति-मनुष्यगत्यानुपूर्वी)* का बंध है । सातवीं पृथ्वी में पर्याप्त रचना – बंधयोग्य

निन्यानबे, गुणस्थान चार । वहां मिथ्यात्व गुणस्थान में पूर्वोक्त चार तथा तिर्यंचायु का मिथ्यात्व में ही बंध होता है इसलिए व्युच्छित्ति पांच, *(सातवें नरक में मिथ्यात्व में ही आयुबंध होता है, वह भी मात्र तिर्यंचायु का)*, बंध उच्चगोत्र, मनुष्यद्विक बिना छानबे, अबंध तीन । सासादन में व्युच्छित्ति तिर्यंचायु बिना पूर्वोक्त चौबीस, बंध इक्यानबे, अबंध आठ । मिश्र में व्युच्छित्ति शून्य, बंध उच्चगोत्र, मनुष्यद्विक मिलकर सत्तर, अबंध उनतीस । असंयत में व्युच्छित्ति मनुष्यायु बिना पूर्वोक्त नौ, बंध सत्तर, अबंध उनतीस मिश्रवत् । सातवीं पृथ्वी में अपर्याप्त में एक मिथ्यात्व गुणस्थान है वहां पंचानबे प्रकृतियों का बंध है ॥१०७॥

आगे तिर्यंचगति में व्युच्छित्ति आदि का कथन करते हैं –

तिरिये ओघो तित्थाहारूणो अविरदे छिदी चउरो ।
उवरिमछण्हं च छिदी सासणसम्मे हवे णियमा ॥१०८॥

तिरश्चि ओघस्तीर्थाहारो न अविरते छित्तिश्चत्वारः ।
उपरिमषण्णां च छित्तिः सासादनसम्यक्त्वे भवेन्नियमात् ॥१०८॥

टीका – तिर्यंचगति में **ओघः** अर्थात् गुणस्थानवत् रचना जानना । विशेष इतना है कि तीर्थंकर, आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियों का बंध नहीं है, इसलिए बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ सत्रह । इनके बिना व्युच्छित्ति, बंध, अबंध गुणस्थानवत् जानना । वहां भी इतना विशेष है कि असंयत में अप्रत्याख्यानावरण कषाय चार ही की व्युच्छित्ति जानना, ऊपर वज्रवृषभनाराच आदि छह प्रकृतियां रही उनकी व्युच्छित्ति सासादन गुणस्थान में ही जानना, क्योंकि यहां मिश्रादिक में तिर्यंच, मनुष्यगति संबंधी प्रकृतियों का बंध नहीं है॥१०८॥

सामण्णतिरियपंचिंदियपुण्णगजोणिणीसु एमेव ।
सुरणिरयाउ अपुण्णे वेगुव्वियछक्कमवि णत्थि ॥१०९॥

सामान्यतिर्यक्पंचेंद्रियपूर्णकयोनिनीषु एवमेव ।
सुरनिरयायुरपूर्णे वैगूर्विकषट्कमपि नास्ति ॥१०९॥

टीका – सर्व भेदों का समुदायरूप सामान्य तिर्यंच, पंचेन्द्रिय तिर्यंच, पंचेन्द्रिय तिर्यंच पर्याप्त, स्त्रीवेदरूप योनिमति तिर्यंच इन चार प्रकार के तिर्यंचों में इसीतरह है।

लब्धिअपर्याप्त तिर्यंच में देवायु, नरकायु, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, वैक्रियिक, वैक्रियिक अंगोपांग – ए वैक्रियिक षट्क ऐसी आठ प्रकृतियां बंधयोग्य नहीं हैं ।

वहां सामान्यादि चार प्रकार के तिर्यंचों की रचना –

मिथ्यात्व में व्युच्छित्ति गुणस्थानोक्त सोलह, बंध एक सौ सत्रह, अबंध नास्ति(शून्य)। सासादन में गुणस्थानोक्त पच्चीस और असंयत में जिनकी व्युच्छित्ति कही थी ऐसी वज्रवृषभनाराच संहनन, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, मनुष्यायु इन छहों की यहीं पर व्युच्छित्ति होती है इसलिए यहां सासादन में व्युच्छित्ति इकतीस, बंध एक सौ एक, अबंध सोलह । मिश्र में व्युच्छित्ति शून्य, बंध पूर्वोक्त देवायु बिना उनहत्तर, अबंध अड़तालीस । असंयत में व्युच्छित्ति अप्रत्याख्यानावरण कषाय चार, बंध देवायु मिलानेपर सत्तर, अबंध सैंतालीस । देशसंयत में व्युच्छित्ति प्रत्याख्यानावरण चार, बंध छासठ, अबंध इक्यावन ।

पुनश्च सामान्यादिक चार प्रकार के निर्वृत्तिअपर्याप्त तिर्यंचों की रचना –

वहां बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ ग्यारह । यहां मिश्रकाययोगी है इसलिए यहां चार आयु और नरकद्विक का बंध नहीं है । गुणस्थान तीन, वहां मिथ्यात्व गुणस्थान में सोलह में से नरकायु, नरकद्विक बिना व्युच्छित्ति तेरह, बंध एक सौ सात, क्योंकि मिथ्यात्व और सासादन अपर्याप्त में देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, वैक्रियिक, वैक्रियिक अंगोपांग इस सुरचतुष्क का बंध नहीं है और अबंध ये ही चार प्रकृतियां । सासादन में पूर्वोक्त इकतीस में से तिर्यंचायु, मनुष्यायु बिना व्युच्छित्ति उनतीस, बंध मिथ्यात्व की व्युच्छित्ति को घटानेपर चौरानबे, अबंध सत्रह । असंयत में व्युच्छित्ति अप्रत्याख्यानावरण कषाय चार, बंध पूर्वोक्त व्युच्छित्ति को घटाने और सुरचतुष्क को मिलानेपर उनहत्तर, अबंध बयालीस ।

पुनश्च लब्धिअपर्याप्त तिर्यंच में गुणस्थान एक मिथ्यात्व, वहां तिर्यंचायु मनुष्यायु का बंध होता है, तथा तिर्यंचगति संबंधी बंधयोग्य एक सौ सत्रह में देवायु, नरकायु और वैक्रियिक षट्क इन आठ प्रकृतियों का बंध नहीं है इसलिए बंधयोग्य एक सौ नौ प्रकृतियां जानना ॥१०९॥

आगे मनुष्यगति में कहते हैं –

तिरयेव णरे णवरि हु तित्थाहारं च अत्थि एमेव ।
सामण्णपुण्णमणुसिणि णरे अपुण्णे अपुण्णेव ।।११०।।

तिर्यगिव नरे नवरि हि तीर्थाहारं चास्ति एवमेव ।
सामान्यपूर्णमनुष्यणी नरे अपूर्णे अपूर्ण एव ।।११०।।

टीका – तिर्यंचगतिवत् मनुष्यगति में रचना है क्योंकि यहां भी असंयत गुणस्थान में व्युच्छित्ति चार है, ऊपर की वज्रवृषभनाराच आदि छह की व्युच्छित्ति सासादन में ही होती है यह विशेषता समान है । परंतु इतना नवीन विशेष है कि तीर्थंकर और आहारकद्विक का बंध यहां पाया जाता है, इसलिए सर्वभेद का समुदायरूप सामान्य मनुष्य, पर्याप्त मनुष्य और स्त्रीवेदरूप मनुष्यणी-मनुष्य इन तीनों की रचना तो ऐसी ही जानना । वहां बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ बीस, गुणस्थान चौदह । उनमें बंध में से नीचे के गुणस्थान की व्युच्छित्ति घटाकर, विशेष कथनपूर्वक अबंध में जोड़नेपर ऊपर के गुणस्थानों में बंध-अबंध होते हैं । वहां मिथ्यात्व में व्युच्छित्ति सोलह, बंध तीर्थंकर-आहारकद्विक बिना एक सौ सत्रह, अबंध तीन । सासादन में तिर्यंचवत् व्युच्छित्ति इकतीस, बंध एक सौ एक, अबंध उन्नीस । मिश्र में व्युच्छित्ति शून्य, बंध देवायु बिना उनहत्तर, अबंध इक्यावन । असंयत में व्युच्छित्ति अप्रत्याख्यानावरण चार, बंध देवायु और तीर्थंकर के मिलाने से इकहत्तर, अबंध उनचास । देशविरत में व्युच्छित्ति प्रत्याख्यानावरण कषाय चार, बंध सड़सठ, अबंध तिरपन । आगे प्रमत्तादि में व्युच्छित्ति, बंध, अबंध मूल गुणस्थान रचनावत् जानना, विशेष कुछ नहीं है ।

पुनश्च सामान्य मनुष्य, पर्याप्त मनुष्य, मनुष्यणी-मनुष्य इन तीनों निर्वृत्तिअपर्याप्तकों के बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ बारह क्योंकि मिश्रकाययोगी होने से यहां चार आयु, नरकद्विक, आहारकद्विक इन आठों का बंध नहीं है । गुणस्थान मिथ्यात्व, सासादन, असंयत, प्रमत्तविरत(प्रमत्तसंयत) और सयोगकेवली – ये पांच । वहां मिथ्यात्व में सोलह में से नरकद्विक, नरकायु बिना व्युच्छित्ति तेरह । बंध देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, वैक्रियिक, वैक्रियिक अंगोपांग, तीर्थंकर इन पांच बिना एक सौ सात, अबंध पांच । सासादन में इकतीस में से मनुष्यायु, तिर्यंचायु बिना व्युच्छित्ति उनतीस, बंध चौरानबे, अबंध अठारह । असंयत में व्युच्छित्ति-अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण कषाय आठ, बंध सुरचतुष्क और तीर्थंकर मिलाने से सत्तर, अबंध बयालीस ।

*(**विशेषार्थ** – यहां निर्वृत्तिअपर्याप्तकों में चोथे के बाद छठवां गुणस्थान आता है, इसकारण चौथे, पांचवें की मिलकर आठ की व्युच्छित्ति यहीं पर कहते हैं ।)*

प्रमत्तविरत में प्रमत्त की छह और अप्रमत्त की देवायु थी उसे बंधयोग्य में गिना ही नहीं था, इसकारण नहीं गिनी, अपूर्वकरण की आहारकद्विक बिना चौंतीस, अनिवृत्तिकरण की पांच, सूक्ष्मसाम्पराय की सोलह सब मिलाकर व्युच्छित्ति प्रकृतियां इकसठ, बंध बासठ, अबंध पचास । सयोगकेवली में व्युच्छित्ति एक सातावेदनीय, बंध एक सातावेदनीय, अबंध एक सौ ग्यारह ।

पुनश्च लब्धिअपर्याप्त मनुष्य की रचना लब्धिअपर्याप्त तिर्यंचवत् जाननी । देवायु, नरकायु, वैक्रियिक षट्क, तीर्थंकर, आहारकद्विक – इन ग्यारह बिना बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ नौ, गुणस्थान एक मिथ्यात्व जानना ॥११०॥

आगे देवगति में कहते हैं –

णिरयेव होदि देवे आईसाणोत्ति सत्त वाम छिदी ।
सोलस चेव अबंधा भवणतिए णत्थि तित्थयरं ॥१११॥

णिरय इव भवति देवे आईशान इति सप्त वामे छित्तिः ।
षोडश चैव अबंधा भवनत्रये नास्ति तीर्थकरं ॥१११॥

टीका – देवगति में रचना नरकगतिवत् जानना । इतना विशेष है कि मिथ्यात्व गुणस्थान संबंधी व्युच्छित्तिरूप सोलह प्रकृतियों में से ईशान स्वर्ग तक मिथ्यात्व और हुंडक संस्थान आदि छह इन सात प्रकृतियों की व्युच्छित्ति मिथ्यात्व गुणस्थान में है। अवशेष नौ प्रकृतियां यहां बंधयोग्य नहीं हैं । इसतरह सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण –ये तीन; द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय – ये तीन; नरकद्विक और नरकायु – सब मिलकर नौ तथा देवगति-देवगत्यानुपूर्वी, वैक्रियिक, वैक्रियिक अंगोपांग–ये सुरचतुष्क, देवायु और आहारकद्विक ये सोलह प्रकृतियां देवगति में बंधयोग्य नहीं हैं इसलिए बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ चार हैं ।

भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी ये भवनत्रिक और कल्पवासिनी देवांगना इनके तीर्थंकर प्रकृति का भी बंध नहीं है, इसलिए इनकी बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ तीन हैं ।

वहां भवनत्रिक-कल्पवासिनियों की रचना –

बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ तीन, गुणस्थान चार, वहां मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व, हुंडक संस्थान, नपुंसकवेद, असंप्राप्तासृपाटिका संहनन, एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप इन सात प्रकृतियों की व्युच्छित्ति होती है । बंध एक सौ तीन, अबंध शून्य । सासादन में व्युच्छित्ति गुणस्थानोक्त पच्चीस, बंध छानबे, अबंध सात । मिश्र में व्युच्छित्ति शून्य, बंध मनुष्यायु बिना सत्तर, अबंध तैंतीस । असंयत में व्युच्छित्ति गुणस्थानोक्त दस, बंध मनुष्यायु के मिलने से इकहत्तर, अबंध बत्तीस ।

पुनश्च सौधर्म-ईशान की रचना –

बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ चार, गुणस्थान चार । वहां मिथ्यात्व मे व्युच्छित्ति मिथ्यात्वादि पूर्वोक्त सात, बंध तीर्थंकर बिना एक सौ तीन, अबंध एक । सासादन में व्युच्छित्ति गुणस्थानोक्त पच्चीस, बंध छानबे, अबंध आठ । मिश्र में व्युच्छित्ति शून्य, बंध मनुष्यायु बिना सत्तर, अबंध चौंतीस । असंयत में व्युच्छित्ति गुणस्थानोक्त दस, बंध मनुष्यायु, तीर्थंकर मिलाकर बहत्तर, अबंध बत्तीस ॥१११॥

कप्पित्थीसु ण तित्थं सदरसहस्सारगोत्ति तिरियदुगं ।
तिरियाऊ उज्जोवो अत्थि तदो णत्थि सदरचऊ ॥११२॥

कल्पस्त्रीषु न तीर्थं शतारसहस्रारक इति तिर्यग्द्विकं ।
तिर्यगायुरुद्योतः अस्ति ततोनास्ति शतारचतुष्कं ॥११२॥

टीका – कल्पवासिनी स्त्रियों में *(देवांगनाओं में)* तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होता, इसलिए कल्पवासिनियों की रचना भवनत्रिक की रचना में ही कही क्योंकि दोनों के गुणस्थान, व्युच्छित्ति, बंध, अबंध में कोई विशेषता नहीं है ।

पुनश्च सनत्कुमारादि दस स्वर्गों में नरकवत् रचना कही, इसलिए बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ एक, गुणस्थान चार । वहां मिथ्यात्व गुणस्थान में व्युच्छित्ति मिथ्यात्व, हुंडक संस्थान, नपुंसकवेद, असंप्राप्तासृपाटिका संहनन – ये चार । क्योंकि सात प्रकृतियों की व्युच्छित्ति ईशान तक ही कही है, इसलिए यहां नरकवत् चार प्रकृतियों की ही व्युच्छित्ति जानना। बंध तीर्थंकर बिना सौ, अबंध एक । सासादन में व्युच्छित्ति गुणस्थानोक्त पच्चीस, बंध छानबे, अबंध पांच । मिश्र में व्युच्छित्ति शून्य, बंध मनुष्यायु बिना सत्तर, अबंध इकतीस। असंयत में व्युच्छित्ति गुणस्थानोक्त दस, बंध मनुष्यायु, तीर्थंकर के मिलने से बहत्तर, अबंध उनतीस।

तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी - ये तिर्यंचद्विक, तिर्यंचायु और उद्योत इन चार प्रकृतियों को सदरचउक्क कहते हैं । इस सदरचउक्क का बंध शतार-सहस्रार तक ही है, ऊपर नहीं । इसलिए आनतादि चार स्वर्ग और नौ ग्रैवेयक इनमें बंधयोग्य प्रकृतियां सत्तानबे हैं । गुणस्थान चार । वहां मिथ्यात्व गुणस्थान में व्युच्छित्ति मिथ्यात्वादिक चार, बंध तीर्थंकर बिना छानबे, अबंध एक । सासादन में व्युच्छित्ति सदरचउक्क बिना इक्कीस, बंध बानबे, अबंध पांच । मिश्र में व्युच्छित्ति-शून्य, बंध मनुष्यायु बिना सत्तर, अबंध सत्ताइस । असंयत में व्युच्छित्ति गुणस्थानोक्त दस, बंध तीर्थंकर, मनुष्यायु के मिलने से बहत्तर, अबंध पच्चीस ।

पुनश्च अनुदिश, अनुत्तर विमानवासी अहमिन्द्र सभी सम्यग्दृष्टि ही हैं, उनके बंधयोग्य पहले असंयत में बतायी हुयी बहत्तर और गुणस्थान एक असंयत जानना ।

पुनश्च निर्वृत्तिअपर्याप्त रचना –

वहां भवनत्रिक और कल्पवासिनी *(देवियां)* इनकी बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ एक, क्योंकि मिश्रकाययोग होने से तिर्यंचायु, मनुष्यायु का बंध नहीं है । गुणस्थान दो क्योंकि असंयत मरकर इनमें उत्पन्न नहीं होते । वहां मिथ्यात्व गुणस्थान में व्युच्छित्ति पूर्वोक्त सात, बंध एक सौ एक, अबंध शून्य । सासादन में व्युच्छित्ति तिर्यंचायु बिना चौबीस, बंध चौरानबे, अबंध सात ।

पुनश्च सौधर्म-ईशान *(निर्वृत्तिअपर्याप्त)* में तीर्थंकर मिलने से बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ दो, गुणस्थान तीन । वहां मिथ्यात्व गुणस्थान में व्युच्छित्ति पूर्वोक्त सात, बंध तीर्थंकर बिना एक सौ एक, अबंध एक । सासादन में व्युच्छित्ति पूर्वोक्त चौबीस, बंध चौरानबे, अबंध आठ । असंयत में व्युच्छित्ति मनुष्यायु बिना नौ, बंध तीर्थंकर मिलने से इकहत्तर, अबंध इकतीस ।

पुनश्च सनत्कुमारादि दस स्वर्गों में *(निर्वृत्तिअपर्याप्तों में)* पर्याप्त संबंधी एक सौ एक में से तिर्यंचायु, मनुष्यायु घटाने से बंधयोग्य प्रकृतियां निन्यानबे, गुणस्थान तीन। वहां मिथ्यात्व गुणस्थान में व्युच्छित्ति मिथ्यात्वादिक चार, बंध तीर्थंकर बिना अट्ठानबे, अबंध एक । सासादन में व्युच्छित्ति चौबीस, बंध चौरानबे, अबंध पांच । असंयत में व्युच्छित्ति नौ, बंध तीर्थंकर मिलने से इकहत्तर, अबंध अट्ठाइस ।

पुनश्च आनतादि चार स्वर्ग और नौ ग्रैवेयक में *(निर्वृत्तिअपर्याप्तों में)* तिर्यंचद्विक

और उद्योत बिना बंधयोग्य प्रकृतियां छानबे, गुणस्थान तीन । वहां मिथ्यात्व गुणस्थान में व्युच्छित्ति चार, बंध पंचानबे, अबंध एक । सासादन में व्युच्छित्ति सदरचउक्क बिना इक्कीस, बंध इक्यानबे, अबंध पांच । असंयत में व्युच्छित्ति नौ, बंध इकहत्तर, अबंध पच्चीस ।

पुनश्च अनुदिश अनुत्तरवासी देव *(निर्वृत्तिअपर्याप्त)* सर्व असंयत ही हैं । वहां बंध इकहत्तर प्रकृतियों का जानना ॥११२॥

पुण्णिदरं विगिविगले तत्थुप्पण्णो हु सासणो देहे ।
पज्जत्तिं णवि पावदि इदि णरतिरियाउगं णत्थि ॥११३॥

पूर्णेतरमिवैकविकले तत्रोत्पन्नो हि सासादनो देहे ।
पर्याप्तिं नापि प्राप्नोति इति नरतिर्यगायुष्कं नास्ति ॥११३॥

टीका – **इन्द्रियमार्गणा** में एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय इनमें लब्धि-अपर्याप्तवत् बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ नौ, क्योंकि तीर्थंकर, आहारकद्विक, देवायु, नरकायु, वैक्रियिकषट्क इनका बंध नहीं है । गुणस्थान दो, वहां मिथ्यात्व गुणस्थान में व्युच्छित्ति पंद्रह । गुणस्थान रचना में सोलह कही थी उनमें से नरकद्विक और नरकायु – ये तीन घटाने तथा मनुष्यायु-तिर्यंचायु मिलानेपर पंद्रह होती हैं । मनुष्यायु-तिर्यंचायु की व्युच्छित्ति यहीं पर कही इसका हेतु यह है कि सासादन का वहां काल थोड़ा और निर्वृत्तिअपर्याप्त अवस्था का काल बहुत होने से सासादन गुणस्थान के रहते हुये शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं करता । यहां सासादन में मनुष्यायु-तिर्यंचायु का बंध नहीं होता इसकारण यहीं पर व्युच्छित्ति कही । बंध एक सौ नौ, अबंध शून्य । सासादन में व्युच्छित्ति पहले कही थी वे ही उनतीस, बंध चौरानबे, अबंध पंद्रह ॥११३॥

पंचेंदियेसु ओघं एयक्खे वा वणप्फदीयंते ।
मणुवदुगं मणुवाऊ उच्चं ण हि तेउवाउम्हि ॥११४ ॥

पंचेंद्रियेषु ओघः एकाक्ष इव वनस्पत्यंते ।
मनुष्यद्वयं मनुष्यायुरुच्चं न हि तेजोवायौ ॥११४॥

टीका – पंचेन्द्रिय में **ओघः** अर्थात् गुणस्थान रचनावत् रचना जानना, कुछ

विशेष नहीं है । बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ बीस, गुणस्थान चौदह । सोलह, पच्चीस आदि से लेकर व्युच्छित्ति है । एक सौ सत्रह, एक सौ एक आदि से लेकर बंध है । तीन, उन्नीस आदि से लेकर अबंध है । इसतरह गुणस्थान रचनावत् सर्व जानना।

पुनश्च निर्वृत्तिअपर्याप्त पंचेन्द्रिय में बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ बारह, गुणस्थान पांच, उनकी रचना सुगम है । चूंकि तीर्थंकर, सुरचतुष्क का बंध एक असंयत में ही है, इसलिए निर्वृत्तिअपर्याप्त मनुष्यवत् इनकी रचना जानना । विशेष इतना है कि औदारिकद्विक, मनुष्यद्विक, वज्रवृषभनाराच इन पांच प्रकृतियों की व्युच्छित्ति वहां दूसरे गुणस्थान में कही थी, यहां चौथे गुणस्थान में उनकी व्युच्छित्ति जानना, और कुछ विशेष नहीं है । मिथ्यात्व गुणस्थान में व्युच्छित्ति तेरह, बंध एक सौ सात, अबंध पांच । सासादन में व्युच्छित्ति चौबीस, बंध चौरानबे, अबंध अठारह । असंयत में व्युच्छित्ति तेरह, बंध पचहत्तर, अबंध सैंतीस, प्रमत्त में व्युच्छित्ति इकसठ, बंध बासठ, अबंध पचास । सयोगकेवली में व्युच्छित्ति एक, बंध एक, अबंध एक सौ ग्यारह।

यहां चारों गतियों संबंधी निर्वृत्तिअपर्याप्त की अपेक्षा रचना जाननी ।

पुनश्च पंचेन्द्रिय लब्धिअपर्याप्त में बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ नौ । तीर्थंकर, आहारकद्विक, देवायु, नरकायु, वैक्रियिकषट्क इन ग्यारह प्रकृतियों का बंध नहीं है। गुणस्थान एक मिथ्यात्व है ।

पुनश्च **कायमार्गणा** में पृथ्वीकायिक से लेकर वनस्पतिकायिक तक पांच स्थावरों की रचना एकेन्द्रिय रचनावत् जानना । वहां तीर्थंकर, आहारकद्विक, देवायु, नरकायु, वैक्रियिकषट्क इन ग्यारह बिना बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ नौ । वहां पृथ्वीकायिकों, अपकायिकों, वनस्पतिकायिकों में उत्पन्न हुये जीव के सासादन के होते हुये शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती । *(अर्थात् शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने से पहले ही सासादन में से मिथ्यात्व में आता है । तथा आयुबंध निर्वृत्तिअपर्याप्त काल में होता नहीं ।)* इसलिए तिर्यंचायु, मनुष्यायु का बंध मिथ्यात्व गुणस्थान में ही है । इसकारण मिथ्यात्व में व्युच्छित्ति पंद्रह *(१३+२ आयु)*, बंध एक सौ नौ, अबंध शून्य । सासादन में व्युच्छित्ति उनतीस, बंध चौरानबे, अबंध पंद्रह । पुनश्च तेजस्कायिकों, वायुकायिकों में मनुष्यद्विक, मनुष्यायु, उच्चगोत्र इन चार प्रकृतियों का भी बंध नहीं, इसलिए बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ पांच, गुणस्थान एक मिथ्यात्व ही है, सासादन नहीं ॥११४॥

क्यों ? उसका कथन करते हैं –

ण हि सासणो अपुण्णे साहारणसुहुमगे य तेउदुगे ।
ओघं तस मणवयणे ओराले मणुवगइभंगो ।।११५।।

नहि सासादनोऽपूर्णे साधारणसूक्ष्मके च तेजोद्वये ।
ओघः त्रसे मनोवचने औराले मनुष्यगतिभंगः ।।११५।।

टीका – 'हि' अर्थात् चूंकि लब्धिअपर्याप्तों, साधारण शरीरयुक्त जीवों, सर्व सूक्ष्म जीवों, तेजस्कायिक-वायुकायिक जीवों में सासादन गुणस्थान नहीं पाया जाता तथा नारकियों में अपर्याप्त में सासादन नहीं पाया जाता, इसकारण तेजस्कायिक-वायुकायिक में एक ही गुणस्थान कहा । त्रसकायिकों में गुणस्थानवत् रचना जानना, कुछ विशेष नहीं है । बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ बीस, गुणस्थान चौदह, व्युच्छित्ति सोलह, पच्चीस आदि, बंध एक सौ सत्रह, एक सौ एक आदि, अबंध तीन, उन्नीस आदि गुणस्थान रचनावत् जानना ।

पुनश्च त्रस निर्वृत्तिअपर्याप्त की रचना पंचेन्द्रिय निर्वृत्तिअपर्याप्त की रचनावत् जानना, विशेष कुछ नहीं । बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ बारह, गुणस्थान पांच ।

पुनश्च **योगमार्गणा** में मनोयोग, वचनयोग की रचना **ओघः** अर्थात् गुणस्थान रचनावत् जानना । बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ बीस । सत्य-अनुभय मनोयोग और वचनयोग में सयोगी तक के तेरह गुणस्थान तथा असत्य-उभय मनोयोग और वचनयोग में क्षीणमोह तक के बारह गुणस्थान हैं । इनमें गुणस्थानवत् व्युच्छित्ति, बंध, अबंध जानना ।

औदारिक काययोग की रचना मनुष्यगतिवत् जानना । बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ बीस, गुणस्थान तेरह । वहां व्युच्छित्ति सोलह, इकतीस आदि, बंध एक सौ सत्रह, एक सौ एक आदि, अबंध तीन, उन्नीस आदि अनुक्रम से प्रथमादि गुणस्थानों में जानना ।।११५।।

ओराले वा मिस्से ण हि सुरणिरयाउहारणिरयदुगं ।
मिच्छदुगे देवचऊ तित्थं ण हि अविरदे अत्थि ।।११६।।

औराल इव मिश्रे नहि सुरनिरयायुराहारनिरयद्वयं ।
मिथ्यात्वद्वये देवचतुष्कं तीर्थं नहि अविरतेऽस्ति ।।११६।।

टीका – औदारिकमिश्र काययोग में रचना औदारिक काययोगवत् जानना । विशेष इतना है कि औदारिकमिश्रयोगी दो प्रकार के हैं – लब्धिअपर्याप्त, निर्वृत्तिअपर्याप्त । उनमें से निर्वृत्तिअपर्याप्तों में बंधयोग्य एक सौ बारह और लब्धिअपर्याप्तों में मनुष्यायु, तिर्यंचायु का बंध होता है इसलिये औदारिकमिश्र काययोग में देवायु, नरकायु, आहारकद्विक, नरकद्विक बिना बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ चौदह हैं । वहां सुरचतुष्क और तीर्थंकर इन पांच प्रकृतियों का मिथ्यात्व, सासादन में बंध नहीं है, असंयत में बंध है ॥११६॥

पण्णारसमुणतीसं मिच्छदुगे अविरदे छिदी चउरो ।
उवरिमपणसट्ठीवि य एक्कं सादं सजोगिम्हि ॥११७॥

पंचदशैकोनत्रिंशत् मिथ्यात्वद्विके अविरते छित्तयश्चतस्रः ।
उपरिमपंचषष्टिरपि च एकं सातं सयोगिनि ॥११७॥

टीका – औदारिकमिश्र योग में गुणस्थान चार *(१ला, २रा, ४था, १३वां)*। व्युच्छित्ति मिथ्यात्व में पंद्रह, सासादन में उनतीस, असंयत में चार तथा ऊपर की पैंसठ मिलाकर कुल उनहत्तर, सयोगकेवली में एक सातावेदनीय । मिथ्यात्व में सोलह में से नरकायु, नरकद्विक घटाने तथा तिर्यंचायु, मनुष्यायु मिलाने से व्युच्छित्ति पंद्रह है । बंध सुरचतुष्क, तीर्थंकर बिना एक सौ नौ, अबंध पांच । औदारिकमिश्र अवस्था में लब्धिअपर्याप्तकों के बिना औरों के आयु का बंध नहीं है *(तथा लब्धिअपर्याप्तों में सासादन नहीं एकमात्र मिथ्यात्व गुणस्थान पाया जाता है, निर्वृत्तिअपर्याप्तों में सासादन गुणस्थान हो सकता है)* इसलिए औदारिकमिश्र योग में सासादन में इकतीस में से मनुष्यायु, तिर्यंचायु घटानेपर व्युच्छित्ति उनतीस, बंध चौरानबे, अबंध बीस । वज्रवृषभनाराच आदि छह प्रकृतियों की व्युच्छित्ति सासादन में ही हुयी इसकारण असंयत में व्युच्छित्ति इसप्रकार है – असंयत संबंधी अप्रत्याख्यानावरण कषाय चार, देशसंयत संबंधी प्रत्याख्यानावरण कषाय चार, प्रमत्त संबंधी छह, अप्रमत्त संबंधी देवायु बंधयोग्य ही नहीं इसलिए नहीं गिनी, अपूर्वकरण संबंधी आहारकद्विक बिना चौंतीस, अनिवृत्तिकरण संबंधी पांच, सूक्ष्मसाम्पराय संबंधी सोलह सब मिलाकर उनहत्तर प्रकृतियों की व्युच्छित्ति यहां असंयत में होती है । बंध सुरचतुष्क और तीर्थंकर मिलाने से सत्तर, अबंध चौवालीस । पुनश्च सयोगकेवली में व्युच्छित्ति एक साता, बंध एक साता, अबंध एक सौ तेरह ॥११७॥

देवे वा वेगुव्वे मिस्से णरतिरियआउगं णत्थि ।
छट्ठगुणं वाहारे तम्मिस्से णत्थि देवाऊ ॥११८॥

देव इव वैगूर्वे मिश्रे नरतिर्यगायुष्कं नास्ति ।
षष्ठगुणमिवाहारे तन्मिश्रे नास्ति देवायुः ॥११८॥

टीका – वैक्रियिक काययोगी की रचना सौधर्म-ईशान संबंधी देवों की रचना समान जानना । बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ चार, गुणस्थान चार । मिथ्यात्व में व्युच्छित्ति सात, बंध एक सौ तीन, अबंध एक । सासादन में व्युच्छित्ति पच्चीस, बंध छानबे, अबंध आठ । मिश्र में व्युच्छित्ति शून्य, बंध सत्तर, अबंध चौंतीस, असंयत में व्युच्छित्ति दस, बंध बहत्तर, अबंध बत्तीस ।

वैक्रियिकमिश्र काययोगियों की रचना सौधर्म-ईशान संबंधी अपर्याप्त देवों की रचना समान जानना । वहां मनुष्यायु, तिर्यंचायु का भी बंध नहीं है, इसलिए बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ दो, गुणस्थान तीन । मिथ्यात्व में व्युच्छित्ति सात, बंध एक सौ एक, अबंध एक । सासादन में व्युच्छित्ति चौबीस, बंध चौरानबे, अबंध आठ । असंयत में व्युच्छित्ति नौ, बंध इकहत्तर, अबंध इकतीस ।

आहारक काययोगी की रचना प्रमत्त गुणस्थान की रचनावत् जानना । व्युच्छित्ति छह, बंध तिरसठ, अबंध सत्तावन ।

आहारकमिश्र काययोगी की रचना – देवायु का बंध वहां नहीं होता इसलिए व्युच्छित्ति छह, बंध बासठ, अबंध अट्ठावन ॥११८॥

कम्मे उरालमिस्सं वा णाउदुगंपि णव छिदी अयदे ।
वेदादाहारोत्ति य सगुणट्ठाणाणमोघं तु ॥११९॥

कर्मणि औदारिकमिश्रं वा नायुर्द्विकमपि नव छित्तिरयते ।
वेदादाहार इति च स्वगुणस्थानानामोघस्तु ॥११९॥

टीका – कार्माण काययोगी की रचना औदारिकमिश्र रचनावत् जानना । वहां भी यह विशेष है कि विग्रहगति में आयु का बंध नहीं होता, इसलिए मनुष्यायु, तिर्यंचायु बिना बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ बारह, गुणस्थान चार, वहां मिथ्यात्व में सोलह में

से नरकद्विक, नरकायु बिना व्युच्छित्ति तेरह, बंध सुरचतुष्क, तीर्थंकर बिना एक सौ सात, अबंध पांच । सासादन में व्युच्छित्ति तिर्यंचायु बिना चौबीस, बंध चौरानबे, अबंध अठारह । असंयत में मनुष्यायु बिना असंयत की नौ, देशसंयत की चार, प्रमत्त की छह, अप्रमत्त की देवायु गिनी नहीं, अपूर्वकरण की आहारकद्विक बिना चौंतीस, अनिवृत्तिकरण की पांच, सूक्ष्मसाम्पराय की सोलह सब मिलाकर व्युच्छित्ति चौहत्तर । बंध सुरचतुष्क, तीर्थंकर के मिलाने से पचहत्तर, अबंध सैंतीस । सयोगी में व्युच्छित्ति एक साता, बंध एक साता, अबंध एक सौ ग्यारह ।

आगे वेदमार्गणा से आहारमार्गणा तक अपने-अपने गुणस्थानों में सामान्य कथन जानना ।

वेदमार्गणा में स्त्रीवेदियों की बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ बीस, गुणस्थान नौ। वहां आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान तक तो व्युच्छित्ति, बंध, अबंध गुणस्थान रचना में कहा है वैसा ही जानना । क्षपकश्रेणीरूप अनिवृत्तिकरण के प्रथम वेदसहित भाग के द्विचरम समय में व्युच्छित्ति एक पुरुषवेद, बंध बाइस, अबंध अट्ठानबे । उसी के चरम अर्थात् अंतिम समय में व्युच्छित्ति शून्य, बंध इक्कीस, अबंध निन्यानबे ।

पुनश्च निर्वृत्तिअपर्याप्त स्त्रीवेदियों की रचना –

बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ सात, चार आयु, तीर्थंकर, आहारकद्विक, वैक्रियिक षट्क इन तेरह प्रकृतियों का बंध नहीं है । गुणस्थान दो । वहां मिथ्यात्व में व्युच्छित्ति नरकद्विक, नरकायु बिना तेरह, बंध एक सौ सात, अबंध शून्य । सासादन में व्युच्छित्ति तिर्यंचायु बिना चौबीस, बंध चौरानबे, अबंध तेरह । यहां असंयत नहीं पाया जाता।

नपुंसकवेदियों की बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ बीस, गुणस्थान नौ । सर्व रचना स्त्रीवेदियों की रचनावत् जानना ।

निर्वृत्तिअपर्याप्त नपुंसकवेदियों की रचना – बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ आठ, पूर्वोक्त एक सौ सात में नारक असंयत की अपेक्षा एक तीर्थंकर प्रकृति अधिक है *(स्त्रीवेदी निर्वृत्तिअपर्याप्तों में एक सौ सात कही थी)* । तिर्यंचायु, मनुष्यायु का बंध लब्धिअपर्याप्तों में ही है, यहां कथन निर्वृत्तिअपर्याप्तों का है, इसलिए उन्हें गिना नहीं। गुणस्थान तीन, उनमें से मिथ्यात्व में व्युच्छित्ति पूर्वोक्त तेरह, बंध तीर्थंकर बिना एक सौ सात, अबंध एक । सासादन में व्युच्छित्ति पूर्वोक्त चौबीस, बंध चौरानबे, अबंध

चौदह । असंयत में व्युच्छित्ति मनुष्यायु बिना नौ, बंध तीर्थंकर को मिलाने से इकहत्तर, अबंध सैंतीस।

पुरुषवेदियों की बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ बीस, गुणस्थान नौ । वहां आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान तक की रचना तो गुणस्थानवत् जानना । क्षपक अनिवृत्तिकरण के प्रथम भाग के अंतिम समय में व्युच्छित्ति एक पुरुषवेद, वहां तक बंध बाइस, अबंध अट्ठानबे।

पुरुषवेदी निर्वृत्तिअपर्याप्त की रचना –

नरकगति को छोड़कर अन्य तीन गतिवाले जीवों की बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ बारह; चार आयु, नरकद्विक, आहारकद्विक का बंध नहीं है । गुणस्थान तीन । वहां मिथ्यात्व में व्युच्छित्ति पूर्वोक्त तेरह, बंध सुरचतुष्क, तीर्थंकर बिना एक सौ सात, अबंध पांच । सासादन में व्युच्छित्ति पूर्वोक्त चौबीस, बंध चौरानबे, अबंध अठारह। असंयत में व्युच्छित्ति पूर्वोक्त नौ, बंध सुरचतुष्क, तीर्थंकर के मिलने से पचहत्तर, अबंध सैंतीस । स्त्रीवेदी और नपुंसकवेदी के तीर्थंकर, आहारकद्विक का उदय तो नहीं होता, पुरुषवेदी के होता है, परंतु बंध होने में कुछ विरोध नहीं है, तीनों वेदवालों के होता है ।

कषायमार्गणा में चारो कषायों में बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ बीस, गुणस्थान-क्रोध में क्षपक अनिवृत्तिकरण के दूसरे भाग तक, मान में तीसरे भाग तक, माया में चौथे भाग तक, लोभ में पांचवें भाग तक है । उनकी रचना गुणस्थानवत् जाननी। सूक्ष्म लोभ में एक सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान ही है, इसलिए बाकी रचना सूक्ष्मसाम्परायवत् जानना ।

ज्ञानमार्गणा में कुमति, कुश्रुत, विभंग ज्ञान की बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ सत्रह, तीर्थंकर, आहारकद्विक का बंध नहीं है । गुणस्थान दो । वहां मिथ्यात्व में व्युच्छित्ति सोलह, बंध एक सौ सत्रह, अबंध शून्य । सासादन में व्युच्छित्ति पच्चीस, बंध एक सौ एक, अबंध सोलह ।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान की बंधयोग्य प्रकृतियां उन्नासी क्योंकि मिथ्यात्व और सासादन में मिलकर व्युच्छित्तिरूप इकतालीस प्रकृतियां हैं उनके बिना उन्नासी(७९) कही । गुणस्थान नौ, असंयत से क्षीणमोह तक । उनमें व्युच्छित्ति और बंध तो गुणस्थानवत्

जानना । अबंध असंयतादि गुणस्थानों में क्रम से *(चौथे में)* दो, *(पांचवें में)* बारह, *(छठवें में)* सोलह, *(सातवें में)* बीस, *(आठवें में)* इक्कीस, *(नौवें में)* सत्तावन, *(दसवें में)* बासठ, *(ग्यारहवें में)* अठहत्तर, *(बारहवें में)* अठहत्तर जानना ।

मनःपर्ययज्ञान में बंधयोग्य प्रकृतियां-प्रमत्त गुणस्थान में जिनका बंध पाया जाता है वे तिरसठ प्रकृतियां तथा आहारकद्विक मिलकर पैंसठ । मनःपर्ययज्ञानियों के आहारकद्विक का उदय विरुद्धरूप है परंतु अप्रमत्त और अपूर्वकरण में आहारकद्विक का बंध होने में विरोध नहीं है । गुणस्थान प्रमत्तादि क्षीणमोह तक सात । उनमें व्युच्छित्ति और बंध तो गुणस्थान रचना में कहा है, वही जानना । अबंध अनुक्रम से दो, छह, सात, तैंतालीस, अड़तालीस, चौंसठ जानना ।

केवलज्ञान में बंधयोग्य प्रकृति एक साता वेदनीय, गुणस्थान दो । वहां सयोगकेवली में व्युच्छित्ति एक, बंध एक, अबंध नास्ति । अयोगकेवली में व्युच्छित्ति और बंध शून्य, अबंध एक ।

संयममार्गणा में असंयम में बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ अठारह आहारकद्विक बिना। गुणस्थान चार असंयत तक । उनमें व्युच्छित्ति और बंध तो गुणस्थान रचनावत् जानना। अबंध क्रम से एक, सत्रह, चौवालीस, इकतालीस जानना । देशसंयम की रचना देशसंयत गुणस्थान की रचनावत् जानना । व्युच्छित्ति चार, बंध सड़सठ, अबंध तिरपन ।

सामायिक छेदोपस्थापना में बंधयोग्य प्रकृतियां पैंसठ-प्रमत्त गुणस्थान में बंध जिसका पाया जाता है वे तिरसठ तथा आहारकद्विक मिलकर पैंसठ जानना । गुणस्थान प्रमत्तादि चार *(छठवें से नौवें तक)* । उनमें व्युच्छित्ति और बंध तो गुणस्थान रचनावत् जानना। अबंध अनुक्रम से दो, छह, सात, तैंतालीस जानना ।

परिहारविशुद्धि संयम में बंधयोग्य प्रकृतियां वे ही पैंसठ । यहां तीर्थंकर, आहारकद्विक का बंध विरुद्ध नहीं है परंतु आहारक का उदय विरुद्धरूप है । गुणस्थान दो प्रमत्त, अप्रमत्त। व्युच्छित्ति छह, एक । बंध तिरसठ, उनसठ । अबंध दो, छह क्रम से जानना।

सूक्ष्मसाम्पराय संयम की रचना सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवत् जानना । व्युच्छित्ति सोलह, बंध सत्रह, अबंध एक सौ तीन ।

यथाख्यात संयम में बंधयोग्य एक सातावेदनीय । गुणस्थान चार-उपशांतमोह आदि, वहां व्युच्छित्ति और बंध तो गुणस्थानवत् जानना । अबंध अयोगकेवली में एक, अन्य तीन गुणस्थानों में शून्य ।

दर्शनमार्गणा में चक्षु-अचक्षुदर्शन में बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ बीस । गुणस्थान क्षीणमोह तक बारह, उनकी सर्व रचना गुणस्थान रचनावत् जानना । अवधिदर्शन की रचना अवधिज्ञानवत् जानना । बंधयोग्य उन्नासी, गुणस्थान असंयत आदि नौ । केवलदर्शन की रचना केवलज्ञानवत् जानना । बंधयोग्य एक, गुणस्थान दो ।

लेश्यामार्गणा में कृष्ण, नील, कपोत इन तीनों में बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ अठारह, आहारकद्विक बिना । गुणस्थान चार असंयत तक । उनमें व्युच्छित्ति और बंध तो गुणस्थानवत् जानना; अबंध एक, सत्रह, चौवालीस, इकतालीस जानना ॥११९॥

णवरि य सव्वुवसम्मे णरसुरआऊणि णत्थि णियमेण ।
मिच्छस्संतिम णवयं बारं णहि तेउपम्मेसु ॥१२०॥

सुक्के सदरचउक्कं वामंतिमबारसं च ण व अत्थि ।
कम्मेव अणाहारे बंधस्संतो अणंतो य ॥१२१॥

नवरि च सर्वोपशमे नरसुरायुषी नास्ति नियमेन ।
मिथ्यात्वस्यांतिमं नवकं द्वादश न हि तेजःपद्मयोः ॥१२०॥

शुक्लायां शतारचतुष्कं वामांतिमद्वादश च न वा अस्ति ।
कर्म्म इव अनाहारे बंधस्यांतोऽनंतश्च ॥१२१॥

टीका – तेजोलेश्या में बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ ग्यारह, मिथ्यात्व में सोलह प्रकतियों की व्युच्छित्ति कही थी उनमें से आदि की सात प्रकृतियों का यहां बंध है। अंत की सूक्ष्म, अपर्याप्त आदि नौ प्रकृतियों का बंध नहीं हैं । गुणस्थान आदि के सात । वहां मिथ्यात्व गुणस्थान में व्युच्छित्ति सात, बंध एक सौ आठ, अबंध तीन। सासादन से अप्रमत्तसंयत तक के गुणस्थानों में व्युच्छित्ति और बंध तो गुणस्थान रचनावत् जानना । अबंध अनुक्रम से दस, सैंतीस, चौंतीस, चौवालीस, अड़तालीस, बावन क्रम से जानना ।

*(**विशेषार्थ** - तेजो(पीत)लेश्या में बंधयोग्य एक सौ ग्यारह ।*

गुणस्थान	१	२	३	४	५	६	७
व्युच्छित्ति	७	२५	०	१०	४	६	१
बंध	१०८	१०१	७४	७७	६७	६३	५९
अबंध	३	१०	३७	३४	४४	४८	५२

पद्मलेश्या में बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ आठ-मिथ्यात्व की व्युच्छित्तिरूप सोलह प्रकृतियों में से एकेन्द्रियादि अंत की बारह प्रकृतियां यहां बंधयोग्य नहीं हैं । गुणस्थान आदि के सात । वहां मिथ्यात्व में व्युच्छित्ति चार, बंध एक सौ पांच, अबंध तीन। ऊपर सासादन आदि से अप्रमत्तसंयत तक के गुणस्थानों में व्युच्छित्ति और बंध तो गुणस्थानवत् जानना । अबंध अनुक्रम से सात, चौंतीस, इकतीस, इकतालीस, पैंतालीस, उनचास जानना ।

*(**विशेषार्थ** – पद्मलेश्या में बंधयोग्य एक सौ आठ ।*

गुणस्थान	१	२	३	४	५	६	७
व्युच्छित्ति	४	२५	०	१०	४	६	१
बंध	१०५	१०१	७४	७७	६७	६३	५९
अबंध	३	७	३४	३१	४१	४५	४९

शुक्ललेश्या में बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ चार, पूर्वोक्त एक सौ आठ में से तिर्यंचद्विक, तिर्यंचायु, उद्योत इस 'सदरचउक्क' बिना बंध जानना । गुणस्थान एक से तेरह । वहां मिथ्यात्व में व्युच्छित्ति चार, बंध एक सौ एक, अबंध तीन । सासादन में सदरचउक्क बिना व्युच्छित्ति इक्कीस, बंध सत्तानबे, अबंध सात । ऊपर मिश्र से सयोगी तक के गुणस्थानों में व्युच्छित्ति और बंध तो गुणस्थान रचनावत् जानना । अबंध अनुक्रम से तीस, सत्ताइस, सैंतीस, इकतालीस, पैंतालीस, छियालीस, बयासी, सत्तासी, एक सौ तीन, एक सौ तीन, एक सौ तीन जानना ।

*(**विशेषार्थ** – शुक्ललेश्या में बंधयोग्य एक सौ चार ।*

गुण.	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३
व्यु.	४	२१	०	१०	४	६	१	३६	५	१६	०	०	१
बंध	१०१	९७	७४	७७	६७	६३	५९	५८	२२	१७	१	१	१
अबं.	३	७	३०	२७	३७	४१	४५	४६	८२	८७	१०३	१०३	१०३

भव्यमार्गणा में भव्य की बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ बीस, गुणस्थान चौदह। उनमें रचना गुणस्थान रचनावत् जानना । अभव्य में आहारकद्विक, तीर्थंकर बिना बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ सत्रह, गुणस्थान एक मिथ्यात्व ही है ।

सम्यक्त्वमार्गणा में प्रथमोपशम सम्यक्त्व में बंधयोग्य प्रकृतियां सतहत्तर । मिथ्यात्व, सासादन में व्युच्छित्ति इकतालीस और **'णवरिय सव्वुवसम्मे णरसुरआऊण णत्थि णियमेण'** इस वचन से दो आयु की तो पहले ही व्युच्छत्ति हुयी थी तथा सम्यग्दृष्टि के तिर्यंच, मनुष्यगति में तो देवायु का और नरक, देवगति में मनुष्यायु का बंध होता है परंतु प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि के तो इन दो आयु का भी बंध नहीं है इसकारण बंधयोग्य प्रकृतियां सतहत्तर ही कही । उसकी रचना – असंयत में व्युच्छित्ति मनुष्यायु बिना नौ, बंध आहारकद्विक बिना पचहत्तर, अबंध दो । देशविरत में व्युच्छित्ति चार, बंध छासठ, अबंध ~~पंद्रह~~ ग्यारह । प्रमत्त में व्युच्छित्ति छह, बंध बासठ, अबंध पंद्रह। अप्रमत्त में व्युच्छित्ति शून्य, बंध आहारकद्विक मिलने से अट्ठावन, अबंध उन्नीस । इस रचना में तीर्थंकर और आहारक के बंध की विवक्षा जाननी । कई आचार्य उपशम सम्यग्दृष्टि के तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं मानते इसलिए यहां विवक्षा नहीं है परंतु आहारकद्विक का उदय विरुद्ध है, बंध विरुद्ध नहीं है । द्वितीयोपशम सम्यक्त्व असंयत, देशसंयत, प्रमत्तसंयत में उपशमश्रेणी उतरकर नीचे आनेवाले जीवकी अपेक्षा ही पाया जाता है और अप्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानों में श्रेणी चढ़ने और उतरने की अपेक्षा पाया जाता है । इसकारण यहां गुणस्थान असंयत से उपशांतमोह तक आठ जानना। बंधयोग्य यहां भी सतहत्तर प्रकृतियां ही जानना । वहां असंयत, देशसंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत में तो रचना प्रथमोपशम सम्यक्त्व की रचना समान जानना । अपूर्वकरण में व्युच्छित्ति छत्तीस, बंध अट्ठावन, अबंध उन्नीस । अनिवृत्तिकरण में व्युच्छित्ति पांच, बंध बाइस, अबंध पचपन । सूक्ष्मसाम्पराय में व्युच्छित्ति सोलह, बंध सत्रह, अबंध साठ । उपशांतमोह में व्युच्छित्ति शून्य, बंध एक, अबंध छिहत्तर ।

यहां प्रश्न – यदि प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम सम्यक्त्व में आयु का बंध नहीं होता तो श्रेणी चढ़ते हुये अपूर्वकरण के प्रथम भाग में मरण से रहित ऐसा विशेषण पहले बताया था, वह निरर्थक ही था ?

उसका समाधान – जिस जीव के मिथ्यात्व आदि में पहले देवायु का बंध हो गया हो ऐसे सातिशय अप्रमत्तविरत के श्रेणी चढ़ना पाया जाता है । वहां प्रथमोपशम सम्यक्त्व में तथा श्रेणी चढ़ते समय अपूर्वकरण के पहले भाग में, जो अंतर्मुहूर्त प्रमाण है, मरण नहीं होता । अन्यत्र उपशमश्रेणी में मरण हो सकता है । देवायु का बंध सर्वत्र उपशमश्रेणी में नहीं होता ऐसा वहां भावार्थ जानना ।

क्षयोपशम सम्यक्त्व में बंधयोग्य प्रकृतियां उन्नासी, क्योंकि इकतालीस प्रकृतियों की मिथ्यात्व, सासादन में व्युच्छित्ति हुयी । वहां गुणस्थान असंयत आदि चार, क्योंकि अपूर्वकरणादि में उपशमश्रेणी में उपशम सम्यक्त्व या क्षायिक सम्यक्त्व पाया जाता है। क्षपकश्रेणी में क्षायिक सम्यक्त्व ही पाया जाता है । वहां उन असंयतादि में बंध और व्युच्छित्ति तो गुणस्थान रचनावत् जानना । अबंध अनुक्रम से दो, बारह, सोलह, बीस जानना ।

क्षायिक सम्यक्त्व में भी बंधयोग्य उन्नासी, मिथ्यात्व सासादन में इकतालीस प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हुयी उनके बिना उन्नासी जानना । गुणस्थान असंयत से अयोगकेवली तक ग्यारह तथा सिद्ध भगवान जानना । उनमें व्युच्छित्ति और बंध तो गुणस्थान रचनावत् जानना । अबंध अनुक्रम से दो, बारह, सोलह, बीस, इक्कीस, सत्तावन, बासठ, अठहत्तर, अठहत्तर, अठहत्तर, उन्नासी जानना ।

मिथ्यात्व की रचना मिथ्यात्व गुणस्थानवत् है । वहां व्युच्छित्ति सोलह, बंध एक सौ सत्रह, अबंध तीन । सासादन सम्यक्त्व की रचना सासादन गुणस्थानवत् है। वहां व्युच्छित्ति पच्चीस, बंध एक सौ एक, अबंध उन्नीस । मिश्र सम्यक्त्व की रचना मिश्र गुणस्थानवत् है । वहां व्युच्छित्ति शून्य, बंध चौहत्तर, अबंध छियालीस।

संज्ञीमार्गणा में संज्ञी में बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ बीस, गुणस्थान आदि के बारह, वहां सर्व रचना गुणस्थान रचनावत् जानना । असंज्ञी में आहारकद्विक, तीर्थंकर बिना बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ सत्रह, गुणस्थान दो । वहां मिथ्यात्व में व्युच्छित्ति उन्नीस । सासादन में असंज्ञी मिश्रयोगी ही होते हैं इसकारण वहां चार आयु का बंध

नहीं है । नरकायु तो सोलह में आ गयी, इसलिए तीन और बढ़ गयी *(इसतरह मिथ्यात्व में उन्नीस की व्युच्छित्ति है ।)* बंध एक सौ सत्रह, अबंध शून्य । सासादन में विकलेन्द्रियवत् व्युच्छित्ति उनतीस, बंध अट्ठानबे, अबंध उन्नीस ।

आहारमार्गणा में आहारक में बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ बीस, गुणस्थान तेरह सयोगकेवली तक । वहां व्युच्छित्ति, बंध, अबंध गुणस्थान रचनावत् जानना । अनाहारक में बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ बारह-कार्माण काययोग में जो बंधयोग्य कही थी वे ही यहां जानना । गुणस्थान पांच-मिथ्यात्व, सासादन, असंयत, सयोगकेवली इन चार में तो रचना कार्माणकाययोग की रचना समान जानना, कुछ विशेष नहीं । अयोगकेवली में व्युच्छित्ति और बंध तो शून्य और अबंध एक सौ बारह ।

इसतरह वेदमार्गणा से आहारमार्गणा तक बंध का अंत अर्थात् व्युच्छित्ति, अनंत अर्थात् बंध और 'च' अर्थात् अबंध कहे हैं उन्हें जानना ।

आगे मूलप्रकृतियों के बंध के सादि–अनादि विशेष कहते हैं –

सादि अणादी धुव अद्धुवो य बंधो दु कम्मछक्कस्स ।
तदियो सादियसेसो अणादिधुवसेसगो आऊ ॥१२२॥

सादिरनादिः ध्रुवोऽध्रुवश्च बंधस्तु कर्मषट्कस्य ।
तृतीयः सादिकशेषोऽनादिध्रुवशेषक आयुः ॥१२२॥

टीका – सादिबंध, अनादिबंध, ध्रुवबंध, अध्रुवबंध इसतरह प्रकृतिबंध चार प्रकार का है । वहां ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, नाम, गोत्र, अंतराय इनका तो चार चार प्रकार का बंध है । वेदनीयकर्म का सादिबंध नहीं है, अन्य तीन प्रकार का है क्योंकि उपशमश्रेणी के चढ़ने-उतरने में साता की अपेक्षा वेदनीय का निरंतर बंध है, इसलिए सादिपना नहीं पाया जाता । आयुकर्म का अनादि और ध्रुव बंध नहीं है, सादि और अध्रुव बंध ही है, क्योंकि एक पर्याय*(भव)* में एक बार, दो बार ऐसे उत्कृष्टपने से आठ बार बंधती है इसलिए सादिबंध है, अंतर्मुहूर्त तक ही बंधती है इसलिए अध्रुव है ॥१२२॥

गाथा १२२ के आधार से मूलप्रकृतियों में सादि आदि चार बंधकृत भेद –

बंधभेद	ज्ञाना.	दर्शना.	वेदनीय	मोहनीय	आयु	नाम	गोत्र	अंतराय
सादिबंध	है	है	नहीं	है	है	है	है	है
अनादिबंध	है	है	है	है	नहीं	है	है	है
ध्रुवबंध	है	है	है	है	नहीं	है	है	है
अध्रुवबंध	है	है	है	है	है	है	है	है

आगे इन बंधों के लक्षण कहते हैं –

सादी अबंधेबंधे सेढिअणारुढगे अणादी हु ।
अभव्वसिद्धम्हि धुवो भवसिद्धे अद्धुवो बंधो ॥१२३॥

सादिरबंधबंधे श्रेण्यनारोहके अनादिर्हि ।
अभव्यसिद्धे ध्रुवो भव्यसिद्धेऽध्रुवोः बंधः ॥१२३॥

टीका – जिस कर्म के बंध का अभाव होकर पुनश्च दुबारा बंध शुरु हो जाये, वहां उस कर्म के बंध को सादि कहते हैं । जैसे, ज्ञानावरण की पांच प्रकृतियों का बंध जीव के सूक्ष्मसाम्पराय तक था, पश्चात् वही जीव जब उपशांतमोह गुणस्थान को प्राप्त हुआ तब ज्ञानावरण के बंध का अभाव हुआ, पश्चात् वही जीव उतरकर सूक्ष्मसाम्पराय को प्राप्त हुआ वहां उसके पुनश्च ज्ञानावरण का बंध होने लगा - वहां उस बंध को सादिबंध कहते हैं । इसीतरह अन्य प्रकृतियों में जानना ।

जिस गुणस्थान में जिस कर्म के बंध की व्युच्छित्ति होती है उस गुणस्थान के अनंतर ऊपर के गुणस्थान को श्रेणी कहते हैं, वहां अनारूढ़ अर्थात् अप्राप्त हुये जीव के उस कर्म का अनादिबंध जानना । जैसे, ज्ञानावरण की बंध की व्युच्छित्ति सूक्ष्मसाम्पराय के अंतिम समय में होती है, उसके अनंतर ऊपर के उपशांतमोह गुणस्थान को जो जीव प्राप्त नहीं हुआ है उसके ज्ञानावरण का अनादिबंध बंध है । इसीतरह अन्य प्रकृतियों में जानना ।

अभव्यसिद्ध अर्थात् अभव्य जीवों में ध्रुवबंध जानना क्योंकि निःप्रतिपक्ष अर्थात् निरंतरबंधी प्रकृतियों का बंध अभव्य जीव के अनादिअनंत पाया जाता है । भव्यसिद्ध

में अध्रुवबंध है क्योंकि भव्य जीव के बंध का अभाव भी पाया जाता है और बंध भी पाया जाता है । जैसे सूक्ष्मसाम्पराय में ज्ञानावरण पांच की बंध की व्युच्छित्ति होती है, वैसे इनका स्वरूप जानना ॥१२३॥

आगे उत्तरप्रकृतियों में कहते हैं –

घादितिमिच्छकसाया भयतेजगुरुदुगणिमिणवण्णचओ ।
सत्तेत्तालधुवाणं चदुधा सेसाणयं तु दुधा ॥१२४॥

घातित्रिमिथ्यात्वकषाया भयतेजोऽगुरुद्विकनिर्माणवर्णचतुष्कं ।
सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवाणां चतुर्धा शेषाणां तु द्विधा ॥१२४॥

टीका – ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय की उन्नीस प्रकृतियां, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, भय, जुगुप्सा, तेजस, कार्माण, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श-चार – ये सैंतालीस प्रकृतियां ध्रुव हैं । इनका तो चार प्रकार का बंध पाया जाता है। जब तक इनके बंध की व्युच्छित्ति नहीं होती तब तक इन प्रकृतियों का प्रतिसमय समयप्रबद्ध में बंध होता ही है, इसकारण इन प्रकृतियों को ध्रुव कहते हैं।

इनके अलावा शेष तिहत्तर प्रकृतियां अध्रुव हैं । वे इस प्रकार हैं – वेदनीय दो, मोहनीय की सात, चार आयु, चार गति, पांच जाति, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अंगोपांग, आहारक शरीर, आहारक आंगोपांग, छह संस्थान, छह संहनन, चार आनुपूर्वी, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास - ये चार, विहायोगति दो, त्रस-स्थावर दो, बादर-सूक्ष्म दो, पर्याप्त-अपर्याप्त दो, प्रत्येक-साधारण दो, स्थिर-अस्थिर दो, सुभग-दुर्भग दो, शुभ-अशुभ दो, सुस्वर-दुस्वर दो, आदेय-अनादेय दो, यशस्कीर्ति-अयशस्कीर्ति दो, तीर्थंकर, गोत्रकर्म की दो – ये तिहत्तर प्रकृतियां अध्रुव हैं । इन प्रकृतियों के सादि और अध्रुव दो ही बंध पाये जाते हैं । इन प्रकृतियों का किसी समय बंध होता है, किसी समय बंध नहीं होता, इसकारण इनको अध्रुव कहते हैं ।

गाथा १२४ के आधार से उत्तर प्रकृतियों में सादि आदि बंधकृत भेद –

सादिबंध	अनादिबंध	ध्रुवबंध	अध्रुवबंध
ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ९, अंतराय ५, मिथ्यात्व, १६ कषाय, भय, जुगुप्सा, तेजस, कार्माण, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, वर्णादि चार – कुल ४७	ये ही ४७	ये ही ४७	ये ही ४७ तथा वेदनीय २, मोहनीय ७, आयु ४, गोत्र २, नाम ५८ – कुल ७३

आगे इनमें अप्रतिपक्ष और सप्रतिपक्ष भेद कहते हैं –

सेसे तित्थाहारं परघादचउक्क सव्वआऊणि ।
अप्पडिवक्खा सेसा सप्पडिवक्खा हु बासट्ठी ॥१२५॥

शेषासु तीर्थाहारं परघातचतुष्कं सर्वायूंषि ।
अप्रतिपक्षाः शेषाः प्रतिपक्षा हि द्वाषष्टिः ॥१२५॥

टीका – सैंतालीस ध्रुव प्रकृतियों के बिना शेष रही तिहत्तर प्रकृतियों में से तीर्थंकर, आहारकद्विक, परघातादि चार, आयु चार - ये ग्यारह प्रकृतियां अप्रतिपक्ष हैं – इनके कोई प्रतिपक्ष नहीं है, इसलिए इन प्रकृतियों का जिस काल में बंध होता है उस काल में अपना अपना बंध होता है, जिस काल में बंध नहीं होता, उस काल में नहीं होता । जैसे तीर्थंकर प्रकृति का बंध जिस काल में होता है तब तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है, नहीं होता तब नहीं होता ।

अवशेष रही बासठ प्रकृतियां सब सप्रतिपक्ष हैं, इनकी प्रतिपक्षी प्रकृतियां पायी जाती हैं । इसलिए परस्पर प्रतिपक्षियों में से एक काल में एक ही का बंध होता है । जैसे - सातावेदनीय, असातावेदनीय परस्पर प्रतिपक्षी हैं । वहां एक काल में या तो साता का बंध होता है या असाता का, दोनों का नहीं होता । मोहनीय में रति-अरति प्रतिपक्षी हैं, हास्य-शोक प्रतिपक्षी हैं, तीन वेद परस्पर प्रतिपक्षी हैं इनमें से एक-एक का ही बंध होता है । नामकर्म में चार गति परस्पर प्रतिपक्षी हैं, पांच जाति परस्पर प्रतिपक्षी हैं इत्यादि, त्रस-स्थावर प्रतिपक्षी हैं इत्यादि, इनमें से एक एक का ही बंध जानना । दो गोत्र में एक काल में एक ही का बंध जानना । इसतरह सप्रतिपक्षी का बंध जानना ।

प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध के कारणभूत योगस्थानों का चतुःस्थानपतित वृद्धि-हानि द्वारा तथा स्थितिबंध-अनुभागबंध के कारणभूत अध्यवसायस्थानों का षट्स्थानपतित वृद्धि-हानि द्वारा पलटना होता है, इसकारण साता-असाता की भांति तीन वेद इत्यादि में भी सप्रतिपक्षपना जानना । कभी किसी प्रकृति का बंध होता है, तो कभी किसी प्रकृति का बंध होता है ॥१२५॥

गाथा १२५ के आधार से अप्रतिपक्षादि कृत भेद –

अप्रतिपक्ष प्रकृतियां	सप्रतिपक्ष प्रकृतियां	अनुभय प्रकृतियां
तीर्थंकर, आहारकद्विक, परघातादि ४, आयु ४	वेदनीय २, नाम ५१, गोत्र २, मोहनीय ७	ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ९, मोहनीय १९, अंतराय ५,नाम ९
कुल ११	६२	४७

इन अध्रुव प्रकृतियों का सादि और अध्रुव बंध ही कहा, उसका कारण क्या है ? कहते हैं –

अवरो भिण्णमुहुत्तो तित्थाहाराण सव्वआऊणं ।
समओ छावट्ठीणं बंधो तम्हा दुधा सेसा ॥१२६॥

अवरो भिन्नमुहूर्तः तीर्थाहाराणं सर्वायुषां।
समयः षट्षष्टीनां बंधः तस्मात् द्विधा शेषाः ॥१२६॥

टीका – तीर्थंकर, आहारकद्विक, चार आयु इन सात प्रकृतियों का निरंतर बंधकाल जघन्य से अंतर्मुहूर्त प्रमाण है । प्रतिसमय कर्मों का बंध है, जब इन सात प्रकृतियों का बंध होने लगता है तब जघन्यपने से निरंतर अंतर्मुहूर्त काल तक बंध होता है। अवशेष छासठ प्रकृतियों का निरंतर बंध का जघन्य काल एक समय है, जिसका किसी एक समय में बंध हुआ, द्वितीयादि समयों में उस प्रकृति का बंध हो अथवा न भी हो, इसकारण उन तिहत्तर अध्रुव प्रकृतियों का सादिबंध और अध्रुवबंध सिद्ध हुआ ।

इसतरह प्रकृतिबंध का स्वरूप जानना । इति प्रकृतिबंध समाप्तः ।

—o—

आगे **स्थितिबंध** को कहते हैं, वहां प्रथम ही मूलप्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं –

तीसं कोडाकोडी तिघादितदियेसु वीस णामदुगे ।
सत्तरि मोहे सुद्धं उवही आउस्स तेतीसं ॥१२७॥

त्रिंशत् कोटिकोट्यः त्रिघातितृतीयेषु विंशतिर्नामद्वये ।
सप्ततिर्मोहे शुद्ध उदधिः आयुषः त्रयस्त्रिंशत् ॥१२७॥

टीका – उत्कृष्ट स्थितिबंध - ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय, वेदनीय में तीस कोडाकोडी सागर प्रमाण है; नाम, गोत्र में बीस कोडाकोडी सागर प्रमाण है; मोहनीय में सत्तर कोडाकोडी सागर प्रमाण है; आयु में कोडाकोडी विशेषण रहित शुद्ध अर्थात् मात्र तैंतीस सागर है ॥१२७॥

आगे उत्तरप्रकृतियों में छह गाथाओं द्वारा कहते हैं –

दुक्खतिघादीणोघं सादिच्छीमणुदुगे तदद्धं तु ।
सत्तरि दंसणमोहे चरित्तमोहे य चत्तालं ॥१२८॥

संठाणसंहदीणं चरिमस्सोघं दुहीणमादित्ति ।
अट्ठरसकोडकोडी वियलाणं सुहुमतिण्हं च ॥१२९॥

अरदीसोगे संढे तिरिक्खभयणिरयतेजुरालदुगे ।
वेगुव्वादावदुगे णीचे तसवण्णअगुरुति चउक्के ॥१३०॥

इगिपंचेंदियथावर णिमिणासग्गमणअथिरछक्काणं ।
वीसं कोडाकोडी सागर णामाणमुक्कस्सं ॥१३१॥

हस्सरदिउच्चपुरिसे थिरछक्के सत्थगमणदेवदुगे ।
तस्सद्धमंतकोडाकोडी आहारतित्थयरे ॥१३२॥

सुरणिरयाऊणोघं णरतिरियाऊण तिण्णि पल्लाणि ।
उक्कस्सट्ठिदिबंधो सण्णीपज्जत्तगे जोग्गे ॥१३३॥

दुःखत्रिघातिनामोघः सातस्त्रीमनुष्यद्विके तदर्धं तु ।
सप्ततिः दर्शनमोहे चारित्रमोहे च चत्वारिंशत् ।।१२८।।

संस्थानसंहतीनां चरमस्यौघः द्विहीनमादीति ।
अष्टादशकोटीकोटिः विकलानां सूक्ष्मत्रयाणां च ।।१२९।।

अरतिशोके षण्ढे तिर्यग्भयनिरयतेजऔरालद्वये ।
वैगूर्विकातपद्विके त्रसवर्णागुर्विति चतुष्के ।।१३०।।

एकपंचेंद्रियस्थावर निर्माणासद्गमनास्थिरषट्कानां ।
विंशंति कोटीकोटिः सागरः नाम्नामुत्कृष्टं ।।१३१।।

हास्यरत्युच्चपुरुषे स्थिरषट्के शस्तगमनदेवद्विके ।
तस्यार्धमंतःकोटीकोटिः आहारतीर्थकरे ।।१३२।।

सुरनिरयायुषोरोघः नरतिर्यगायुषोः त्रीणि पल्यानि ।
उत्कृष्टस्थितिबंधः संज्ञिपर्याप्तके योग्ये ।।१३३।।

टीका – उत्कृष्ट स्थितिबंध कहते हैं - असातावेदनीय की तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय की उन्नीस इसतरह इन बीस प्रकृतियों का **ओघं** अर्थात् मूलप्रकृतियों के समान तीस कोडाकोडी सागर प्रमाण है । सातावेदनीय, स्त्रीवेद, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी इन चारों का **तदर्ध** अर्थात् पंद्रह कोडाकोडी सागर प्रमाण है । दर्शनमोहनीय में एक मिथ्यात्व ही बंधयोग्य है उसका सत्तर कोडाकोडी सागर प्रमाण है । चारित्रमोहनीयरूप सोलह कषायों का चालीस कोडाकोडी सागर प्रमाण है ।

संस्थान और संहनन में अंतिम हुंडक संस्थान और असंप्राप्तासृपाटिका संहनन का मूलप्रकृतिवत् बीस कोडाकोडी सागर प्रमाण है, अवशेष में दो-दो कम है । वामन संस्थान-कीलित संहनन का अठारह कोडाकोडी सागर, कुब्जक संस्थान-अर्धनाराच संहनन का सोलह कोडाकोडी सागर, स्वाति संस्थान-नाराच संहनन का चौदह कोडाकोडी सागर, न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान-व्रजनाराच संहनन का बारह कोडाकोडी सागर, समचतुरस्र संस्थान-वज्रवृषभनाराच संहनन का दस कोडाकोडी सागर प्रमाण है ।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त इन छह का अठारह कोडाकोडी सागर प्रमाण है । अरति, शोक, नपुंसकवेद, तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, भय, जुगुप्सा, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तेजस, कार्माण, औदारिक शरीर, औदारिक

अंगोपांग, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अंगोपांग, आतप, उद्योत, नीचगोत्र, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक – ये चार, वर्णादि चार, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास – चार, एकेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, स्थावर, निर्माण, अप्रशस्त विहायोगति, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयशस्कीर्ति – ये छह इन इकतालीस प्रकृतियों का बीस कोडाकोडी सागर प्रमाण है ।

हास्य, रति, उच्चगोत्र, पुरुषवेद, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशस्कीर्ति ये छह, प्रशस्त विहायोगति, देवगति और देवगत्यानुपूर्वी इन तेरह प्रकृतियों का **तदर्ध** अर्थात् दस कोडाकोडी सागर प्रमाण है । आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, तीर्थंकर इन तीनों का अंतःकोडाकोडी अर्थात् कोडी *(एक करोड)* के ऊपर तथा कोडाकोडी *(करोड×करोड)* के नीचे इतने सागर प्रमाण है । देवायु, नरकायु का **ओघः** अर्थात् मूलप्रकृतिवत् तैंतीस सागर प्रमाण है । तिर्यंचायु, मनुष्यायु का तीन पल्य प्रमाण है।

इसप्रकार इन प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध कहा, ऐसा उत्कृष्ट स्थितिबंध संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव के ही होता है । असंज्ञी और अपर्याप्त में पाये जानेवाले उत्कृष्ट स्थितिबंध का आगे वर्णन करेंगे, वह भी योग्य जीव के होता है । योग्य कहने से सर्व ही कर्म संसार के कारण हैं, इसलिए शुभाशुभ कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति चारों गतिवाले उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम के धारक जीवों द्वारा ही बंधती है इसप्रकार भावार्थ जानना ॥१२८-१३३॥

यहां विशेष कहते हैं –

सव्वट्ठिदीणमुक्कस्सओ दु उक्कस्ससंकिलेसेण ।
विवरीदेण जहण्णो आउगतियवज्जियाणं तु ॥१३४॥

सर्वस्थितीनामुत्कृष्टकस्तु उत्कृष्टसंक्लेशेन ।
विपरीतेन जघन्य आयुष्कत्रयवर्जितानां तु ॥१३४॥

टीका – तिर्यंचायु, मनुष्यायु, देवायु को छोड़कर अन्य सभी एक सौ सत्रह प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध यथासंभव उत्कृष्ट संक्लेश परिणामों द्वारा होता है तथा जघन्य स्थितिबंध उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामों द्वारा होता है । उपरोक्त तीनों आयु का उत्कृष्ट स्थितिबंध उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामों द्वारा होता है, जघन्य स्थितिबंध उनसे विपरीतरूप *(उत्कृष्ट संक्लेश)* परिणामों द्वारा होता है ॥१३४॥

उत्कृष्ट स्थितिबंध किसके होता है ? कहते हैं –

सव्वुक्कस्सठिदीणं मिच्छाइट्ठी दु बंधगो भणिदो ।
आहारं तित्थयरं देवाउं वा विमोत्तूणं ॥१३५॥

सर्वोत्कृष्टस्थितीनां मिथ्यादृष्टिस्तु बंधको भणितः ।
आहारं तीर्थकरं देवायुषं वा विमुच्य ॥१३५॥

टीका – आहारकद्विक, तीर्थंकर, देवायु इन चार प्रकृतियों को छोड़कर शेष एक सौ सोलह प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति मिथ्यादृष्टि जीव ही बांधता है । इन चारों की उत्कृष्ट स्थिति सम्यग्दृष्टि ही बांधता है ॥१३५॥

वहां भी विशेष कहते हैं –

देवाउगं पमत्तो आहारयमप्पमत्तविरदो दु ।
तित्थयरं च मणुस्सो अविरदसम्मो समज्जेइ ॥१३६॥

देवायुषं प्रमत्त आहारकमप्रमत्तविरतस्तु ।
तीर्थकरं च मनुष्यः अविरतसम्यक् समर्जयति ॥१३६॥

टीका – देवायु की उत्कृष्ट स्थिति अप्रमत्तविरत गुणस्थान चढ़ने को सन्मुख हुये प्रमत्तविरत गुणस्थानवर्ती जीव बांधता है । यद्यपि अप्रमत्त गुणस्थान में भी देवायु का बंध है तथापि सातिशय अप्रमत्त में तो तीव्र विशुद्ध परिणाम पाये जाते हैं इसकारण वहां तो देवायु का बंध ही नहीं है और निरतिशय अप्रमत्त में बंध है तथापि उत्कृष्ट स्थितिबंध नहीं होता, इसलिए वहां नहीं कहा । आहारकद्विक की उत्कृष्ट स्थिति प्रमत्त गुणस्थान के सन्मुख हुये अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती संक्लेश परिणामी जीव बांधता है क्योंकि तीन आयु बिना शेष कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति उत्कृष्ट संक्लेश द्वारा बंधती है । चूंकि आहारकद्विक का बंध करनेवाले जीवों में जो प्रमत्तविरत के सन्मुख हुआ है ऐसे अप्रमत्तविरत के ही उत्कृष्ट संक्लेश है इसलिए उसी के उत्कृष्ट स्थितिसहित आहारकद्विक का बंध कहा । उत्कृष्ट स्थिति सहित तीर्थंकर प्रकृति को नरकगति जाने के सन्मुख हुये असंयत सम्यग्दृष्टि मनुष्य बांधता है क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति का बंध करनेवाले जीवों में उसके तीव्र संक्लेश पाये जाते हैं ॥१३६॥

अवशेष एक सौ सोलह प्रकृतियों को उत्कृष्ट स्थिति सहित मिथ्यादृष्टि जीव

ही बांधता है, उसका कथन दो गाथाओं द्वारा करते हैं –

णरतिरिया सेसाउं वेगुव्वियछक्कवियलसुहुमतियं ।
सुरणिरया ओरालिय तिरियदुगुज्जोवसंपत्तं ॥१३७॥

देवा पुण एइंदिय आदावं थावरं च सेसाणं ।
उक्कस्ससंकिलिट्ठा चदुगदिया ईसिमज्झिमया ॥१३८॥

नरतिर्यंचः शेषायुषं वैगूर्विकषट्कविकलसूक्ष्मत्रयं ।
सुरनिरयाः औदारिक तिर्यग्द्वयोद्योतासंप्राप्तं ॥१३७॥

देवाः पुनरेकेंद्रियातपं स्थावरं च शेषाणां ।
उत्कृष्ट संक्लिष्टाः चातुर्गतिका ईषन्मध्यमकाः ॥१३८॥

टीका – नरकायु, मनुष्यायु, तिर्यंचायु – तीन आयु; नरकगति और नरकगत्यानुपूर्वी, देवगति और देवगत्यानुपूर्वी, वैक्रियिक शरीर और वैक्रियिक अंगोपांग – यह वैक्रियिक षट्क; द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय – यह विकलत्रय तथा सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण -यह सूक्ष्मत्रय इन पंद्रह प्रकृतियों को उत्कृष्ट स्थिति सहित मनुष्य और तिर्यंच मिथ्यादृष्टि बांधता है । औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, उद्योत, असंप्राप्तासृपाटिका संहनन – इनको उत्कृष्ट स्थिति सहित मिथ्यादृष्टि देव और नारक जीव बांधता है । एकेन्द्रिय, आतप, स्थावर – इन तीनों को उत्कृष्ट स्थिति सहित मिथ्यादृष्टि देव बांधता है । अवशेष रही बानबे प्रकृतियों को उत्कृष्ट संक्लेशी और ईषत्, मध्यम संक्लेशी चारों गतियों के जीव बांधते हैं । यहां उत्कृष्ट, ईषत्, मध्यम संक्लेशी जीवों का स्वरूप कहते हैं —

'उक्कस्ससंकिलिट्ठस्स ईसिमज्झिमपरिणामस्स वा उक्कस्सट्ठिदिबंधो होदि ।'

उत्कृष्ट संक्लेश परिणामों और ईषत् मध्यम परिणामों के धारक मिथ्यादृष्टि जीवों के उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है ।

उक्कस्सट्ठिदिबंधपाउग्ग असंखेज्जलोगपरिणामाणं पलिदोवमस्स असंखेज्जभागमेत्ताणि खंडाणि कादूण तत्थ चरमखंडस्स उक्कस्ससंकिलेसो णाम, पढमखंडस्स ईसिसंकिलेसो णाम दोण्हं विच्चालखंडाणं मज्झिमसंकिलेसो णामेत्ति उच्चदि ।

स्थितिबंध के कारणभूत तीव्रमंदादिरूप स्थितिबंधाध्यवसायस्थानों में उत्कृष्ट स्थितिबंध के कारणभूत असंख्यात लोकप्रमाण परिणाम हैं । उनके पल्य के असंख्यातवें भागप्रमाण खंड करना । उनमें से अंतिम खंड में जितने परिणाम पाये जाते हैं जो बहुत कषायरूप हैं, उनको उत्कृष्ट संक्लेश कहते हैं, प्रथम खंड में जितने परिणाम पाये जाते हैं जो अल्प कषायरूप हैं, उनको ईषत् संक्लेश कहते हैं । दोनों खंडों के बीच में जो खंड हैं, उनमें जो परिणाम पाये जाते हैं, जो यथासंभव कषायरूप हैं, उनको मध्यम संक्लेश कहते हैं ।

'एवं सेससव्वट्ठिदिवियप्पेसु वत्तव्वं ।'

इसीप्रकार उत्कृष्ट से लेकर एक-एक समय से घटते हुये जघन्य स्थिति तक के जितने स्थिति के भेद हैं उन सभी में इसीतरह कथन करना ।

'एत्थ सव्वपयडीसु सगसगट्ठिदिवियप्पो उड्ढगच्छो होदि तिरियगच्छो पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागो होदि । गुणहाणी आयामो पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागो होदि । एत्थ अणुकट्ठिरयणाविहाणं अधापवत्तकरणं व वत्तव्वं ।

इन सर्व प्रकृतियों में अपनी अपनी स्थिति के भेदों का प्रमाण ऊर्ध्वगच्छ होता है । तिर्यक्गच्छ पल्य के असंख्यातवें भागप्रमाण होता है । गुणहानि का आयाम पल्य के असंख्यातवें भागप्रमाण होता है । यहां अनुकृष्टिरचना का विधान अधःप्रवृत्तकरणवत् कहना । वही कहते हैं –

जैसे जीवकाण्ड में गुणस्थान प्ररूपणा में सातिशय अप्रमत्त के अधःप्रवृत्तकरण का स्वरूप कहते समय अंकसंदृष्टि द्वारा कथन किया है वैसे ही यहां अंकसंदृष्टि द्वारा कथन का स्वरूप जानना । जैसे अंकसंदृष्टि में सर्वधन का प्रमाण तीन हजार बहत्तर (३०७२) है; वैसे यहां सर्व स्थितिबंधाध्यवसायस्थानों का प्रमाण जो असंख्यात लोकप्रमाण है, उतना सर्वधन का प्रमाण जानना ।

जैसे ऊर्ध्वगच्छ का प्रमाण सोलह कहा, वैसे यहां विवक्षित कर्म की जघन्य स्थिति से लेकर एक एक समय से बढ़ते हुये उत्कृष्ट स्थिति तक जितने स्थिति के भेद पाये जाते हैं उतना ऊर्ध्वगच्छ जानना । पुनश्च जैसे गच्छ का वर्ग दो सौ छप्पन और संख्यात की सहनानी *(चिन्ह)* तीन, इनका सर्वधन को भाग देनेपर चार आये, इसलिए चय का प्रमाण चार है, वैसे यहां जो ऊर्ध्वगच्छ का प्रमाण कहा उसके

वर्ग को संख्यात गुणा करके उसका भाग सर्वधन को देनेपर जो प्रमाण आता है, उतना चय जानना । एक-एक ऊर्ध्वरचना में इतना इतना बढ़ता जानना ।

पुनश्च जैसे एक कम गच्छ-पंद्रह का आधा करके उसको चय का प्रमाण चार से गुणा करनेपर प्रमाण तीस होता है, उसको गच्छ सोलह से गुणा करनेपर चार सौ अस्सी होते हैं, वह चयधन का प्रमाण जानना । इसको सर्वधन में से घटाने पर दो हजार पांच सौ बानबे (२५९२) रहे, इसे गच्छ सोलह का भाग देनेपर एक सौ बासठ (१६२) आये, वह आदि जानना । वैसे, यहां जो गच्छ का प्रमाण कहा उसमें से एक घटाकर उसका आधा करके उसको चय का जो प्रमाण कहा उससे गुणा करनेपर जो प्रमाण आता है उसको गच्छ से गुणा करनेपर जो प्रमाण आता है, वह चयधन जानना । इस चयधन को सर्वधन में से घटानेपर जो प्रमाण रहता है उसको गच्छ के प्रमाण से भाग देनेपर जो प्रमाण आता है, उतने अध्यवसायस्थान जघन्य स्थितिबंध को कारणभूत हैं ।

पुनश्च जैसे आदि में एक चय चार मिलानेपर दूसरा स्थान एक सौ छासठ होता है, वैसे यहां जघन्य स्थितिबंध के कारणभूत अध्यवसायस्थानों का जो प्रमाण कहा, उसमें पूर्वोक्त चय का प्रमाण मिलानेपर जो प्रमाण होता है, उतने अध्यवसाय स्थान जघन्य स्थिति से एक समय अधिक जो दूसरी स्थिति, उसके बंध के कारणभूत जानने । इसमें एक चय मिलानेपर जघन्य से दो समय अधिक तीसरी स्थिति के बंध के कारणभूत अध्यवसायस्थान जानने । इसतरह उत्कृष्ट स्थिति तक एक एक चय बढ़ाना । अंकसंदृष्टि में जिसतरह १६२, १६६, १७०, १७४, १७८, १८२, १८६, १९०, १९४, १९८, २०२, २०६, २१०, २१४, २१८, २२२ रचना है, उसतरह यहां भी जानना ।

पुनश्च जैसे अंकसंदृष्टि में तिर्यक्गच्छ का प्रमाण चार है, वैसे यहां तिर्यक्गच्छ का प्रमाण पल्य के असंख्यातवें भागप्रमाण जानना । इस तिर्यक्गच्छ को अनुकृष्टि-गच्छ भी कहते हैं । जैसे अनुकृष्टिगच्छ चार का भाग ऊर्ध्व रचना में चय का प्रमाण चार कहा था उसको देनेपर एक आया, वह अनुकृष्टि में चय जानना । वैसे यहां तिर्यक्गच्छ का प्रमाण पल्य के असंख्यातवें भाग कहा था उसका भाग पूर्वोक्त *(ऊर्ध्व)* चय के प्रमाण को देनेपर जो प्रमाण आता है, उतना अनुकृष्टि में चय जानना ।

पुनश्च जैसे अनुकृष्टिगच्छ चार में से एक घटाकर उसको आधा करके उसे चय तथा गच्छ से गुणा करनेपर छह आते हैं, वह अनुकृष्टि में चयधन जानना । [{(४-१)÷२}×१×४=६]। इसको अनुकृष्टि का सर्वधन एक सौ बासठ में से घटानेपर एक सौ छप्पन रहे, उसको अनुकृष्टिगच्छ चार का भाग देनेपर उनतालीस आये, वह उस प्रथम स्थान का प्रथम खंड जानना, वैसे यहां अनुकृष्टिगच्छ में से एक घटाकर आधा करके उसको अनुकृष्टि के चय तथा गच्छ से गुणा करनेपर जो प्रमाण हो, वह अनुकृष्टि में चयधन जानना । इसको जघन्य स्थितिबंध के कारणभूत अध्यवसायस्थानों के प्रमाण में से घटानेपर जो प्रमाण रहे, उसको अनुकृष्टिगच्छ का भाग देनेपर जो प्रमाण हो वह जघन्य स्थितिबंध के कारणभूत अध्यवसायस्थानों का प्रथम खंड जानना, इनकी ईषत् संज्ञा है ।

पुनश्च जैसे उनतालीस में अनुकृष्टि का एक चय मिलाने पर चालीस हुये वह दूसरा खंड है, इसमें एक चय मिलानेपर इकतालीस हुये वह तीसरा खंड है; वैसे ही प्रथम खंड में अनुकृष्टि का चय मिलाने पर दूसरा खंड होता है, इसमें एक चय मिलानेपर तीसरा खंड होता है, इसप्रकार एक कम अंतिम खंड तक जितने खंड हो, उनकी मध्यम संज्ञा है । पुनश्च जैसे अंतिम खंड में बयालीस होते हैं, वैसे जो प्रमाण हो उसकी उत्कृष्ट संज्ञा है । इसतरह जघन्य स्थिति संबंधी परिणामों में खंड कहे।

जैसे दूसरे स्थान के एक सौ छासठ परिणामों के चार खंडों में प्रमाण चालीस, इकतालीस, बयालीस, तैंतालीस होता है, वैसे यहां भी जघन्य से एक समय अधिक दूसरी स्थिति के कारणभूत अध्यवसायस्थानों के खंडों में पूर्वोक्त विधान द्वारा प्रमाण जानना।

इसीतरह विधान करते हुये जैसे अंतिम स्थान में दो सौ बाइस प्रमाण के खंडों का प्रमाण चौवन, पचपन, छप्पन, सत्तावन होता है; वैसे यहां एक एक ऊर्ध्वचय बढ़ाते हुये उत्कृष्ट स्थितिबंध के कारणभूत अध्यवसायस्थानों का जो प्रमाण आता है उसके पूर्वोक्त विधान द्वारा प्राप्त प्रथम खंड की **ईषत् संक्लेश** संज्ञा है, मध्य के खंडों की **मध्यम संक्लेश** संज्ञा है, अंतिम खंड की **उत्कृष्ट संक्लेश** संज्ञा है । अधःकरणवत् यहां भी नीचे की स्थिति के कारणभूत अध्यवसायस्थानों की ऊपर की स्थिति के कारणभूत अध्यवसायस्थानों के साथ संख्या तथा संक्लेश-विशुद्धि की अपेक्षा समानता जानना । इस समानता को ही अनुकृष्टि कहते हैं । अधःकरण के प्रकरण में जैसे यंत्र और विशेष कथन है वैसे यहां भी अर्थ का निश्चय करना ॥१३७-१३८॥

आगे मूलप्रकृतियों के जघन्य स्थितिबंध को कहते हैं –

बारस य वेयणीये णामागोदे य अट्ठ य मुहुत्ता ।
भिण्णमुहुत्तं तु ठिदी जहण्णयं सेसपंचण्हं ॥१३९॥

द्वादश च वेदनीये नामगोत्रे अष्ट च मुहूर्ताः ।
भिन्नमुहूर्तस्तु स्थितिः जघन्या शेषपंचानां ॥१३९॥

टीका – जघन्य स्थितिबंध वेदनीय में बारह मुहूर्त, नाम और गोत्र में आठ मुहूर्त है, अवशेष पांच कर्मों में एक एक अंतर्मुहूर्त प्रमाण है ॥१३९॥

आगे उत्तरप्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध चार गाथाओं द्वारा कहते हैं –

लोहस्स सुहुमसत्तरसाणं ओघं दुगेकदलमासं ।
कोहतिये पुरिसस्स य अट्ठ य वस्सा जहण्णठिदी ॥१४०॥

लोभस्य सूक्ष्मसप्तदशानामोघः द्विकैकदलमासः ।
क्रोधत्रये पुरुषस्य च अष्ट च वर्षाणि जघन्यस्थितिः ॥१४०॥

टीका – लोभ और सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में जिनका बंध पाया जाता है ऐसी सत्रह प्रकृतियां - इन सब का जघन्य स्थितिबंध मूलप्रकृतिवत् जानना । वहां यशस्कीर्ति और उच्चगोत्र का तो आठ-आठ मुहूर्त, सातावेदनीय का बारह मुहूर्त, अवशेष पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पांच अंतराय तथा ~~सूक्ष्म~~ लोभ का जघन्य स्थितिबंध एक एक अंतर्मुहूर्त प्रमाण जानना । *(**विशेषार्थ** – सत्रह प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध क्षपक दसवें गुणस्थान के अंत में है तथा ~~सूक्ष्म~~लोभ का जघन्य स्थितिबंध क्षपक नौवें गुणस्थान के अंत में है)* । क्रोध का दो महिना, मान का एक महिना, माया का पंद्रह दिन, पुरुषवेद का आठ वर्ष प्रमाण जघन्य स्थितिबंध है ॥१४०॥

तित्थाहाराणंतो कोडाकोडी जहण्णठिदिबंधो ।
खवगे सगसगबंधच्छेदणकाले हवे णियमा ॥१४१॥

तीर्थाहाराणामंतःकोटीकोटिः जघन्यस्थितिबंधः ।
क्षपके स्वकस्वकबंधच्छेदनकाले भवेन्नियमात् ॥१४१॥

टीका – तीर्थंकर, आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध अंतःकोडाकोडी प्रमाण है । अंतःकोडाकोडी के भेद बहुत हैं, इसलिए जघन्य भी इतना ही कहा। यह ऊपर बताया हुआ जघन्य स्थितिबंध सभी प्रकृतियों में नियम से क्षपक श्रेणीवाले के अपनी अपनी बंध की व्युच्छित्ति के समय में होता है ॥१४१॥

भिण्णमुहुत्तो णरतिरियाऊणं वासदससहस्साणि ।
सुरणिरयआउगाणं जहण्णओ होदि ठिदिबंधो ॥१४२॥

भिन्नमुहूर्तो नरतिर्यगायुषोर्वर्षदशसहस्राणि ।
सुरनिरयायुषोः जघन्यको भवति स्थितिबंधः ॥१४२॥

टीका – मनुष्यायु, तिर्यंचायु का जघन्य स्थितिबंध अंतर्मुहूर्त प्रमाण है । देवायु, नरकायु का दस हजार वर्ष प्रमाण है ॥१४२॥

सेसाणं पज्जत्तो बादरएइंदियो विसुद्धो य ।
बंधदि सव्वजहण्णं सगसगउक्कस्सपडिभागे ॥१४३॥

शेषाणां पर्याप्तो बादरेकेंद्रियो विशुद्धश्च ।
बध्नाति सर्वजघन्यं स्वकस्वकोत्कृष्ट प्रतिभागे ॥१४३॥

टीका – उनतीस प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध तो ऊपर बताया, अवशेष इक्यानबे का बाकी रहा, उनमें से वैक्रियिकषट्क और एक मिथ्यात्व इन सात को छोड़कर शेष चौरासी प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध यथायोग्य विशुद्धि का धारक बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त जीव करता है, वहां अपनी अपनी उत्कृष्ट स्थिति के प्रतिभाग द्वारा त्रैराशिक विधान से जो जो प्रमाण हो, उतना उतना जघन्य स्थितिबंध का प्रमाण जानना॥१४३॥

वही कहते हैं –

एयं पणकदि पण्णं सयं सहस्सं च मिच्छवरबंधो ।
इगिविगलाणं अवरं पल्लासंखूणसंखूणं ॥१४४॥

एकं पंचकृतिः पंचाशत् शतं सहस्रं च मिथ्यात्ववरबंधः ।
एकविकलानामावरः पल्यासंख्योनसंख्योनं ॥१४४॥

टीका – मिथ्यात्व कर्म की उत्कृष्ट स्थिति एकेन्द्रिय जीव एक सागर प्रमाण बांधता है, द्वीन्द्रिय जीव 'पंचकृति' *(पांच का वर्ग)* अर्थात् पच्चीस सागर प्रमाण बांधता है, त्रीन्द्रिय जीव पचास सागर प्रमाण बांधता है, चतुरिन्द्रिय जीव सौ सागर प्रमाण बांधता है, असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव एक हजार सागर प्रमाण बांधता है, और संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव ही सत्तर कोडाकोडी सागर प्रमाण बांधता है ।

मिथ्यात्व की जघन्य स्थिति एकेन्द्रिय जीव तो अपनी उत्कृष्ट स्थिति से *(एक सागर से)* पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण कम बांधता है, तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपनी अपनी उत्कृष्ट स्थिति से पल्य के संख्यातवें भाग प्रमाण कम बांधता है ॥१४४॥

संज्ञी पंचेन्द्रिय के उत्कृष्ट स्थितिबंध की अपेक्षा एकेन्द्रियादि जीवों के उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिबंध का प्रमाण कहते हैं –

जदि सत्तरिस्स एत्तियमेत्तं किं होदि तीसियादीणं ।
इदि संपाते सेसाणं इगिविगलेसु उभयठिदी ॥१४५॥

यदि सप्ततेः एतावन्मात्रं किं भवति त्रिंशदादीनां ।
इति संपाते शेषाणामेकविकलेषूभयस्थितिः ॥१४५॥

टीका – सत्तर कोडाकोडी सागर उत्कृष्ट स्थिति का धारक मिथ्यात्व नामक कर्म यदि एकेन्द्रिय जीव के एक सागर प्रमाण स्थिति सहित बंधता है, तो तीस कोडाकोडी सागर आदि स्थिति के धारक कर्म एकेन्द्रिय जीव के कितने प्रमाण स्थिति सहित बंधेगा ऐसा त्रैराशिक करना । यहां प्रमाणराशि सत्तर कोडाकोडी सागर, फलराशि एक सागर, इच्छाराशि विवक्षित कर्म की चालीस, तीस या बीस कोडाकोडी सागर प्रमाण जितनी उत्कृष्ट स्थिति हो उतनी जानना । वहां फलराशि को इच्छाराशि से गुणा करके प्रमाणराशि का भाग देनेपर जो जो प्रमाण आता है, उतनी उतनी उत्कृष्ट स्थिति एकेन्द्रिय जीव के बंधती है । सोलह कषायों की उत्कृष्ट स्थिति चालीस कोडाकोडी सागर है, इसको इच्छाराशि बनाकर पूर्वोक्त प्रकार से त्रैराशिक करनेपर एकेन्द्रिय जीव के सोलह कषायों की उत्कृष्ट स्थिति एक सागर के सात भागों में से चार भाग प्रमाण *($\frac{४}{७}$ सागर)* बंधती है ।

इसीप्रकार तीस कोडाकोडी सागर की उत्कृष्ट स्थिति के धारक असातावेदनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय की उन्नीस प्रकृतियों की एकेन्द्रिय जीव के उत्कृष्ट स्थिति एक सागर के सात भागों में से तीन भाग प्रमाण *($\frac{३}{७}$ सागर)* बंधती है । इसी प्रकार जिन प्रकृतियों की संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के बीस कोडाकोडी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति कही थी, उनकी एकेन्द्रिय जीव के उत्कृष्ट स्थिति एक सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण *($\frac{२}{७}$ सागर)* बंधती है । जिनकी उत्कृष्ट स्थिति पंद्रह कोडाकोडी सागर प्रमाण कही थी उनकी एक सागर के सत्तर भागों में से पंद्रह भागप्रमाण *($\frac{१५}{७०}$ सागर)* बंधती है । जिनकी अठारह कोडाकोडी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति कही थी, उनकी एक सागर के सत्तर भागों में से अठारह *($\frac{१८}{७०}$ सागर)* भागप्रमाण बंधती है ।

इसीप्रकार सोलह, चौदह, बारह, दस कोडाकोडी सागर प्रमाण जिनकी स्थिति कही थी, उनकी एकेन्द्रिय जीव के एक सागर के सत्तर भागों में से अनुक्रम से सोलह, चौदह, बारह, दस भागप्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबंध जानना ।

पुनश्च सत्तर कोडाकोडी सागर उत्कृष्ट स्थिति के धारक मिथ्यात्व कर्म का यदि द्वीन्द्रिय जीव के पच्चीस सागर उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है, तो तीस आदि कोडाकोडी सागर उत्कृष्ट स्थिति के धारक कर्मों का द्वीन्द्रिय जीव के कितने प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबंध होगा ऐसा त्रैराशिक करनेपर प्रमाणराशि सत्तर कोडाकोडी सागर, फलराशि पच्चीस सागर प्रमाण, इच्छाराशि विवक्षित कर्म के उत्कृष्ट स्थितिबंध का प्रमाण । वहां फलराशि से इच्छाराशि को गुणित करके प्रमाणराशि का भाग देनेपर जो जो प्रमाण आयेगा, उतनी उतनी उत्कृष्ट स्थिति द्वीन्द्रिय जीव के बंधती है । जिन कर्मों की चालीस कोडाकोडी सागर उत्कृष्ट स्थिति थी, उनकी सौ सागर के सातवें भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बंधती है । *($४ \times \frac{२५}{७} = \frac{१००}{७}$ ~~को.को.~~ सागर)*। जिनकी तीस कोडाकोडी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति थी उनकी पचहत्तर सागर के सातवें भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बंधती है । *($३ \times \frac{२५}{७} = \frac{७५}{७}$ ~~को.को.~~ सागर)* इसीप्रकार सर्व कर्मों का एकेन्द्रिय से पच्चीस गुणा स्थितिबंध द्वीन्द्रिय का जानना । त्रीन्द्रिय में प्रमाणराशि और इच्छाराशि तो पूर्वोक्त प्रमाण रखना और इसके मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिबंध पचास सागर है इसलिए फलराशि पचास सागर प्रमाण करनेपर जो जो प्रमाण आता है उतनी उतनी उत्कृष्ट स्थिति बंधती है । यहां फलराशि पूर्व राशि से दोगुणी है, इसकारण द्वीन्द्रिय के स्थितिबंध से त्रीन्द्रिय

के सर्व कर्मों का स्थितिबंध दोगुणा-दोगुणा जानना ।

पुनश्च चतुरिन्द्रिय में प्रमाणराशि और इच्छाराशि तो पूर्वोक्त प्रमाण और इसके मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति सौ सागर बंधती है, इसलिए फलराशि सौ सागर प्रमाण करनेपर, फलराशि पूर्वोक्त फलराशि से दोगुणी होने से त्रीन्द्रिय के स्थितिबंध से चतुरिन्द्रिय के सर्व कर्मों का स्थितिबंध दोगुणा-दोगुणा जानना ।

असंज्ञी पंचेन्द्रिय में प्रमाणराशि और इच्छाराशि तो पूर्वोक्त प्रमाण और इसके मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति हजार सागर बंधती है इसलिए फलराशि हजार सागर । यहां फलराशि पूर्वोक्त फलराशि से दसगुणी होने से चतुरिन्द्रिय के स्थितिबंध से असंज्ञी पंचेन्द्रिय के सर्व कर्मों का स्थितिबंध दस–दसगुणा जानना । इसीप्रकार एकेन्द्रिय जीवों का जघन्य स्थितिबंध भी त्रैराशिक विधि से साधना ॥१४५॥

जघन्य स्थितिबंध में कुछ विशेषता पायी जाती है, वह कहते हैं –

सण्णि असण्णिचउक्के एगे अंतोमुहुत्तमाबाहा ।
जेट्ठे संखेज्जगुणा आवलिसंखं असंखभागहियं ॥१४६॥

संज्ञिनि असंज्ञिचतुष्के एके अंतर्मुहूर्त आबाधा ।
ज्येष्ठे संख्येयगुणा आवलिसंख्यमसंख्यभागाधिकं ॥१४६॥

टीका – संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में जघन्य आबाधा अंतर्मुहूर्त प्रमाण है; क्योंकि संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के कर्मों का जघन्य स्थितिबंध अंतःकोडाकोडी सागर प्रमाण है। इतनी स्थिति की आबाधा अंतर्मुहूर्त प्रमाण ही आगे कहेंगे । कर्मबंध होने के पश्चात् जितने काल तक उदय और उदीरणारूप नहीं प्रवर्तता, उतने काल को आबाधा कहते हैं ।

एकेन्द्रियादि की स्थिति से द्वीन्द्रियादिक की स्थिति संख्यात गुणी है, इसकारण संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव की आबाधा से असंज्ञी पंचेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, एकेन्द्रिय जीवों की आबाधा अनुक्रम से संख्यातगुणी हीन-संख्यातगुणी हीन जानना । परंतु सबका प्रमाण अंतर्मुहूर्त ही कहते हैं, क्योंकि अंतर्मुहूर्त के भेद बहुत हैं । चूंकि एकेन्द्रिय की जघन्य आबाधा से द्वीन्द्रियादिक की जघन्य आबाधा क्रम से पच्चीस, पचास, सौ, हजार गुणी है इसलिए उलटे क्रम से संख्यातगुणी हीन जानना ।

संज्ञी जीव में जघन्य आबाधा के प्रमाण से उत्कृष्ट आबाधा संख्यातगुणी है। असंज्ञी पंचेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय में अपनी अपनी जघन्य आबाधा से उत्कृष्ट आबाधा आवली के संख्यातवें भागप्रमाण अधिक है । यह उत्कृष्ट आबाधा भी क्रम से संख्यातगुणी हीन-संख्यातगुणी हीन जानना ।

एकेन्द्रिय जीव में अपनी जघन्य आबाधा से उत्कृष्ट आबाधा आवली के असंख्यातवें भागप्रमाण अधिक जानना । एकेन्द्रिय जीव की उत्कृष्ट आबाधा के प्रमाण में से उसकी जघन्य आबाधा का प्रमाण घटाकर उसमें एक और मिलानेपर जो प्रमाण आता है, उतने आबाधा के भेद एकेन्द्रिय जीव के जानना ।

इसी प्रकार द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय के अपनी अपनी उत्कृष्ट आबाधा के प्रमाण में से अपनी अपनी जघन्य आबाधा का प्रमाण घटाकर उसमें एक और मिलानेपर आबाधा के भेदों का प्रमाण होता है ।

यहां करणसूत्र –

'आदि अंते सुद्धे वड्ढिहिदे रूवसंजुदे ठाणे।' आदि को अंत में से घटाकर वृद्धि का भाग देकर, एक और मिलाने से स्थानों का प्रमाण आता है । *(इस सूत्र के अनुसार)* यहां आदि-जघन्य आबाधा को अंत-उत्कृष्ट आबाधा में से घटाकर, वृद्धि-यहां जघन्य से एक एक समय बढ़ते हुये उत्कृष्ट भेद होता है इसलिए वृद्धि का प्रमाण एक, उसका भाग देनेपर उतने ही रहे, उसमें एक मिलानेपर आबाधा के भेदरूप स्थानों का प्रमाण होता है ॥१४६॥

यह सब मन में धारण कर जघन्य स्थितिबंध के साधनभूत करणसूत्र कहते हैं –

जेट्ठाबाहोवट्टियजेट्ठं आबाहकंडयं तेण ।
आबाहवियप्पहदेणेगुणेणूणजेट्ठमवरठिदी ॥१४७॥

ज्येष्ठाबाधोद्वर्तितज्येष्ठमाबाधाकांडकं तेन ।
आबाधाविकल्पहतेन एकोनेन ऊनज्येष्ठमवरस्थितिः ॥१४७॥

टीका – एकेन्द्रियादि जीवों की अपनी अपनी उत्कृष्ट आबाधा का जो प्रमाण कहा उसका भाग कर्मों की अपनी अपनी उत्कृष्ट स्थिति को देनेपर जो जो प्रमाण

आता है, वह-वह आबाधाकांडक का प्रमाण है । इतने-इतने स्थितिभेदों में आबाधा का प्रमाण एकरूप पाया जाता है । पूर्वोक्त अपने अपने आबाधा के भेदों के प्रमाण को अपने अपने आबाधाकांडक के प्रमाण से गुणा करनेपर जो जो प्रमाण आता है, उसमें से एक एक घटानेपर जो जो प्रमाण रहता है, उतना-उतना अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति में से घटानेपर जो-जो प्रमाण रहता है, उतना-उतना जघन्य स्थितिबंध का प्रमाण जानना । वही दिखाते हैं –

एकेन्द्रिय जीव के मिथ्यात्व की उत्कृष्ट आबाधा का प्रमाण आवली के असंख्यातवें भाग से अधिक अंतर्मुहूर्त प्रमाण कहा, उसका भाग मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति एक सागर प्रमाण को देनेपर जो प्रमाण आता है, उतना आबाधाकांडक का प्रमाण जानना। इस आबाधाकांडक के प्रमाण को पहले जो एकेन्द्रिय के आबाधा के भेदों का प्रमाण कहा था उससे गुणित करनेपर जो प्रमाण हो उसमें से एक घटानेपर जो प्रमाण रहे, उसको एक सागर प्रमाण मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति में से घटानेपर जो प्रमाण आता है, वह मिथ्यात्व की जघन्य स्थिति का प्रमाण जानना । एक सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति में से इस जघन्य स्थिति के प्रमाण को घटानेपर जो प्रमाण रहे उसको एक का भाग देनेपर उतने ही रहे, इसको एक अधिक करनेपर एकेन्द्रिय जीव के मिथ्यात्व की स्थिति के भेदों का प्रमाण आता है । जघन्य से लेकर एक एक समय से बढ़ते बढ़ते उत्कृष्ट तक एकेन्द्रिय के मिथ्यात्व की स्थिति के इतने भेद जानना ।

इसीतरह द्वीन्द्रिय जीव के मिथ्यात्व की उत्कृष्ट आबाधा का प्रमाण चार बार संख्यात का भाग जिसको दिया है ऐसी आवली मात्र से अधिक पच्चीस अंतर्मुहूर्त प्रमाण है । यद्यपि यह आबाधा अंतर्मुहूर्त प्रमाण ही है, तथापि एकेन्द्रिय जीव के आबाधा का जैसा अंतर्मुहूर्त है, वैसे पच्चीस अंतर्मुहूर्त जानना । क्योंकि एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय का कर्म का स्थितिबंध पच्चीस गुणा है । यहां एकेन्द्रिय के कथन की अपेक्षा पच्चीस अंतर्मुहूर्त कहे हैं, ऐसे ही आगे भी जानना । इस आबाधाकाल का भाग द्वीन्द्रिय के मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति पच्चीस सागर प्रमाण है उसको देनेपर आबाधाकांडक का प्रमाण होता है । इससे द्वीन्द्रिय संबंधी आबाधा के भेदों के प्रमाण को गुणित करके जो प्रमाण होता है, उसमें से एक घटाकर अवशेष रहे प्रमाण को उत्कृष्ट पच्चीस सागर प्रमाण स्थिति में से घटाकर जो अवशेष रहे, उतना द्वीन्द्रिय के मिथ्यात्व का जघन्य स्थितिबंध जानना । इस जघन्य को उत्कृष्ट में से घटाकर अवशेष को एक-एक अधिक

करनेपर द्वीन्द्रिय के मिथ्यात्व संबंधी सर्व स्थिति के भेदों का प्रमाण आता है ।

त्रीन्द्रिय जीव के मिथ्यात्व की उत्कृष्ट आबाधा तीन बार संख्यात का भाग जिसको दिया है ऐसी आवली से अधिक पचास अंतर्मुहूर्त प्रमाण है; उसका भाग मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति पचास सागर को देनेपर आबाधाकांडक का प्रमाण आता है । इससे त्रीन्द्रिय संबंधी आबाधा के भेदों के प्रमाण को गुणित करके जो प्रमाण हो, उसमें से एक घटाकर अवशेष रहे उसको मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति पचास सागर में से घटानेपर जो प्रमाण रहे, वह त्रीन्द्रिय के मिथ्यात्व की जघन्य स्थिति का प्रमाण जानना। इस जघन्य स्थिति को उत्कृष्ट स्थिति में से घटाकर अवशेष में एक मिलानेपर त्रीन्द्रिय के मिथ्यात्व की स्थिति के सर्व भेदों का प्रमाण आता है।

चतुरिन्द्रिय जीव के दो बार संख्यात का भाग जिसको दिया है ऐसी आवली से अधिक सौ अंतर्मुहूर्त प्रमाण मिथ्यात्व की उत्कृष्ट आबाधा है । उसका भाग मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति सौ सागर के देनेपर जो प्रमाण हो, वह आबाधाकांडक का प्रमाण है । इससे चतुरिन्द्रिय संबंधी आबाधा के भेदों के प्रमाण को गुणा करनेपर जो प्रमाण हो, उसमें से एक घटाकर अवशेष रहे उसको मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति सौ सागर में से घटानेपर जो प्रमाण रहे, वह चतुरिन्द्रिय के मिथ्यात्व की जघन्य स्थिति का प्रमाण जानना। इस जघन्य स्थिति को उत्कृष्ट स्थिति में से घटाकर अवशेष को एक अधिक करनेपर चतुरिन्द्रिय के मिथ्यात्व की स्थिति के सर्व भेदों का प्रमाण आता है ।

असंज्ञी पंचेन्द्रिय के मिथ्यात्व की उत्कृष्ट आबाधा आवली के संख्यातवें भाग से अधिक हजार अंतर्मुहूर्त प्रमाण है, इसका भाग मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति हजार सागर को देनेपर जो प्रमाण हो, वह आबाधाकांडक का प्रमाण जानना । इससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय संबंधी आबाधा के भेदों के प्रमाण को गुणित करनेपर जो प्रमाण हो, उसमें से एक घटाकर अवशेष रहे उसको मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति एक हजार सागर में से घटानेपर अवशेष रहे, वह असंज्ञी पंचेन्द्रिय के मिथ्यात्व की जघन्य स्थिति का प्रमाण जानना । इस जघन्य स्थिति को उत्कृष्ट स्थिति में से घटाकर अवशेष रहे उसमें एक मिलानेपर, असंज्ञी पंचेन्द्रिय के मिथ्यात्व की स्थिति के सर्व भेदों का प्रमाण आता है ।

इसतरह यह अर्थ प्रकट जानने में आता है तथापि पुनश्च अंकसंदृष्टि द्वारा दिखाते हैं –

उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण चौंसठ समय, तिरसठ समय से लेकर छियालीस समय तक मध्यम स्थिति का प्रमाण और जघन्य स्थिति का प्रमाण पैंतालीस समय और उत्कृष्ट आबाधा का प्रमाण सोलह समय । इस आबाधा का भाग उत्कृष्ट स्थिति को देनेपर चार आये, इसलिए आबाधाकांडक का प्रमाण चार जानना ।

आबाधाकांडक किसे कहते हैं ? स्थिति के जितने भेदों में आबाधा का प्रमाण एक ही होता है, उतना आबाधाकांडक का प्रमाण जानना ।

वही दिखाते हैं – चौंसठ, तिरसठ, बासठ, इकसठ समय की स्थितिरूप स्थिति के चार भेद, उनमें सोलह-सोलह समय प्रमाण आबाधा पायी जाती है । साठ से लेकर सत्तावन तक स्थिति के चार भेदों में पंद्रह-पंद्रह समय प्रमाण आबाधा पायी जाती है । छप्पन से तिरपन तक स्थिति के चार भेदों में चौदह-चौदह समय प्रमाण आबाधा पायी जाती है । बावन से उनचास तक स्थिति के चार भेदों में तेरह-तेरह समय प्रमाण आबाधा पायी जाती है । अड़तालीस से पैंतालीस तक स्थिति के चार भेदों में बारह-बारह समय प्रमाण आबाधा पायी जाती है । इसतरह आबाधाकांडक का प्रमाण चार जानना ।

अब आबाधा के भेदों का प्रमाण कहते हैं –

जघन्य आबाधा बारह समय प्रमाण, उत्कृष्ट आबाधा सोलह समय प्रमाण, वहां **'आदी अंते सुद्धे वड्ढिहिदे रूवसंजुदे ठाणे'** इस सूत्र के अनुसार वहां आदि - जघन्य आबाधा को अंत-उत्कृष्ट आबाधा में से घटानेपर अवशेष चार रहे, उसको भेदों में वृद्धि का प्रमाण एक समय, इसलिए एक का भाग देनेपर उतने ही रहे, इसमें एक मिलानेपर पांच हुये, इसलिए आबाधा के भेदों का प्रमाण पांच जानना। इससे आबाधाकांडक को गुणा करनेपर स्थिति के सर्व भेदों का प्रमाण बीस हुआ। प्रथम भेद में कुछ हानि-वृद्धि नहीं है इसलिए एक घटानेपर अवशेष उन्नीस रहे, उत्कृष्ट स्थिति चौंसठ में से उन्नीस को घटानेपर अवशेष पैंतालीस रहे, वही जघन्य स्थिति का प्रमाण जानना।

अथवा जघन्य स्थिति में उन्नीस मिलानेपर चौंसठ हुये, वही उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण जानना । इसीप्रकार जैसे अंकों की सहनानी द्वारा कथन दिखाया है, वैसे ही पूर्वोक्त कथन का अर्थ अच्छी तरह से जानना । स्थिति और आबाधाकांडक का प्रमाण

वहां कहा है वैसा जानना । स्वरूप ऐसा ही जानना । जितने स्थिति के भेदों में एक प्रमाणवाली आबाधा हो वही आबाधाकांडक का प्रमाण जानना, आबाधा के भेद जघन्य से उत्कृष्ट तक जितने हो उतने ही जानना । और भी सर्व प्रकार से जैसा कहा है वैसा जानना ।

इसप्रकार एकेन्द्रियादि जीवों के सर्व प्रकृतियों का स्थितिबंध जानना ।

अब त्रैराशिक द्वारा अन्य प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध दिखाते हैं –

सत्तर कोडाकोडी सागर प्रमाण स्थिति के धारक मिथ्यात्व कर्म की एकेन्द्रिय जीव एक कम पल्य का असंख्यातवां भाग जिसमें से घटाया हो ऐसे एक सागर प्रमाण जघन्य स्थिति को यदि बांधता है *(एक सागर–एक अधिक पल्य का असंख्यातवां भाग)* तो चालीस, तीस, बीस, अठारह, सोलह, पंद्रह, चौदह, बारह, दस कोडाकोडी सागर प्रमाण स्थिति के धारक कर्मों की एकेन्द्रिय जीव कितनी जघन्य स्थिति को बांधता है ? प्रमाणराशि सत्तर कोडाकोडी सागर, फलराशि एकेन्द्रिय संबंधी मिथ्यात्व की जघन्य स्थिति का प्रमाण, इच्छाराशि चालीस, तीस कोडाकोडी सागर आदि उन उन कर्म की संज्ञी संबंधी उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण कि जिन जिन कर्मों की एकेन्द्रिय संबंधी जघन्य स्थिति का प्रमाण जानना हो ।

इन फलराशि से इच्छाराशि को गुणा करके प्रमाणराशि का भाग देनेपर जितना-जितना लब्धराशि का प्रमाण आता है उतना-उतना उस-उस कर्मों का जघन्य स्थितिबंध एकेन्द्रिय जीव के जानना । वहां प्रमाणराशि सत्तर कोडाकोडी सागर, फलराशि एकेन्द्रिय संबंधी मिथ्यात्व की जघन्य स्थिति का प्रमाण, इच्छाराशि चालीस कोडाकोडी सागर प्रमाण । वहां फलराशि को इच्छाराशि से गुणा करके प्रमाण का भाग देनेपर जो लब्धराशि का प्रमाण आया, वह जिनकी उत्कृष्ट स्थिति चालीस कोडाकोडी है, ऐसे सोलह कषायों की जघन्य स्थिति का प्रमाण एकेन्द्रिय जीव के जानना ।

इसीतरह तीस, बीस, अठारह, सोलह, पंद्रह, चौदह, बारह, दस कोडाकोडी सागर प्रमाण क्रम से इच्छाराशि का प्रमाण करनेपर जो जो प्रमाण आता है, वह-वह उस-उस उत्कृष्ट स्थिति के धारक कर्मों की जघन्य स्थिति का प्रमाण एकेन्द्रिय जीव के जानना ।

इसीतरह द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में कर्मों का जघन्य

स्थितिबंध जानना । विशेष इतना है कि एकेन्द्रिय के कथन में फलराशि का प्रमाण एकेन्द्रिय संबंधी मिथ्यात्व की जघन्य स्थितिप्रमाण कहा था, द्वीन्द्रिय के कथन में फलराशि का प्रमाण द्वीन्द्रिय संबंधी मिथ्यात्व की जघन्य स्थितिप्रमाण जानना; त्रीन्द्रिय के कथन में फलराशि का प्रमाण त्रीन्द्रिय संबंधी मिथ्यात्व की जघन्य स्थितिप्रमाण जानना; चतुरिन्द्रिय के कथन में फलराशि का प्रमाण चतुरिन्द्रिय संबंधी मिथ्यात्व की जघन्य स्थितिप्रमाण जानना; असंज्ञी पंचेन्द्रिय के कथन में फलराशि का प्रमाण असंज्ञी पंचेन्द्रिय संबंधी मिथ्यात्व की जघन्य स्थितिप्रमाण जानना ।

द्वीन्द्रिय आदि के कथन में प्रमाणराशि और इच्छाराशि का प्रमाण एकेन्द्रियवत् जानना।

इसप्रकार त्रैराशिक करनेपर जो जो लब्धराशि का प्रमाण आये, वह-वह द्वीन्द्रियादिक जीवों के कर्मों की जघन्य स्थिति का प्रमाण जानना ॥१४७॥

एकेन्द्रियादि जीवों संबंधी जो स्थिति कही, उसके जघन्य से उत्कृष्ट तक जितने-जितने भेद हैं, उनको स्थापित करके उनमें एकेन्द्रिय सूक्ष्म, एकेन्द्रिय बादर, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय इन सभी के पर्याप्त-अपर्याप्त भेद से चौदह जीवसमास हुये, उनके जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबंध को भेद करके दिखाते हैं –

बासूप-बासुअ-वरट्ठिदीओ, सूबाअ-सूबाप-जहण्णकालो ।
बीबीवरो बीबिजहण्णकालो सेसाणमेवं वयणीयमेदं ॥१४८॥

बासूप-बासूअ-वरस्थितिः सूबाअ-सूबाप-जघन्यकालः ।
बीबीवरः बीबिजघन्यकालः शेषाणामेवं वक्तव्यमेतत् ॥१४८॥

टीका – बा अर्थात् बादर, **सू** अर्थात् सूक्ष्म, **प** अर्थात् दोनों पर्याप्त *(बासूप)*; **बा** अर्थात् बादर, **सू** अर्थात् सूक्ष्म, **अ** अर्थात् दोनों अपर्याप्त *(बासूअ)* - इनके कर्मों की **वरस्थिति** अर्थात् कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति । पुनश्च **सू** अर्थात् सूक्ष्म, **बा** अर्थात् बादर, **अ** अर्थात् ये दोनों अपर्याप्त *(सूबाअ) तथा* **सू** अर्थात् सूक्ष्म, **बा** अर्थात् बादर, **प** अर्थात् ये दोनों पर्याप्त *(सूबाप)* इनका **जघन्यकालः** अर्थात् कर्मों की जघन्य स्थिति ।

यहां १) बादर पर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति, २) सूक्ष्म पर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति,

३) बादर अपर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति, ४) सूक्ष्म अपर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति ५) सूक्ष्म अपर्याप्त की जघन्य स्थिति, ६) बादर अपर्याप्त की जघन्य स्थिति, ७) सूक्ष्म पर्याप्त की जघन्य स्थिति, ८) बादर पर्याप्त की जघन्य स्थिति इसप्रकार एकेन्द्रिय जीवों के कर्मों की स्थिति में आठ भेद हुये ।

पुनश्च **बी** अर्थात् द्वीन्द्रिय पर्याप्त, **बी** अर्थात् द्वीन्द्रिय अपर्याप्त इनकी **वरः** अर्थात् कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति *(बीबीवरः)* । पुनश्च **बी** अर्थात् द्वीन्द्रिय अपर्याप्त, **बी** अर्थात् द्वीन्द्रिय पर्याप्त इनके **जघन्यः** अर्थात् कर्मों की जघन्य स्थिति *(बी बी जघन्यकालः)*। इसतरह १) द्वीन्द्रिय पर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति, २) द्वीन्द्रिय अपर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति, ३) द्वीन्द्रिय अपर्याप्त की जघन्य स्थिति, ४) द्वीन्द्रिय पर्याप्त की जघन्य स्थिति इसप्रकार द्वीन्द्रिय जीवों के कर्मों की स्थिति में चार भेद हुये ।

'शेषाणां एवं वचनीयं' अर्थात् अवशेष त्रीन्द्रिय आदि जीवों के पर्याप्त-अपर्याप्त, जघन्य-उत्कृष्ट से चार-चार भेद कहना । उसका कथन करते हैं –

१) त्रीन्द्रिय पर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति, २) त्रीन्द्रिय अपर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति, ३) त्रीन्द्रिय अपर्याप्त की जघन्य स्थिति, ४) त्रीन्द्रिय पर्याप्त की जघन्य स्थिति इसतरह त्रीन्द्रिय के कर्मों की स्थिति में चार भेद हुये ।

१) चतुरिन्द्रिय पर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति, २) चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति, ३) चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त की जघन्य स्थिति, ४) चतुरिन्द्रिय पर्याप्त की जघन्य स्थिति इसतरह चतुरिन्द्रिय के कर्मों की स्थिति में चार भेद जानना ।

१) असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति, २) असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति, ३) असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त की जघन्य स्थिति, ४) असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त की जघन्य स्थिति इसतरह असंज्ञी पंचेन्द्रिय के कर्मों की स्थिति में चार भेद जानना ।

१) संज्ञी पर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति, २) संज्ञी अपर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति, ३) संज्ञी अपर्याप्त की जघन्य स्थिति, ४) संज्ञी पर्याप्त की जघन्य स्थिति इसतरह संज्ञी पंचेन्द्रिय के कर्मों की स्थिति में चार भेद जानना ।

इसप्रकार स्थितिबंध में ये सब मिलकर अट्ठाइस भेद हुये । उनमें से अंत के संज्ञी पंचेन्द्रिय संबंधी चार भेदों का तो आगे जुदा कथन करेंगे । अवशेष चौबीस

भेदों की स्थिति का आयाम जानने के लिये अंतराल के भेदों को त्रैराशिक द्वारा विभागरूप कहते हैं –

स्थितिबंध में समयों के प्रमाण को आयाम कहते हैं । आयाम लम्बाई को कहते हैं । लम्बाई के समान समय एक-एक अनुक्रम से होते हैं, चौड़ाई के समान युगपत् अनेक समय नहीं होते, इसकारण काल के प्रमाण की आयाम संज्ञा है ।

एकेन्द्रिय जीव के मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति एक सागर प्रमाण है तथा जघन्य स्थिति एक सागर में से एक कम पल्य का असंख्यातवां भाग घटानेपर जो बाकी रहे उतनी है । यहां **'आदी अंते सुद्धे वड्ढिहिदे रूवसंजुदे ठाणे'** सूत्र द्वारा आदि-जघन्य स्थिति को अंत-उत्कृष्ट स्थिति में से घटानेपर जो प्रमाण रहे उसको, स्थिति के एक-एक भेद में एक-एक समय अधिक होने से वृद्धि का प्रमाण एक, उसका भाग देनेपर जितने के उतने रहे, उसमें एक मिलानेपर एकेन्द्रिय जीव के मिथ्यात्व की स्थिति के भेद पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण हुये । इसकारण इस गाथा के पश्चात् ही अनंतर जो गाथा है उसके अर्थ में एकेन्द्रिय जीव के स्थिति के अंतरालों में अंकों की सहनानी की अपेक्षा एक(१), दो(२), चार(४), चौदह(१४), अट्ठाइस(२८), अट्ठानबे(९८), एक सौ छानबे(१९६) प्रमाण की धारक शलाका कहेंगे, उन सब शलाकाओं का जोड़ देनेपर तीन सौ तैंतालीस शलाका हुयी ।

जैसे लौकिक में साझेदारी के कार्य में हिस्सा कहते हैं *(पार्टनरशीपवाले कार्यों में परसेंटेज कहते हैं)* वैसे यहां शलाका जानना । एकेन्द्रिय जीव के जितने पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति के भेद कहे, उनको तीन सौ तैंतालीस का भाग देकर जो प्रमाण आता है, उतने एक शलाका में स्थिति के भेदों का प्रमाण जानना। इसको अपने-अपने शलाका के प्रमाण से गुणा करनेपर अपने-अपने स्थान में स्थिति के भेदों का प्रमाण आता है । उसीको *(सात)* त्रैराशिकों द्वारा दिखाते हैं –

१) यदि तीन सौ तैंतालीस शलाकाओं में एकेन्द्रिय जीव संबंधी मिथ्यात्व की स्थिति के सर्व भेद पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण पाये जाते हैं, तो एक सौ छानबे शलाकाओं में कितने पाये जायेंगे ? यहां प्रमाणराशि तीन सौ तैंतालीस, फलराशि एकेन्द्रिय के मिथ्यात्व की स्थिति के भेदों का प्रमाण पल्य के असंख्यातवें भागमात्र, इच्छाराशि एक सौ छानबे । वहां फलराशि से इच्छाराशि को गुणा करके प्रमाणराशि का भाग देनेपर जो लब्धराशि का प्रमाण आया उतने बादर पर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध

से लेकर सूक्ष्म पर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध तक स्थिति के भेद जानना । बादर पर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध और सूक्ष्म पर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध के अंतराल में स्थिति के जितने भेद पाये जाते हैं उनका यह प्रमाण जानना । इस अंतराल की एक सौ छानबे शलाका जाननी ।

यहां अंतराल में स्थिति के भेदों का जितना प्रमाण कहा उसमें से एक घटाकर जो प्रमाण हो, उतने समय एक सागर प्रमाण बादर पर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध में से घटानेपर अंत में बताये हुये सूक्ष्म पर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध का प्रमाण होता है ।

२) पुनश्च प्रमाणराशि शलाका तीन सौ तैंतालीस, फलराशि एकेन्द्रिय के मिथ्यात्व की स्थिति के भेदों का प्रमाण, इच्छाराशि शलाका अट्ठाइस । फलराशि से इच्छाराशि को गुणा करके प्रमाणराशि का भाग देनेपर लब्धराशि का जो प्रमाण हुआ, उतने सूक्ष्म पर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध से एक समय हीन अनंतरवर्ती भेद से लेकर बादर अपर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध तक स्थिति के भेदों का प्रमाण होता है । दोनों के अंतराल में इतने भेद पाये जाते हैं । इस अंतराल की शलाका अट्ठाइस जाननी । यहां जितने भेद पाये जाते हैं उतने समय सूक्ष्म पर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति में से घटानेपर अंत में कही हुयी बादर अपर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण होता है ।

३) पुनश्च प्रमाणराशि शलाका तीन सौ तैंतालीस, फलराशि एकेन्द्रिय के मिथ्यात्व की स्थिति के सर्व भेदों का प्रमाण, इच्छाराशि शलाका चार । फलराशि को इच्छाराशि से गुणा करके प्रमाणराशि का भाग देनेपर लब्धराशि का जो प्रमाण आया, उतने बादर अपर्याप्त की उत्कृष्ट स्थितिबंध से एक समय हीन अनंतर स्थितिबंध से लेकर सूक्ष्म अपर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध तक स्थिति के भेद जानना । इन दोनों के अंतराल की शलाका चार जानना । यहां जितने भेद हुये उतने समय बादर अपर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध में से घटानेपर सूक्ष्म अपर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध का प्रमाण होता है।

४) पुनश्च प्रमाणराशि शलाका तीन सौ तैंतालीस, फलराशि एकेन्द्रिय के मिथ्यात्व की स्थिति के सर्व भेदों का प्रमाण, इच्छाराशि शलाका एक । फलराशि से इच्छाराशि को गुणा करके प्रमाणराशि का भाग देनेपर लब्धराशि का जो प्रमाण आया, उतने सूक्ष्म अपर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध से एक समय हीन अनंतर स्थितिबंध से लेकर

सूक्ष्म अपर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध तक स्थिति के भेद होते हैं । इन दोनों के अंतराल की शलाका एक जानना । यहां जितने भेद हुये, इतने समय सूक्ष्म अपर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध में से घटानेपर सूक्ष्म अपर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध का प्रमाण होता है ।

५) पुनश्च प्रमाणराशि तीन सौ तैंतालीस, फलराशि एकेन्द्रिय के मिथ्यात्व की स्थिति के सर्व भेदों का प्रमाण, इच्छाराशि शलाका दो । फलराशि को इच्छराशि से गुणा करके प्रमाणराशि का भाग देनेपर लब्धराशि का जो प्रमाण आया, उतने सूक्ष्म अपर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध से एक समय हीन अनंतर स्थितिबंध के भेद से लेकर बादर अपर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध तक स्थिति के भेद हैं । इन दोनों के अंतराल में शलाका दो जानना । यहां जितने भेद हुये, उतने समय सूक्ष्म अपर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध में से घटानेपर बादर अपर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध का प्रमाण होता है।

६) पुनश्च प्रमाणराशि तीन सौ तैंतालीस, फलराशि एकेन्द्रिय के मिथ्यात्व की स्थिति के सर्व भेदों का प्रमाण, इच्छाराशि शलाका चौदह । फलराशि को इच्छाराशि से गुणा करके प्रमाणराशि का भाग देनेपर लब्धराशि का जो प्रमाण आया, उतने बादर अपर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध से एक समय हीन अनंतर स्थितिबंध के भेद से लेकर सूक्ष्म पर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध तक स्थिति के भेद हैं । इन दोनों के अंतराल संबंधी शलाका चौदह जानना । यहां जितने भेद हुये, उतने समय बादर अपर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध में से घटानेपर सूक्ष्म पर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध का प्रमाण होता है ।

७) पुनश्च प्रमाणराशि तीन सौ तैंतालीस, फलराशि एकेन्द्रिय के मिथ्यात्व की सर्व स्थिति के भेदों का प्रमाण, इच्छाराशि शलाका अट्ठानबे । फलराशि को इच्छाराशि से गुणा करके प्रमाणराशि का भाग देनेपर लब्धराशि का जो प्रमाण आता है, उतने सूक्ष्म पर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध से एक समय हीन अनंतर स्थिति से लेकर बादर पर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध तक स्थिति के भेद जानना । इन दोनों के अंतराल की शलाका अट्ठानबे । यहां जितने भेद हुये, उतने समय सूक्ष्म पर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध में से घटानेपर बादर पर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध का प्रमाण आता है । यह जघन्य स्थितिबंध एकेन्द्रिय जीव का जघन्य स्थितिबंध कहा था वही जानना ।

इसतरह चौदह जीवसमासों में एकेन्द्रिय के सूक्ष्म-बादर के पर्याप्त-अपर्याप्त भेद करनेपर चार जीवसमास हैं उनके जघन्य स्थितिबंध और उत्कृष्ट स्थितिबंध के भेद से आठ स्थान हुये, इन आठों स्थानों में स्थितिबंध का प्रमाण कहा । इन आठों में सात अंतराल पाये जाते हैं, इसलिए अंतरालों में स्थिति के भेदों का प्रमाण जानने के निमित्त सात त्रैराशिकों द्वारा कथन दिखाया, उसप्रकार जानना ।

*(**विशेषार्थ** – एकेन्द्रियों के स्थितिबंध –*

बा.प.उ. – बादर पर्याप्त उत्कृष्ट

अंतराल १ शलाका ११६

सू.प.उ. – सूक्ष्म पर्याप्त उत्कृष्ट

अंतराल २ शलाका २८

बा.अप.उ. – बादर अपर्याप्त उत्कृष्ट

अंतराल ३ शलाका ४

सू.अप.उ. – सूक्ष्म अपर्याप्त उत्कृष्ट

अंतराल ४ शलाका १

सू.अप.ज. – सूक्ष्म अपर्याप्त जघन्य

अंतराल ५ शलाका २

बा.अप.ज. – बादर अपर्याप्त जघन्य

अंतराल ६ शलाका १४

सू.प.ज. – सूक्ष्म पर्याप्त जघन्य

अंतराल ७ शलाका ९८

बा.प.ज. – बादर पर्याप्त जघन्य)

अब आबाधाकाल का प्रमाण दिखाते हैं –

एकेन्द्रिय जीव के मिथ्यात्व की उत्कृष्ट आबाधा आवली के असंख्यातवें भाग से अधिक संख्यात आवलीमात्र जो अंतर्मुहूर्त, उसप्रमाण है । जघन्य आबाधा उस

अधिक प्रमाण से रहित केवल अंतर्मुहूर्त मात्र ही है । वहां उत्कृष्ट में से जघन्य घटाकर (वृद्धि का प्रमाण) एक-एक भेद में स्थिति एक-एक समय से बढ़ती है इसकारण (वृद्धि) एक का भाग देकर जो प्रमाण हो, उसमें एक मिलानेपर एकेन्द्रिय जीव के मिथ्यात्व की आबाधा के सर्व भेदों का प्रमाण आता है । जैसे स्थितिबंध के कथन में आठ स्थान कहे और सात अंतरालों में भेदों का प्रमाण जानने के लिये सात त्रैराशिक किये, वैसे इस आबाधा के कथन में भी आठ स्थान जानना ।

सात अंतरालों में आबाधा के भेदों का प्रमाण जानने के लिये सात त्रैराशिक करना । सातों त्रैराशिकों में प्रमाणराशि तो पूर्वोक्त तीन सौ तैंतालीस शलाकाप्रमाण जानना, फलराशि - वहां तो स्थिति के भेदों का प्रमाण कहा था, यहां एकेन्द्रिय जीवों के मिथ्यात्व की जघन्य आबाधा से लेकर उत्कृष्ट आबाधा तक के भेदों का प्रमाण जानना और इच्छाराशि अनुक्रम से एक सौ छानबे, अट्ठाइस, चार, एक, दो, चौदह, अट्ठानबे शलाकाप्रमाण जानना ।

वहां सर्वत्र फलराशि को इच्छाराशि से गुणा करके प्रमाणराशि का भाग देकर जो-जो प्रमाण आये, वह-वह वहां वहां अंतराल में आबाधा के भेदों का प्रमाण जानना। प्रथम त्रैराशिक में भेदों का जितना प्रमाण आया उसमें से एक घटानेपर जितने रहे उतने समय बादर पर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध संबंधी आबाधा में से घटानेपर सूक्ष्म पर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध संबंधी आबाधाकाल का प्रमाण आता है । इसमें से द्वितीय त्रैराशिक में प्राप्त भेदों का जो प्रमाण हो, उतने समय घटानेपर बादर अपर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध संबंधी आबाधा का प्रमाण आता है । इसीप्रकार तृतीयादि त्रैराशिकों में प्राप्त जितने भेद हो, उतने समय घटाने-घटानेपर वहां-वहां जो स्थितिबंध का प्रमाण कहा हो, उस-उस स्थितिबंध संबंधी आबाधा का प्रमाण जानना ।

इसतरह एकेन्द्रिय जीव के स्थितिबंध और आबाधा के भेदों तथा काल का प्रमाण कहा ।

अब द्वीन्द्रिय जीव संबंधी कथन करते हैं –

द्वीन्द्रिय जीव के मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति पच्चीस सागर प्रमाण है । जघन्य स्थिति चार बार संख्यात का भाग जिसको दिया हो ऐसे एक कम पल्य के प्रमाण को उत्कृष्ट स्थिति में से घटाकर जितने अवशेष रहे उसप्रमाण है । उसको उत्कृष्ट

में से जघंन्य घटाकर एक-एक भेद में एक-एक समय अधिक है इसकारण वृद्धि का प्रमाण एक है, उसका भाग देकर, अवशेष में एक मिलानेपर जितने हो, उतने द्वीन्द्रिय जीव के मिथ्यात्व की स्थिति के सर्व भेद जानना ।

द्वीन्द्रियों में चार स्थानों के तीन अंतराल हैं, उन संबंधी शलाका का प्रमाण अंकसंदृष्टि द्वारा एक, दो, चार है, इसतरह आगामी गाथा के अर्थ में कथन करेंगे, इन सब शलाकाओं का जोड़ देनेपर सात शलाकायें हुयी । वहां इसतरह त्रैराशिक करना कि यदि सात शलाकाओं में द्वीन्द्रिय जीव के जघन्य से उत्कृष्ट तक मिथ्यात्व के स्थिति के सर्व भेद चार बार संख्यात का जिसे भाग दिया हो ऐसे पल्य प्रमाण पाये जाते हैं, तो चार शलाकाओं में कितने भेद पाये जायेंगे ?

१) वहां प्रमाणराशि शलाका सात, फलराशि द्वीन्द्रिय के मिथ्यात्व की स्थिति के भेदों का प्रमाण, इच्छाराशि शलाका चार । फलराशि से इच्छाराशि को गुणा करके प्रमाणराशि का भाग देनेपर लब्धराशि का जो प्रमाण आया, उतने द्वीन्द्रिय पर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध से लेकर द्वीन्द्रिय अपर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध तक स्थिति के भेद जानना । इस अंतराल संबंधी शलाका चार जानना । ये जितने भेद हुये उस प्रमाण में से एक घटाकर जो रहे, उतने समय द्वीन्द्रिय पर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति पच्चीस सागर प्रमाण में से घटानेपर पूर्वोक्त द्वीन्द्रिय अपर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध का प्रमाण जानना ।

२) पुनश्च प्रमाणराशि शलाका सात, फलराशि द्वीन्द्रिय के मिथ्यात्व की स्थिति के सर्व भेदों का प्रमाण, इच्छाराशि शलाका एक । फलराशि से इच्छाराशि को गुणा करके प्रमाणराशि का भाग देनेपर लब्धराशि का जो प्रमाण आया, उतने द्वीन्द्रिय अपर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध से एक समय हीन अनंतर भेद से लेकर द्वीन्द्रिय अपर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध तक स्थिति के भेद जानना । इस अंतराल संबंधी शलाका एक जानना । ये जितने भेद हुये उतने समय द्वीन्द्रिय अपर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध में से घटानेपर द्वीन्द्रिय अपर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध का प्रमाण आता है ।

३) पुनश्च प्रमाणराशि शलाका सात, फलराशि द्वीन्द्रिय के मिथ्यात्व की स्थिति के सर्व भेदों का प्रमाण, इच्छाराशि शलाका दो । वहां फलराशि से इच्छाराशि को गुणा करके, प्रमाणराशि का भाग देनेपर लब्धराशि का जो प्रमाण आया, उतने द्वीन्द्रिय

अपर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध से एक समय हीन अनंतर स्थितिबंध से लेकर द्वीन्द्रिय पर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध तक स्थिति के भेद जानना । इस अंतराल संबंधी शलाका दो जानना । ये जितने भेद हुये उतने समय द्वीन्द्रिय अपर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध में से घटानेपर द्वीन्द्रिय पर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध का प्रमाण आता है । पूर्वोक्त द्वीन्द्रिय के जघन्य स्थितिबंध का प्रमाण यही जानना ।

इसतरह द्वीन्द्रिय के स्थितिबंध के भेदों तथा काल का प्रमाण कहा ।

(विशेषार्थ –

द्वीन्द्रिय पर्याप्त उत्कृष्ट –

अंतराल १ शलाका ४

द्वीन्द्रिय अपर्याप्त उत्कृष्ट –

अंतराल २ शलाका १

द्वीन्द्रिय अपर्याप्त जघन्य –

अंतराल ३ शलाका २

द्वीन्द्रिय पर्याप्त जघन्य –)

अब आबाधा का प्रमाण कहते हैं –

द्वीन्द्रिय जीव के मिथ्यात्व के उत्कृष्ट स्थिति संबंधी उत्कृष्ट आबाधा का प्रमाण चार बार संख्यात का भाग जिसको दिया हो ऐसे आवली से अधिक संख्यात आवली मात्र पच्चीस अंतर्मुहूर्त है । जघन्य आबाधा उस अधिक के बिना केवल पच्चीस अंतर्मुहूर्त प्रमाण है । उत्कृष्ट में से जघन्य घटाकर, एक-एक भेद में एक-एक समय की वृद्धि होने से वृद्धि एक का भाग देकर जो प्रमाण हो, उसमें एक मिलानेपर आबाधा के सर्व भेदों का प्रमाण जानना । वहां पहले स्थितिबंध के कथन में जिसप्रकार तीन त्रैराशिक किये, उसीप्रकार आबाधा के कथन में तीन त्रैराशिक करना ।

वहां प्रमाणराशि और इच्छाराशि तो स्थितिबंध के कथन में जैसे कहे वैसे ही जानना और फलराशि द्वीन्द्रिय के मिथ्यात्व की आबाधा के जितने भेद हैं उतने जानना । वहां फलराशि से इच्छाराशि को गुणा करके प्रमाणराशि का भाग देनेपर जो जो प्रमाण आता है, उतने-उतने वहां आबाधा के भेदों का प्रमाण जानना ।

प्रथम त्रैराशिक में भेदों का जितना प्रमाण हो उसमें से एक घटानेपर जो प्रमाण रहे उतने समय द्वीन्द्रिय पर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध संबंधी उत्कृष्ट आबाधा में से घटानेपर जो प्रमाण रहे, उतना द्वीन्द्रिय अपर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध संबंधी आबाधाकाल का प्रमाण जानना । इसमें से द्वितीय त्रैराशिक में जितने भेद हुये उतने समय घटानेपर द्वीन्द्रिय अपर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध संबंधी आबाधाकाल का प्रमाण होता है । इसमें से तीसरे त्रैराशिक में जितने भेद हुये उतने समय घटानेपर द्वीन्द्रिय पर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध संबंधी आबाधाकाल का प्रमाण आता है, यही जघन्य आबाधा है ।

इसतरह द्वीन्द्रिय में दो जीवसमास (पर्याप्त-अपर्याप्त), उनके जघन्य-उत्कृष्ट ऐसे चार प्रकार का स्थितिबंध तथा आबाधा का प्रमाण कहा । इन चार के तीन अंतरालों में भेदों का प्रमाण कहा ।

जैसा द्वीन्द्रिय का कथन किया वैसा त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय का कथन जानना । विशेष *(अंतर)* इतना ही है कि यहां स्थितिबंध और आबाधा के भेदों का प्रमाण अन्य है इसलिए फलराशि का प्रमाण अन्य-अन्य जानना तथा जघन्य-उत्कृष्ट स्थितिबंध तथा आबाधा का प्रमाण अन्य-अन्य जानना । जहां द्वीन्द्रिय कहा है वहां त्रीन्द्रियादि कहना । इतना विशेष है बाकी सब कथन द्वीन्द्रियवत् जानना।

वहां स्थितिबंध और आबाधा के भेदों का प्रमाण कहते हैं –

त्रीन्द्रिय के मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति पचास सागर प्रमाण है । इसमें से तीन बार संख्यात का भाग जिसको दिया है ऐसे एक कम पल्य के प्रमाण को घटानेपर अवशेष रहे उतना जघन्य स्थिति का प्रमाण है । वहां उत्कृष्ट में से जघन्य घटाकर, भेदों में एक-एक समय की वृद्धि है इसलिए एक का भाग देनेपर जो प्रमाण हो, उसमें एक मिलानेपर त्रीन्द्रिय संबंधी मिथ्यात्व के स्थिति के सर्व भेदों का प्रमाण तीन बार संख्यात से भाजित पल्य प्रमाण आता है । यही त्रीन्द्रिय के स्थितिबंध के कथन में तीनों त्रैराशिकों में फलराशि जानना ।

त्रीन्द्रिय के मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति में आबाधा का प्रमाण तीन बार संख्यात का भाग जिसको दिया हो ऐसी आवली से अधिक संख्यात आवली प्रमाण पचास अंतर्मुहूर्त है और जघन्य आबाधा का प्रमाण उस अधिक के बिना केवल पचास अंतर्मुहूर्त प्रमाण है । उत्कृष्ट में से जघन्य को घटाकर भेदों में एक-एक समय की वृद्धि होने

से एक का भाग देकर जो प्रमाण हो उस में एक मिलानेपर आबाधा के सर्व भेदों का प्रमाण आता है । यही त्रीन्द्रिय के आबाधा के कथन में तीनों त्रैराशिकों में फलराशि जानना ।

चतुरिन्द्रिय के मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति सौ सागर प्रमाण है । इस उत्कृष्ट स्थिति में से दो बार संख्यात का भाग जिसको दिया है ऐसे एक कम पल्य के प्रमाण को घटानेपर अवशेष रहे उतना जघन्य स्थिति का प्रमाण है । वहां उत्कृष्ट में से जघन्य घटाकर, भेदों में एक-एक समय की वृद्धि पायी जाती है इसलिए एक का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है, उसमें एक मिलानेपर चतुरिन्द्रिय संबंधी मिथ्यात्व की स्थिति के सर्व भेदों का प्रमाण दो बार संख्यात से भाजित पल्य प्रमाण है। यही चतुरिन्द्रिय के स्थितिबंध के कथन में तीनों त्रैराशिकों में फलराशि जानना ।

पुनश्च चतुरिन्द्रिय के मिथ्यात्व के स्थिति की उत्कृष्ट आबाधा दो बार संख्यात से भाजित आवली से अधिक संख्यात आवलीप्रमाण सौ अंतर्मुहूर्त है तथा जघन्य आबाधा उस अधिक प्रमाण के बिना केवल सौ अंतर्मुहूर्तप्रमाण है । उत्कृष्ट में से जघन्य घटाकर भेदों में एक-एक समय की वृद्धि पायी जाने के कारण एक का भाग देनेपर जो प्रमाण हो, उसमें एक मिलानेपर चतुरिन्द्रिय के आबाधा के सर्व भेदों का प्रमाण आता है । यही चतुरिन्द्रिय के आबाधा के कथन में तीनों त्रैराशिकों में फलराशि जानना ।

पुनश्च असंज्ञी पंचेन्द्रिय के मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति एक हजार सागर प्रमाण है, इसमें से एक कम पल्य का संख्यातवां भाग घटानेपर जघन्य स्थिति का प्रमाण आता है । उत्कृष्ट में से जघन्य घटाकर, एक-एक भेद में एक-एक समय की वृद्धि होनेसे एक का भाग देकर जो प्रमाण हो, उसमें एक मिलानेपर असंज्ञी पंचेन्द्रिय के मिथ्यात्व की स्थिति के सर्व भेदों का प्रमाण एक बार संख्यात से भाजित पल्य प्रमाण है। यही असंज्ञी पंचेन्द्रिय के स्थितिबंध के कथन में तीनों त्रैराशिकों में फलराशि जानना।

पुनश्च असंज्ञी पंचेन्द्रिय के मिथ्यात्व के स्थिति की उत्कृष्ट आबाधा आवली के संख्यातवें भाग से अधिक संख्यात आवलीप्रमाण हजार अंतर्मुहूर्त जानना । जघन्य आबाधा उस अधिक के बिना केवल हजार अंतर्मुहूर्तप्रमाण जानना । उत्कृष्ट में से जघन्य घटाकर एक-एक भेद में एक-एक समय की वृद्धि होने से एक का भाग देकर

जो प्रमाण हो, उसमें एक मिलानेपर असंज्ञी पंचेन्द्रिय के मिथ्यात्व की आबाधा के सर्व भेदों का प्रमाण होता है । यहीं असंज्ञी पंचेन्द्रिय के आबाधा के कथन में तीनों त्रैराशिकों में फलराशि जानना ।

इसतरह जो विशेष कथन किया वह तो विशेष जानना, अवशेष सर्व कथन द्वीन्द्रिय के कथनवत् त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय के जानना ।

जिसप्रकार यह मिथ्यात्व की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति तथा उत्कृष्ट और जघन्य आबाधा के अनुसार स्थितिबंध और आबाधा का कथन किया उसी प्रकार सभी प्रकृतियों का अपनी-अपनी उत्कृष्ट-जघन्य स्थिति और उत्कृष्ट-जघन्य आबाधा के अनुसार स्थितिबंध और आबाधा का कथन जान लेना । यहां जो शलाकाओं का प्रमाण कहा है, वह यथायोग्य संख्यात की सहनानी दो का अंक मानकर कहा है । यथार्थ में जैसा पाया जाता है वैसा जानना ॥१४८॥

इसप्रकार सब मन में धारकर शलाकाओं के जानने के लिये सूत्र कहते हैं–

मज्झे थोवसलागा हेट्ठा उवरिं च संखगुणिदकमा ।
सव्वजुदी संखगुणा हेट्ठुवरिं संखगुणमसण्णित्ति ॥१४९॥

मध्ये स्तोकशलाका अधस्तनमुपरि च संख्यगुणितक्रमाः ।
सर्वयुतिः संख्यगुणा अधस्तनोपरि संख्यगुणा असंज्ञी तु ॥१४९॥

टीका – विवक्षित विभाग करने के लिये जो कुछ प्रमाण की कल्पना कहते हैं, उसे यहां **'शलाका'** कहते हैं । **'मध्ये'** अर्थात् बादर पर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध से लेकर बादर पर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध तक एकेन्द्रिय के जो स्थितिबंध के सर्व भेद हैं उनमें सूक्ष्म अपर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध से लेकर एक एक समय घटते हुये सूक्ष्म अपर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध तक स्थिति के जितने भेद पाये जाते हैं *(एकेन्द्रिय के अंतराल नं ४ – विशेषार्थ)* वे आगे जिनका कथन करेंगे उन सबसे अल्प हैं-थोडे हैं, इसलिए यहां शलाका एक जानना '△१△' । यहां त्रिकूटिरचना का अभिप्राय यह है कि जहां ऐसी △ त्रिकूटी सहनानी *(चिन्ह)* है वहां स्थिति का कथन जानना ।

पुनश्च **हेठ्ठा** अर्थात् इसके नीचे सूक्ष्म अपर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध से अनंतर

स्थितिबंध से लेकर एक-एक समय घटते हुये बादर अपर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध तक स्थितिबंध के भेद संबंधी अधस्तन शलाका *(एकेन्द्रिय के अंतराल क्रमांक ५)* ऊपर की शलाका से संख्यातगुणी हैं तथा ऊपर के सूक्ष्म अपर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध के अनंतर स्थितिबंध से लेकर एक-एक समय बढ़ते हुये बादर अपर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध तक स्थितिबंध के भेद संबंधी *(एकेन्द्रिय के अंतराल क्रमांक ३)* उपरितन शलाका उनसे संख्यातगुणी हैं । यह जो संख्यात का अनुक्रम कहा उस संख्यात का प्रमाण तो यथायोग्य है परंतु यहां समझने के लिये संख्यात की संदृष्टि दो का अंक जानना । इसतरह एक से दोगुणा दो, इसलिए नीचे की शलाका दो और इससे दोगुणा चार इसलिए ऊपर की शलाका चार जानना । '△४△१△२△' ।

पुनश्च **सर्वयुतिः** अर्थात् पहले जो शलाकायें कही (१+२+४) उनका जोड़ देनेपर जो प्रमाण हो, उससे **हेठ्ठा** अर्थात् नीचे बादर अपर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध के अनंतर भेद से लेकर एक-एक समय घटते हुये सूक्ष्म पर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध तक स्थितिबंध के भेद संबंधी *(एकेन्द्रिय के अंतराल क्रमांक ६)* अधस्तन शलाका संख्यातगुणी (७×२=१४) जानना और ऊपर बादर अपर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध के अनंतर से लेकर एक-एक समय बढ़ते हुये सूक्ष्म पर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध तक स्थितिबंध के भेद संबंधी *(एकेन्द्रिय के अंतराल क्रमांक २)* उपरितन शलाका उससे संख्यात गुणी जानना (१४×२=२८)। पहले शलाका चार, एक, दो का जोड़ देनेपर सात हुये, उसके संख्यात की सहनानी दो से गुणा करनेपर नीचे शलाका चौदह हुयी, उसकी संख्यात की सहनानी दो से गुणा करनेपर ऊपर की शलाका अट्ठाइस हुयी '△२८△४△१△२△१४△' ।

पुनश्च **'चकार'** से फिर भी **'सर्वयुतिः'** अर्थात् पहली शलाकाओं का जोड़ देनेपर जो प्रमाण हो (४९) उससे **'हेठ्ठा'** अर्थात् सूक्ष्म पर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध के अनंतर स्थितिबंध से लेकर एक-एक समय घटते हुये बादर पर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध तक स्थितिबंध के भेदों संबंधी *(एकेन्द्रिय के अंतराल क्रमांक ७)* अधस्तन शलाका संख्यातगुणी हैं । (४९×२=९८) । और ऊपर सूक्ष्म पर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध के अनंतर स्थितिबंध से लेकर एक-एक समय बढ़ते हुये बादर पर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध तक स्थितिबंध के भेद संबंधी *(एकेन्द्रिय का अंतराल क्रमांक १)* उपरितन शलाका संख्यातगुणी हैं (९८×२=१९६) । इसतरह पूर्वोक्त शलाकायें अट्ठाइस, चार, एक, दो,

चौदह उनका जोड़ देनेपर उनचास हुये । इसको संख्यात की सहनानी दो से गुणा करनेपर शलाका अट्ठानबे जानना । इसे संख्यात की सहनानी दो से गुणा करनेपर उपरितन शलाका एक सौ छानबे जानना ।

'△१९६△२८△४△१△२△१४△९८△' । इसप्रकार एकेन्द्रिय का कथन किया।

पुनश्च इसी सूत्र का *(गाथा १४९ का सूत्र)* अर्थ द्वीन्द्रिय के प्रति कहते हैं –

मध्य अर्थात् द्वीन्द्रिय पर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध से लेकर द्वीन्द्रिय पर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध तक के भेदों में द्वीन्द्रिय अपर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध से लेकर एक-एक समय घटते हुये द्वीन्द्रिय अपर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध तक स्थितिबंध के जो भेद हैं *(द्वीन्द्रिय के अंतराल क्रमांक २)* वे सबसे थोडे हैं, इसलिए उनकी शलाका एक जानना '△१△' । पुनश्च **हेट्ठा** अर्थात् नीचे द्वीन्द्रिय अपर्याप्त के जघन्य से अनंतर स्थितिबंध से लेकर एक-एक समय घटते हुये द्वीन्द्रिय पर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध तक स्थितिबंध के भेदों संबंधी *(द्वीन्द्रिय के अंतराल क्रमांक ३)* अधस्तन शलाका संख्यातगुणी हैं । ऊपर द्वीन्द्रिय अपर्याप्त के उत्कृष्ट के अनंतर स्थितिबंध से लेकर द्वीन्द्रिय पर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध तक स्थितिबंध के भेदों संबंधी *(द्वीन्द्रिय के अंतराल क्रमांक १)* उपरितन शलाका उससे भी संख्यातगुणी हैं । इसतरह एक को संख्यात की सहनानी दो से गुणा करनेपर अधस्तनशलाका दो हैं, इसको संख्यात की सहनानी दो से गुणा करनेपर उपरितन शलाका चार हैं । '△४△१△२△' ।

पुनश्च जैसी ये द्वीन्द्रिय की शलाकायें कही वैसे ही त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय की शलाकायें जानना । विशेष इतना है कि जहां द्वीन्द्रिय का नाम कहा है वहां त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय का नाम कहना, अन्य कुछ विशेष नहीं है ।

इसप्रकार अपने अपने स्थितिबंध के भेदों में शलाका जाननी । इनके स्थिति के भेदों का प्रमाण, स्थिति का प्रमाण, आबाधा के भेदों का प्रमाण और आबाधाकाल का प्रमाण यथासंभव (यथायोग्य) जानना ॥१४९॥

आगे संज्ञी पंचेन्द्रिय में पर्याप्त के उत्कृष्ट, अपर्याप्त के उत्कृष्ट, अपर्याप्त के जघन्य, पर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध के भेदों में विशेष है, वह कहते हैं –

सण्णिस्स हु हेट्ठादो ठिदिठाणं संखगुणिदमुवरुवरिं ।
ठिदिआयामोवि तहा सगठिदिठाणं व आबाहा ।।१५०।।

संज्ञिनो हि अधस्तनात् स्थितिस्थानं संख्यगुणितमुपर्युपरि।
स्थित्यायामोऽपि तथा स्वकस्थितिस्थानं व आबाधा ।।१५०।।

टीका – संज्ञी पंचेन्द्रिय के पूर्वोक्त चार भेदों में पहले कहे हुये एकेन्द्रियादि के भेदों से विशेष है, वह कहते हैं –**'हेट्ठादो'** अर्थात् नीचे से संज्ञी पर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध से लेकर उन चार भेदों के अंतरालों में स्थिति के भेदों का प्रमाण संख्यातगुणा अनुक्रम से जानना । पुनश्च स्थिति का आयाम अर्थात् समयों का प्रमाण, वह भी ऊपर ऊपर संख्यातगुणा अनुक्रम से जानना । वही कहते हैं –

संज्ञी जीव के मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागर प्रमाण है अर्थात् दो बार संख्यात से गुणित पल्य प्रमाण है । पुनश्च मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा जघन्य स्थिति कोटी के ऊपर कोडाकोडी के नीचे ऐसे अंतःकोडाकोडी सागर प्रमाण है अर्थात् एक बार संख्यात से गुणित पल्यप्रमाण है । उत्कृष्ट में से जघन्य घटाकर, एक-एक समय की वृद्धि है इसलिए एक का भाग देकर जो प्रमाण आता है उसमें एक मिलानेपर संज्ञी के मिथ्यात्व की स्थिति के सर्व भेदों का प्रमाण आता है । इसको संख्यात का भाग देनेपर एक भाग को छोड़कर अवशेष बहुभागमात्र संज्ञी पर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध से लेकर संज्ञी अपर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध तक स्थितिबंध के भेदों का प्रमाण है ।

इसमें से एक घटानेपर जो प्रमाण रहे उतने संज्ञी पर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध-सत्तर कोडाकोडी सागर प्रमाण में से घटानेपर जो प्रमाण रहे वह संज्ञी अपर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध का प्रमाण जानना । पुनश्च वह जो एक भाग रहा था उसको संख्यात का भाग देकर एक भाग को छोड़कर अवशेष बहुभागमात्र संज्ञी अपर्याप्त के उत्कृष्ट से एक समय कम स्थितिबंध से लेकर संज्ञी अपर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध तक स्थितिबंध के भेदों का प्रमाण होता है । इतने समय संज्ञी अपर्याप्त के उत्कृष्ट स्थितिबंध में से घटानेपर संज्ञी अपर्याप्त का जघन्य स्थितिबंध का प्रमाण होता है ।

पुनश्च वह जो एक भाग बाकी रहा था, उसप्रमाण मात्र संज्ञी अपर्याप्त के जघन्य से एक समय कम अनंतर स्थितिबंध से लेकर संज्ञी पर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध

तक स्थितिबंध के भेदों का प्रमाण है । इस प्रमाण को संज्ञी अपर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध में से घटानेपर संज्ञी पर्याप्त के जघन्य स्थितिबंध का प्रमाण आता है, यह प्रमाण अंतःकोडाकोडी सागर प्रमाण जानना । इसतरह स्थितिबंध का कथन किया ।

अब आबाधा का कथन कहते हैं – स्वकस्थितिस्थानवत् आबाधा अर्थात् अपने स्थितिस्थान के समान आबाधा का कथन जानना । संज्ञी के मिथ्यात्व की उत्कृष्ट आबाधा सात हजार वर्ष प्रमाण अर्थात् तीन बार संख्यात से गुणित आवली प्रमाण और जघन्य आबाधा एक समय कम एक मुहूर्त प्रमाण अर्थात् दो बार संख्यात से गुणित आवली प्रमाण है ।

उत्कृष्ट में से जघन्य को घटाकर एक एक भेद में एक एक समय की वृद्धि है इसलिए एक का भाग देनेपर जो प्रमाण हो उसमें एक मिलानेपर आबाधा के सर्व भेदों का प्रमाण होता है । जिसतरह स्थिति के भेदों को संख्यात का भाग दे-देकर बहुभाग-बहुभाग और एकभाग प्रमाण भेद कहे, उसतरह आबाधा के भेदों को संख्यात का भाग दे-देकर बहुभाग-बहुभाग, एकभाग प्रमाण तीनों अंतरालों में भेदों का प्रमाण जानना । पुनश्च जिसतरह स्थिति के भेदों द्वारा समय घटा-घटाकर स्थिति का प्रमाण कहा उसतरह यहां आबाधा के भेदों द्वारा समय घटा-घटाकर उस-उस स्थिति संबंधी आबाधा का प्रमाण जानना ।

इसप्रकार संज्ञी पंचेन्द्रिय में विशेष कथन किया ॥१५०॥

आगे जघन्य स्थितिबंध किन जीवों के होता है, वह कहते हैं –

सत्तरसपंचतित्थाहाराणं सुहुमबादरापुव्वो ।
छव्वेगुव्वमसण्णी जहण्णमाऊण सण्णी वा ॥१५१॥

सप्तदशपंचतीर्थाहाराणां सूक्ष्मबादरापूर्वः ।
षड्वैगूर्वमसंज्ञी जघन्यमायुषां संज्ञी वा ॥१५१॥

टीका – पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पांच अंतराय, यशस्कीर्ति, उच्चगोत्र, सातावेदनीय इन सत्रह प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवर्ती जीव करता है । पुरुषवेद, संज्वलनकषाय चार इन पांचों का जघन्य स्थितिबंध अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवर्ती जीव करता है । तीर्थंकर, आहारकद्विक का जघन्य स्थितिबंध अपूर्वकरण

गुणस्थानवर्ती जीव करता है । देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अंगोपांग इस वैक्रियिक षट्क का जघन्य स्थितिबंध असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव करता है । आयुकर्म की प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध संज्ञी और असंज्ञी जीव *(एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक सब जीव)* करते हैं ॥१५१॥

आगे अजघन्य आदि स्थिति के भेदों में पाये जानेवाले सादि आदि भेदों *(सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव)*का कथन करते हैं –

अजहण्णट्ठिदिबंधो चउव्विहो सत्तमूलपयडीणं ।
सेसतिये दुवियप्पो आउचउक्केवि दुवियप्पो ॥१५२॥

अजघन्यस्थितिबंधः चतुर्विधः सप्तमूलप्रकृतीनां ।
शेषत्रये द्विविकल्पः आयुश्चतुष्केऽपि द्विविकल्पः ॥१५२॥

टीका – आयु को छोड़कर शेष सात मूलप्रकृतियों का अजघन्य स्थितिबंध तो सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव भेद से चारों प्रकार का है । आयु को छोड़कर सात मूलप्रकृतियों का उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य स्थितिबंध सादि, अध्रुव दो ही प्रकार का है । आयु कर्म का चारों ही प्रकार का *(उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य, अजघन्य)* स्थितिबंध सादि, अध्रुव दो ही प्रकार का है । यह कथन कुछ संदेहरूप नहीं है, स्पष्टरूप से पाया जाता है इसकारण विशेष नहीं कहा ॥१५२॥

यहां उत्तरप्रकृतियों में विशेष है, वह कहते हैं –

संजलणसुहुमचोद्दस घादीणं चदुविधो दु अजहण्णो ।
सेसतिया पुण दुविहा सेसाणं चदुविधावि दुधा ॥१५३॥

संज्वलनसूक्ष्मचतुर्दश घातिनां चतुर्विधस्तु अजघन्यः ।
शेषत्रयः पुनर्द्विविधाः शेषाणां चतुर्विधापि द्विधा ॥१५३॥

टीका – चार संज्वलन, सूक्ष्मसाम्पराय में जिनका बंध पाया जाता है ऐसे पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पांच अंतराय ये चौदह घातिकर्म इन अठारह प्रकृतियों का अजघन्य स्थितिबंध तो सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव चार प्रकार का है । जघन्य, अनुत्कृष्ट, उत्कृष्ट – ये तीन स्थितिबंध सादि और अध्रुव दो ही प्रकार के हैं ।

इनको छोड़कर शेष सर्व प्रकृतियों का अजघन्य, जघन्य, अनुत्कृष्ट, उत्कृष्ट चारों ही प्रकार का स्थितिबंध सादि और अध्रुव दो ही प्रकार का है ।

अजघन्यादि तथा सादि आदि का स्वरूप पहले कहा था वह जानना ॥१५३॥

सव्वाओ दु ठिदिओ सुहासुहाणंपि होंति असुहाओ ।
माणुसतिरिक्खदेवाउगं च मोत्तूण सेसाणं ॥१५४॥

सर्वास्तु स्थितयः शुभाशुभानामपि भवंति अशुभाः ।
मनुष्यतिर्यग्देवायुष्कं च मुक्त्वा शेषाणां ॥१५४॥

टीका – मनुष्यायु, तिर्यंचायु, देवायु को छोड़कर अवशेष सभी शुभ तथा अशुभ प्रकृतियों की स्थिति अशुभ ही है क्योंकि संसार का कारण है । इसीलिए उन तीन प्रकृतियों को छोड़कर अवशेष सभी प्रकृतियों का तीव्र कषायी संक्लेशी जीव के स्थितिबंध बहुत प्रमाण सहित होता है, मंदकषायी विशुद्ध जीव के थोड़े प्रमाण सहित होता है॥१५४॥

आगे आबाधा का लक्षण कहते हैं –

कम्मसरूवेणागयदव्वं ण य एदिउदयरूवेण ।
रूवेणुदीरणस्स व आबाहा जाव ताव हवे ॥१५५॥

कर्मस्वरूपेणागतद्रव्यं न चैति उदयरूपेण ।
रूपेणोदीरणाया वा आबाधा यावत्तावद्भवेत् ॥१५५॥

टीका – कार्माणशरीर नामकर्म के उदय से जीव के प्रदेशों का जो चंचलपना होता है वही योग, उसके निमित्त से कार्माणवर्गणारूप पुद्गल स्कंध मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृतिरूप होकर आत्मा के प्रदेशों में परस्पर प्रवेश करते हैं ऐसा जिसका लक्षण है ऐसे बंधरूप होकर जो रहते हैं, वे जब तक उदय या उदीरणारूप नहीं प्राप्त होते उतने काल तक 'आबाधा' कहते हैं ।

भावार्थ – कर्मप्रकृति का बंध होने के पश्चात् जितने काल तक वह उदयरूप या उदीरणारूप नहीं होती, उतने काल को आबाधाकाल कहते हैं । वहां फल देनेरूप परिणमना तो उदय कहलाता है, काल आये बिना अपक्व कर्म का पक्व होना उदीरणा कहलाता है ॥१५५॥

आगे मूलप्रकृतियों में उस आबाधा का कथन करते हैं –

उदयं पडि सत्तण्हं आबाहा कोडकोडि उवहीणं ।
वाससयं तप्पडिभागेण य सेसट्ठिदीणं च ॥१५६॥

उदयं प्रति सप्तानामाबाधा कोटीकोटिरुदधीनां ।
वर्षशतं तत्प्रतिभागेन च शेषस्थितीनां च ॥१५६॥

टीका – आयु कर्म को छोड़कर सात कर्मों की उदय की अपेक्षा आबाधा एक कोडाकोडी सागर स्थिति की सौ वर्ष जानना । अवशेष स्थिति की इसी प्रतिभाग *(इसी अनुपात में)* आबाधा जानना । उसका कथन करते हैं – एक कोडाकोडी सागर स्थिति की आबाधा सौ वर्ष होती है तो सत्तर कोडाकोडी सागर स्थिति की आबाधा कितनी होगी ? ऐसा त्रैराशिक करना ।

वहां प्रमाणराशि एक कोडाकोडी सागर, फलराशि सौ वर्ष, इच्छाराशि सत्तर कोडाकोडी सागर है । फलराशि से इच्छराशि को गुणा करके प्रमाणराशि का भाग देनेपर लब्धराशि का प्रमाण सात हजार वर्ष आया, वही मिथ्यात्व प्रकृति की उत्कृष्ट आबाधा जानना ।

इसीतरह अपनी अपनी स्थितिप्रमाण इच्छाराशि करनेपर अपने अपने आबाधाकाल का प्रमाण आता है । जिनकी चालीस कोडाकोडी सागर प्रमाण स्थिति है उनका चार हजार वर्षप्रमाण आबाधाकाल है । जिनकी तीस कोडाकोडी सागरप्रमाण स्थिति है उनका तीन हजार वर्षप्रमाण आबाधा का काल है । इसतरह अन्य भी प्रकृतियों का आबाधाकाल जानना ।

आगे **'सण्णिअसण्णिचउक्के एगे अंतोमुहुत्तमाबाहा'** इस सूत्र द्वारा पहले द्वीन्द्रियादि के स्थिति संबंधी आबाधा कही है वह जानना ॥१५६॥

आगे अंतःकोडाकोडी सागरप्रमाण स्थिति की आबाधा का प्रमाण कहते हैं –

अंतोकोडाकोडिट्ठिदिस्स अंतोमुहुत्तमाबाहा ।
संखेज्जगुणविहीणं सव्वजहण्णट्ठिदिस्स हवे ॥१५७॥

अंतःकोटीकोटिस्थितेः अंतर्मुहूर्त आबाधा।
संख्यातगुणविहीनः सर्वजघन्यस्थितेर्भवेत् ॥१५७॥

टीका – अंतःकोडाकोडी सागरप्रमाण स्थिति की आबाधा अंतर्मुहूर्त प्रमाण है। सर्व कर्मों की जघन्य स्थिति की आबाधा उससे संख्यातगुणी हीन है । वहां सौ वर्ष के दश लाख अस्सी हजार मुहूर्त होते हैं, इतनी आबाधा तो एक कोडाकोडी सागर स्थिति की होती है, तो एक मुहूर्त आबाधा कितने स्थिति की होगी ? ऐसा त्रैराशिक करना ।

वहां प्रमाणराशि दश लाख अस्सी हजार मुहूर्त, फलराशि एक कोडाकोडी सागर, इच्छाराशि एक मुहूर्त । फलराशि से इच्छाराशि को गुणा करके प्रमाणराशि का भाग देनेपर नौ करोड पच्चीस लाख बानबे हजार पांच सौ बानबे सागर और एक सागर के एक सौ आठ भागों में से चौंसठ भाग प्रमाण स्थिति की एक मुहूर्त प्रमाण आबाधा होती है ।

पुनश्च प्रमाणराशि एक कोडाकोडी सागर, फलराशि दस लाख अस्सी हजार मुहूर्त, इच्छाराशि नौ करोड पच्चीस लाख बानबे हजार पांच सौ बानबे और चौंसठ बटे एक सौ आठ सागर करनेपर उस स्थिति की आबाधा एक मुहूर्त होती है ।

पुनश्च प्रमाणराशि सत्तर कोडाकोडी सागर, फलराशि आबाधा का प्रमाण सात हजार वर्ष, इच्छाराशि एक सागर, वहां फलराशि से इच्छाराशि को गुणित करके प्रमाणराशि का भाग देनेपर लब्धराशि का प्रमाण साधिक संख्यात उच्छ्वासमात्र आया, वह एक सागर की आबाधा जानना ॥१५७॥

अब आयुकर्म की आबाधा कहते हैं –

पुवाण्णं कोडितिभागादासंखेयअद्धवोत्ति हवे ।
आउस्स य आबाहा ण ट्ठिदिपडिभागमाउस्स ॥१५८॥

पूर्वाणां कोटित्रिभागादसंक्षेपाद्धा वा इति भवेत् ।
आयुषश्च आबाधा न स्थितिप्रतिभाग आयुषः ॥१५८॥

टीका – आयुकर्म की उत्कृष्ट आबाधा कोडीपूर्व वर्ष का तीसरा भाग प्रमाण जानना । *(१ पूर्व = ८४लाख × ८४लाख वर्ष = ७०लाख ५६हजार करोड वर्ष)*

जघन्य आबाधा अंतमुहूर्त प्रमाण है अथवा किसी आचार्य के मत से '**असंक्षेपाद्धा**' प्रमाण है । **संक्षेप** अर्थात् थोड़ा, **अद्धा** अर्थात् काल नहीं होने के कारण उसे असंक्षेपाद्धा कहते हैं, यह काल आवली के असंख्यातवें भागप्रमाण है । आयु कर्म की आबाधा ऐसी ही है, अन्य कर्मों की तरह स्थिति के अनुसार आबाधा नहीं है ।

वहां प्रश्न – असंख्यात वर्ष जिनकी आयु है, उनकी त्रिभाग प्रमाण आबाधा क्यों नहीं कही ?

इसका समाधान – देव और नारकियों के छह महिना आयु के अवशेष रहनेपर और भोगभूमियों के नौ महिना *(कहीं छह महिना लिखा है)* आयु के अवशेष रहनेपर त्रिभाग द्वारा आयु का बंध होता है तथा कर्मभूमि के मनुष्य, तिर्यंचों के अपनी संपूर्ण आयु के त्रिभाग द्वारा आयु बंधती है । कर्मभूमियों की उत्कृष्ट स्थिति करोड पूर्व वर्ष प्रमाण है इसलिए उसीके त्रिभाग को उत्कृष्ट आबाधाकाल कहा । त्रिभाग द्वारा आठ अपकर्षों में आयु बंधती है और यदि कदाचित् किसी भी अपकर्ष में आयु का बंध न हुआ हो तो किसी आचार्य के मत से आवली के असंख्यातवें भागप्रमाण और किसी आचार्य के मत से एक समय कम मुहूर्त आयु के शेष रहे उसके पूर्व ही आगामी आयु का मुहूर्त प्रमाण समयप्रबद्धों में बंध करके निष्ठापन (पूर्ण) करता है । ये दोनों पक्ष आचार्यों के परम्परा उपदेश से अंगीकार किये हैं ॥१५८॥

आगे उदीरणा की अपेक्षा आबाधा कहते हैं –

आवलियं आबाहोउदीरणमासिज्ज सत्त कम्माणं ।
परभवियआउगस्स य उदीरणा णत्थि णियमेण ॥१५९॥

आवलिकमाबाधोदीरणामाश्रित्य सप्तकर्मणां ।
परभवीयायुष्कस्य च उदीरणा नास्ति नियमेन ॥१५९॥

टीका – उदीरणा के आश्रय से आयु को छोड़कर सात मूलप्रकृतियों की आबाधा एक आवलीकाल प्रमाण है ।

भावार्थ – यदि कर्मों का उदय आता है तो बंध के पश्चात् पूर्वोक्त प्रमाण आबाधाकाल व्यतीत होने के पश्चात् उदय आता है और यदि कर्म उदीरणारूप प्रवर्ते तो बंध के पश्चात् एक आवलीप्रमाण काल बीतनेपर भी उदीरणारूप होता है, इसलिए

उदीरणा की अपेक्षा आबाधा एक आवलीप्रमाण कही । आयुकर्म की उदीरणा जिस आयु को भोग रहा है *(भुज्यमान आयु)* उसी आयु की होती है और बध्यमान अर्थात् आगामी उत्तर भव के आयु की नियम से उदीरणा नहीं होती ।

कर्मबंध के पश्चात् वे कर्म आवलीकाल प्रमाण तो जैसे बंधे हैं वैसे ही रहते हैं, उदय अथवा उदीरणारूप नहीं होते । इसकारण इस आवली को अचलावली कहते हैं । उस अचलावली के बीतनेपर कर्मपरमाणुओं के समुदाय में से कुछ परमाणुओं का अपकर्षण करके उदयावली में दिये जाते हैं वे तो आवलीकाल में उदय होकर खिर जाते हैं और जो परमाणु उपरितन स्थिति में दिये जाते हैं वे उदयावली के ऊपर की स्थिति के अनुसार खिरते हैं । कर्मस्थिति के अंत में आवलीप्रमाण अतिस्थापनावली को छोड़कर इन परमाणुओं को सर्वत्र दिया जाता है वे नानागुणहानि द्वारा सर्व निषेकों के साथ खिरते हैं ।

वहां उदयावली में दिया हुआ उदीरणा द्रव्य कैसे खिरता है ? कहते हैं –

''अद्धाणेण सव्वधणे खंडिदे मज्झिमधणमागच्छदि तं रूऊणद्धाणद्धेण ऊणेण णिसेयभागहारेण मज्झिमधणमवहरदे पचयं तं दोगुणहाणिणा गुणिदे आदिणिसेयं तत्तो विसेस हीणकमं।''

अद्धा अर्थात् विवक्षित काल के समयों का प्रमाण वह गच्छ है, उससे सर्वधन अर्थात् विवक्षित सर्व परमाणुओं के प्रमाण को **खंडिदे** अर्थात् भाग देनेपर मध्यमधन अर्थात् बीच के समय में जितने खिरते हैं उसका प्रमाण आता है । एक कम गच्छ के आधे प्रमाण को निषेकभागहार अर्थात् दो गुणहानि में से घटानेपर जो प्रमाण आता है उसका भाग मध्यमधन को देनेपर जो प्रमाण आता है, वह चय का प्रमाण जानना। उस चय को दो गुणहानि अर्थात् गुणहानि के प्रमाण से दोगुणे प्रमाण से गुणा करनेपर आदि निषेक अर्थात् पहले समय में जितने परमाणु खिरते हैं उनका प्रमाण आता है। द्वितीयादि समय संबंधी निषेकों में विशेष अर्थात् एक-एक चय से हीन परमाणुओं का खिरना जानना । इन सबका विशेष स्वरूप पहले कह आये हैं तथा आगे कहेंगे, वह जानना । इसतरह काल आये बिना *(स्थिति पूरी हुये बिना)* जिसतरह पाल में आम्रफल को पक्व करते हैं उसतरह अपक्व कर्म को उदीरणा द्वारा उदयावली में प्राप्त किया । उस कर्म के खिरने का ऐसा विधान जानना ॥१५९॥

आगे निषेक का स्वरूप कहते हैं –

आबाहूणियकम्मट्ठिदी णिसेगो दु सत्तकम्माणं ।
आउस्सणिसेगो पुण सगट्ठिदी होदि णियमेण ॥१६०॥

आबाधोनितकर्मस्थितिः निषेकस्तु सप्तकर्मणां ।
आयुषो निषेकः पुनः स्वकस्थितिर्भवति नियमेन ॥१६०॥

टीका – आयु को छोड़कर अन्य सात कर्मों के निषेक आबाधा से हीन कर्मस्थिति प्रमाण जानना, प्रतिसमय कर्मपरमाणु खिरते हैं उनके समूह का नाम निषेक जानना। विवक्षित कर्म की जितनी स्थिति बंधी हो उसमें से आबाधाकाल में तो कोई परमाणु खिरते नहीं, पश्चात् प्रतिसमय विवक्षित कर्मपरमाणु अनुक्रम से खिरते हैं । इसकारण कर्म की जो स्थिति हो उसमें से आबाधाकाल घटानेपर जो काल रहता है उसके समयों का जो प्रमाण है वही निषेकों का प्रमाण जानना, सात कर्मों के निषेक तो इसीतरह जानना । परंतु आयुकर्म की जितनी स्थिति हो, उतना ही निषेकों का प्रमाण जानना । यहां आबाधा को नहीं घटाना, क्योंकि आयुकर्म की आबाधा तो पहले भव में ही हो गयी, पश्चात् जो पर्याय(भव) धारण की, वहां आयुकर्म की स्थिति के जितने समय हैं, उन सभी समयों में, प्रथम समय से लेकर अंतिम समय तक प्रतिसमय क्रम से परमाणु खिरते हैं । इसकारण आयुकर्म की जितनी स्थिति हो उतने समयों का जो प्रमाण, वही आयुकर्म के निषेकों का प्रमाण जानना ॥१६०॥

आबाहं बोलाविय पढमणिसेगम्मि देय बहुगं तु ।
तत्तो विसेसहीणं बिदियस्सादिमणिसेओत्ति ॥१६१॥

आबाधां वा अपलाप्य प्रथमनिषेके देयं बहुकं तु ।
ततो विशेषहीनं द्वितीयस्यादिमनिषेक इति ॥१६१॥

टीका – कर्म की जितनी स्थिति बंधी हो, उसमें जिस समय बंध हुआ हो, उसके प्रथम समय से लेकर आबाधाकाल तक तो कोई परमाणु खिरते नहीं, इसकारण आबाधाकाल को छोड़कर जो अनंतर समय है, वहां प्रथम गुणहानि का प्रथम निषेक है, उसमें अन्य निषेकों से बहुत अधिक द्रव्य दिया जाता है, बहुत परमाणु खिरते हैं । पुनश्च प्रथम गुणहानि के द्वितीयादि निषेकों में द्वितीय गुणहानि के प्रथम निषेक

तक एक-एक विशेष अर्थात् चय घटानेपर जो-जो प्रमाण आता है उतना-उतना द्रव्य दिया जाता है उतने-उतने परमाणु खिरते हैं ॥१६१॥

बिदिये बिदियणिसेगे हाणी पुव्विल्लहाणिअद्धं तु ।
एवं गुणहाणिं पडि हाणी अद्धद्धयं होदि ॥१६२॥

द्वितीये द्वितीयनिषेके हानिः पूर्वहान्यर्धं तु ।
एवं गुणहानिं प्रति हानिरर्धार्धं भवति ॥१६२॥

टीका – पुनश्च दूसरी गुणहानि के दूसरे निषेक में प्रथम निषेक से पहले प्रतिनिषेक जितना घटाया था उससे आधा घटानेपर जो प्रमाण रहे, उतना द्रव्य देना । *(पहले गुणहानि के चय से दूसरी गुणहानि के चय का प्रमाण आधा होता है ।)* इसीप्रकार तृतीयादि निषेकों से लेकर तृतीय गुणहानि के प्रथम निषेक तक प्रतिनिषेक इतने इतने ही घटाना । इसीप्रकार गुणहानि-गुणहानि प्रति आधा आधा अनुक्रम जानना । इस सर्व कथन को पहले कह आये हैं और आगे विशेष कहेंगे, सामान्यपने से यहां अंकसंदृष्टि द्वारा कहते हैं –

विवक्षित कर्म के परमाणु तिरसठ सौ (६३००), आबाधा छोड़कर स्थिति का प्रमाण अड़तालीस (४८), एक गुणहानि आठ समय प्रमाण (८); वहां संपूर्ण स्थिति में कुल गुणहानि छह (६) *(नानागुणहानि)*, दो गुणहानि सोलह (१६), अन्योन्याभ्यस्तराशि चौंसठ (६४) - *(नाना गुणहानि प्रमाण दो अंक लिखकर आपस में गुणा करनेपर अन्योन्याभ्यस्तराशि आती है २×२×२×२×२×२=६४)* । प्रथम गुणहानि में बत्तीस सौ परमाणु खिरते हैं, द्वितीयादि गुणहानियों में आधे-आधे खिरते हैं - ३२००, १६००, ८००, ४००, २००, १०० । एक कम अन्योन्याभ्यस्तराशि का भाग सर्वद्रव्य को देनेपर अंतिम गुणहानि में द्रव्य का प्रमाण आता है *(६३००÷६३=१००)* इससे दोगुणा-दोगुणा द्रव्य आदि की गुणहानि तक जानना ।

पुनश्च प्रथम गुणहानि का सर्व द्रव्य बत्तीस सौ, इसको प्रथम गुणहानि का गच्छ आठ से भाग देनेपर मध्यधन चार सौ आता है । एक कम गच्छ *(८-१=७)* का आधा साढ़े तीन *($\frac{७}{२}$)*, इसे निषेकभागहार *(दो गुणहानि)* सोलह में से घटानेपर साढ़े बारह रहे, इसका भाग मध्यधन को देनेपर बत्तीस आये *($४०० \times \frac{२}{२५} = ३२$)* वह चय

जानना । इसे दो गुणहानि सोलह से गुणा करनेपर पांच सौ बारह आये, वह प्रथम निषेक संबंधी द्रव्य जानना । इसमें से एक एक चय घटानेपर द्वितीयादि निषेक संबंधी द्रव्य होता है ५१२, ४८०, ४४८, ४१६, ३८४, ३५२, ३२०, २८८ ।

इस दो सौ अट्ठासी में से एक चय कम करनेपर दो सौ छप्पन हुये, यह प्रमाण प्रथम गुणहानि के प्रथम निषेक से आधा है, इसे द्वितीय गुणहानि का प्रथम निषेक जानना । अब यहां हानिरूप चय का प्रमाण पहले से आधा-सोलह, इसलिए तीसरी गुणहानि के प्रथम निषेक तक सोलह-सोलह घटाना -*(दूसरी गुणहानि)* -२५६, २४०, २२४, २०८, १९२, १७६, १६०, १४४ ।

इसमें से एक चय घटानेपर एक सौ अट्ठाइस हुये जो दूसरी गुणहानि के प्रथम निषेक से आधा हुआ, इसलिए यह तीसरी गुणहानि का प्रथम निषेक है । अब यहां चय का प्रमाण पहले से आधा आठ जानना । इसतरह अंतिम छठवीं गुणहानि तक सर्वधन, निषेकों का द्रव्य और चय का प्रमाण आधा आधा जानना ।

इस अनुक्रम से सर्व तिरसठ सौ परमाणु निजस्थिति में खिरते हैं ।

इस दृष्टांत द्वारा सर्व कर्मों में यथायोग्य कथन जानना ॥१६२॥

।। इति स्थितिबंधप्रकरणं समाप्तं ।।

आगे तेइस गाथाओं द्वारा **अनुभागबंध का कथन** करते हैं –

सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसेण ।
विवरिदेण जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं ॥१६३॥

शुभप्रकृतीनां विशुद्ध्या तीव्रोऽशुभानां संक्लेशेन ।
विपरीतेन जघन्योऽनुभागः सर्वप्रकृतीनां ॥१६३॥

टीका – शुभ प्रकृतियों अर्थात् सातावेदनीय आदि प्रशस्त प्रकृतियों का विशुद्ध परिणामों से तीव्र अर्थात् उत्कृष्ट अनुभागबंध होता है तथा अशुभ प्रकृतियों अर्थात् असातावेदनीय आदि अप्रशस्त प्रकृतियों का संक्लेश परिणामों से तीव्र अनुभागबंध होता है ।

पुनश्च **विपरीतेन** अर्थात् शुभ प्रकृतियों का संक्लेश परिणामों से और अशुभ

प्रकृतियों का विशुद्ध परिणामों से जघन्य अनुभागबंध होता है ।

सब प्रकृतियों का इसतरह अनुभागबंध जानना । वहां मंदकषायरूप विशुद्ध परिणाम जानना तथा तीव्र कषायरूप संक्लेश परिणाम जानना ॥१६३॥

बादालं तु पसत्था विसोहीगुणमुक्कडस्स तिव्वाओ ।
वासीदि अप्पसत्था मिच्छुक्कडसंकिलिट्ठस्स ॥१६४॥

द्वाचत्वारिंशत्तु प्रशस्ता विशुद्धिगुणोत्कटस्य तीव्राः ।
द्व्यशीतिरप्रशस्ताः मिथ्योत्कटसंक्लिष्टस्य ॥१६४॥

टीका – सातावेदनीय आदि बयालीस (४२) प्रशस्त प्रकृतियां हैं उनका तीव्र अनुभाग सहित बंध उत्कृष्ट अर्थात् तीव्र विशुद्धता गुण जिसके पाया जाता है ऐसे जीव के होता है । तथा असातावेदनीय आदि बयासी (८२) अप्रशस्त प्रकृतियां उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम के धारक मिथ्यादृष्टि के तीव्र अनुभाग सहित बंधती हैं । यहां वर्णादि चार शुभरूप प्रकृतियां प्रशस्त प्रकृतियों में गिनी हैं और वर्णादि चार अशुभरूप प्रकृतियां अप्रशस्त प्रकृतियों में गिनी हैं, दोनों जगह इनका ग्रहण किया है ॥१६४॥

आदाओउज्जोओ मणुवतिरिक्खाउगं पसत्थासु ।
मिच्छस्स होंति तिव्वा सम्माइट्ठिस्स सेसाओ ॥१६५॥

आतप उद्योतो मानवतिर्यगायुष्कं प्रशस्तासु ।
मिथ्यस्य भवंति तीव्राः सम्यग्दृष्टेः शेषाः ॥१६५॥

टीका – उन बयालीस प्रशस्त प्रकृतियों में आतप, उद्योत, मनुष्यायु, तिर्यंचायु इन चार प्रकृतियों का तीव्र अनुभागबंध तो विशुद्ध मिथ्यादृष्टि के होता है । अवशेष अड़तीस प्रकृतियों का तीव्र अनुभागबंध विशुद्ध सम्यग्दृष्टि के होता है ॥१६५॥

मणुऔरालदुवज्जं विसुद्धसुरणिरयअविरदे तिव्वा ।
देवाउ अप्पमत्ते खवगे अवसेसबत्तीसा ॥१६६॥

मनुष्यौदारिकद्विवज्रं विशुद्धसुरनिरयाविरते तीव्राः ।
देवायुरप्रमत्ते क्षपके अवशेषद्वात्रिंशत् ॥१६६॥

टीका – सम्यग्दृष्टि के अड़तीस प्रकृतियों का तीव्र अनुभागबंध कहा था उनमें से मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, वज्रवृषभनाराच संहनन इन पांचों का तीव्र अनुभागबंध, अनंतानुबंधी की विसंयोजना में जीव जो तीन करण परिणाम करता है उसमें से अनिवृत्तिकरण के अंतिम समयवर्ती विशुद्ध देव-नारकी असंयत सम्यग्दृष्टि करते हैं । देवायु का तीव्र अनुभाग सहित बंध अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती करता है । अवशेष बत्तीस प्रकृतियों को क्षपक श्रेणीवाला जीव तीव्र अनुभाग सहित बांधता है ॥१६६॥

उवघादहीणतीसे अपुव्वकरणस्स उच्चजससादे ।
संमेलिदे हवंति हु खवगस्सवसेसबत्तीसा ॥१६७॥

उपघातहीनत्रिंशति अपूर्वकरणस्य उच्चयशःसातं ।
संमेलिते भवंति हि क्षपकस्यावशेषद्वात्रिंशत् ॥१६७॥

टीका – अपूर्वकरण के छठवें भाग में तीस प्रकृतियां व्यच्छित्तिरूप हुयी उनमें से उपघात को छोड़कर उनतीस और उच्च गोत्र, यशस्कीर्ति, सातावेदनीय सब मिलकर उपरोक्त अवशेष बत्तीस प्रकृतियां जानना ॥१६७॥

मिच्छस्संतिमणवयं णरतिरियाऊणि वामणरतिरिये ।
एइंदियआदावं थावरणामं च सुरमिच्छे ॥१६८॥

मिथ्यात्वस्यांतिमनवकं नरतिर्यगायुषी वामनरतिरश्चि ।
एकेंद्रियमातापं स्थावरनाम च सुरमिथ्यात्वे ॥१६८॥

टीका – बयासी अप्रशस्त और आतप, उद्योत, मनुष्यायु, तिर्यंचायु - इन छियासी का मिथ्यादृष्टि ही के तीव्र अनुभाग सहित बंध है । उनमें से मिथ्यात्व गुणस्थान में जिन सोलह प्रकृतियों की व्युच्छित्ति कही थी उनमें से सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त आदि अंतिम नौ प्रकृतियों को संक्लेश परिणामयुक्त मनुष्य और तिर्यंच और मनुष्यायु, तिर्यंचायु को विशुद्ध मनुष्य और तिर्यंच तीव्र अनुभाग सहित बांधता है । पुनश्च एकेन्द्रिय, स्थावर इन दो प्रकृतियों का, संक्लेश परिणाम का धारी और आतप का विशुद्ध परिणाम का धारी देव अपनी आयु के छह महिने अवशेष रहनेपर, तीव्र अनुभाग बांधता है ॥१६८॥

उज्जोवो तमतमगे सुरणारयमिच्छगे असंपत्तं ।
तिरियदुगं सेसा पुण चदुगदिमिच्छे किलिट्ठे य ॥१६९॥

उद्योतः तमस्तमके सुरनारकमिथ्यके असंप्राप्तं ।
तिर्यग्द्विकं शेषाः पुनः चतुर्गतिमिथ्ये क्लिष्टे च ॥१६९॥

टीका – तमस्तमक – सातवें नरक में उपशम सम्यक्त्व के सन्मुख हुआ विशुद्ध मिथ्यादृष्टि जीव उद्योत प्रकृति को तीव्र अनुभाग सहित बांधता है, क्योंकि अति विशुद्ध के उद्योत प्रकृति का बंध नहीं होता । असंप्राप्तासृपाटिका संहनन, तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी प्रकृतियों को देव और नारकी मिथ्यादृष्टि तीव्र अनुभाग सहित बांधते हैं । अवशेष अड़सठ प्रकृतियों को चारों गतियों के संक्लेश परिणाम के धारक मिथ्यादृष्टि जीव तीव्र अनुभाग सहित बांधते हैं ॥१६९॥

आगे जिनके जघन्य अनुभाग बंध होता है, उनका कथन करते हैं –

वण्णचउक्कमसत्थं उवघादो खवगघादि पणवीसं ।
तीसाणमवरबंधो सगसगवोच्छेदठाणम्हि ॥१७०॥

वर्णचतुष्कमशस्तमुपघातः क्षपकघाति पंचविंशतिः ।
त्रिंशतामवरबंधः स्वकस्वकव्युच्छेदस्थाने ॥१७०॥

टीका – अप्रशस्त वर्णादि चार, उपघात, ज्ञानावरण पांच, अंतराय पांच, दर्शनावरण चार, निद्रा, प्रचला, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, संज्वलन कषाय चार - इन तीस प्रकृतियों की अपनी अपनी बंध की व्युच्छित्ति जहां होती है, वहां इनका जघन्य अनुभागबंध होता है ॥१७०॥

अणथीणतियं मिच्छं मिच्छे अयदे हु बिदियकोधादी ।
देसे तदियकसाया संजमगुणपच्छिदे सोलं ॥१७१॥

अनस्त्यानत्रयं मिथ्यात्वं मिथ्ये अयते हि द्वितीयक्रोधादयः ।
देशे तृतीयकषायाः संयमगुणप्रस्थिते षोडश ॥१७१॥

टीका – अनंतानुबंधी कषाय चार, स्त्यानगृद्धि आदि तीन, मिथ्यात्व ये आठ

मिथ्यात्व गुणस्थान में, अप्रत्याख्यानावरण कषाय चार असंयत में, प्रत्याख्यानावरण कषाय चार देशसंयत में - ये सोलह प्रकृतियां जो जीव इन गुणस्थानों में संयम गुण धारण करने के सन्मुख हुआ हो ऐसे विशुद्ध जीव के जघन्य अनुभाग सहित बंधती हैं ॥१७१॥

आहारमप्पमत्ते पमत्तसुद्धे य अरदिसोगाणं ।
णरतिरिये सुहुमतियं वियलं वेगुव्वछक्काओ ॥१७२॥

आहारमप्रमत्ते प्रमत्तशुद्धे च अरतिशोकयोः ।
नरतिरश्चि सूक्ष्मत्रयं विकलं वैगूर्वषट्कं ॥१७२॥

टीका – आहारकद्विक प्रशस्त प्रकृति है इसलिए प्रमत्तविरत गुणस्थान के सन्मुख हुये संक्लेशी अप्रमत्तविरत गुणस्थानवर्ती जीव के जघन्य अनुभाग सहित बंधती है । अरति और शोक अप्रशस्त हैं इसलिए अप्रमत्तविरत गुणस्थान के सन्मुख हुये विशुद्ध प्रमत्तविरत गुणस्थानवर्ती जीव के जघन्य अनुभाग सहित बंधती हैं । पुनश्च सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण ये तीन; द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय – ये तीन; देवद्विक, नरकद्विक, वैक्रियिकद्विक - ये छह; आयु - चार ये सोलह प्रकृतियां मनुष्य और तिर्यंच के जघन्य अनुभाग सहित बंधती हैं ॥१७२॥

सुरणिरये उज्जोवओरालदुगं तमतमम्हि तिरियदुगं ।
णीचं च तिगदिमज्झिमपरिणामे थावरेयक्खं ॥१७३॥

सुरनिरये उद्योतौरालद्विकं तमस्तमसि तिर्यग्द्विकं ।
नीचं च त्रिगतिमध्यमपरिणामे स्थावरैकाक्षं ॥१७३॥

टीका – उद्योत और औदारिकद्विक - ये देव और नारकी के जघन्य अनुभाग सहित बंधती हैं । वहां उद्योत प्रकृति अतिविशुद्ध परिणामी देव के तो बंधती नहीं, इसलिए संक्लेशी के जघन्य अनुभाग सहित बंधती है क्योंकि उद्योत प्रकृति प्रशस्त है । तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, नीच गोत्र - ये तमस्तमक सातवें नरक में विशुद्ध जीव के जघन्य अनुभाग सहित बंधती हैं । स्थावर, एकेन्द्रिय ये दो प्रकृतियां नारकी को छोड़कर शेष तीन गतिवाले जीव उत्कृष्ट संक्लेश और विशुद्ध परिणाम से रहित मध्यम परिणामी जीव के जघन्य अनुभाग सहित बंधती हैं ॥१७३॥

सोहम्मोत्ति य तावं तित्थयरं अविरदे मणुस्सम्हि ।
चदुगदिवामकिलिट्ठे पण्णरस दुवे विसोहियै ॥१७४॥

सौधर्म इति च आतपं, तीर्थंकरमविरते मनुष्ये ।
चतुर्गतिवामक्लिष्टे पंचदश द्वे विशुद्धे ॥१७४॥

टीका – आतप प्रकृति संक्लेश परिणामी भवनत्रिक और सौधर्मद्विक के जघन्य अनुभाग सहित बंधती है । तीर्थंकर प्रकृति नरक जाने के सन्मुख हुये असंयत गुणस्थानवर्ती मनुष्य के जघन्य अनुभाग सहित बंधती है । पुनश्च पंद्रह प्रकृतियां चारों गतियों के संक्लेशी जीवों के और दो प्रकृतियां चारों गतियों के विशुद्ध जीवों के जघन्य अनुभाग सहित बंधती हैं ॥१७४॥

उन पंद्रह और दो प्रकृतियों के नाम कहते हैं –

परघाददुगं तेजदु तसवण्णचउक्क णिमिणपंचिंदी ।
अगुरुलहुं च किलिट्ठे इत्थिणउंसं विसोहीये ॥१७५॥

परघातद्विकं तेजोद्वि त्रसवर्णचतुष्कं निर्माणपंचेंद्रियं ।
अगुरुलघु च क्लिष्टे स्त्रीनपुंसकं विशुद्धे ॥१७५॥

टीका – परघात-उच्छ्वास दो, तेजस-कार्माण दो, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक - चार, शुभरूप वर्णादि चार, निर्माण, पंचेन्द्रिय, अगुरुलघु ये पंद्रह प्रकृतियां चारों गतियों के संक्लेशी जीव के जघन्य अनुभाग सहित बंधती हैं, क्योंकि ये प्रकृतियां प्रशस्त हैं । स्त्रीवेद और नपुंसकवेद दोनों अप्रशस्त हैं, इसलिए चारों गतियों के विशुद्ध जीव के जघन्य अनुभाग सहित बंधती हैं ॥१७५॥

सम्मो वा मिच्छो वा अट्ठ अपरियत्तमज्झिमो य जदि ।
परियत्तमाणमज्झिम मिच्छाइट्ठी दु तेवीसं ॥ १७६॥

सम्यग्वा मिथ्यो वा अष्ट अपरिवर्तनमध्यमश्च यदि ।
परिवर्तमानमध्यम मिथ्यादृष्टिस्तु त्रयोविंशतिः ॥१७६॥

टीका – आगामी गाथा में इकतीस प्रकृतियां कही हैं, उनमें से पहली आठ

प्रकृतियां तो यदि अपरिवर्तमान मध्यम परिणामी सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीव हो तो जघन्य अनुभाग सहित बांधता है । अवशेष तेइस प्रकृतियां परिवर्तमान मध्यम परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव ही जघन्य अनुभाग सहित बांधता है ॥१७६॥

वे प्रकृतियां कौनसी हैं ? वह कहते हैं –

थिरसुहजससाददुगं उभये मिच्छेव उच्चसंठाणं ।
संहदिगमणं णरसुरसुभगादेज्जाण जुम्मं च ॥१७७॥

स्थिरशुभयशस्सातद्विकमुभयस्मिन् मिथ्ये एव उच्चसंस्थानं ।
संहतिगमनं नरसुरसुभगादेयानां युग्मं च ॥१७७॥

टीका – स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, यशस्कीर्ति-अयशस्कीर्ति, साता-असाता ये आठ प्रकृतियां अपरिवर्तमान मध्यम परिणामी सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों के जघन्य अनुभाग सहित बंधती हैं । पुनश्च उच्च गोत्र, संस्थान छह, संहनन छह, प्रशस्त-अप्रशस्त विहायोगति, मनुष्यगति-मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगति-देवगत्यानुपूर्वी, सुभग-दुर्भग, आदेय-अनादेय ये तेइस प्रकृतियां परिवर्तमान मध्यम परिणामी मिथ्यादृष्टि जीव ही के जघन्य अनुभाग सहित बंधती हैं ।

यहां अपरिवर्तमान मध्यम परिणाम और परिवर्तमान मध्यम परिणाम का लक्षण कहते हैं –

अणुसमयं केवलं वट्टमाणा हीयमाणा च जे संकिलेस-विसोही परिणामा ते अपरियत्तमाणा णाम । जेत्थ पुण ठाविदूण परिणामांतरं गंतूणं एगदोहि आगमणं संभवदि ते परियत्तमाण णाम । तत्थ उक्कस्सा मज्झिमा जहण्णा तिविहा परिणामा ण । तत्थ सव्व विसुद्धपरिणामे हि य जहण्णो अणुभागो होदि अप्पसत्थपयडीणं अणुभागादो अणंतगुणपसत्थपयडी अणुभागस्स अणंतगुणवड्ढिप्पसंगादो ण सव्व संकिलेट्ठपरिणामेहि य तिव्वसंकिलिस्सेण असुहाणं पयडीणं अनुभाग वड्ढिप्पसंगादो तम्हा जहण्णुक्कस्स परिणामनिराकरणट्ठं परियत्तमाणमज्झिमपरिणामेहि ति उत्तं ।

अणुसमयं अर्थात् प्रतिसमय, केवल वर्धमान अर्थात् बढ़ते ही जाये और हीयमान अर्थात् घटते ही जाये ऐसे जो संक्लेशरूप और विशुद्धिरूप परिणाम वे **अपरिवर्तमान** कहलाते हैं क्योंकि यहां परिणाम पलटकर उलटा नहीं आया । पुनश्च जिस परिणाम

में स्थित होकर और परिणामांतर को प्राप्त होकर किसी एक परिणाम से पलटकर उसी परिणाम को प्राप्त होना शक्य है वे परिणाम परिवर्तमान कहलाते हैं, क्योंकि यहां परिणाम पलटकर उलटा आया ।

वहां उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य इसतरह परिणाम तीन प्रकार के हैं । वहां सर्वोत्कृष्ट विशुद्ध परिणाम द्वारा जघन्य अनुभागबंध नहीं होता क्योंकि अप्रशस्त प्रकृतियों के अनुभाग से अनंतगुणा प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग है । वहां अनंतगुणवृद्धि का प्रसंग है ।

भावार्थ – सर्वोत्कृष्ट विशुद्ध परिणामों से तो शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागबंध होता है, यहां जघन्य अनुभाग का कथन है, इसलिए सर्वोत्कृष्ट विशुद्ध परिणाम का ग्रहण नहीं करना । पुनश्च सर्वोत्कृष्ट संक्लेश परिणामों से भी जघन्य अनुभागबंध नहीं होता, क्योंकि तीव्र संक्लेश द्वारा अशुभ प्रकृतियों का अनुभाग वृद्धिरूप बहुत होता है । यहां जघन्य अनुभाग का कथन है, इसलिए सर्वोत्कृष्ट संक्लेश परिणाम का भी ग्रहण नहीं करना। इसकारण जघन्य और उत्कृष्ट परिणामों के निराकरण के लिए परिवर्तमान मध्यम परिणामों द्वारा पूर्वोक्त प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबंध होता है ऐसा कहा ॥१७७॥

आगे मूलप्रकृतियों के उत्कृष्टादि अनुभाग के सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव भेद पाये जाते हैं या नहीं पाये जाते ? वह कहते हैं –

घादीणं अजहण्णोणुक्कस्सो वेयणीयणामाणं ।
अजहण्णमणुक्कस्सो गोदे चदुधा दुधा सेसा ॥१७८॥

घातिनामजघन्योऽनुत्कृष्टो वेदनीयनाम्नोः ।
अजघन्योऽनुत्कृष्टो गोत्रे चतुर्धा द्विधा शेषाः ॥१७८॥

टीका – चारों घातिकर्मों का अजघन्य अनुभागबंध, वेदनीय और नामकर्म का अनुत्कृष्ट अनुभागबंध, गोत्रकर्म का अजघन्य और अनुत्कृष्ट बंध तो सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव भेद से चार प्रकार का है । अवशेष चारों घातिकर्मों के अजघन्य को छोड़कर शेष तीन प्रकार, वेदनीय और नाम के अनुत्कृष्ट को छोड़कर शेष तीन प्रकार, गोत्र के अजघन्य-अनुत्कृष्ट को छोड़कर शेष दो प्रकार, आयुकर्म के जघन्य, अजघन्य, उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट चारों प्रकार के अनुभागबंध हैं, वे सादि और अध्रुव के भेद से दो ही प्रकार के हैं ॥१७८॥

आगे ध्रुव प्रकृतियों में तो प्रशस्त और अप्रशस्त प्रकृति और अध्रुव प्रकृति इनके जघन्य, अजघन्य, अनुत्कृष्ट, उत्कृष्ट अनुभागबंध पाये जाते हैं, वहां सादि आदि भेद कहते हैं –

सत्थाणं धुवियाणमणुक्कस्समसत्थगाण धुवियाणं ।
अजहण्णं च य चदुधा सेसा सेसाणयं च दुधा ।।१७९।।

शस्तानां ध्रुवाणामनुत्कृष्टोऽशस्तकानां ध्रुवाणां ।
अजघन्यश्च च चतुर्धा शेषाः शेषाणां च द्वेधा ।।१७९।।

टीका – तेजस, कार्माण, अगुरुलघु, निर्माण, प्रशस्त वर्णादि चार – ये ध्रुवबंधी प्रशस्त प्रकृतियां हैं, इनका तो अनुत्कृष्ट अनुभागबंध तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय की उन्नीस (१९), मिथ्यात्व एक, सोलह कषाय, भय-जुगुप्सा, अप्रशस्त वर्णादि चार, उपघात – ये ध्रुवबंधी अप्रशस्त प्रकृतियां हैं, इनका अजघन्य अनुभागबंध सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव के भेद से चार प्रकार का है ।

पुनश्च निरंतर जिनका बंध पाया जाता है ऐसी पूर्वोक्त जो ध्रुवबंधी प्रकृतियां उनका तो इनके बिना *(अजघन्य को छोड़कर)* जघन्यादि तीन प्रकार का अनुभागबंध तथा अध्रुवबंधी तिहत्तर(७३) प्रकृतियों का जघन्यादि सभी चारों प्रकार का अनुभागबंध - सादि और अध्रुव के भेद से दो ही प्रकार का है ।।१७९।।

अनुभाग किसे कहते हैं ? ऐसा प्रश्न करनेपर उस अनुभाग का स्वरूप पहले घातिकर्मों में कहते हैं –

सत्ती य लदादारूअट्ठीसेलोवमाहु घादीणं ।
दारुअणंतिमभागोत्ति देसघादी तदो सव्वं ।।१८०।।

शक्तिश्च लतादार्वस्थिशैलोपमा आहुः घातिनां ।
दार्वनंतिम भागः इति देशघाति ततः सर्वं ।।१८०।।

टीका – घातिकर्म - ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय की शक्ति अर्थात् स्पर्धक लता, दारु, अस्थि, शैल की उपमावाले चार प्रकार के होते हैं । वहां लता अर्थात् बेल, दारु अर्थात् काष्ठ, अस्थि अर्थात् हड्डि, शैल अर्थात् पाषाण-पर्वत जैसे

क्रम से उत्तरोत्तर अधिक अधिक कठिन है -कठोरतायुक्त है, वैसे स्पर्धक अर्थात् वर्गणाओं के समूह लताभाग, दारुभाग, अस्थिभाग, शैलभाग इसतरह चार प्रकार के हैं । उनमें अनुक्रम से अपने फल देने की शक्तिरूप अनुभाग अधिक-अधिक जानना ।

वहां लताभाग से लेकर दारुभाग के अनंतवें भाग तक जो स्पर्धक हैं वे देशघाति हैं । इनका उदय होते हुये भी आत्मा का गुण प्रकट रहता है । दारुभाग के अनंत भागों में से एक भाग को छोड़कर शेष बहुभाग से लेकर अस्थिभाग, शैलभाग के जो स्पर्धक हैं वे सर्वघाति हैं । इनका उदय होते हुये आत्मा के गुण का अंश भी प्रकट नहीं होता ।

यहां उदाहरण देते हैं –

जहां अवधिज्ञान का अंश भी नहीं पाया जाता वहां अवधिज्ञानावरण के सर्वघाति स्पर्धकों का उदय जानना । जहां अवधिज्ञान भी पाया जाये और अवधिज्ञानावरण का उदय भी पाया जाये, वहां अवधिज्ञानावरण के देशघाति स्पर्धकों का उदय जानना । इसीतरह अन्य प्रकृतियों में भी जानना ॥१८०॥

वहां उत्तरप्रकृतियों में से मिथ्यात्व प्रकृति में विशेषता है, वह कहते हैं –

देसोत्ति हवे सम्मं तत्तो दारूअणंतिमे मिस्सं ।
सेसा अणंतभागा अट्ठिसिलाफट्टया मिच्छे ॥१८१॥

देश इति भवेत् सम्यक्त्वं ततः दार्वनंतिमे मिश्रं ।
शेषा अनंतभागा अस्थिशिलास्पर्द्धका मिथ्यात्वे ॥१८१॥

टीका – मिथ्यात्व *(दर्शनमोहनीय)* प्रकृति के लताभाग से लेकर दारुभाग के अनंत भागों में से एक भाग तक देशघाति स्पर्धक हैं, वे सब सम्यक् प्रकृतिरूप हैं। दारुभाग के एक भाग को छोड़कर शेष बहुभाग प्रमाण के अनंत खंड करना, उसमें एक खंडप्रमाण जुदी ही जाति के सर्वघाति स्पर्धक हैं, वे मिश्र प्रकृतिरूप जानना । दारुभाग के एक भाग को छोड़कर शेष बहुभाग से लेकर अस्थिभाग, शैलभागरूप जो स्पर्धक हैं, वे सर्वघाति मिथ्यात्व प्रकृतिरूप जानना ॥१८१॥

आवरणदेसघादंतरायसंजलणपुरिससत्तरसं ।
चदुविधभावपरिणदा तिविधा भावा हु सेसाणं ॥१८२॥

आवरणदेशघात्यंतरायसंज्वलनपुरुषसप्तदश ।
चतुर्विधभावपरिणताः त्रिविधा भावा हि शेषाणां ॥१८२॥

टीका – आवरणों में *(ज्ञानावरण, दर्शनावरण में)* मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ज्ञानावरण और चक्षु, अचक्षु, अवधि दर्शनावरण ये सात, पांच अंतराय, चार संज्वलन, पुरुषवेद ये सत्रह देशघाति प्रकृतियां शैल, अस्थि, दारु, लता भागरूप चारों प्रकार के भाव *(अनुभाग)* सहित प्रवर्तते हैं । वहां शैल, अस्थि, दारु, लता भागरूप प्रवर्तते हैं, जहां शैलभागरूप न हो वहां अस्थि, दारु, लताभागरूप ही प्रवर्तते हैं, जहां अस्थिभागरूप भी न हो वहां दारु, लताभागरूप ही प्रवर्तते हैं, जहां दारुभाग भी नहीं पाया जाता वहां केवल लताभागरूप ही प्रवर्तते हैं – इसतरह ये सत्रह प्रकृतियां चार प्रकार के भावरूप प्रवर्तती हैं ।

इन सत्रह को छोड़कर शेष रही प्रकृतियों में से सम्यक्त्व प्रकृति और मिश्र प्रकृति के बिना समस्त घातिकर्मों की प्रकृतियों के तीन प्रकार के ही भाव जानना। वहां केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, पांच निद्रा, अनंतानुबंधी-अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण बारह कषाय इन उन्नीस प्रकृतियों के *(सर्वघाति प्रकृतियों के)* स्पर्धक सर्वघाति ही हैं, देशघाति नहीं है । इसकारण जहां शैलभाग, अस्थिभाग और दारुभाग के अनंत बहुभागरूप स्पर्धक पाये जाते हैं वहां ये तीनों प्रकार के स्पर्धक पाये जाते हैं अथवा शैलभाग को छोड़कर दो प्रकार के स्पर्धक पाये जाते हैं अथवा शैलभाग, अस्थिभाग को छोड़कर एक ही प्रकार के स्पर्धक पाये जाते हैं - इसतरह तीनों प्रकार के भाव हैं ।

पुरुषवेद को छोड़कर शेष आठ नोकषायकर्म शैल, अस्थि, दारु, लता चारों प्रकार के अनुभाग सहित हैं । वहां ये शैल, अस्थि, दारु, लतारूप अथवा अस्थि. दारु, लतारूप अथवा दारु, लतारूप तीन प्रकार के भाव सहित हैं, केवल लताभागरूप कभी भी नहीं प्रवर्तते ॥१८२॥

अब अघातिकर्मों की प्रकृतियों को कहते हैं –

अवसेसा पयडीओ अघादिया घादियाण पडिभागा ।
ता एव पुण्णपावा सेसा पावा मुणेयव्वा ॥१८३॥

अवशेषाः प्रकृतयः अघातिकाः घातिकानां प्रतिभागाः ।
ता एव पुण्यपापाः शेषाः पापा मंतव्याः ॥१८३॥

टीका – अवशेष अघातिकर्मों की प्रकृतियां घातिकर्मवत् प्रतिभाग युक्त जानना। इनके स्पर्धक भी तीन भावरूप ही प्रवर्तते हैं । इन अघातिकर्मों की प्रकृतियां पुण्यप्रकृति और पापप्रकृतिरूप हैं, घातिकर्मों की सभी प्रकृतियां पापरूप ही जानना ॥१८३॥

घातिकर्मों के स्पर्धकों के लता, दारु, अस्थि, शैल नाम कहे । अब अघातिकर्मों की प्रशस्त-अप्रशस्त प्रकृतियों के स्पर्धकों के अन्य नाम हैं, उनका कथन करते हैं–

गुडखंडसक्करामियसरिसा सत्था हु णिंबकंजीरा ।
विसहालाहलसरिसाऽसत्था हु अघादिपडिभागा ॥१८४॥

गुडखंडशर्करामृत सदृशाः शस्ता हि निंबकांजीराः ।
विषहालाहलसदृशाः अशस्ता हि अघातिप्रतिभागाः ॥१८४॥

टीका – अघातिकर्मों के प्रतिभाग अर्थात् शक्ति के भेद प्रशस्त प्रकृतियों में तो गुड़, खांड, शर्करा, अमृत समान जानना । जैसे गुड़, खांड, शर्करा *(मिश्री)* और अमृत अधिक-अधिक सुख के कारण मिष्ट *(मीठे)* हैं, वैसे गुड़भाग, खांडभाग, शर्कराभाग, अमृतभागरूप प्रशस्त प्रकृतियों के स्पर्धक अधिक-अधिक सांसारिक सुख के कारण हैं।

अप्रशस्त प्रकृतियों के स्पर्धक निंब, कांजीर, विष, हलाहल समान जानना । जैसे निंब, कांजीर, विष, हलाहल अधिक-अधिक दुख के कारण कडवे हैं, वैसे निंबभाग, कांजीरभाग, विषभाग, हलाहलभागरूप अप्रशस्त प्रकृतियों के स्पर्धक क्रम से अधिक-अधिक दुख के कारण जानना । वहां प्रशस्त बयालीस (४२) हैं, अप्रशस्त सैंतीस (३७) हैं । यहां वर्णादिक चार प्रकृतियां प्रशस्त तथा अप्रशस्त दोनों में गिनी हैं।

वहां प्रशस्त प्रकृतियां गुड़, खांड, शर्करा, अमृतरूप अथवा गुड़, खांड, शर्करारूप अथवा गुड़, खांडरूप इसतरह तीन प्रकार के भावरूप प्रवर्तती हैं । अप्रशस्त प्रकृतियां निंब, कांजीर, विष, हलाहलरूप अथवा निंब, कांजीर, विषरूप अथवा निंब, कांजीररूप तीन प्रकार के भावरूप प्रवर्तती हैं ॥१८४॥

॥ इति अनुभागबंधः समाप्तः ॥

आगे **प्रदेशबंध का कथन** तैंतीस गाथाओं द्वारा कहते हैं –

एयक्खेत्तोगाढं सव्वपदेसेहिं कम्मणो जोग्गं ।
बंधदि सगहेदूहिं य अणादियं सादियं उभयं ।।१८५।।

एकक्षेत्रावगाढं सर्वप्रदेशैः कर्मणो योग्यं ।
बध्नाति स्वकहेतुभिश्च अनादिकं सादिकमुभयं ।।१८५।।

टीका – सूक्ष्म निगोदिया के शरीर का घनांगुल के असंख्यातवें भागमात्र जघन्य अवगाहनरूप क्षेत्र है, उसको एकक्षेत्र कहते हैं । उस एकक्षेत्र में अवगाहरूप रहनेवाले जो कर्मरूप परिणमने योग्य अनादि, सादि और उभयरूप पुद्गल द्रव्य, उसको जीव नामक पदार्थ अपने सर्व प्रदेशों द्वारा मिथ्यात्वादि के निमित्त से बांधता है ।।१८५।।

एयसरीरोगाहियमेयक्खेत्तं अणेयखेत्तं तु ।
अवसेसलोयखेत्तं खेत्तणुसारिट्ठियं रूवि ।।१८६।।

एकशरीरावगाहितमेकक्षेत्रमनेकक्षेत्रं तु ।
अवशेषलोकक्षेत्रं क्षेत्रानुसारिस्थितं रूपि ।।१८६।।

टीका – एक शरीर की अवगाहना द्वारा रोका हुआ जो आकाश *(के प्रदेश)* उसे एकक्षेत्र कहते हैं, घनांगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण एकक्षेत्र जानना, यद्यपि शरीर की अवगाहना जघन्य अवगाहना से लेकर उत्कृष्ट तक और समुद्घात की अपेक्षा लोकप्रमाण तक है । वहां जघन्य अवगाहना का प्रथम भेद पल्य के असंख्यातवें भाग से भाजित घनांगुल प्रमाण है और अंतिम भेद लोकप्रमाण है । अंत में से आदि को घटाकर एक मिलानेपर अवगाहना के समस्त भेद होते हैं; तथापि बहुत (अनंत) जीव घनांगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण शरीर की अवगाहना के धारक हैं, इसलिए मुख्यता से एकक्षेत्र का प्रमाण घनांगुल के असंख्यातवें भागमात्र कहा है । इतने क्षेत्र के बहुत प्रदेश हैं, इसलिए प्रदेशों की अपेक्षा यह अनेकक्षेत्र है, तथापि विवक्षा से यहां इस क्षेत्र को एकक्षेत्र कहा है ।

पुनश्च इस एकक्षेत्र के परिमाण से हीन ऐसा अवशेष लोकाकाश का क्षेत्र, उसको अनेकक्षेत्र कहते हैं । उस-उस क्षेत्र के अनुसार रहनेवाला रूपी जो पुद्गल द्रव्य, उसका परिमाण इसतरह जानना – यदि सम्पूर्ण लोक में सर्व पुद्गल द्रव्य पाया जाता है

तो एकक्षेत्र में कितना पुद्गल द्रव्य पाया जाता है, ऐसा त्रैराशिक करना ।

वहां प्रमाणराशि सर्वलोक, फलराशि पुद्गल द्रव्य का परिमाण, इच्छाराशि एकक्षेत्र का परिमाण । फलराशि को इच्छाराशि से गुणा करके प्रमाणराशि का भाग देनेपर लब्धराशि का जो प्रमाण आता है, उतना एकक्षेत्र संबंधी पुद्गल द्रव्य जानना । पुनश्च इच्छाराशि अनेकक्षेत्र करके पूर्वोक्त सर्व विधान करनेपर लब्धराशि का जो प्रमाण आया उतना अनेकक्षेत्र संबंधी पुद्गल द्रव्य जानना ॥१८६॥

एयाणेयक्खेत्तट्ठियरूविअणंतिमं हवे जोग्गं ।
अवसेसं तु अजोग्गं सादि अणादी हवे तत्थ ॥१८७॥

एकानेकक्षेत्रस्थितरूप्यनंतिमं भवेत् योग्यं ।
अवशेषं तु अयोग्यं सादि अनादि भवेत्तत्र ॥१८७॥

टीका – उन एक-अनेक क्षेत्र में रहनेवाले रूपी पुद्गल द्रव्य के प्रमाण के अनंतवें भागप्रमाण तो अपना-अपना योग्य पुद्गल द्रव्य है, शेष अयोग्य पुद्गल द्रव्य है । एकक्षेत्र संबंधी पुद्गल द्रव्य के प्रमाण को अनंत का भाग देनेपर एक भागप्रमाण तो कर्मरूप परिणमने योग्य पुद्गलों का प्रमाण है, अवशेष भागप्रमाण जो कर्मरूप परिणमने को योग्य नहीं हैं ऐसे पुद्गलों का प्रमाण है । पुनश्च अनेकक्षेत्र संबंधी पुद्गल के प्रमाण को अनंत का भाग देनेपर एकभाग प्रमाण कर्मरूप परिणमने योग्य पुद्गलों का प्रमाण है, अवशेष भागप्रमाण कर्मरूप परिणमने के अयोग्य पुद्गलों का प्रमाण है ।

इसप्रकार एकक्षेत्रस्थित योग्य, एकक्षेत्रस्थित अयोग्य, अनेकक्षेत्रस्थित योग्य, अनेकक्षेत्रस्थित अयोग्य चार भेद हुये । वहां एक एक भेद में सादिद्रव्य और अनादिद्रव्य जानना। अतीत काल में जीव द्वारा जो ग्रहण किया गया हो वह सादिद्रव्य कहलाता है, अनादि से लेकर जो कभी भी जीव के द्वारा ग्रहण न किया हो ऐसा पुद्गल द्रव्य अनादिद्रव्य कहलाता है ॥१८७॥

जेट्ठे समयपबद्धे अतीदकाले हदेण सव्वेण ।
जीवेण हदे सव्वं सादी होदित्ति णिद्दिट्ठं ॥१८८॥

ज्येष्ठे समयप्रबद्धे, अतीतकालेन हतेन सर्वेण ।
जीवेन हते सर्वं सादि भवतीति निर्दिष्टं ॥१८८॥

टीका – उत्कृष्ट योग के परिणामों द्वारा उत्पन्न उत्कृष्ट समयप्रबद्ध के प्रमाण को अतीत काल से गुणा करनेपर जो प्रमाण हो, उसे सर्व जीवराशि के प्रमाण से गुणा करनेपर सभी जीवों संबंधी सादिद्रव्य का प्रमाण होता है । यदि एक समय में उत्कृष्ट समयप्रबद्ध प्रमाण पुद्गल द्रव्य को ग्रहण करता है तो संख्यात आवली से गुणित सिद्धराशि प्रमाण अतीत काल के समयों में कितने पुद्गल को ग्रहण किया? ? इसप्रकार त्रैराशिक करना ।

वहां प्रमाणराशि एक समय, फलराशि उत्कृष्ट समयप्रबद्ध, इच्छाराशि अतीत काल के समयों का प्रमाण । फलराशि से इच्छाराशि को गुणा करके प्रमाणराशि का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है, उतना एक जीव संबंधी सादि पुद्गल द्रव्य जानना । इसको सर्व जीवराशि के प्रमाण से गुणा करनेपर जो प्रमाण आता है उतना सर्व जीवों संबंधी सादि पुद्गल द्रव्य जानना । इस प्रमाण को सर्व पुद्गलराशि के प्रमाण में से घटानेपर जो प्रमाण शेष रहता है, उतना अनादि पुद्गल द्रव्य जानना ॥१८८॥

आगे पूर्वोक्त भेदों में सादिद्रव्य का प्रमाण कहते हैं –

सगसगखेत्तगयस्स य अणंतिमं जोग्गदव्वगयसादी ।
सेसं अजोग्गसंगयसादी होदित्ति णिद्दिट्ठं ॥१८९॥

स्वकस्वकक्षेत्रगतस्य च अनंतिमं योग्यद्रव्यगतसादि ।
शेषमयोग्यसंगतसादि भवतीति निर्दिष्टं ॥१८९॥

टीका – एक-अनेकक्षेत्र में रहनेवाले सादिद्रव्य को जैसा जिनदेव ने देखा हो वैसे अनंत का भाग देनेपर एकभाग प्रमाण तो अपना-अपना योग्य सादिद्रव्य है, शेष अयोग्य सादिद्रव्य है ऐसा कहा है । उसी का कथन करते हैं –

यदि सर्वलोक के प्रदेशों में सर्व जीव संबंधी सादिद्रव्य पूर्वोक्त प्रमाण पाया जाता है, तो एक जीव की अवगाहनारूप घनांगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण एकक्षेत्र में कितना पाया जायेगा ? तथा एकक्षेत्र के प्रमाण से हीन लोकप्रमाण अनेकक्षेत्र में कितना पाया जायेगा ? – इसतरह दो त्रैराशिक करना ।

वहां प्रमाणराशि सर्वलोक, फलराशि सादिद्रव्य का प्रमाण, इच्छाराशि एकक्षेत्र। फलराशि को इच्छाराशि से गुणा करके प्रमाणराशि का भाग देनेपर लब्धराशि का जो

प्रमाण आया, उतना एकक्षेत्र संबंधी सादिद्रव्य जानना ।

पुनश्च प्रमाणराशि सर्वलोक, फलराशि सादिद्रव्य का प्रमाण, इच्छाराशि अनेक क्षेत्र । फलराशि को इच्छाराशि से गुणा करके प्रमाणराशि का भाग देनेपर लब्धराशि का जो प्रमाण आता है उतना अनेकक्षेत्र संबंधी सादिद्रव्य जानना । एकक्षेत्र संबंधी सादिद्रव्य को अनंत का भाग देनेपर एक भागप्रमाण एकक्षेत्र संबंधी कर्मरूप होनेयोग्य सादिद्रव्य जानना, शेष भागप्रमाण एकक्षेत्र संबंधी अयोग्य सादिद्रव्य जानना ।

इसीतरह अनेकक्षेत्र संबंधी सादिद्रव्य को अनंत का भाग देनेपर एक भागप्रमाण अनेकक्षेत्रस्थित योग्य सादिद्रव्य जानना, शेष भागप्रमाण अनेकक्षेत्रस्थित अयोग्य सादिद्रव्य जानना ।

आगे अनादिद्रव्य का प्रमाण कहते हैं –

सगसगसादिविहीणे जोग्गाजोग्गे य होदि णियमेण ।
जोग्गाजोग्गाणं पुण अणादिदव्वाण परिमाणं ॥१९०॥

स्वकस्वकसादिविहीने योग्यायोग्ये च भवति नियमेन ।
योग्यायोग्यानां पुनः अनादिद्रव्याणां परिमाणं ॥१९०॥

टीका – एकक्षेत्रस्थित योग्यद्रव्य और अयोग्यद्रव्य, अनेकक्षेत्रस्थित योग्यद्रव्य और अयोग्यद्रव्य का जो प्रमाण कहा, उसमें से अपना-अपना सादिद्रव्य का प्रमाण घटाने पर जो कुछ प्रमाण शेष रहे उतना-उतना अनुक्रम से एकक्षेत्रस्थित योग्य अनादिद्रव्य, एकक्षेत्रस्थित अयोग्य अनादिद्रव्य, अनेकक्षेत्रस्थित योग्य अनादिद्रव्य और अनेकक्षेत्रस्थित अयोग्य अनादिद्रव्य का प्रमाण जानना । इसतरह ये भेद हुये उनमें से योग्य सादिद्रव्य से, योग्य अनादिद्रव्य से और योग्य उभयद्रव्य से एक समय में समयप्रबद्ध प्रमाण मूलप्रकृति, उत्तरप्रकृति, उत्तरोत्तरप्रकृतिरूप करके प्रतिसमय प्रदेशबंध करता है ।

भावार्थ – मिथ्यात्वादि के निमित्त से जीव प्रतिसमय कर्मरूप परिणमने के योग्य समयप्रबद्ध प्रमाण परमाणुओं के समूह को ग्रहण करके कर्मरूप परिणमाता है । वहां किसी समय में तो जीव द्वारा पूर्व में ग्रहण करने में आये थे ऐसे सादिद्रव्यरूप परमाणुओं का ही ग्रहण करता है । किसी समय में किसी भी जीव द्वारा अतीत काल में ग्रहण करने में नहीं आये हो ऐसे अनादिद्रव्यरूप परमाणुओं का ही ग्रहण करता है।

किसी समय में कुछ सादिद्रव्यरूप परमाणु, कुछ अनादिद्रव्यरूप परमाणुओं का ग्रहण करता है ॥१९०॥

उस समयप्रबद्ध का प्रमाण कहते हैं –

सयलरसरूवगंधेहिं परिणदं चरमचदुहिं फासेहिं ।
सिद्धादोऽभव्वादोऽणंतिमभागं गुणं दव्वं ॥१९१॥

सकलरसरूपगंधैः परिणतं चरमचतुर्भिः स्पर्शैः ।
सिद्धादभव्यादनंतिमभागं गुणं द्रव्यं ॥१९१॥

टीका – वह समयप्रबद्धरूप परमाणुओं का समूह सर्व - पांच प्रकार के रस, पांच प्रकार के वर्ण, दो प्रकार के गंध से युक्त है, तथा स्पर्श के आठ भेदों में से अंतिम चार भेद - शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष ही से संयुक्त परिणमित हुआ है, गुरु, लघु, मृदु, कठिन ये चार नहीं पाये जाते । वह समयप्रबद्ध सिद्धराशि के अनंतवें भाग और अभव्यराशि से अनंतगुणा जानना । इतने परमाणुओं के समूहरूप वर्गणाओं को प्रति समय ग्रहण करके कर्मरूप परिणमाता है ॥१९१॥

एक समय में ग्रहण किया हुआ समयप्रबद्ध आठ मूलप्रकृतिरूप परिणमता है, वहां एक-एक मूलप्रकृति का भाग कैसे होता है ? वह कहते हैं –

आउगभागो थोवो णामागोदे समो तदो अहियो ।
घादितियेवि य तत्तो मोहे तत्तो तदो तदिये ॥१९२॥

आयुष्कभागः स्तोकः नामगोत्रे समः ततोऽधिकः ।
घातित्रयेऽपि च ततो मोहे ततस्ततस्तृतीये ॥१९२॥

टीका – सर्व मूलप्रकृतियों में आयुकर्म का भाग अर्थात् हिस्सा सबसे थोड़ा है । नामकर्म और गोत्रकर्म दोनों का भाग परस्पर समान है तथापि आयुकर्म के भाग से अधिक है । अंतराय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण इन तीनों का भाग परस्पर समान है, तथापि नाम, गोत्र के भाग से अधिक है । इससे मोहनीय का भाग अधिक है। इससे तीसरा कर्म-वेदनीय, उसका भाग अधिक है । मिथ्यात्व गुणस्थान में चारों आयु का बंध है । सासादन में नरकायु छोड़कर तीन आयु का बंध है । असंयत

में नरक, तिर्यंच बिना दो आयु ही का बंध है । देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत में एक देवायु ही का बंध है । ऊपर अनिवृत्तिकरण तक आयु को छोड़कर शेष सात कर्मों का ही बंध है । सूक्ष्मसाम्पराय में आयु और मोहनीय को छोड़कर छह कर्मों का बंध है । ऊपर के तीन गुणस्थानों में एक वेदनीय का बंध है जो उदयरूप ही है। जितने कर्मों का जहां बंध होता है, वहां समयप्रबद्ध में से उतने ही कर्मों का बटवारा जानना ॥१९२॥

आगे वेदनीयकर्म का सबसे अधिक भाग कहा था उसका कारण कहते हैं--

सुहदुक्खणिमित्तादो बहुणिज्जरगोत्ति वेयणीयस्स ।
सव्वेहिंतो बहुगं दव्वं होदित्ति णिद्दिट्ठं ॥१९३॥

सुखदुःखनिमित्तात् बहुनिर्जरक इति वेदनीयस्य ।
सर्वेभ्यो बहुकं द्रव्यं भवतीति निर्दिष्टं ॥१९३॥

टीका – वेदनीयकर्म सुख दुख का कारण है, इसलिए सुख दुख होते हुये इसकी निर्जरा बहुत होती है । इसकारण अन्य मूलप्रकृतियों के भागरूप द्रव्य प्रमाण से वेदनीय का द्रव्य अधिक है, ऐसा परमागम में कहा है ॥१९३॥

आगे अन्य कर्मों के हीनाधिक भाग का कारण कहते हैं –

सेसाणं पयडीणं ठिदिपडिभागेण होदि दव्वं तु ।
आवलिअसंखभागो पडिभागो होदि णियमेण ॥१९४॥

शेषाणां प्रकृतीनां स्थितिप्रतिभागेन भवति द्रव्यं तु ।
आवल्यसंख्यभागः प्रतिभागो भवति नियमेन ॥१९४॥

टीका – वेदनीय को छोड़कर शेष सब मूलप्रकृतियों के स्थिति प्रतिभाग से द्रव्य होता है । जिस कर्म की स्थिति बहुत है, उसका द्रव्य अधिक है । जिसकी स्थिति परस्पर समान है उसका द्रव्य परस्पर समान जानना । जिसकी स्थिति हीन है उसका द्रव्य थोड़ा जानना ।

वहां कितना अधिक है ? इसका प्रमाण लाने के लिये प्रतिभागहार आवली का असंख्यातवां भाग जानना, नियम से अन्य प्रतिभागहार नहीं है । उसकी संदृष्टि

नौ का अंक जानना । इस प्रतिभागहार का भाग देनेपर जो एकभाग का प्रमाण हो वह एकभाग जानना, एकभाग को छोड़कर शेष सर्व भागों के प्रमाण को बहुभाग जानना । जिस कर्म का जितना द्रव्य कहते हैं, उतना उस कर्म के परमाणुओं का प्रमाण जानना ॥१९४॥

आगे विभाग का अनुक्रम दिखाते हैं –

बहुभागे समभागो अट्ठण्हं होदि एक्कभागम्हि ।
उत्तकमो तत्थवि बहुभागो बहुगस्स देओ दु ॥१९५॥

बहुभागे समभागः अष्टानां भवति एकभागे ।
उक्तक्रमतत्रापि बहुभागो बहुकस्य देयस्तु ॥१९५॥

टीका – मूलप्रकृति आठ, उनको बहुभाग तो समान देना, जो एकभाग रहा उसको जिस अनुक्रम से कहा है वैसे देना । वहां भी जिसका बहुत द्रव्य हो उसको बहुभाग देना । वही कहते हैं —

एक समय में कार्माण संबंधी समयप्रबद्धप्रमाण परमाणु ग्रहण किये, उन परमाणुओं का जो प्रमाण, वह कार्माण समयप्रबद्ध द्रव्य है । उसको आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर एकभाग जुदा रखकर बहुभाग के आठ भाग करना, वहां एक-एक समान भाग आठ स्थानों में जुदा जुदा स्थापित करना । जो एकभाग जुदा रहा उसको आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर एकभाग जुदा रखकर शेष बहुभाग को **'बहुकस्य'** अर्थात् जिसका बहुत द्रव्य कहा है ऐसे वेदनीयकर्म को देना। पूर्वोक्त आठ समान भागों में से एक समान भाग के प्रमाण में इस प्रमाण को मिलानेपर जो प्रमाण होता है उतने परमाणु समयप्रबद्ध में से वेदनीय कर्मरूप परिणमते हैं ।

पुनश्च जो एकभाग रहा उसको आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर एकभाग जुदा रखकर बहुभाग मोहनीयकर्म को देना । उन आठ समान भागों में से एक समान भाग के प्रमाण में इस प्रमाण को मिलानेपर जो प्रमाण होता है, उतने परमाणु मोहनीयकर्मरूप परिणमित होते हैं ।

पुनश्च जो एकभाग रहा उसको आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर एकभाग जुदा रखकर शेष बहुभाग के तीन भाग करना और एक-एक भाग ज्ञानावरण,

दर्शनावरण, अंतराय को देना । उन आठ भागों में से एक-एक समान भाग के प्रमाण में इस एक-एक भाग को मिलानेपर जो-जो प्रमाण होता है, उतने-उतने परमाणु अनुक्रम से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतरायरूप होकर परिणमते हैं । इन तीनों कर्मों का द्रव्य परस्पर समान जानना ।

पुनश्च वह जो एकभाग रहा उसको आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर एक भाग जुदा रखकर बहुभाग के दो भाग करना और एक-एक भाग नाम, गोत्र को देना । उन आठ भागों में से एक-एक समान भाग के प्रमाण में इस एक-एक भाग को मिलानेपर जो-जो प्रमाण होता है, उतने-उतने परमाणु अनुक्रम से नाम और गोत्ररूप होकर परिणमते हैं । इन दोनो कर्मों का द्रव्य परस्पर समान जानना।

पुनश्च वह जो एकभाग रहा वह आयुकर्म को देना । उन आठ भागों में से एक समान भाग के प्रमाण में इस एकभाग का प्रमाण मिलानेपर जो प्रमाण होता है, उतने परमाणु आयुकर्मरूप परिणमते हैं ।

इसतरह **'आउग भागो थोवो'** ऐसा जो गाथा में अनुक्रम कहा वह सिद्ध हुआ।

इसप्रकार एक समय में समयप्रबद्ध प्रमाण पुद्गल द्रव्य आठ कर्मरूप होकर परिणमता है ॥१९५॥

आगे मूलप्रकृतियों में जो पिंडरूप द्रव्य कहा उसका अपनी-अपनी उत्तरप्रकृतियों में कैसे बटवारा होता है ? उसका अनुक्रम कहते हैं –

उत्तरपयडीसु पुणो मोहावरणा हवंति हीणकमा ।
अहियकमा पुण णामाविग्घा य ण भंजणं सेसे ॥१९६॥

उत्तरप्रकृतिषु पुनः मोहावरणाः भवंति हीनक्रमाः ।
अधिकक्रमाः पुनः नाम विघ्नाश्च न भंजनं शेषे ॥१९६॥

टीका – उत्तरप्रकृतियों में मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण ये तो हीनक्रम अर्थात् अनुक्रम से हीन-हीन जानना । जैसे - ज्ञानावरण में मतिज्ञानावरण के द्रव्य से श्रुतज्ञानावरण का द्रव्य थोड़ा है, इससे अवधिज्ञानावरण का द्रव्य थोड़ा है - इसीतरह अनुक्रम जानना। नामकर्म और अंतरायकर्म ये दोनों अधिकक्रम अर्थात् अनुक्रम से अधिक-अधिक जानना। जैसे – अंतरायकर्म में दानांतराय के द्रव्य से लाभांतराय का द्रव्य अधिक है, इससे

भोगांतराय का द्रव्य अधिक है इसतरह अधिकक्रम जानना ।

शेष वेदनीय, गोत्र, आयु में बटवारा नहीं है क्योंकि इनकी एक-एक ही प्रकृति एक काल में बंधती है । वेदनीयकर्म में या तो साता का बंध होता है या असाता का, दोनों का एक काल में बंध नहीं होता । गोत्रकर्म में या तो नीच गोत्र का बंध होता है या उच्च गोत्र का । आयु में एक ही आयु का बंध होता है । इसलिए इन तीनों प्रकृतियों का उत्तरप्रकृतियों में बटवारा नहीं होता । जिस काल में जिस उत्तरप्रकृति का बंध होता है, उस काल में मूलप्रकृति के द्रव्य का जो प्रमाण है वहीं सर्व उस उत्तरप्रकृति का द्रव्य जानना ॥१९६॥

आगे घातिकर्मों में सर्वघाति-देशघाति द्रव्य का बटवारा कहते हैं –

सव्वावरणं दव्वं अणंतभागो दु मूलपयडीणं ।
सेसा अणंतभागा देसावरणं हवे दव्वे ॥१९७॥

सर्वावरणं द्रव्यमनंतभागस्तु मूलप्रकृतीनां ।
शेषा अनंतभागा देशावरणं भवेद् द्रव्यं ॥१९७॥

टीका – ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय इन तीन मूलप्रकृतियों का जो-जो अपना-अपना द्रव्य है उसको जैसा जिनदेव ने देखा उस यथायोग्य अनंत का भाग देनेपर एकभाग प्रमाण तो सर्वावरण अर्थात् सर्वघाति संबंधी द्रव्य है, शेष अनंतभाग रहे उसप्रमाण देशावरण अर्थात् देशघाति संबंधी द्रव्य है ।

जैसे, पहले ज्ञानावरण के परमाणुओं का जो प्रमाण कहा है उसको अनंत का भाग दीजिये, वहां एकभाग प्रमाण परमाणु तो सर्वघाति संबंधी हैं, शेष बहुभाग प्रमाण परमाणु देशघाति संबंधी हैं । इसीतरह दर्शनावरण और मोहनीय में भी जानना ।

यहां जो सर्वघाति द्रव्य का प्रमाण बताया उसमें आगे बटवारा करेंगे । वहां देशघाति और सर्वघाति प्रकृतियों का बटवारा करेंगे । देशघाति जो मतिज्ञानावरणादि, उनके द्रव्य का जो प्रमाण, उनमें सर्वघाति परमाणुओं के प्रमाण के लिये प्रतिभागहार का प्रमाण कहते हैं ।

यहां कोई कहेगा कि देशघाति प्रकृतियों में सर्वघाति परमाणु कैसे कहते हो?

उसका समाधान – पहले अनुभाग के प्रकरण में कह आये हैं कि मतिज्ञानावरणादि

का अनुभाग शैल, अस्थि, दारु, लताभागरूप चार प्रकार का है । वहां दारुभाग का अनंतवां भाग और समस्त लताभाग तो देशघाति हैं - ऐसे अनुभाग के धारक परमाणु देशघाति द्रव्य जानना । शैलभाग, अस्थिभाग और दारुभाग का बहुभाग सर्वघाति हैं और ऐसे अनुभाग के धारक परमाणु सर्वघाति द्रव्य जानना ।

सर्वघातियों का उदय होनेपर किंचित् मात्र भी आत्मगुण प्रकट नहीं होता । जैसे एकेन्द्रियादि जीवों के चक्षुदर्शनावरण के सर्वघाति द्रव्य का भी उदय पाया जाता है, वहां किंचित् मात्र भी चक्षुदर्शन नहीं होता ।

देशघातियों का उदय होते हुये भी आत्मगुण प्रकट होता है । जैसे, चतुरिन्द्रियादि जीवों के चक्षुदर्शनावरण के देशघाति का ही उदय पाया जाता है, वहां चक्षुदर्शन भी पाया जाता है । इसप्रकार देशघाति प्रकृतियों में सर्वघाति-देशघाति द्रव्य है ॥१९७॥

वहां सर्वघाति द्रव्य के प्रमाण के लिये प्रतिभागहार का प्रमाण कहते हैं –

देसावरणण्णोण्णब्भत्थं तु अणंतसंखमेत्तं खु ।
सव्वावरणधणट्ठं पडिभागो होदि घादीणं ॥१९८॥

देशावरणान्योन्याभ्यस्तं तु अनंतसंख्यामात्रं खलु ।
सर्वावरणधनार्थं प्रतिभागो भवति घातिनां ॥१९८॥

टीका – चार ज्ञानावरण, तीन दर्शनावरण, पांच अंतराय, चार संज्वलन, नौ नोकषाय इनके परमाणुओं के प्रमाण की नानागुणहानिशलाका अनंत है । जितनी नानागुणहानि है उतने दो अंक मांड़कर परस्पर गुणा करनेपर अन्योन्याभ्यस्तराशि होती है वह भी अनंत संख्यामात्र है ।

अंकसंदृष्टि इस प्रकार है – द्रव्य इकतीस सौ (३१००), स्थितिस्थान चालीस (४०), एक गुणहानि का प्रमाण आठ (८), इससे दो गुणहानि का प्रमाण सोलह (१६), नानागुणहानि पांच (५), नानागुणहानिप्रमाण दो अंक लिखकर परस्पर गुणा करनेपर अन्योन्याभ्यस्तराशि बत्तीस (३२) । इनकी रचना जैसे पहले द्रव्य तिरसठ सौ और स्थान अड़तालीस का दृष्टांत कहा था और आगे कहेंगे वैसे ही जानना ।

विशेष इतना है कि यहां छठवीं नानागुणहानि की रचना नहीं करनी; द्रव्यादि का प्रमाण यहां बताया है वह जानना । अर्थसंदृष्टि द्वारा अर्थात् यथार्थ में इसप्रकार

है – उन पूर्वोक्त प्रकृतियों के परमाणुओं का प्रमाण वह द्रव्य जानना । स्थितिस्थान तीन बार अनंत को परस्पर गुणित करे उतना जानना । गुणहानि दो बार अनंत को परस्पर गुणित करे उतनी जाननी । इससे दोगुणी दोगुणहानि जानना । नानागुणहानि अनंत जानना । नानागुणहानि प्रमाण दो अंक लिखकर परस्पर गुणा करनेपर उतनी अन्योन्याभ्यस्तराशि का प्रमाण है वही सर्वघाति द्रव्य का प्रमाण जानने के लिये प्रतिभाग जानना ।

वही कहते हैं –

मतिज्ञानावरणादि चार प्रकृतियों का द्रव्य केवलज्ञानावरण के हिस्से को छोड़कर अपने सर्वघाति द्रव्य सहित देशघाति द्रव्य प्रमाण है, वह कुछ अधिक समयप्रबद्ध के आठवें भाग प्रमाण है । इसको एक कम अन्योन्याभ्यस्तराशि का भाग देनेपर शैल भाग के अंतिम गुणहानि के द्रव्य का प्रमाण होता है । पश्चात् नीचे एक-एक गुणहानि प्रति दोगुणा-दोगुणा द्रव्य होकर दारुभाग के अनंत भागों में से एकभाग छोड़कर शेष बहुभाग संबंधी द्रव्य उनकी प्रथम गुणहानि में शैलभाग के अंतिम गुणहानि के द्रव्य को यथायोग्य आधे अनंत से गुणा करके जो प्रमाण हो, उतना ज़ानना । क्योंकि यहां तक जितनी गुणहानि हुयी, वही गच्छ जानना । एक कम गच्छ मात्र दो के अंकों को गुणा करनेपर सर्वघाति संबंधी अन्योन्याभ्यस्तराशि अनंतप्रमाण होती है, उसका जो आधा प्रमाण, वही यहां गुणकार जानना । यहां सर्वघाति द्रव्य पूर्ण हुआ । इन सभी गुणहानियों के द्रव्य को जोड़नेपर जो प्रमाण हो, उतने परमाणु सर्वघाति संबंधी जानना। इसीलिए सर्वघाति के द्रव्य के लिये अन्योन्याभ्यस्तराशि का प्रतिभाग कहा है ।

अब आगे देशघाति का द्रव्य कहते हैं –

दारुभाग के बहुभाग की प्रथम गुणहानि के द्रव्य से नीचे की दारुभाग के अनंत भागों में से एकभाग की अंतिम गुणहानि का द्रव्य दोगुणा है । नीचे गुणहानि-गुणहानि प्रति दोगुणा-दोगुणा द्रव्य होते हुये, लताभाग की प्रथम गुणहानि में एक कम सर्व नानागुणहानि का जो प्रमाण उतने दो के अंक लिखकर परस्पर गुणा करनेपर जो प्रमाण आता है वही अन्योन्याभ्यस्तराशि का आधा प्रमाण है । उससे शैलभाग की अंतिम गुणहानि के द्रव्य को गुणा करनेपर जो प्रमाण हो, उतना द्रव्य जानना । इन गुणहानियों का जोड़ देनेपर जो प्रमाण हो उतने परमाणु देशघाति संबंधी जानना ।

अंकसंदृष्टि द्वारा जैसे, सर्वद्रव्य इकतीस सौ (३१००), इसको एक कम अन्योन्याभ्यस्तराशि इकतीस (३१) का भाग देनेपर सौ (१००) आये, वह शैलभाग की अंतिम गुणहानि का द्रव्य जानना । पश्चात् गुणहानि-गुणहानि प्रति दोगुणा-दोगुणा होता है - २००, ४००, ८००। एक कम नानागुणहानि चार, उतनी बार दो अंक लिखकर (२।२।२।२) परस्पर गुणा करनेपर सोलह हुये यही अन्योन्याभ्यस्तराशि बत्तीस का आधा प्रमाण है, इससे शैलभाग का अंतिम गुणहानि द्रव्य सौ (१००) को गुणा करनेपर सोलह सौ (१६००) हुये, वह लताभाग का प्रथम गुणहानि का द्रव्य जानना ।

इसीतरह तीन दर्शनावरण आदि के द्रव्यों में भी सर्वघाति-देशघाति द्रव्य का प्रमाण जानना ॥१९८॥

आगे पूर्वोक्त सर्वघाति-देशघाति द्रव्य के विशेष विभाग का अनुक्रम कहते हैं–

सव्वावरणं दव्वं विभंजणिज्जं तु उभयपयडीसु ।
देसावरणं दव्वं देसावरणेसु णेविदरे ॥१९९॥

सर्वावरणं द्रव्यं विभंजनीयं तु उभयप्रकृतिषु ।
देशावरणं द्रव्यं देशावरणेषु नैवेतरेऽस्मिन् ॥१९९॥

टीका – घातिकर्म के अपने-अपने द्रव्य को अनंत का भाग देनेपर एकभाग प्रमाण सर्वघाति द्रव्य है, बहुभाग प्रमाण देशघाति द्रव्य है । वहां सर्वघाति द्रव्य तो सर्वघाति और देशघाति प्रकृतियों में विभाग करके देना तथा देशघाति द्रव्य देशघाति प्रकृतियों में ही देना, केवलज्ञानावरणादि सर्वघातियों में नहीं देना ॥१९९॥

आगे उत्तरप्रकृतियों में विभाग कहते हैं –

बहुभागे समभागो बंधाणं होदि एक्कभागम्हि ।
उत्तकमो तत्थवि बहुभागो बहुगस्स देओ दु ॥२००॥

बहुभागे समभागो बंधानां भवति एकभागे ।
उक्तक्रमस्तत्रापि बहुभागः बहुकस्य देयस्तु ॥२००॥

टीका – युगपत् जिनका बंध पाया जाता है ऐसी उत्तरप्रकृतियों के अपने-अपने पिंडरूप द्रव्य को आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर बहुभाग के तो

बराबर भाग करके अपनी-अपनी उत्तरप्रकृतियों में समान द्रव्य देना और एकभाग में से मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण की प्रकृतियों को तो अनुक्रम से हीन-हीन और नामकर्म, अंतरायकर्म की प्रकृतियों को अनुक्रम से अधिक-अधिक द्रव्य देना, इसतरह कहे हुये अनुक्रम से करना, वहां भी जिसका बहुत द्रव्य कहा हो उसको बहुभाग देना ॥२००॥

वही कहते हैं –

घादितियाणं सगसगसव्वावरणीयसव्वदव्वं तु ।
उत्तकमेण य देयं विवरीयं णामविग्घाणं ॥२०१॥

घातित्रयाणां स्वकस्वकसर्वावरणीयसर्वद्रव्यं तु ।
उक्तक्रमेण च देयं विपरीतं नामविघ्नानां ॥२०१॥

टीका – ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तीन कर्मों के अपने-अपने सर्वघाति द्रव्य को उनके उत्तरप्रकृतियों का जो अनुक्रम कहा है उसी क्रम से प्रथम प्रकृति से लेकर अंतिम प्रकृति तक द्रव्य देना ।

नामकर्म, अंतरायकर्म के **विपरीत** अर्थात् अंतिम प्रकृति से लेकर प्रथम प्रकृति तक अनुक्रम से द्रव्य देना ।

उसी को दिखाते हैं –

पूर्वोक्त ज्ञानावरणकर्म के सर्वद्रव्य को जिनदेव ने देखे हुये यथायोग्य अनंत का भाग देनेपर एकभाग प्रमाण सर्वघाति द्रव्य है । इस सर्वघातिद्रव्य का विभाग करते हैं – इस सर्वघाति द्रव्य को आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर एकभाग को छोड़कर बहुभाग के पांच भाग करके एक-एक समान भाग को पांचों प्रकृतियों में देना । शेष एकभाग को आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण प्रतिभाग का भाग देकर, बहुभाग मतिज्ञानावरण में देना । जो एकभाग रहा उसको पुनः उसी प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग श्रुतज्ञानावरण को देना । शेष एकभाग को पुनः उसी प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग अवधिज्ञानावरण को देना । शेष एकभाग को पुनः उसी प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग मनःपर्ययज्ञानावरण को देना । शेष एकभाग रहा वह केवलज्ञानावरण को देना । इसतरह पहले जो पांच समान भाग कहे थे उन एक-एक में पश्चात् जो-

जो प्रमाण कहा उसे मिलानेपर अनुक्रम से मतिज्ञानावरणादि के सर्वघाति द्रव्य का प्रमाण आता है।

ज्ञानावरण द्रव्य के अनंत भागों में एकभाग बिना अवशेष बहुभागप्रमाण देशघाति द्रव्य है, उसको पूर्वोक्त अनुक्रम से उसी आवली के असंख्यातवें भागमात्र प्रतिभाग का भाग देकर एकभाग को छोड़कर बहुभाग के चार भाग करना । एक-एक समान भाग मतिज्ञानावरणादि चारों प्रकृतियों को देना । शेष एकभाग को प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग मतिज्ञानावरण को देना । शेष एकभाग को प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग श्रुतज्ञानावरण को देना । शेष एकभाग को प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग अवधिज्ञानावरण को देना। शेष एकभाग मनःपर्ययज्ञानावरण को देना - इसतरह पहले जो समान चार भाग कहे थे, उन एक-एक में पश्चात् जो-जो प्रमाण कहा वह-वह मिलानेपर अनुक्रम से मतिज्ञानावरणादि के देशघाति द्रव्य का प्रमाण आता है । पुनश्च अपने-अपने देशघाति और सर्वघाति द्रव्य को मिलानेपर ज्ञानावरण के अपनी-अपनी उत्तरप्रकृतियों का सर्वद्रव्य का प्रमाण आता है । यहां इतना जानना –

प्रकृतियों के द्रव्य के विभाग *(विभाजन)* में सर्वत्र जहां प्रतिभाग का भाग कहा है, वहां आवली के असंख्यातवें भाग का भाग जानना ।

इसीप्रकार दर्शनावरणकर्म के पूर्वोक्त सर्वद्रव्य के प्रमाण को अनंत का भाग देनेपर एकभाग प्रमाण सर्वघाति द्रव्य है । उस सर्वघाति द्रव्य को प्रतिभाग का भाग देकर एकभाग को छोड़कर बहुभाग के नौ भाग करना और एक-एक समान भाग नौ प्रकृतियों को देना । शेष एकभाग को प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग स्त्यानगृद्धि को देना। शेष एकभाग को प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग निद्रानिद्रा को देना - इसीतरह ज्ञानावरण के पंचक की तरह प्रतिभाग का भाग दे-देकर बहुभाग-बहुभाग अनुक्रम से प्रचलाप्रचला, निद्रा, प्रचला, चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण को हीन अनुक्रम से देना । शेष एकभाग केवलदर्शनावरण को देना । पहले कहे हुये एक-एक समान भाग में पश्चात् कहे हुये प्रमाण मिलानेपर स्त्यानगृद्धि आदि का अपने-अपने सर्वघाति द्रव्य का प्रमाण आता है ।

दर्शनावरण द्रव्य के अनंत भागों में से एकभाग बिना बहुभागप्रमाण देशघाति द्रव्य है उसको प्रतिभाग का भाग देकर एकभाग बिना बहुभाग के तीन भाग करना

और एक-एक समान भाग चक्षु, अचक्षु, अवधि दर्शनावरण को देना । शेष एकभाग को प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग चक्षुदर्शनावरण को देना । शेष एकभाग को प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग अचक्षुदर्शनावरण को देना, शेष एकभाग अवधिदर्शनावरण को देना । पहले कहे हुये तीन समान भागों में से एक-एक समान भाग में पश्चात् कहा हुआ प्रमाण मिलानेपर चक्षुदर्शनावरणादि का अपना-अपना देशघाति द्रव्य होता है । चक्षु, अचक्षु, अवधिदर्शनावरण का सर्वघाति-देशघाति द्रव्य मिलानेपर उनके सर्वद्रव्य का प्रमाण होता है । अवशेष छहों **(निद्रापंचकं केवलदर्शनावरणं चेति षट्)** प्रकृतियों का सर्वघाति द्रव्य ही सर्वद्रव्य जानना ।

अंतरायकर्म के सर्वद्रव्य के प्रमाण को प्रतिभाग का भाग देकर एकभाग छोड़कर बहुभाग के पांच भाग करके एक-एक समान भाग एक-एक प्रकृति को देना । शेष एकभाग को प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग वीर्यांतराय को देना । शेष एकभाग को प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग उपभोगांतराय को देना । इसीतरह जो अवशेष एक-एक भाग रहे उसको प्रतिभाग का भाग दे-देकर बहुभाग-बहुभाग भोगांतराय, लाभांतराय को देना । अवशेष एक भाग दानांतराय को देना । पहले कहे हुये पांच समान भागों में से एक-एक में पश्चात् कहा हुआ प्रमाण मिलानेपर अपने-अपने द्रव्य का प्रमाण होता है । इसतरह अंतराय अधिकक्रमरूप जानना ॥२०१॥

आगे मोहनीय विशेष है, वह कहते है –

मोहे मिच्छत्तादी सत्तरसण्हं तु दिज्जदे हीणं ।
संजलणाणं भागेव होदि पणणोकसायाणं ॥२०२॥

मोहे मिथ्यात्वादिसप्तदशानां तु दीयते हीनं ।
संज्वलनानां भाग इव भवति पंचनोकषायाणां ॥२०२॥

टीका – मोहनीयकर्म में मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी-संज्वलन-प्रत्याख्यानावरण-अप्रत्याख्यानावरण-लोभ, माया, क्रोध, मान(१६) -इन सत्रह प्रकृतियों को हीनक्रम अर्थात् अनुक्रम से हीन-हीन द्रव्य देना । पांच नोकषायों का भाग संज्वलन के भाग समान जानना । नोकषाय नौ हैं उनमें से एक समय में युगपत् पांच ही का बंध होता है इसलिए यहां पांच नोकषाय कहे । तीन वेदों में से एक वेद, रति-अरति में से एक, हास्य-शोक में से एक ही का बंध होता है, भय-जुगुप्सा इन दोनों का बंध

होता है, इसतरह युगपत् पांच नोकषाय का बंध होता है ॥२०२॥

अब इनका विभाग कैसे होता है, कहते हैं –

संजलणभागबहुभागद्धं अकसायसंगयं दव्वं ।
इगिभागसहियबहुभागद्धं संजलणपडिबद्धं ॥२०३॥

संज्वलनभागबहुभागार्धमकषायसंगतं द्रव्यं ।
एकभागसहितबहुभागार्धं संज्वलनप्रतिबद्धं ॥२०३॥

टीका – मोहनीयकर्म के पूर्वोक्त सर्वद्रव्य के प्रमाण को अनंत का भाग देनेपर एकभाग प्रमाण सर्वघाति द्रव्य है, अवशेष बहुभागप्रमाण देशघाति द्रव्य है । देशघाति द्रव्य को आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर एकभाग को छोड़कर, बहुभाग का आधा तो नोकषायों को देना तथा बहुभाग का आधा और शेष एकभाग रहा वह सर्व संज्वलन का देशघाति संबंधी द्रव्य जानना । इसतरह ये तीन प्रकार के द्रव्य हुये । उनमें से सर्वघाति द्रव्य का विभाग करते हैं –

सर्वघाति द्रव्य को आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण प्रतिभाग का भाग देकर, एकभाग को जुदा रखकर, अवशेष बहुभाग के सत्रह भाग करना । एक-एक समान भाग एक-एक प्रकृति को देना । जो एक भाग रहा उसको प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग मिथ्यात्व को देना । शेष एकभाग को प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग अनंतानुबंधी लोभ को देना । शेष एकभाग को प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग अनंतानुबंधी माया को देना । इसी अनुक्रम से जो-जो एक भाग अवशेष रहता जाये उसको उसी प्रतिभाग का भाग दे-देकर बहुभाग-बहुभाग अनंतानुबंधी क्रोध, अनंतानुबंधी मान, संज्वलन लोभ, संज्वलन माया, संज्वलन क्रोध, संज्वलन मान, प्रत्याख्यानावरण लोभ, प्रत्याख्यानावरण माया, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, प्रत्याख्यानावरण मान, अप्रत्याख्यानावरण लोभ, अप्रत्याख्यानावरण माया, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध को देना । अवशेष एक भाग रहेगा उसे अप्रत्याख्यानावरण मान को देना । पहले सत्रह समान भाग कहे थे उनके एक-एक समान भाग में पश्चात् कहे हुये अपने-अपने प्रमाण को मिलानेपर अपनी-अपनी प्रकृतियों के सर्वघाति द्रव्य का प्रमाण होता है ।

पुनश्च संज्वलन का दूसरा देशघाति संबंधी द्रव्य का जो प्रमाण कहा था, उसको

प्रतिभाग का भाग देकर एकभाग को जुदा रखकर अवशेष बहुभाग के चार भाग करके एक-एक समान भाग चारों को देना । शेष एकभाग रहा उसको प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग संज्वलन लोभ को देना । शेष एकभाग को प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग संज्वलन माया को देना । शेष एकभाग को प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग संज्वलन क्रोध को देना । शेष एकभाग संज्वलन मान को देना । पहले जो समान चार भाग कहे, उन एक-एक भाग में पश्चात् कहा हुआ अपना-अपना प्रमाण मिलानेपर अपना-अपना देशघाति द्रव्य होता है । संज्वलन की चारों प्रकृतियों का देशघाति-सर्वघाति द्रव्य मिलानेपर सर्वद्रव्य होता है ।

मिथ्यात्व, बारह कषाय का सर्वद्रव्य सर्वघाति ही है और नोकषाय का सर्वद्रव्य देशघाति ही है ।

अब नोकषाय का बटवारा कहते हैं –

पूर्व में जो तीसरा नोकषाय संबंधी द्रव्य कहा, उसको प्रतिभाग का भाग देकर एकभाग को जुदा रखकर बहुभाग के पांच भाग करना । एक-एक समान भाग पांचों प्रकृतियों को देना । शेष एकभाग रहा उसको प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग तीनों वेदों में से जिसका बंध हो रहा हो उसको देना । शेष एकभाग को प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग रति, अरति में से जिसका बंध हो रहा हो उसको देना । शेष एकभाग को प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग हास्य, शोक में से जिसका बंध हो रहा हो उसको देना । शेष एकभाग को प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग भय को देना । शेष एकभाग जुगुप्सा को देना । पहले समान पांच भाग कहे, उनमें से एक-एक में पश्चात् कहा हुआ अपना-अपना प्रमाण मिलानेपर अपनी-अपनी प्रकृतियों का द्रव्य होता है ॥२०३॥

यहां नोकषायरूप पिंडप्रकृतियों के द्रव्य में विशेष है, वह कहते हैं –

तण्णोकसायभागो सबंधपणणोकसायपयडीसु ।
हीणकमो होदि तहा देसे देसावरणदव्वं ॥२०४॥

तन्नोकषायभागः सबंधपंचनोकषायप्रकृतिषु ।
हीनक्रमो भवति तथा देशे देशावरणद्रव्यं ॥२०४॥

टीका – नोकषाय संबंधी द्रव्य युगपत् बंध को प्राप्त होनेवाले पांच नोकषायों में हीन क्रम से देना । पुरुषवेद, रति, हास्य, भय, जुगुप्सा पांचों का युगपत् बंध मिथ्यात्व गुणस्थान से अपूर्वकरण तक होता है । अथवा पुरुषवेद, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन पांचों का युगपत् बंध मिथ्यात्व से प्रमत्तविरत गुणस्थान तक होता है । स्त्रीवेद, रति, हास्य, भय, जुगुप्सा इन पांचों का अथवा स्त्रीवेद, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन पांचों का युगपत् बंध मिथ्यात्व, सासादन में होता है । नपुंसकवेद, रति, हास्य, भय, जुगुप्सा इन पांचों का अथवा नपुंसकवेद, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन पांचों का युगपत् बंध मिथ्यात्व गुणस्थान में होता है । इसलिए नोकषाय संबंधी द्रव्य का जैसे पहले बटवारा कहा है वैसा जिन पांच प्रकृतियों का बंध हो रहा हो, उनको अनुक्रम से हीन-हीन द्रव्य देना ।

अनिवृत्तिकरण में एक पुरुषवेद का ही बंध है, इसलिए सवेद भाग तक नोकषाय संबंधी सर्व ही द्रव्य एक पुरुषवेद को देना । देशघाति संज्वलन कषाय का देशघाति संबंधी द्रव्य युगपत् जितनी प्रकृतियां बंधती हैं उनको हीन क्रम से देना । मिथ्यात्व से लेकर अनिवृत्तिकरण के दूसरे क्रोधबंधभाग तक तो चारों का बटवारा करना । तीसरे भाग में जहां क्रोध का बंध नहीं है वहां तीन ही प्रकृतियों का बटवारा करना। चौथे भाग में जहां मान का भी बंध नहीं है, वहां दो ही प्रकृतियों का बटवारा करना । पांचवें भाग में जहां माया का भी बंध नहीं है, वहां संज्वलन के देशघाति संबंधी सर्वद्रव्य एक लोभ को ही देना । भाग पूर्वोक्त रीति से अनुक्रम से हीन-हीन जानना ॥२०४॥

आगे बंध को प्राप्त होनेवाले नोकषायों का निरंतर बंध हो तो कितने काल तक होता है ? वह कहते हैं –

पुंबंधऽद्धा अंतोमुहुत्त इत्थिम्हि हस्सजुगले य ।
अरदिदुगे संखगुणा णपुंसकऽद्धा विसेसहिया ॥२०५॥

पुंबंधाद्धा अंतर्मुहूर्तः स्त्रियां हास्ययुगले च ।
अरतिद्वये संख्यगुणा नपुंसकाद्धा विशेषाधिकः ॥२०५॥

टीका – यदि पुरुषवेद का निरंतर बंध हो, बीच में अन्य किसी वेद का बंध न हो तो उस निरंतर बंध का **'अद्धा'** अर्थात् काल जैसा जिनदेव ने देखा उस

अंतर्मुहूर्त प्रमाण, जो संख्यातगुणा संख्यात आवली प्रमाण है । उसकी सहनानी दोगुणा अंतर्मुहूर्त । स्त्रीवेद का निरंतर बंधकाल उससे संख्यातगुणा है, उसकी सहनानी चारगुणा अंतर्मुहूर्त । हास्य और रति का उससे भी संख्यातगुणा है, उसकी सहनानी सोलहगुणा अंतर्मुहूर्त । अरति और शोक का उससे भी संख्यातगुणा है, उसकी सहनानी बत्तीसगुणा अंतर्मुहूर्त । नपुंसकवेद का उससे कुछ अधिक है, उसकी सहनानी बयालीसगुणा अंतर्मुहूर्त। वहां तीनों वेद का काल मिलानेपर सहनानी की अपेक्षा अड़तालीस अंतर्मुहूर्त तथा हास्य-शोक और रति-अरति का काल मिलानेपर अड़तालीस अंतर्मुहूर्त ।

वहां मिलाये हुये काल को प्रमाणराशि, पिंडरूप द्रव्य को फलराशि तथा अपने-अपने काल को इच्छाराशि करनेपर लब्धराशि में अपने-अपने द्रव्य का प्रमाण त्रैराशिक द्वारा आता है ।

वहां तीनों वेद के द्रव्य का जो सत्ता में प्रमाण है उसको मिलाये हुये काल की सहनानीरूप अंतर्मुहूर्त अड़तालीस का भाग देनेपर जो प्रमाण हो, उसको पुरुषवेद के काल की सहनानी अंतर्मुहूर्त दो से गुणा करनेपर जो प्रमाण हो, उतना पुरुषवेद संबंधी द्रव्य जानना । वह सबसे थोड़ा है । पुनश्च स्त्रीवेद के काल की सहनानी अंतर्मुहूर्त चार से गुणा करनेपर जो प्रमाण हो, उतना स्त्रीवेद संबंधी द्रव्य है, जो पुरुषवेद के द्रव्य से संख्यातगुणा है । नपुंसकवेद के काल की सहनानी अंतर्मुहूर्त बयालीस से गुणा करनेपर जो प्रमाण हो, वह नपुंसकवेद संबंधी द्रव्य है, जो स्त्रीवेद के द्रव्य से संख्यातगुणा है ।

रति-अरति संबंधी द्रव्य को सहनानी की अपेक्षा अंतर्मुहूर्त अड़तालीस का भाग देनेपर जो प्रमाण हो, उसको सहनानी की अपेक्षा रति का काल अंतर्मुहूर्त सोलह से गुणा करनेपर जो प्रमाण हो, वह रति नोकषाय संबंधी द्रव्य जानना, जो अल्प है । अरति का काल अंतर्मुहूर्त बत्तीस से गुणा करनेपर जो प्रमाण हो, वह अरति नोकषाय संबंधी द्रव्य जानना । वह रति के द्रव्य से संख्यातगुणा है ।

हास्य-शोक संबंधी द्रव्य को सहनानी की अपेक्षा अंतर्मुहूर्त अड़तालीस का भाग देनेपर जो प्रमाण हो, उसको सहनानी की अपेक्षा हास्य का काल अंतर्मुहूर्त सोलह से गुणा करनेपर जो प्रमाण हो, वह हास्य नोकषाय संबंधी द्रव्य है । वह शोक के द्रव्य से संख्यातगुणा हीन है । शोक का काल अंतर्मुहूर्त बत्तीस से गुणा करनेपर जो प्रमाण हो, वह शोक संबंधी द्रव्य है । वह हास्य के द्रव्य से संख्यातगुणा है।

इसतरह युगपत् जिसका बंध होता है ऐसे पांच नोकषाय पूर्वोक्त प्रकार से अनुक्रम से हीन-हीन द्रव्यरूप कहे, तथापि पिंड में परस्पर नानाकाल में इकट्ठा होने की अपेक्षा इसप्रकार से द्रव्य का बटवारा अपने-अपने बंधकाल में होता है । तीन वेदों का एक पिंड जानना, रति-अरति का एक पिंड जानना, हास्य-शोक का एक पिंड जानना। पूर्वोक्त पिंड का द्रव्य इसप्रकार बंधता है ॥२०५॥

आगे अंतराय की पांच प्रकृतियों और नामकर्म के बंधस्थानों में कहते हैं –

पणविग्घे विवरीयं सबंधपिंडिदरणामठाणेवि ।
पिंडं दव्वं च पुणो सबंधसगपिंडपयडीसु ॥२०६॥

पंचविघ्ने विपरीतं सबंधपिंडेतरनामस्थानेऽपि ।
पिंडं द्रव्यं च पुनः सबंधस्वकपिंडप्रकृतिषु ॥२०६॥

टीका – दानांतराय आदि पांच अंतराय में **विपरीतं** अर्थात् पूर्वोक्त क्रम से विपरीत - अंत से लेकर आदि तक क्रम जानना । उसका ऊपर कथन कर ही आये हैं। नामकर्म के स्थानों में युगपत् बंध को प्राप्त होनेवाली ऐसी जो नामकर्म की प्रकृतियां गत्यादि पिंडरूप और अगुरुलघु आदि अपिंडरूप उनमें भी **विपरीतं** अर्थात् अंत से लेकर आदि तक क्रम जानना ।

वही कहते हैं –

युगपत् जिनका बंध होता है ऐसा नामकर्म का त्रयोविंशतिक *(२३ का)* स्थान है। वहां तिर्यंचगति, एकेन्द्रियजाति, औदारिक-तेजस-कार्माण तीन शरीर, हुंडक संस्थान, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयशस्कीर्ति, निर्माण – इन तेइस प्रकृतियों का युगपत् बंध मनुष्य और तिर्यंच मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं । यह त्रयोविंशतिक स्थान साधारण-सूक्ष्म-एकेन्द्रिय-लब्धिअपर्याप्त भव को प्राप्त करने को योग्य है ।

अब इनका बटवारा दिखाते हैं –

पहले मूलप्रकृतियों के बटवारे में जो नामकर्म का द्रव्य कहा, उसको आवली के असंख्यातवें भाग का भाग देकर एकभाग जुदा रखना और बहुभाग के इक्कीस भाग करना । एक-एक समान भाग एक-एक प्रकृति को देना । तेइस प्रकृतियों का बंध

था, उनमें से औदारिक, तेजस, कार्माण ए तीन प्रकृतियां शरीर नामक पिंडप्रकृति में आ गयी और पिंडप्रकृति में एक एक प्रकृति का ही बंध है इसलिए इक्कीस ही भाग किये । जो एकभाग रहा उसको आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग अंत में कही हुयी निर्माण प्रकृति को देना । अवशेष एकभाग रहा उसको प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग अयशस्कीर्ति को देना, अवशेष एकभाग रहा उसको प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग अनादेय को देना ।

इसीप्रकार जो-जो एकभाग अवशेष रहता जाये, उसको प्रतिभाग का भाग दे-देकर बहुभाग-बहुभाग दुर्भग, अशुभ, अस्थिर, साधारण, अपर्याप्त, सूक्ष्म, स्थावर, उपघात, अगुरुलघु, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, हुंडक संस्थान, शरीर पिंडप्रकृति, एकेन्द्रियजाति को देना । अवशेष एकभाग रहा, उसको आदि में कही हुयी तिर्यंचगति प्रकृति को देना । पहले इक्कीस समान भाग कहे थे, उनमें से एक-एक भाग में अपना-अपना पश्चात् कहा हुआ प्रमाण मिलानेपर अपनी-अपनी प्रकृति का द्रव्य होता है।

जैसे तेइस का बंध का उदाहरण दिखाया वैसे ही जहां पच्चीस का युगपत् बंध होता है, वहां इसीतरह पच्चीस का बटवारा जानना । इसीतरह छब्बीस, अट्ठाइस, उनतीस, तीस, इकतीस प्रकृतियों के बंध में बटवारा जानना ।

जहां ऊपर के गुणस्थानों में *(नामकर्म के)* एक यशस्कीर्ति का ही बंध है *(आठवें के सातवें भाग में, नौवें में, दसवें में)* वहां सर्व ही नामकर्म का द्रव्य उस एक प्रकृति को ही देना । पुनश्च उपरोक्त स्थानों में *(नामकर्म के बंधस्थानों में)* जिनका युगपत् बंध होता है उन पिंडप्रकृतियों के भेदों का बटवारा एक पिंडप्रकृतियों के द्रव्य में अधिक अनुक्रम से जानना ।

जैसे त्रयोविंशतिक स्थान में एक शरीरनामक पिंडप्रकृति के तीन भेद पाये जाते हैं, वहां शरीरप्रकृति के बटवारे में जो द्रव्य आया उसको प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग के तीन भाग करके एक-एक समान भाग तीनों को देना । शेष एकभाग को प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग कार्माण को देना, शेष एकभाग को प्रतिभाग का भाग देकर बहुभाग तेजस को देना, अवशेष एकभाग औदारिक को देना । पूर्वोक्त समानभागों में इनको मिलानेपर अपना-अपना द्रव्य होता है । इसीतरह अन्यत्र भी जानना ।

जहां पिंडप्रकृतियों में एक ही प्रकृति का बंध होता हो, वहां पिंडप्रकृति का सर्व ही द्रव्य उस एक प्रकृति को देना । इकतालीस जीवपदों में नामकर्मों के स्थानों का जिसतरह बंध होता है उसका कथन आगे स्थानसमुत्कीर्तन अधिकार में करेंगे, वहां से जानना ।

इसतरह प्रदेशबंध के कथन में द्रव्य का बटवारा कहा । एक-एक समय में जो एक-एक समयप्रबद्ध बंधता है वहां समयप्रबद्ध प्रमाण परमाणुओं में जिस-जिस प्रकृति का जितना-जितना द्रव्य कहा, उतने-उतने परमाणु उस-उस प्रकृतिरूप होकर परिणमते हैं ऐसा भावार्थ जानना ।

किसीके बहुभाग, समभाग आदि बातें समझ में नहीं आती हो उसको एक दृष्टांत दिखाते हैं –

जैसे सर्वद्रव्य चार हजार छानबे (४०९६), उनका बटवारा चार जगह करना है । प्रतिभाग का प्रमाण आठ । चार हजार छानबे को आठ का भाग देकर एक भाग छोड़कर अवशेष बहुभाग पैंतीस सौ चौरासी (३५८४), उसके चार समान भाग करनेपर एक-एक भाग में आठ सौ छानबे आये । अवशेष एकभाग का प्रमाण पांच सौ बारह, उसको प्रतिभाग आठ का भाग देनेपर चौंसठ आये । उसे जुदा रखकर अवशेष बहुभाग चार सौ अड़तालीस बहुद्रव्यवाले को देना । शेष एकभाग चौंसठ को प्रतिभाग का भाग देनेपर आठ आये, उसे जुदा रखकर अवशेष बहुभाग छप्पन उससे हीन द्रव्यवाले को देना । अवशेष एकभाग को प्रतिभाग का भाग देनेपर एक आया उसे जुदा रखकर अवशेष बहुभाग सात, उससे हीन द्रव्यवाले को देना । शेष एकभाग एक सबसे हीन द्रव्यवाले को देना । समानभागों में उनको मिलानेपर क्रम से तेरह सौ चवालीस, नौ सौ बावन, नौ सौ तीन, आठ सौ सत्तानबे प्रमाण द्रव्य आया । (१३४४, ९५२, ९०३, ८९७) इसप्रकार चार हजार छानबे प्रमाण द्रव्य का बटवारा हुआ । इसीतरह पूर्वोक्त प्रकृतियों का बटवारा जानना ।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय की प्रकृतियों में अनुक्रम से हीन-हीन द्रव्य जानना। अंतराय और नामकर्म की प्रकृतियों में अनुक्रम से अधिक-अधिक द्रव्य जानना । वेदनीय, आयु, गोत्र की उत्तरप्रकृति एक समय में एक ही बंधती है इसलिए मूलप्रकृतिवत् इनका द्रव्य जानना ॥२०६॥

इसतरह प्रदेश अर्थात् परमाणुओं के बंध का विधान कहा ।

आगे मूलप्रकृतियों के उत्कृष्ट आदि प्रदेशबंधों में सादि आदि विशेष कहते हैं–

छण्हंपि अणुक्कस्सो पदेसबंधो दु चदुवियप्पो दु ।
सेसतिये दुवियप्पो मोहाऊणं च दुवियप्पो ।।२०७।।

षण्णामपि अनुत्कृष्टः प्रदेशबंधस्तु चतुर्विकल्पस्तु ।
शेषत्रये द्विविकल्पः मोहायुषोश्च द्विविकल्पः ।।२०७।।

टीका – ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र, अंतराय इन छहों का अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध तो सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव भेद से चार प्रकार का है *(देखिये गाथा ८९, ९० की टीका)* । इन छहों के अवशेष उत्कृष्ट, अजघन्य, जघन्य प्रदेशबंध सादि और अध्रुव भेद से दो ही प्रकार के हैं । मोहनीय, आयु का उत्कृष्ट आदि चारों ही प्रकार का प्रदेशबंध सादि, अध्रुव के भेद से दो प्रकार का है ।।२०७।।

अब उत्तरप्रकृतियों के बारे में कहते हैं –

तीसण्हमणुक्कस्सो उत्तरपयडीसु चउविहो बंधो ।
सेसतिये दुवियप्पो सेसचउक्केवि दुवियप्पो ।।२०८।।

त्रिंशतामनुत्कृष्टः उत्तरप्रकृतिषु चतुर्विधो बंधः ।
शेषत्रये द्विविकल्पः शेषचतुष्केऽपि द्विविकल्पः ।।२०८।।

टीका – उत्तरप्रकृतियों में तीस प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध तो सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव के भेद से चार प्रकार का है । अवशेष उत्कृष्ट, अजघन्य, जघन्य प्रदेशबंध सादि, अध्रुव के भेद से दो प्रकार का है । अवशेष नब्बे प्रकृतियों का उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, अजघन्य, जघन्य चारों प्रकार का प्रदेशबंध सादि, अध्रुव के भेद से दो प्रकार का ही है ।।२०८।।

वे तीस प्रकृतियां कौनसी हैं ? वह कहते हैं –

णाणंतरायदसयं दंसणछक्कं च मोहचोद्दसयं ।
तीसण्हमणुक्कस्सो पदेसबंधो चदुवियप्पो ।।२०९।।

ज्ञानांतरायदशकं दर्शनषट्कं च मोहचतुर्दशकं ।
त्रिंशतामनुत्कृष्टः प्रदेशबंधः चतुर्विकल्पः ॥२०९॥

टीका – पांच ज्ञानावरण, पांच अंतराय, निद्रा, प्रचला, चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल दर्शनावरण छह, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ; भय, जुगुप्सा – चौदह इन तीस प्रकृतियों का अनुत्कृष्ट प्रदेशबंध सादि आदि चार प्रकार का है । सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव का स्वरूप पहले कहा था, वह जानना ॥२०९॥

आगे उत्कृष्ट प्रदेशबंध होने की सामग्री कहते हैं –

उक्कडजोगो सण्णी पज्जत्तो पयडिबंधमप्पदरो ।
कुणदि पदेसुक्कस्सं जहण्णये जाण विवरीयं ॥२१०॥

उत्कृष्टयोगः संज्ञी पर्याप्तः प्रकृतिबंधाल्पतरः ।
करोति प्रदेशोत्कृष्टं जघन्यके जानीहि विपरीतं ॥२१०॥

टीका – जो जीव उत्कृष्ट योग से युक्त हो, संज्ञी हो, पर्याप्त हो, जिसके थोड़ी प्रकृतियों का बंध होता हो वह उत्कृष्ट प्रदेशबंध करता है । जघन्य प्रदेशबंध में **'विपरीतं'** अर्थात् अन्यथा जानना । जो जीव जघन्य योग से युक्त हो, असंज्ञी, अपर्याप्त, बहुत प्रकृतियों को बांधनेवाला हो, वह जघन्य प्रदेशबंध करता है ॥२१०॥

आगे मूलप्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशबंध का स्वामीत्व गुणस्थानों में कहते हैं-

आउक्कस्स पदेसं छक्कं मोहस्स णव दु ठाणाणि ।
सेसाणं तणुकसाओ बंधदि उकस्सजोगेण ॥२११॥

आयुष्कस्य प्रदेशं षट्कं मोहस्य नव तु स्थानानि ।
शेषाणां तनुकषायो बध्नाति उत्कृष्टयोगेन ॥२११॥

टीका – आयुकर्म के उत्कृष्ट प्रदेशबंध को छह गुणस्थानों को उल्लंघ कर अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती करता है । मोहनीय का उत्कृष्ट प्रदेशबंध नौवें गुणस्थान को पाकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवर्ती करता है । अवशेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र, अंतराय का उत्कृष्ट प्रदेशबंध सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवर्ती करता है । इन तीनों स्थानों में उत्कृष्ट

योग का धारक और थोड़ी प्रकृति बांधनेवाला जीव पूर्वोक्त प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध करता है ॥२११॥

आगे उत्तरप्रकृतियों के बारे में कहते हैं –

सत्तर सुहुमसरागे पंचऽणियट्टिम्हि देसगे तदियं ।
अयदे बिदियकसायं होदि हु उक्कस्सदव्वं तु ॥२१२॥

छण्णोकसायणिद्दा पयलातित्थं च सम्मगो य जदी ।
सम्मो वामो तेरं णरसुरआउ असादं तु ॥२१३॥

देवचउक्कं वज्जं समचउरं सत्थगमणसुभगतियं ।
आहारमप्पमत्तो सेसपदेसुक्कडो मिच्छो ॥२१४॥

सप्तदश सूक्ष्मसरागे पंचानिवृत्तौ देशके तृतीयं ।
अयते द्वितीयकषायं भवति हि उत्कृष्टद्रव्यं तु ॥२१२॥

षट्नोकषायनिद्रा प्रचलातीर्थं च सम्यक् च यदि ।
सम्यग्वामः त्रयोदश नरसुरायुरसातं तु ॥२१३॥

देवचतुष्कं वज्रं समचतुरस्रं शस्तगमनसुभगत्रयं ।
आहारमप्रमत्तः शेषप्रदेशोत्कटो मिथ्यः ॥२१४॥

टीका – पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पांच अंतराय, यशस्कीर्ति, उच्चगोत्र, सातावेदनीय इन सत्रहों प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध सूक्ष्मसाम्पराय में होता है । पुरुषवेद, संज्वलन चार इन पांचों का अनिवृत्तिकरण में होता है । प्रत्याख्यान चार कषायों का देशविरत में होता है । अप्रत्याख्यान चार कषायों का असंयत में होता है । हास्यादि षट् नोकषाय, निद्रा, प्रचला, तीर्थंकर इन नवों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध सम्यग्दृष्टि करता है । मनुष्यायु, देवायु, असातावेदनीय, देवगति-देवगत्यानुपूर्वी, वैक्रियिक शरीर-वैक्रियिक अंगोपांग-चार, वज्रवृषभनाराच संहनन, समचतुरस्रसंस्थान, प्रशस्त विहायोगति, सुभग, सुस्वर, आदेय इन तेरह प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों करते हैं । आहारकद्विक का उत्कृष्ट प्रदेशबंध अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती करता है। इन चौवन को छोड़कर शेष छासठ प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध मिथ्यादृष्टि करता

है । सर्वत्र उत्कृष्ट योग आदि सामग्री होनेपर ही प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबंध जानना ॥२१२-२१४॥

आगे मूलप्रकृतियों में जघन्य प्रदेशबंध का स्वामीत्व कहते हैं –

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स पढमे जहण्णये जोगे ।
सत्तण्हं तु जहण्णं आउगबंधेवि आउस्स ॥२१५॥

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकस्य प्रथमे जघन्यके योगे ।
सप्तानां तु जघन्यमायुष्कबंधेऽपि आयुषः ॥२१५॥

टीका – सूक्ष्म निगोद लब्धिअपर्याप्त जीव अपनी पर्याय के पहले समय में जघन्य योग द्वारा सात मूलप्रकृतियों का जघन्य प्रदेशबंध करता है । उस जीव के आयु का बंध होनेपर आयु का भी जघन्य प्रदेशबंध होता है ॥२१५॥

आगे उत्तरप्रकृतियों में कहते हैं –

घोडणजोगोऽसण्णी णिरयदुसुरणिरयआउगजहण्णं ।
अपमत्तो आहारं अयदो तित्थं च देवचऊ ॥२१६॥

घोटमानयोगः असंज्ञी निरयद्विसुरनिरयायुष्कजघन्यं ।
अप्रमत्तः आहारमयतः तीर्थं च देवचतुः ॥२१६॥

टीका – जिन योगस्थानों की वृद्धि भी होती है, हानि भी होती है और जैसे के वैसे भी रहते हैं उन योगस्थानों को **घोटमान योगस्थान** अथवा **परिणाम योगस्थान** कहते हैं । ऐसे योग का धारक असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, देवायु, नरकायु इन चारों का जघन्य प्रदेशबंध करता है । आहारकद्विक का जघन्य प्रदेशबंध अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती करता है क्योंकि इसके अपूर्वकरण से अधिक प्रकृतियों का बंध है । पर्याय के प्रथम समय में जघन्य उपपाद योग का धारक असंयत सम्यग्दृष्टि जीव तीर्थंकर, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अंगोपांग इन पांच का जघन्य प्रदेशबंध करता है ॥२१६॥

चरिमअपुण्णभवत्थो तिविग्गहे पढमविग्गम्हि ठिओ ।
सुहमणिगोदो बंधदि सेसाणं अवरबंधं तु ॥२१७॥

चरमापूर्णभवस्थः त्रिविग्रहे प्रथमविग्रहे स्थितः ।
सूक्ष्मनिगोदो बध्नाति शेषाणामवरबंधं तु ॥२१७॥

टीका – छह हजार बारह क्षुद्रभवों में से जिसका अंतिम क्षुद्रभव हो और तीन मोड़वाली विग्रहगति में पहले मोड़ में स्थित सूक्ष्म निगोद जीव पूर्वोक्त ग्यारह बिना शेष रही एक सौ नौ प्रकृतियों का जघन्य प्रदेशबंध करता है ।

*(**विशेषार्थ** – कोई जीव लगातार लब्धिअपर्याप्तों में-क्षुद्रभव में जन्मे तो एक अंतर्मुहूर्त में उत्कृष्टपने ६६३३६ भव होते हैं, उनमें से एकेन्द्रियों के ६६१३२ भव होते हैं । पांच सूक्ष्म और छह बादर एकेन्द्रिय मिलाकर ग्यारह भेदों में प्रत्येक के लगातार भव उत्कृष्टपने ६०१२ होते हैं ।)*

इसतरह उत्कृष्ट-जघन्य प्रदेशबंध का स्वामीत्व कहा । जहां उत्कृष्ट बहुत परमाणु बंधते हैं वहां उत्कृष्ट प्रदेशबंध कहते हैं, जहां जघन्य-थोड़े परमाणु बंधते हैं वहां जघन्य प्रदेशबंध कहते हैं । उसे पूर्वोक्त प्रकार से जानना ।

चार प्रकार के बंध में से पहले कहा हुआ जो प्रकृतिबंध, उस मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृतियों में से एक जीव के एक समय में युगपत् बंध को जो प्राप्त हो उन प्रकृतियों के जघन्यादि भेदरूप स्थिति, अनुभाग, प्रदेशरूप बंध के भेद होते हैं। वहां टीकाकार एक जीव के एक काल में कितनी-कितनी प्रकृतियों का बंध होता है उसकी मिथ्यात्वादि गुणस्थानों में रचना दिखाते हैं –

यंत्र – (देखिये पृष्ठ २२०)

इस यंत्र का अर्थ लिखते हैं – एक जीव के एक काल में ज्ञानावरण पांचों का ही बंध होता है । दर्शनावरण नौ, छह अथवा चार का बंध होता है । वेदनीय दो में से एक का बंध होता है । मोहनीय की छब्बीस में से बाइस वा इक्कीस वा सत्रह वा तेरह वा नौ वा पांच, चार, तीन, दो, एक का बंध होता है । चार आयु में से एक का बंध होता है । नामकर्म की तेइस वा पच्चीस वा छब्बीस वा अट्ठाइस वा उनतीस वा तीस वा इकतीस वा एक प्रकृति का बंध होता है । गोत्र दो में से एक का बंध होता है । अंतराय पांचों का बंध होता है ।

मिथ्यात्व गुणस्थान में ज्ञानावरण पांच का, दर्शनावरण नौ का, वेदनीय एक का, मोहनीय बाइस का, आयु एक का, नाम तेइस वा पच्चीस वा छब्बीस वा अट्ठाइस

गुण-स्थान	ज्ञाना-वरण	दर्शना वरण	वेद-नीय	मोहनीय	आयु	नामकर्म	गोत्र	अंत-राय	सर्व प्रकृतियों का एकजीव के एक काल बंध का प्रमाण
अ	०	०	०	०	०	०	०	०	०
स	०	०	१	०	०	०	०	०	१
क्षी	०	०	१	०	०	०	०	०	१
उ	०	०	१	०	०	०	०	०	१
सू	५	४	१	०	०	१	१	५	१७
अनि	५	४	१	५।४।३।२।१	०	१	१	५	२२।२१।२०।१९।१८
अपू	५	६।४	१	९	०	२८।२९।३०।३१।१	१	५	५५।५६।५७।५८।२६
अप्र	५	६	१	९	१	२८।२९।३०।३१	१	५	५६।५७।५८।५९
प्र	५	६	१	९	१	२८।२९	१	५	५६।५७
दे	५	६	१	१३	१	२८।२९	१	५	६०।६१
अ	५	६	१	१७	१	२८।२९।३०	१	५	६४।६५।६६
मिश्र	५	६	१	१७	०	२८।२९	१	५	६३।६४
सा	५	९	१	२१	१	२८।२९।३०	१	५	७१।७२।७३
मि	५	९	१	२२	१	२३।२५।२६।२८।२९।३०	१	५	६७।६९।७०।७२।७३।७४
सर्व गुण-स्थान	ज्ञा ५	द ९।६।४	वेद १	मो २६ में २२। २१।१७।१३।९। ५।४।३।२।१	आ ४ में १	ना २३।२५।२६।२८।२९ ३०।३१।१	गोत्र में १	अं ५	ज्ञानावरणादि की प्रकृति जोडनेपर ज्ञा५ द९ वे१ मो२२ आ१ ना२३ गो१ अ५ सर्व ६७

वा उनतीस वा तीस का, गोत्र एक का, अंतराय पांच का बंध होता है । वहां सर्व प्रकृतियों का जोड़ देनेपर सड़सठ वा उनहत्तर वा सत्तर वा बहत्तर वा तिहत्तर वा चौहत्तर का बंध होता है ।

इसीप्रकार सासादनादि गुणस्थानों में जैसे यंत्र में कहा हो वैसा प्रकृतियों का बंध जानना । वहां प्रकृतियों के बदलने से भंग होते हैं । जैसे, चौहत्तर के बंध में वेदनीय का एक का बंध है वहां साता या असाता के बंध की अपेक्षा दो भंग हुये । इसतरह प्रकृतियों का प्रमाण घटने या बढ़ने से स्थानभेद होते हैं तथा एक ही स्थान में प्रकृतियों के बदलने से भंग होते हैं । उसका कथन करते हैं –

मिथ्यात्व में सड़सठ के स्थान में एक भंग है । उनहत्तर के स्थान में नौ भंग, सत्तर के स्थान में आठ भंग, बहत्तर के स्थान में नौ भंग, तिहत्तर के स्थान में बानबे सौ सोलह भंग, चौहत्तर के स्थान में छियालीस सौ आठ भंग हैं । सासादन में इकहत्तर के स्थान में आठ भंग, बहत्तर के स्थान में चौंसठ सौ भंग, तिहत्तर के स्थान में बत्तीस सौ भंग । मिश्र में तिरसठ और चौंसठ के दोनों स्थानों में आठ-आठ भंग । असंयत में चौंसठ, पैंसठ, छासठ के स्थानों में आठ-आठ भंग । देशसंयत में साठ, इकसठ के स्थानों में आठ-आठ भंग । प्रमत्त के छप्पन, सत्तावन के स्थानों में आठ-आठ भंग । अप्रमत्त में छप्पन, सत्तावन, अट्ठावन, उनसठ के स्थानों में एक-एक भंग । अपूर्वकरण के पचपन, छप्पन, सत्तावन, अट्ठावन, छब्बीस के स्थानों में एक-एक भंग । अनिवृत्तिकरण के बाइस, इक्कीस, बीस, उन्नीस, अठारह के स्थानों में एक-एक भंग । सूक्ष्मसाम्पराय के सत्रह के स्थान में एक भंग । इन भंगों का और प्रकृतियों का कथन आगे स्थानसमुत्कीर्तन अधिकार में नामकर्म के स्थान कहेंगे वहां प्रकट जान लेना ॥२१७॥

आगे प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध के कारणभूत योगस्थानों का स्वरूप संख्या और स्वामी बयालीस गाथाओं द्वारा कहते हैं –

जोगट्ठाणा तिविहा उववादेयंतवड्ढिपरिणामा ।
भेदाएक्केक्कंपि य चोद्दसभेदा पुणो तिविहा ॥२१८॥

योगस्थानानि त्रिविधानि उपपादैकांतवृद्धिपरिणामानि ।
भेदादेकैकमपि च चतुर्दशभेदाः पुनः त्रिविधाः ॥२१८॥

टीका – योगस्थान तीन प्रकार के हैं - उपपादयोगस्थान, एकांतवृद्धियोगस्थान, परिणामयोगस्थान । एक-एक भेद के चौदह जीवसमासों की अपेक्षा चौदह-चौदह भेद होते हैं । सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त का उपपादयोगस्थान, सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त का उपपादयोगस्थान, इसीप्रकार बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त के उपपादयोगस्थान जानना । एक उपपाद योगस्थान के चौदह भेद हुये । इसीतरह एकांतवृद्धि और परिणाम योगस्थान के चौदह-चौदह भेद जानना । पुनश्च इन एक-एक के चौदह भेद सामान्य, जघन्य, उत्कृष्ट की अपेक्षा तीन प्रकार के हैं । वहां सामान्य की अपेक्षा चौदह भेद, सामान्य और जघन्य की अपेक्षा अट्ठाइस भेद, सामान्य, जघन्य और उत्कृष्ट की अपेक्षा बयालीस भेद होते हैं॥२१८॥

आगे उपपादयोगस्थानों का स्वरूप कहते हैं –

उववादजोगठाणा भवादिसमयट्ठियस्स अवरवरा ।
विग्गहइजुगइगमणे जीवसमासे मुणेयव्वा ॥२१९॥

उपपादयोगस्थानानि भवादिसमयस्थितस्यावरवराणि ।
विग्रहर्जुगतिगमने जीवसमासे मंतव्यानि ॥२१९॥

टीका – पर्याय धारण करने के पहले समय में स्थित जीव के उपपादयोगस्थान होता है । जो जीव विग्रहगति अर्थात् वक्रगति द्वारा बीच में मुड़ कर जाता है और नवीन पर्याय को प्राप्त होता है उसके जघन्य उपपादयोगस्थान होता है । जो जीव ऋजुगति अर्थात् मोड़ बिना की सीधी गति से नवीन पर्याय को धारण करता है, उसके उत्कृष्ट उपपादयोगस्थान होता है। वे उपपादयोगस्थान चौदह जीवसमासों में जानना।

यहां प्रश्न – चूंकि पर्याय के पहले समय में अपर्याप्त अवस्था ही है वहां पर्याप्त जीवसमासों में उपपाद योगस्थान कैसे कहते हो ?

उसका समाधान – निर्वृत्तिअपर्याप्त जीव के पर्याय के पहले समय में जो योगस्थान होते हैं, वे तो पर्याप्त जीवसमासों में उपपादयोगस्थान जानना । तथा लब्धिअपर्याप्त जीव के पर्याय के पहले समय में जो योगस्थान होते हैं, वे अपर्याप्त जीवसमासों में उपपादयोगस्थान जानना । क्योंकि निर्वृत्तिअपर्याप्त अवस्था में भी पर्याप्त नामकर्म का ही उदय है ।

'उपपद्यते' अर्थात् जीव द्वारा पर्याय के पहले समय में प्राप्त किया जाये उसे उपपाद कहते हैं, इसलिए उपपादयोगस्थान के सामान्य आदि सर्व भेद नवीन पर्याय धारण करने के पहले समय में ही पाये जाते हैं ॥२१९॥

आगे परिणामयोगस्थानों का स्वरूप कहते हैं –

परिणामजोगठाणा सरीरपज्जत्तगादु चरिमोत्ति ।
लद्धिअपज्जत्ताणं चरिमतिभागम्हि बोद्धव्वा ॥२२०॥

परिणामयोगस्थानानि शरीरपर्याप्तकात् चरम इति ।
लब्ध्यपर्याप्तकानां चरमत्रिभागे बोद्धव्यानि ॥२२०॥

टीका – परिणामयोगस्थान शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने के प्रथम समय से लेकर अपने आयुर्बल के अंतिम समय तक जानना । लब्धिअपर्याप्त जीव की अपनी स्थिति श्वास के अठारहवें भागप्रमाण, उसके त्रिभाग करनेपर अंतिम त्रिभाग के प्रथम समय से लेकर अंतिम समय तक परिणामयोगस्थान जानना ॥२२०॥

सगपज्जत्तीपुण्णे उवरिं सव्वत्थ जोगमुक्कस्सं ।
सव्वत्थ होदि अवरं लद्धिअपुण्णस्स जेट्ठंपि ॥२२१॥

स्वकपर्याप्तिपूर्णे उपरि सर्वत्र योगोत्कृष्टं ।
सर्वत्र भवत्यवरं लब्ध्यपर्याप्तस्य ज्येष्ठमपि ॥२२१॥

टीका – अपनी-अपनी शरीरपर्याप्ति पूर्ण होनेपर, शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने के समय से लेकर ऊपर अपने आयुर्बल के समयों में *(मरण तक)* परिणामयोगस्थान उत्कृष्ट भी और जघन्य भी हो सकता है । लब्धिअपर्याप्त की स्थिति श्वास के अठारहवें भागप्रमाण, उसके अंतिम त्रिभाग के पहले समय से लेकर अंतिम समय तक स्थिति के सर्व भेदों में परिणामयोगस्थान उत्कृष्ट भी और जघन्य भी हो सकते हैं । दोनों ही जीवों के वे सर्व परिणामयोगस्थान घोटमानयोग जानना । क्योंकि ये योगस्थान घटते भी हैं, बढ़ते हैं और जैसे के वैसे भी रहते हैं ॥२२१॥

आगे एकांतवृद्धियोगस्थानों का स्वरूप कहते हैं –

एयंतवड्ढिठाणा उभयट्ठाणाणमंतरे होंति ।
अवरवरट्ठाणाओ सगकालादिम्हि अंतम्हि ॥२२२॥

एकांतवृद्धिस्थानानि, उभयस्थानानामंतरे भवंति ।
अवरवरस्थानानि स्वककालादौ अंते ॥२२२॥

टीका – एकांतानुवृद्धियोगस्थान पर्याय धारण करने के दूसरे समय से लेकर एक समय कम शरीरपर्याप्ति के अंतर्मुहूर्त काल के अंतिम समय तक, उपपादयोग और परिणामयोग के अंतराल में होते हैं । उस एकांतवृद्धि का जघन्य स्थान तो अपने काल के प्रथम समय में होता है तथा उत्कृष्ट स्थान अंतिम समय में होता है । इसी कारण एकांत अर्थात् नियम से अपने काल के प्रथम समय से लेकर अंतिम समय तक प्रतिसमय असंख्यातगुणा-असंख्यातगुणा अविभागप्रतिच्छेदों की वृद्धि जिसमें होती हैं, वह एकांतानुवृद्धियोगस्थान है । इसतरह बताये हुये योगों के विशेष सर्व चौदह जीवसमासों में जानना ॥२२२॥

आगे योगस्थानों के अवयव कहते हैं –

अविभागपडिच्छेदो वग्गो पुण वग्गणा य फड्ढयगं ।
गुणहाणीवि य जाणे ठाणं पडि होदि णियमेण ॥२२३॥

अविभागप्रतिच्छेदो वर्गः पुनः वर्गणा च स्पर्धकं ।
गुणहानिरपि च जानीहि स्थानं प्रति भवति नियमेन ॥२२३॥

टीका – सर्व योगस्थान जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं । उनमें एक-एक स्थान प्रति अविभागप्रतिच्छेद, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, गुणहानि इतने भेद नियम से होते हैं ऐसा जानना ॥२२३॥

इनका स्वरूप आगे कहते हैं –

पल्लासंखेज्जदिमा गुणहाणिसला हवंति इगिठाणे ।
गुणहाणिफड्ढयाओ असंखभागं तु सेढीये ॥२२४॥

पल्यासंख्येयमिमा गुणहानिशला भवंति एकस्थाने ।
गुणहानिस्पर्धकानि असंख्यभागं तु श्रेण्याः ॥२२४॥

टीका – एक स्थान में गुणहानिशलाका पल्य के असंख्यातवें भागप्रमाण है। यह नानागुणहानि का प्रमाण है । एक गुणहानि में जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण स्पर्धक हैं ॥२२४॥

फड्ढयगे एक्केक्के वग्गणसंखा हु तत्तियालावा ।
एक्केक्कवग्गणाए असंखपदरा हु वग्गाओ ॥२२५॥

स्पर्धके एकैके वर्गणासंख्या हि तावदालापाः ।
एकैकवर्गणायामसंख्यप्रतरा हि वर्गाः ॥२२५॥

टीका – एक-एक स्पर्धक में वर्गणाओं की संख्या '**तावन्मात्रालापाः**' अर्थात् उतनी ही - जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण ही आलाप द्वारा कहते हैं । एक-एक वर्गणा में वर्ग असंख्यात जगत्प्रतर प्रमाण हैं ॥२२५॥

एक्केक्के पुण वग्गे असंखलोगा हवंति अविभागा ।
अविभागस्स पमाणं जहण्णउड्ढी पदेसाणं ॥२२६॥

एकैके पुनर्वर्गे असंख्यलोका भवंति अविभागाः ।
अविभागस्य प्रमाणं जघन्यवृद्धिः प्रदेशानां ॥२२६॥

टीका – एक-एक वर्ग में असंख्यात लोकप्रमाण अविभागप्रतिच्छेद हैं । वहां अविभागप्रतिच्छेद का प्रमाण प्रदेशों की जघन्य वृद्धिरूप जानना । जिसका दूसरा भाग न हो सके, ऐसा शक्ति का जो अंश, उसको अविभागप्रतिच्छेद कहते हैं । यहां उलटे क्रम से कहा है इसलिए अविभागप्रतिच्छेदों का समूह वर्ग है । वर्गों का समूह वर्गणा है । वर्गणाओं का समूह स्पर्धक है । स्पर्धकों का समूह गुणहानि है और गुणहानियों का समूह स्थान है, इसप्रकार सीधे क्रम से जानना ॥२२६॥

आगे एक स्थान में सर्व स्पर्धकादि का प्रमाण कहते हैं –

इगिठाणफड्ढयाओ वग्गणसंखा पदेसगुणहाणी ।
सेढिअसंखेज्जदिमा असंखलोगा हु अविभागा ॥२२७॥

एकस्थानस्पर्धकानि वर्गणासंख्या प्रदेशगुणहानिः ।
श्रेण्यसंख्यातिमा असंख्यलोका हि अविभागाः ॥२२७॥

टीका – एक योगस्थान में सभी स्पर्धक और सभी वर्गणाओं की संख्या तथा असंख्यात प्रदेशों में गुणहानि आयाम का प्रमाण सामान्यपने से जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भागमात्र हैं । तारतम्यता से परस्पर हीनाधिक हैं । एक गुणहानि में जो स्पर्धकों का प्रमाण है उसको एक स्थान में जो गुणहानि का प्रमाण है उससे गुणा करनेपर जो प्रमाण हो, उतने तो एक योगस्थान में स्पर्धक जानना । पुनश्च जो एक स्पर्धक में वर्गणाओं का प्रमाण कहा उसको, एक योगस्थान में जो स्पर्धकों का प्रमाण कहा, उससे गुणा करनेपर जो प्रमाण होता है, उतना एक योगस्थान में वर्गणाओं का प्रमाण जानना।

एक स्पर्धक में जो वर्गणाओं का प्रमाण जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भागमात्र कहा उसको, एक गुणहानि में जो स्पर्धकों का प्रमाण कहा उससे गुणा करनेपर जो प्रमाण होता है, उतना एक गुणहानि में वर्गणाओं का प्रमाण जानना । यहां जो गुणकार का प्रमाण कहा वह उस जगत्श्रेणी के भागहार के प्रमाण से असंख्यातगुणा हीन जानना। अन्यथा श्रेणी के असंख्यातवें भाग की सिद्धि नहीं होती । इसी को *(गुणहानि में वर्गणाओं के प्रमाण को)* गुणहानि आयाम कहते हैं । इन सबको सामान्यपने से जगत्श्रेणी का असंख्यातवां भागमात्र कहते हैं, क्योंकि असंख्यात के भेद बहुत हैं ।

एक योगस्थान में समस्त अविभागप्रतिच्छेद असंख्यात लोकप्रमाण ही हैं, कर्मपरमाणु के प्रमाणवत् और जघन्य ज्ञान के अविभागप्रतिच्छेदों के प्रमाणवत् अनंत नहीं हैं ।

जीव के प्रदेश लोकप्रमाण हैं । एक स्थान में नानागुणहानि, पल्य को दो बार असंख्यात का भाग देनेपर जो प्रमाण हो, उतनी है । नानागुणहानि प्रमाण दो अंक लिखकर परस्पर गुणा करनेपर जो प्रमाण हो वह अन्योन्याभ्यस्तराशि है । वह पल्य को एक बार असंख्यात का भाग दीजिये उसप्रमाण है । एक गुणहानि में स्पर्धकों का प्रमाण जगत्श्रेणी को दो बार असंख्यात भाग दीजिये उतना है। एक स्पर्धक में वर्गणाओं का प्रमाण जगत्श्रेणी को एक बार असंख्यात का भाग दीजिये, उतना है। एक गुणहानि में जो स्पर्धकों का प्रमाण है उसको एक स्पर्धक में जो वर्गणाओं का प्रमाण है उससे गुणा करनेपर एक गुणहानि में सर्व वर्गणाओं का प्रमाण होता है।

इसको एक योगस्थान में जो नानागुणहानियों का प्रमाण है, उससे गुणा करनेपर एक योगस्थान में सर्व वर्गणाओं का प्रमाण आता है । इसप्रकार नानागुणहानि से लेकर ये सब अनुक्रम से असंख्यातगुणा-असंख्यातगुणा जानना ॥२२७॥

सव्वे जीवपदेसे दिवड्ढगुणहाणिभाजिदे पढमा ।
उवरिं उत्तरहीणं गुणहाणिं पडि तदद्धकमं ॥२२८॥

सर्वस्मिन् जीवप्रदेशे द्व्यर्धगुणहानिभाजिते प्रथमा ।
उपरि उत्तरहीनं गुणहानिं प्रति तदर्धक्रमः ॥२२८॥

टीका – सब लोकप्रमाण जीव के प्रदेशों के प्रमाण को डेढ़ गुणहानि का भाग देनेपर प्रथम गुणहानि के प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा होती है । **उपर्युत्तर** अर्थात् एक-एक विशेष *(चय)* घटानेपर एक-एक वर्गणा होती है । गुणहानि-गुणहानि प्रति आधा आधा प्रमाण अनुक्रम से जानना । प्रथम वर्गणा को दोगुणहानि का भाग देनेपर जो प्रमाण हो उतना विशेष *(चय)* का प्रमाण जानना ॥२२८॥

फड्ढयसंखाहि गुणं जहण्णवग्गं तु तत्थ तत्थादी ।
बिदियादिवग्गणाणं वग्गा अविभाग अहियकमा ॥२२९॥

स्पर्धकसंख्याभिः गुणो जघन्यवर्गस्तु तत्र तत्रादिः ।
द्वितीयादिवर्गणानां वर्गा अविभागाधिकक्रमाः ॥२२९॥

टीका – प्रथम गुणहानि से लेकर अंतिम गुणहानि तक सभी स्पर्धकों में वहां वहां प्रथम वर्गणा तो जघन्य वर्गणा को स्पर्धकों की संख्या से गुणा करनेपर होती है। द्वितीयादि वर्गणायें अनुक्रम से एक-एक अविभागप्रतिच्छेद बढ़ाने पर होती हैं। अब **'अविभागपडिच्छेदो'** *(गाथा २२३)* आदि गाथाओं का अर्थ स्पष्ट करके दिखाते हैं–

अविभागप्रतिच्छेद, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, गुणहानि, *(योग)*स्थान इतने भेद कहे। वहां एक जीव के एक समय में पाया जाये ऐसा गुणहानियों का समूह, स्थान कहलाता है । स्पर्धकों के समूह को गुणहानि कहते हैं । अनुक्रम से वृद्धि-हानि रूप जो वर्गणायें उनके समूह को स्पर्धक कहते हैं । वर्गों के समूह को वर्गणा कहते हैं । अविभाग प्रतिच्छेदों के समूह को वर्ग कहते हैं । जीव के प्रदेशों में कर्मग्रहण करने की शक्ति *(योग)* में जघन्य वृद्धि अविभागप्रतिच्छेद कहलाता है । यहां योग का अधिकार है इसलिए योगरूप शक्ति के विभागरहित अंश का ग्रहण किया है ।

जघन्य वृद्धि का प्रमाण क्या है ? कहते हैं –

जीव के प्रदेश लोकप्रमाण हैं उनका स्थापन करके इन सर्व प्रदेशों में से जिस प्रदेश में योग की जघन्य शक्ति पायी जाती है उस प्रदेश को जुदा ग्रहण करके इसमें जितनी योगशक्ति पायी जाती है उसे अपनी बुद्धि से फैलाना । उस जघन्य शक्ति से अधिक और अन्य शक्ति से हीन ऐसी शक्ति जिसमें पायी जाती है ऐसा कोई अन्य प्रदेश, उसका ग्रहण करके उसमें जितनी योगशक्ति पायी जाती है उसको जो पहले जघन्य शक्ति फैलायी थी उसके ऊपर बुद्धि द्वारा ही फैलाना । उस जघन्य शक्ति से, ऊपर स्थापित की हुयी शक्ति जितनी अधिक हो, उस अधिक प्रमाण का नाम योगों का अविभागप्रतिच्छेद है ।

भावार्थ – जघन्य शक्तियुक्त प्रदेश से एक अविभाग अंश से अधिक शक्ति के धारक अन्य प्रदेश में उस जघन्य शक्ति से जितनी शक्ति अधिक हो , उस अधिक प्रमाण का नाम योगों का अविभागप्रतिच्छेद है ।

उस अविभागप्रतिच्छेद के प्रमाण से पहले फैलायी हुयी प्रदेश की जघन्य शक्ति के खंड करनेपर असंख्यात लोकप्रमाण खंड होते हैं ।

भावार्थ – एक-एक खंड अविभागप्रतिच्छेद के प्रमाण के समान करनेपर जिस प्रदेश में जघन्य शक्ति कही थी उस प्रदेश के जघन्य शक्ति के असंख्यात लोकप्रमाण खंड होते हैं । इसलिए असंख्यात लोकप्रमाण अविभागप्रतिच्छेदों का समूह जघन्य शक्ति है उसको वर्ग कहते हैं । इसीकारण एक वर्ग में असंख्यात लोकप्रमाण अविभाग प्रतिच्छेद कहे हैं, उस वर्ग की सहनानी **'व'** अक्षर जानना । उसके आगे जिन जिन प्रदेशों में जघन्य शक्ति प्रमाण शक्ति पायी जाती है ऐसे जितने प्रदेश हैं उतने लिखने। ऐसे जघन्य शक्ति प्रमाण शक्ति के धारक जीव के प्रदेश असंख्यात जगत्प्रतर प्रमाण हैं।

क्यों ? लोकप्रमाण जीव के प्रदेशों को डेढ़ गुणहानि का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है उतने जघन्य शक्तिप्रमाण शक्ति के धारक प्रदेश हैं । इसलिए एक गुणहानि में वर्गणा का जितना प्रमाण कहा उसको डेढ़ गुणा करनेपर डेढ़गुणहानि का प्रमाण आता है । वह जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भागमात्र ही है । इसका भाग जीव के प्रदेशों को देनेपर असंख्यात जगत्प्रतर प्रमाण होता है । इतने प्रदेशों के समूह को प्रथम वर्गणा कहते हैं । एक प्रदेश संबंधी शक्ति का नाम वर्ग कहा था, यहां असंख्यात जगत्प्रतर प्रमाण प्रदेशों के समूह का नाम वर्गणा है, इसलिए एक वर्गणा में असंख्यात

जगत्प्रतर प्रमाण वर्ग कहे हैं ।

उस जघन्य शक्तिरूप वर्ग में जितने अविभागप्रतिच्छेदों का समूह कहा, उससे एक अधिक अविभागप्रतिच्छेद जिनमें पाये जाते हैं ऐसी शक्ति के धारक जितने प्रदेश हो उतने प्रदेश उसके ऊपर लिखना । वे प्रदेश प्रथम वर्गणा में जितने प्रदेश कहे थे उनसे एक विशेष*(चय)* से हीन जानना । इसतरह प्रथम वर्गणा में प्रदेशों का जो प्रमाण है उसको दोगुणहानि का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है वही विशेष का प्रमाण जानना । विशेष की सहनानी **'वि'** अक्षर जानना ।

एक गुणहानि में जो वर्गणा का प्रमाण है उसे दोगुणा करनेपर दोगुणहानि का प्रमाण आता है । प्रथम वर्गणा के प्रदेशों के प्रमाण में से विशेष का प्रमाण घटानेपर जो प्रमाण शेष रहता है, उतने प्रदेशों के समूह को द्वितीय वर्गणा कहते हैं । यहां पूर्वोक्त जघन्य शक्ति से एक अविभागप्रतिच्छेद अधिक शक्ति के धारक प्रदेश को वर्ग कहेंगे तथा इनका समूह द्वितीय वर्गणा है ।

द्वितीय वर्गणा संबंधी वर्ग में जितने अविभागप्रतिच्छेद हैं उनमें एक अविभाग-प्रतिच्छेद जिनमें अधिक हो ऐसी शक्ति के धारक जितने प्रदेश हो उतने उसके ऊपर लिखना । वे प्रदेश द्वितीय वर्गणा के प्रदेशों में से एक विशेष घटानेपर जितना प्रमाण रहता है, उतने जानना । यहां द्वितीय वर्गणा संबंधी वर्ग के अविभागप्रतिच्छेदों से एक अविभागप्रतिच्छेद अधिक शक्ति के धारक प्रदेश को वर्ग कहते हैं, उनका समूह तृतीय वर्गणा है ।

इसी अनुक्रम से एक-एक अविभागप्रतिच्छेद से अधिक शक्ति से युक्त तथा एक-एक विशेष से घटते प्रमाण से युक्त जो वर्ग, उनके समूहरूप एक-एक वर्गणा होती है । ऐसी जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण वर्गणा होनेपर प्रथम स्पर्धक होता है । इसीलिए एक स्पर्धक में जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण वर्गणा कही है। उसकी सहनानी चार का अंक है (४) । इस प्रथम स्पर्धक को ही **जघन्य स्पर्धक** कहते हैं ।

इस प्रथम स्पर्धक के अंतिम वर्गणा के वर्ग में अविभागप्रतिच्छेदों का जो प्रमाण है उसके ऊपर प्रथम स्पर्धक के प्रथम वर्गणा संबंधी जघन्य वर्ग में जितने अविभाग-प्रतिच्छेद हैं उनसे दोगुणा अविभागप्रतिच्छेद हो ऐसे शक्ति के धारक प्रदेश पाये जाते

हैं, उससे कम शक्ति का धारक कोई प्रदेश पाया नहीं जाता । इसलिए जिन में जघन्य वर्ग से दोगुणा अविभागप्रतिच्छेद पाये जाते हैं ऐसी शक्ति के धारक जितने प्रदेश हो, उनकी रचना प्रथम स्पर्धक के अंतिम वर्गणा के ऊपर करना । वे प्रदेश प्रथम स्पर्धक के अंतिम वर्गणा के प्रदेशों के प्रमाण में से पूर्वोक्त एक विशेष के प्रमाण को घटानेपर जो प्रमाण रहे, उतने जानना ।

यहां जघन्य वर्ग से दोगुणा अविभागप्रतिच्छेदरूप शक्ति के धारक जो प्रदेश, वह वर्ग जानना । उनके समूह को द्वितीय स्पर्धक की प्रथम वर्गणा जानना । इस प्रथम वर्गणा के वर्ग से एक अविभागप्रतिच्छेद जिसमें अधिक है ऐसी शक्ति के धारक जो प्रदेश, वे ही वर्ग हैं । उनका प्रमाण द्वितीय स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के प्रदेशों से एक विशेष के प्रमाण से हीन है । इन प्रदेशरूप वर्गों का समूह द्वितीय स्पर्धक की द्वितीय वर्गणा है । इसी अनुक्रम से एक एक अविभागप्रतिच्छेद से अधिक शक्तियुक्त तथा एक-एक विशेष से हीन प्रमाणयुक्त जो वर्ग, उनके समूहरूप एक-एक वर्गणा होते होते, जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण वर्गणा होती हैं । उन वर्गणाओं का समूह द्वितीय स्पर्धक जानना ।

उस द्वितीय स्पर्धक की अंतिम वर्गणा के ऊपर प्रथम स्पर्धक के प्रथम वर्गणासंबंधी जघन्य वर्ग के अविभागप्रतिच्छेदों से तीनगुणा अविभागप्रतिच्छेद जिसमें हो ऐसी शक्ति के धारक प्रदेश पाये जाते हैं, इनसे हीन शक्ति के धारक नहीं । इसलिए जघन्य वर्ग से तीनगुणा अविभागप्रतिच्छेदरूप शक्ति के धारक जो प्रदेश, वे ही वर्ग हैं । उनका प्रमाण द्वितीय स्पर्धक की अंतिम वर्गणा के प्रदेशों से एक विशेष के प्रमाण से हीन है । इन प्रदेशरूप वर्गों का समूह तृतीय स्पर्धक की प्रथम वर्गणा है । इसके ऊपर पूर्ववत् एक-एक अविभागप्रतिच्छेद से अधिक शक्ति सहित और एक-एक विशेष से हीन प्रमाण से युक्त वर्गों से समूहरूप एक-एक वर्गणा के होते होते, जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण वर्गणा होती हैं । उन वर्गणाओं का समूह तृतीय स्पर्धक है ।

इसी अनुक्रम से **'फड्डयसंखाहिगुणं जहण्णवग्गं तु तत्थ तत्थादी'** इत्यादि सूत्रोक्त अनुक्रम से जघन्य वर्ग को स्पर्धक की संख्या से गुणा करनेपर प्रथम वर्गणा होती है । प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा संबंधी जघन्य वर्ग के अविभागप्रतिच्छेद के प्रमाण को चारगुणा करनेपर चौथे स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के वर्ग के अविभागप्रतिच्छेदों का

प्रमाण होता है । पांचगुणा करनेपर पांचवें स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के और छह गुणा करनेपर छठवें स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के बारे में प्रमाण होता है ।

इसतरह जिस स्पर्धक की प्रथम वर्गणा विवक्षित हो, उतने गुणा जघन्य वर्ग को करनेपर उस स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के वर्ग के अविभागप्रतिच्छेदों का प्रमाण आता है ।

पुनश्च प्रथम वर्गणा के वर्ग से एक-एक अविभागप्रतिच्छेद बढ़ानेपर द्वितीयादि वर्गणा के वर्गों के अविभागप्रतिच्छेदों का प्रमाण आता है । वर्गणा-वर्गणा प्रति अनुक्रम से एक-एक विशेष से हीन वर्गों का प्रमाण जानना । जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण वर्गणाओं का समूह एक-एक स्पर्धक जानना । ऐसे जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण स्पर्धक होनेपर एक गुणहानि होती है । इसीलिए एक गुणहानि में जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण स्पर्धक कहे हैं । इसकी सहनानी नौ का अंक जानना ।

इसके ऊपर द्वितीय गुणहानि के प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के प्रदेशरूप वर्ग प्रथम गुणहानि के प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा से आधे जानना । इस वर्गणा के वर्गों में अविभागप्रतिच्छेदों का प्रमाण एक अधिक एक गुणहानि के स्पर्धकों के प्रमाण से जघन्य वर्ग के अविभागप्रतिच्छेदों को गुणा करके जो प्रमाण होता है, उतना जानना । अविभागप्रतिच्छेदों का अनुक्रम तो पूर्वोक्त ही जानना और प्रदेशरूप वर्गों का प्रमाण प्रथम गुणहानि के प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के प्रमाण से द्वितीय गुणहानि के प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा का प्रमाण आधा जानना । इसमें से एक विशेष घटानेपर द्वितीय वर्गणा का प्रमाण होता है । इस द्वितीय गुणहानि में विशेष का प्रमाण प्रथम गुणहानि के विशेष के प्रमाण से आधा जानना । ऐसा ही एक-एक विशेष घटानेपर तृतीयादि वर्गणाओं का प्रमाण जानना ।

इसीप्रकार दूसरी गुणहानि से तीसरी गुणहानि के वर्गणाओं में वर्गों का तथा विशेषों का प्रमाण आधा आधा जानना । इसीप्रकार गुणहानि-गुणहानि प्रति आधा आधा प्रमाण जानना । इसप्रकार पल्य के असंख्यातवें भागप्रमाण गुणहानि हो जाये, तब एक योगस्थान होता है । इसलिए एक योगस्थान में पल्य के असंख्यातवें भागप्रमाण गुणहानि कही है । यह सब कथन जघन्य योगस्थान का जानना । यह कथन शक्ति की प्रधानता से किया है ।

अब प्रदेशों की प्रधानता से दिखाते हैं । वहां अंकसंदृष्टि द्वारा कथन करते हैं –

जीव के सर्व प्रदेश इकतीस सौ(३१००), नानागुणहानि पांच(५), एक गुणहानि में वर्गणाओं का प्रमाणरूप गुणहानि आयाम आठ(८) । नानागुणहानिप्रमाण दो अंक लिखकर परस्पर गुणा करनेपर अन्योन्याभ्यस्तराशि का प्रमाण बत्तीस(३२) । एक कम अन्योन्याभ्यस्तराशि-इकतीस का भाग सर्वद्रव्य इकतीस सौ को देनेपर सौ(१००) आये। वह अंतिम गुणहानि का प्रमाण है । इससे लेकर आदि की गुणहानि तक दोगुणा-दोगुणा प्रमाण है १००, २००, ४००, ८००, १६०० । इसीकारण आदि की गुणहानि से गुणहानि-गुणहानि प्रति आधा आधा द्रव्य कहा है ।

वहां सर्वद्रव्य इकतीस सौ को कुछ अधिक डेढ़ गुणहानि से भाग दीजिये-गुणहानि का आयाम आठ, उसका डेढ़गुणा बारह, कुछ अधिक कहने से एक के चौंसठ भागों में से सात भाग अधिक $१२\frac{७}{६४}$ । इसका भाग (३१००) को देनेपर दो सौ छप्पन आये । वह प्रथम गुणहानि के प्रथम स्पर्धक की प्रथम वर्गणा जानना। इसको दोगुणा गुणहानि के आयामरूप दोगुणहानि-सोलह, उसका भाग प्रथम वर्गणा को देनेपर, जो प्रमाण सोलह(१६) आता है, वही विशेष का प्रमाण जानना। विशेष को दोगुणहानि से गुणा करनेपर प्रथम वर्गणा का प्रमाण होता है । प्रथम वर्गणा से एक-एक विशेष घटानेपर द्वितीयादि वर्गणा होती हैं ।

इसतरह एक कम गुणहानि का आयाम सात, इतने विशेष घटानेपर गुणहानि के अंतिम स्पर्धक की अंतिम वर्गणा होती है । गुणहानि-गुणहानि प्रति आदि वर्गणा से आदि वर्गणा का प्रमाण आधा आधा जानना और विशेष का प्रमाण भी आधा आधा जानना । प्रथम वर्गणा को दोगुणहानि का भाग देनेपर विशेष का प्रमाण होता है इसीलिए दोगुणहानि को निषेकहार कहते हैं । इसतरह अंकसंदृष्टि द्वारा कथन दिखाया।

इसीप्रकार अर्थसंदृष्टि द्वारा कथन जानना । जीव के सर्व प्रदेश लोकप्रमाण, नानागुणहानि पल्य के असंख्यातवें भागप्रमाण, एक गुणहानि का आयाम जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण, इनमें यथायोग्य कथन जान लेना । ऊपर कथन कर आये हैं इसलिए यहां विशेष नहीं कहा । वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, नानागुणहानि और जघन्य स्थान में अविभागप्रतिच्छेद मिलाने का विधान इसी ग्रंथ की संस्कृत टीका में कहा है।

प्रथमादि गुणहानि संबंधी आठ-आठ वर्गणाओं में वर्गों के प्रमाणरूप यंत्र –

१४४	७२	३६	१८	९
१६०	८०	४०	२०	१०
१७६	८८	४४	२२	११
१९२	९६	४८	२४	१२
२०८	१०४	५२	२६	१३
२२४	११२	५६	२८	१४
२४०	१२०	६०	३०	१५
२५६	१२८	६४	३२	१६

वह मेरी बुद्धि की मंदता के कारण ठीक तरह से समझ में नहीं आया । तथा प्रयोजन इतना ही है कि अविभागप्रतिच्छेदों का जोड़ दिया है । कठिन कथन होनेपर मंदबुद्धियों की बुद्धि भ्रमरूप होती है । इसलिए इस बालबोध टीका में नहीं लिखा है ।

इसतरह जघन्य योगस्थान का कथन जानना ॥२२९॥

अंगुलअसंखभागप्पमाणमेत्तऽवरफड्ढया वड्ढी ।
अंतरछक्कं मुच्चा अवरट्ठाणादु उक्कस्सं ॥२३०॥

अंगुलासंख्यभागप्रमाणमात्रावरस्पर्धकवृद्धिः ।
अंतरषट्कं मुक्त्वा अवरस्थानादुत्कृष्टं ॥२३०॥

टीका – सूक्ष्म निगोद लब्धिअपर्याप्त जीव के पूर्वोक्त सबसे जघन्य उपपाद योगस्थान पाया जाता है । उसके अनंतर स्थान से लेकर सर्वोत्कृष्ट योगस्थान तक सांतर, निरंतर और सांतर-निरंतर सभी योगस्थानों में एक-एक योगस्थान प्रति निरंतर सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण जघन्य स्पर्धक युगपत् बढ़ते हैं, तब उत्तरोत्तर स्थान होता है । प्रथम जघन्य स्थान से सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण जघन्य स्पर्धक दूसरे स्थान में अधिक हैं ।

भावार्थ – जघन्य योगस्थान में प्रथम गुणहानि के प्रथम स्पर्धक में जितने अविभागप्रतिच्छेद हैं, उनसे सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागगुणा अविभागप्रतिच्छेद जघन्य योगस्थान के अविभागप्रतिच्छेदों से ऊपर के दूसरे योगस्थान में अधिक हैं। इसीप्रकार दूसरे से तीसरे स्थान में सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण जघन्य स्पर्धक बढ़ते हैं। तीसरे से चौथे में, चौथे से पांचवें में इसतरह सर्वोत्कृष्ट परिणामयोगस्थान तक एक-एक स्थान में सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण जघन्य स्पर्धक बढ़ते हैं।

आगे कहे जानेवाले छह अंतरों को छोड़कर जघन्य स्थान से लेकर उत्कृष्ट

स्थान तक जीवों के योगस्थान होते हैं । ऐसा होनेपर क्या होता है ? वह कहते हैं –

सरिसायामेणुवरिं सेढिअसंखेज्जभागठाणाणि ।
चडिदेक्केक्कमपुव्वं फड्डयमिह जायदे चयदो ॥२३१॥

सदृशायामेनोपरि श्रेण्यसंख्येयभागस्थानानि ।
चटितैकैकमपूर्वं स्पर्धकमिह जायते चयतः ॥२३१॥

टीका – उस सबसे जघन्य योगस्थान के समान आयाम के ऊपर स्थान-स्थान प्रति पूर्वोक्त प्रमाण वृद्धिरूप चय द्वारा एक-एक अपूर्व स्पर्धक उत्पन्न होता है । सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण जघन्य स्पर्धकों के जितने अविभागप्रतिच्छेद होते हैं उतने बढ़नेपर एक स्थान होता है, तो जघन्य स्थान के सर्व अविभागप्रतिच्छेदों के प्रमाण में, एक गुणहानि संबंधी स्पर्धकों की संख्या को नानागुणहानि से गुणा करके उसकी अन्योन्याभ्यस्तराशि से भाग देनेपर जो प्रमाण हो, उतने जघन्य स्पर्धक बढ़नेपर कितने स्थान होंगे? ऐसा त्रैराशिक करनेपर लब्धराशि का प्रमाण जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण आया ।

पुनश्च उसीप्रकार उसके अनंतर समान आयाम सहित द्वितीय स्थान से लेकर सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण जघन्य स्पर्धक एक-एक स्थान में बढ़ते बढ़ते जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण स्थान जानेपर एक दूसरा अपूर्व स्पर्धक उत्पन्न होता है । उसके ऊपर जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण स्थान होनेपर तीसरा अपूर्व स्पर्धक होता है । इसीप्रकार एक गुणहानि में स्पर्धकों का जितना प्रमाण कहा था उतने अपूर्व स्पर्धक होनेपर जघन्य योगस्थान दोगुणा होता है । यहां अपूर्व स्पर्धक होने का विधान मेरे समझ में स्पष्ट नहीं आया है, इसलिए स्पष्ट नहीं लिखा है ।

भावार्थ – एक गुणहानि में स्पर्धकों का प्रमाण जगत्श्रेणी को दो बार असंख्यात का भाग देनेपर जो प्रमाण हो उतना कहा था, इसलिए इतने ही अपूर्व स्पर्धक होनेपर जो योगस्थान होता है उसके जितने अविभागप्रतिच्छेद हैं वे जघन्य योगस्थान के अविभाग-प्रतिच्छेदों से दोगुणे हैं । इसके ऊपर इतने ही अपूर्व स्पर्धक जानेपर जो योगस्थान होता है वह उस योगस्थान से भी दोगुणा है । इसतरह क्रम से दोगुणा-दोगुणा होनेपर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव का सर्वोत्कृष्ट परिणामयोगस्थान होता है।

यहां स्थानभेद लाने के लिये त्रैराशिक करने । वहां सर्वत्र प्रमाणराशि सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागमात्र जघन्य स्पर्धक, फलराशि एक स्थान, इच्छाराशि जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भागमात्र जघन्य स्पर्धकों को अनुक्रम से एक, दो, चार, आठ, सोलह, बत्तीस गुणा करनेपर जो हो उसप्रमाण जानना । यहां फलराशि से इच्छाराशि को गुणा करके प्रमाणराशि का भाग देनेपर जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भाग को सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग का भाग देकर जो प्रमाण हो उसको अनुक्रम से एकगुणा, दोगुणा, चारगुणा, आठगुणा, सोलहगुणा करनेपर जो जो प्रमाण हो उतने उतने स्थानभेद होते हैं । यहां अंकसंदृष्टि अपेक्षा सोलह तक ही गुणकार कहा है । अब इनका जोड़ देते हैं –

'अंतधणं गुणगुणियं आदिविहीणं रूऊणुत्तरभजियं' इस करणसूत्र से अंतिम धन जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भाग को सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग से गुणा करनेपर जो प्रमाण हो उससे सोलह गुणा है । उसको गुणकार दो से गुणा करके आदि का प्रमाण जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भाग को सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग का भाग दे उसप्रमाण है, उसको घटानेपर जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भाग को सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग से गुणा करके इकतीस गुणा करे इतना होता है । एक कम उत्तर एक, उसका भाग देनेपर भी उतने ही रहे, इतना योगस्थानों के सभी भेदों का प्रमाण है ।

इसको एक कम गुणकार एक है, उसका भाग देनेपर भी इतना ही रहता है। इसको प्रभव अर्थात् आदि का भाग देनेपर इकतीस आये, उसमें एक मिलानेपर बत्तीस हुये, जितनी बार गुणकार दो का भाग देनेपर एक रहता है उसप्रमाण गच्छ जानना। बत्तीस को पांच बार दो का भाग देनेपर एक रहता है, इसलिए अन्योन्याभ्यस्तराशि की गुणकारशलाका पांच है । पांच जगह दो दो लिखकर परस्पर गुणा करनेपर अन्योन्याभ्यस्तराशि का प्रमाण बत्तीस आता है, ऐसा अर्थ जानना ।

इसीतरह जघन्य स्थान से लेकर उत्कृष्ट स्थान तक सर्व योगस्थान के जघन्य भेदों में जघन्य योगस्थान जहां जहां दोगुणा होता है वहां वहां कितने-कितने योगस्थानों के भेद होते हैं ? वह कहते हैं –

वहां पूर्वोक्त प्रकार से प्रमाणराशि, फलराशि, इच्छाराशि अनुक्रम से करना । विशेष इतना - यहां यथार्थ की अपेक्षा कथन है, इसलिए पहले जैसे अंत में सोलह

का गुणकार कहा वैसे यहां क्रम से दोगुणा दोगुणा करते हुये अंत में पल्य के अर्धच्छेदों के असंख्यातवें भाग का आधा प्रमाण मात्र गुणकार जानना । वहां **'अंतधणं गुणगुणियं'** आदि सूत्र के द्वारा जोड़नेपर सर्व योगस्थानों के भेदों का प्रमाण होता है । इसको एक कम गुणकार एक से गुणा करके **प्रभव** अर्थात् आदिस्थान का भाग देकर उसमें एक मिलानेपर पल्य के अर्धच्छेदों के असंख्यातवें भागमात्र प्रमाण होता है । उसको जितनी बार गुणकार दो का भाग देनेपर एक रहता है, उतनी बारप्रमाण नानागुणहानिशलाका है जो पल्य की वर्गशलाका में से असंख्यात कम कर दो उसप्रमाण है । क्योंकि पल्य की वर्गशलाका प्रमाण दो अंक लिखकर परस्पर गुणा करनेपर पल्य के अर्धच्छेदमात्र प्रमाण होता है उसमें से असंख्यात घटाये, सो उतने दो लिखकर परस्पर गुणा करके उसको असंख्यात का भागहार होता है ।

भावार्थ – असंख्यात से हीन पल्य की वर्गशलाका का जो प्रमाण उतनी बार जघन्य योगस्थान दोगुणा-दोगुणा होनेपर उत्कृष्ट योगस्थान होता है । इसकारण इसको नानागुणहानिशलाका कहते हैं । इस नानागुणहानिप्रमाण दो अंक लिखकर परस्पर गुणा करने से पल्य के अर्धच्छेदों के असंख्यातवें भागमात्र अन्योन्याभ्यस्तराशि होती है । इससे जघन्य को गुणा करनेपर उत्कृष्ट योगस्थानों के अविभागप्रतिच्छेदों का प्रमाण आता है । पुनश्च पूर्वोक्त प्रकार करने से योगस्थानों का प्रमाण आता है ।।२३१।।

आगे अब जो कथन करेंगे उसकी प्रतिज्ञा करते हैं –

एदेसिं ठाणाणं जीवसमासाण अवरवरविसयं ।
चउरासीदिपदेहिं अप्पाबहुगं परूवेमो ।।२३२।।

एतेषां स्थानानां जीवसमासानामवरवरविषयं ।
चतुरशीतिपदैः अल्पबहुकं प्ररूपयामः ।।२३२।।

टीका – पूर्वोक्त योगस्थानों में चौदह जीवसमासों के जघन्य, उत्कृष्ट की अपेक्षा और चकार से उपपादादि तीन प्रकार के योगों की अपेक्षा चौरासी स्थानों द्वारा अल्पबहुत्व का प्ररूपण करते हैं – यहां अल्प है-थोड़ा है, यहां बहुत है इसतरह कथन करते हैं ।।२३२।।

वही कहते हैं –

सुहुमगलद्धिजहण्णं तण्णिव्वत्तीजहण्णयं तत्तो ।
लद्धिअपुण्णुक्कस्सं बादरलद्धिस्स अवरमदो ॥२३३॥

सूक्ष्मकलब्धिजघन्यं तन्निर्वृत्तिजघन्यकं ततः ।
लब्ध्यपूर्णोत्कृष्टं बादरलब्धेरवरमतः ॥२३३॥

टीका – सूक्ष्म, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय इनकी सहनानी निम्न प्रकार जानना –

सू	बा	द्वी	त्री	च	अ	सं
०१	०१	०२	०३	०४	०५	०६
		०	०	०	०	०
			०	०	०	०
				०	०	०
					०	०
						०

इन संदृष्टियों द्वारा संदृष्टि कथन करनेवाली रचना आगे लिखेंगे । वहां १) सूक्ष्म निगोद लब्धिअपर्याप्त जीव का जघन्य उपपादयोगस्थान सबसे अल्प-थोड़ा है। २) उससे सूक्ष्म निगोद निर्वृत्तिअपर्याप्त जीव का जघन्य उपपादयोगस्थान पल्य के असंख्यातवें भागगुणा है । पल्य के असंख्यात भागों में से एकभाग द्वारा पूर्व योगस्थान के अविभाग-प्रतिच्छेदों के प्रमाण को गुणा करनेपर जो प्रमाण हो, उतने अविभागप्रतिच्छेदों के प्रमाणवाला द्वितीय स्थान है । इसीतरह आगे भी समझना । ३) उससे सूक्ष्म लब्धिअपर्याप्त का उत्कृष्ट उपपादयोगस्थान पल्य के असंख्यातवें भागगुणा है। ४) उससे बादर लब्धिअपर्याप्त का जघन्य उपपादयोगस्थान पल्य के असंख्यातवें भागगुणा है ॥२३३॥

णिव्वत्तिसुहुमजेट्ठं बादरणिव्वत्तियस्स अवरं तु ।
बादरलद्धिस्स वरं बीइंदियलद्धिगजहण्णं ॥२३४॥

निर्वृत्तिसूक्ष्मज्येष्ठं बादरनिर्वृत्तिकस्यावरं तु ।
बादरलब्धेर्वरं द्वींद्रियलब्धिकजघन्यं ॥२३४॥

टीका – ५) उससे सूक्ष्म निर्वृत्तिअपर्याप्त का उत्कृष्ट उपपादयोगस्थान पल्य के असंख्यातवें भागगुणा है । ६) उससे बादर निर्वृत्तिअपर्याप्त का जघन्य उपपादयोगस्थान पल्य के असंख्यातवें भागगुणा है । ७) उससे बादर लब्धिअपर्याप्त का उत्कृष्ट उपपादयोगस्थान पल्य के असंख्यातवें भागगुणा है । ८) उससे द्वीन्द्रिय लब्धिअपर्याप्त का जघन्य उपपादयोगस्थान पल्य के असंख्यातवें भागगुणा है ॥२३४॥

बादरणिव्वत्तिवरं णिव्वत्तिबिइंदियस्स अवरमदो ।
एवं बितिबितितिचतिचचउविमणो होदि चउविमणो ॥२३५॥

बादरनिर्वृत्तिवरं निर्वृत्तिद्वींद्रियस्यावरमतः ।
एवं द्वित्रिद्वित्रित्रिचत्रिचचतुर्विमनो भवति चतुर्विमनः ॥२३५॥

टीका – ९) उससे बादर एकेन्द्रिय निर्वृत्तिअपर्याप्त का उत्कृष्ट उपपादयोगस्थान पल्य के असंख्यातवें भागगुणा है । १०) उससे द्वीन्द्रिय निर्वृत्तिअपर्याप्त का जघन्य उपपादयोगस्थान पल्य के असंख्यातवें भागगुणा है । इसीतरह ११) इससे द्वीन्द्रिय लब्धिअपर्याप्त का उत्कृष्ट और १२) त्रीन्द्रिय लब्धिअपर्याप्त का जघन्य उपपादयोगस्थान अनुक्रम से पल्य के असंख्यातवें भागगुणा है । अनुक्रम शब्द से एक-एक में पल्य के असंख्यातवें भाग का गुणकार जानना ।

पुनश्च १३) उससे द्वीन्द्रिय निर्वृत्तिअपर्याप्त का उत्कृष्ट और १४) त्रीन्द्रिय निर्वृत्ति-अपर्याप्त का जघन्य उपपादयोगस्थान अनुक्रम से पल्य के असंख्यातवें भागगुणा है । १५) उससे त्रीन्द्रिय लब्धिअपर्याप्त का उत्कृष्ट और १६) चतुरिन्द्रिय लब्धिअपर्याप्त का जघन्य उपपादयोगस्थान अनुक्रम से पल्य के असंख्यातवें भागगुणा है । १७) उससे त्रीन्द्रिय निर्वृत्तिअपर्याप्त का उत्कृष्ट और १८) चतुरिन्द्रिय निर्वृत्तिअपर्याप्त का जघन्य उपपादयोगस्थान अनुक्रम से पल्य के असंख्यातवें भागगुणा है । १९) उससे चतुरिन्द्रिय लब्धिअपर्याप्त का उत्कृष्ट और २०) असंज्ञी पंचेन्द्रिय लब्धिअपर्याप्त का जघन्य उपपादयोगस्थान अनुक्रम से पल्य के असंख्यातवें भागगुणा है । २१) उससे चतुरिन्द्रिय निर्वृत्तिअपर्याप्त का उत्कृष्ट और २२) असंज्ञी पंचेन्द्रिय निर्वृत्तिअपर्याप्त का जघन्य उपपादयोगस्थान पल्य के असंख्यातवें भागगुणा है ॥२३५॥

तह य असण्णीसण्णी असण्णिसण्णिस्स सण्णिउववादं ।
सुहुमेइंदियलद्धिगअवरं एयंतवड्ढिस्स ॥२३६॥

तथा च असंज्ञीसंज्ञी असंज्ञिसंज्ञिनः सज्ञ्युपपादः ।
सूक्ष्मेकेंद्रियलब्धिकावरं एकांतवृद्धेः ॥२३६॥

टीका – २३) उससे असंज्ञी लब्धिअपर्याप्त का उत्कृष्ट और २४) संज्ञी लब्धिअपर्याप्त का जघन्य उपपादयोगस्थान अनुक्रम से पल्य के असंख्यातवें भागगुणा है । २५) उससे असंज्ञी निर्वृत्तिअपर्याप्त का उत्कृष्ट और २६) संज्ञी निर्वृत्तिअपर्याप्त का जघन्य उपपादयोगस्थान अनुक्रम से पल्य के असंख्यातवें भागगुणा है । २७) उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय लब्धिअपर्याप्त का उत्कृष्ट उपपादयोगस्थान पल्य के असंख्यातवें भागगुणा है । २८) उससे सूक्ष्म एकेन्द्रिय लब्धिअपर्याप्त का जघन्य एकांतानुवृद्धियोगस्थान पल्य के असंख्यातवें भागगुणा है ।

सण्णिस्सुववादवरं णिव्वत्तिगदस्स सुहुमजीवस्स ।
एयंतवड्ढि अवरं लद्धिदरे थूलथूले य ॥२३७॥

संज्ञिन उपपादवरं निर्वृत्तिगतस्य सूक्ष्मजीवस्य ।
एकांतवृद्ध्यवरं लब्धीतरस्मिन् स्थूलस्थूले च ॥२३७॥

टीका – २९) उससे संज्ञी पंचेन्द्रिय निर्वृत्तिअपर्याप्त का उत्कृष्ट उपपादयोगस्थान पल्य के असंख्यातवें भागगुणा है । ३०) उससे सूक्ष्म एकेन्द्रिय निर्वृत्तिअपर्याप्त का जघन्य एकांतानुवृद्धियोगस्थान पल्य के असंख्यातवें भागगुणा है । ३१) उससे बादर एकेन्द्रिय लब्धिअपर्याप्त का और ३२) बादर एकेन्द्रिय निर्वृत्तिअपर्याप्त का जघन्य एकांतानुवृद्धि-योगस्थान अनुक्रम से पल्य के असंख्यातवें भागगुणा है ॥२३७॥

तह सुहुमसुहुमजेट्ठं तो बादरबादरे वरं होदि ।
अंतरमवरं लद्धिगसुहमिदरवरंपि परिणामे ॥२३८॥

तथा सूक्ष्मसूक्ष्मज्येष्ठं ततो बादरबादरे वरं भवति ।
अंतरमवरं लब्धिकसूक्ष्मेतरवरमपि परिणामे ॥२३८॥

टीका – ३३) उससे सूक्ष्म एकेन्द्रिय लब्धिअपर्याप्त और ३४) सूक्ष्म एकेन्द्रिय

निर्वृत्तिअपर्याप्त के उत्कृष्ट एकांतानुवृद्धियोगस्थान अनुक्रम से पल्य के असंख्यातवें भाग गुणा है । ३५) इससे बादर एकेन्द्रिय लब्धिअपर्याप्त और ३६) बादर एकेन्द्रिय निर्वृत्तिअपर्याप्त के उत्कृष्ट एकांतानुवृद्धियोगस्थान क्रम से पल्य के असंख्यातवें भागगुणा हैं ।

'ततःअंतरं' अर्थात् बादर एकेन्द्रिय निर्वृत्तिअपर्याप्त का उत्कृष्ट एकांतानुवृद्धियोगस्थान और सूक्ष्म एकेन्द्रिय लब्धिअपर्याप्त का जघन्य परिणामयोगस्थान इन दोनों के बीच में जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण योगस्थान ऐसे हैं जिनका कोई स्वामी नहीं है। ये योगस्थान किसी भी जीव के नहीं पाये जाते इसलिए यह अंतर पडा है । इन स्थानों को उल्लंघकर-छोड़कर सूक्ष्म एकेन्द्रिय और बादर एकेन्द्रिय लब्धिअपर्याप्त के जघन्य और उत्कृष्ट परिणामयोगस्थान अनुक्रम से पल्य के असंख्यातवें भागगुणा हैं ।

यहां ३७) सूक्ष्म का जघन्य ३८) बादर का जघन्य ३९) सूक्ष्म का उत्कृष्ट ४०) बादर का उत्कृष्ट-ऐसा क्रम जानना ॥२३८॥

अंतरमुवरीवि पुणो तप्पुण्णाणं च उवरि अंतरियं ।
एयंतवड्ढिठाणा तसपणलद्धिस्स अवरवरा ॥२३९॥

अंतरमुपर्यपि पुनः तत्पूर्णानां च उपर्यंतरितं ।
एकांतवृद्धिस्थानानि त्रसपंचलब्धेरवरवराः ॥२३९॥

टीका – पुनश्च **'अंतरं'** अर्थात् यहां दूसरा अंतर है । बादर एकेन्द्रिय लब्धिअपर्याप्त के उत्कृष्ट परिणामयोगस्थान के पश्चात् जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण योगस्थान ऐसे हैं कि जिनका कोई स्वामी नहीं है । इसलिए उनको छोड़कर सूक्ष्म एकेन्द्रिय और बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त के जघन्य और उत्कृष्ट परिणामयोगस्थान अनुक्रम से पल्य के असंख्यातवें भागगुणा है । ४१, ४२, ४३, ४४ । इसके ऊपर तीसरा अंतर है, बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त के उत्कृष्ट योगस्थान के पश्चात् जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भागमात्र योगस्थान ऐसे हैं जिनका कोई स्वामी नहीं है । उनको छोड़कर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय लब्धिअपर्याप्त के जघन्य और उत्कृष्ट एकांतानुवृद्धियोगस्थान ये दस स्थान अनुक्रम से पल्य के असंख्यातवें भागगुणा हैं – ४५।४६।४७।४८।४९।५०।५१।५२।५३।५४ ॥२३९॥

लद्धीणिव्वत्तीणं परिणामेयंतवड्ढिठाणाओ ।
परिणामट्ठाणाओ अंतरअंतरिय उवरुवरिं ॥२४०॥

लब्धिनिर्वृत्तीनां परिणामैकांतवृद्धिस्थानानि ।
परिणामस्थानानि अंतरांतरितान्युपर्युपरि ॥२४०॥

टीका -- यहां चौथा अंतर है । संज्ञी पंचेन्द्रिय लब्धिअपर्याप्त के उत्कृष्ट एकांतानुवृद्धि-योगस्थान के पश्चात् जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण योगस्थान ऐसे हैं जिनका कोई स्वामी नहीं है । इनको उल्लंघकर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय लब्धिअपर्याप्त जीवों का जघन्य और उत्कृष्ट परिणामयोगस्थान ये दस अनुक्रम से पल्य के असंख्यातवें भागगुणा जानना । – ५५ ।५६ ।५७ ।५८ ।५९ ।६० ।६१ ।६२ ।६३ ।६४ ।

पुनश्च यहां पांचवां अंतर है । संज्ञी पंचेन्द्रिय लब्धिअपर्याप्त जीव के उत्कृष्ट परिणामयोगस्थान के पश्चात् जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण योगस्थान ऐसे हैं जिनका कोई स्वामी नहीं है । उनको छोड़कर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय निर्वृत्तिअपर्याप्त जीवों का जघन्य और उत्कृष्ट एकांतानुवृद्धियोगस्थान ये दस स्थान अनुक्रम से पल्य के असंख्यातवें भागगुणा हैं । – ६५ ।६६ ।६७ ।६८ ।६९ ।७० ।७१ । ७२ ।७३ ।७४ ।

पुनश्च यहां छठवां अंतर है । संज्ञी पंचेन्द्रिय निर्वृत्तिअपर्याप्त जीव के उत्कृष्ट एकांतानुवृद्धियोगस्थान के पश्चात् जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण योगस्थान ऐसे हैं जिनका कोई स्वामी नहीं है । इनको उल्लंघकर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों का जघन्य और उत्कृष्ट परिणामयोगस्थान ये दस स्थान अनुक्रम से पल्य के असंख्यातवें भागगुणा जानना ।७५ ।७६ ।७७ ।७८ ।७९ ।८० । ८१ ।८२ ।८३ ।८४ ।

इसतरह योगों के चौरासी स्थान कहे ।

भावार्थ इस प्रकार है - जो योगस्थान कहे उनमें प्रथम योगस्थान सूक्ष्म लब्धिअपर्याप्त का जघन्य उपपादयोगस्थान है । उसके अविभागप्रतिच्छेद सबसे थोड़े हैं । उससे सूक्ष्म निर्वृत्तिअपर्याप्त के जघन्य उपपादयोगस्थान के अविभागप्रतिच्छेद पल्य के असंख्यातवें भागगुणा है । इसीतरह अनुक्रम से जानना ॥२४०॥

आगे इस पूर्वोक्त गुणकार को ग्रंथकार कहते हैं –

एदेसिं ठाणाओ पल्लासंखेज्जभागगुणिदकमा ।
हेट्ठिमगुणहाणिसला अण्णोण्णब्भत्थमेत्तं तु ॥२४१॥

एतेषां स्थानानि पल्यासंख्येयभागगुणितक्रमाणि ।
अधस्तनगुणहानिशला अन्योन्याभ्यस्तमात्रं तु ॥२४१॥

टीका – चौदह जीवसमासों के उपपादादि तीन योगों की अपेक्षा जघन्य, उत्कृष्ट भेद से जो ये चौरासी स्थान हुये वे अनुक्रम से पूर्व स्थान से उत्तर स्थान पल्य के असंख्यातवें भागगुणा हैं, तथापि जघन्य योगस्थान से सर्वोत्कृष्ट योगस्थान पल्य के अर्धच्छेदों के असंख्यातवें भागगुणा है । उन जघन्य योगस्थान और उत्कृष्ट योगस्थानों के बीच में स्थित अधस्तन गुणहानिशलाका असंख्यात से हीन पल्य की वर्गशलाकाप्रमाण है - उसीको अन्योन्याभ्यस्तराशि की गुणकारशलाका कहते हैं, जिसका पहले कथन किया है ॥२४१॥

आगे ये जो तीन योग हैं, वे निरंतर अर्थात् बीच में एक विवक्षित योगस्थान से अन्य योगस्थानरूप न हो ऐसे कितने काल तक रहते हैं ? वह कहते हैं -

अवरुक्कस्सेण हवे उववादेयंतवड्ढिठाणाणं ।
एक्कसमयं हवे पुण इदरेसिं जाव अट्ठोत्ति ॥२४२॥

अवरोत्कृष्टेन भवेत् उपपादैकांतवृद्धिस्थानानां ।
एकसमयो भवेत्पुनः इतरेषां यावदष्ट इति ॥२४२॥

टीका – उपपादयोगस्थान और एकांतानुवृद्धियोगस्थान के प्रवर्तन का काल जघन्य और उत्कृष्ट एक ही समय है । क्योंकि उपपादयोगस्थान जन्म के प्रथम समय ही होता है और एकांतानुवृद्धियोगस्थान प्रतिसमय वृद्धिरूप अन्य-अन्य होता है । इतर जो परिणामयोगस्थान उनके निरंतर प्रवर्तने का काल दो समय से लेकर आठ समय तक है ।

भावार्थ – एक परिणामयोगस्थान दो समय से लेकर आठ समय तक रहता है, अधिक नहीं रहता, पश्चात् अन्य योगस्थान होता है ॥२४२॥

अट्ठसमयस्स थोवा उभयदिसासुवि असंखसंगुणिदा ।
चउसमयोत्ति तहेव य उवरिं तिदुसमयजोग्गाओ ।।२४३।।

अष्टसमयस्य स्तोका उभयदिशयोरपि असंख्यसंगुणिताः ।
चतुःसमय इति तथैव च उपरि त्रिद्विसमययोगाः ।।२४३।।

टीका – द्वीन्द्रिय पर्याप्त जीव के जघन्य परिणामयोगस्थान से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव के उत्कृष्ट परिणामयोगस्थान तक अंतररूप जो योगस्थान कहे थे उनको छोड़कर जितने निरंतर योगस्थान हैं, उनकी **'यव'** नामक अन्न के आकार रचना काल की अपेक्षा जाननी ।

यवाकार रचना (देखिये पृ.नं.२४४)

वहां जो योगस्थान निरंतर आठ समय प्रवर्तते हैं उन्हें मध्य में लिखना, जो योगस्थान निरंतर सात समय में प्रवर्तते हैं उनमें से आधे तो आठ समयवालों के ऊपर लिखना, आधे नीचे लिखना । जो योगस्थान छह समय निरंतर प्रवर्तते हैं उनमें से आधे ऊपर और आधे उनसे नीचे लिखना । जो योगस्थान पांच समय निरंतर प्रवर्तते हैं उनमें से आधे तो ऊपर और आधे नीचे लिखना । जो योगस्थान चार समय निरंतर प्रवर्तते हैं उनके आधे तो ऊपर और आधे नीचे लिखना । जो योगस्थान तीन समय निरंतर प्रवर्तते हैं उन्हें चार समयवालों के ऊपर ही लिखना । जो योगस्थान दो समय निरंतर प्रवर्तते हैं उन्हें तीन समयवालों के ऊपर लिखना ।

यहां त्रसजीव संबंधी परिणामयोगस्थानों में मध्यवर्ती स्थान मध्य में लिखे हैं। उनसे पहले स्थान और पश्चात् के स्थान उनके ऊपर और नीचे लिखे हैं ऐसा अर्थ जानना ।

अब इन स्थानों का प्रमाण कहते हैं –

द्वीन्द्रिय पर्याप्त के जघन्य परिणामयोग से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के उत्कृष्ट परिणामयोग तक योगस्थानों का प्रमाण – जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भाग को एक कम पल्य के अर्धच्छेदों के असंख्यातवें भाग से गुणा करके, सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग का भाग देनेपर जो प्रमाण हो उसमें एक मिलाये - इतना है । उसको पल्य के असंख्यातवें भाग का भाग देकर, वहां एकभाग बिना बहुभाग प्रमाण तो दो समय

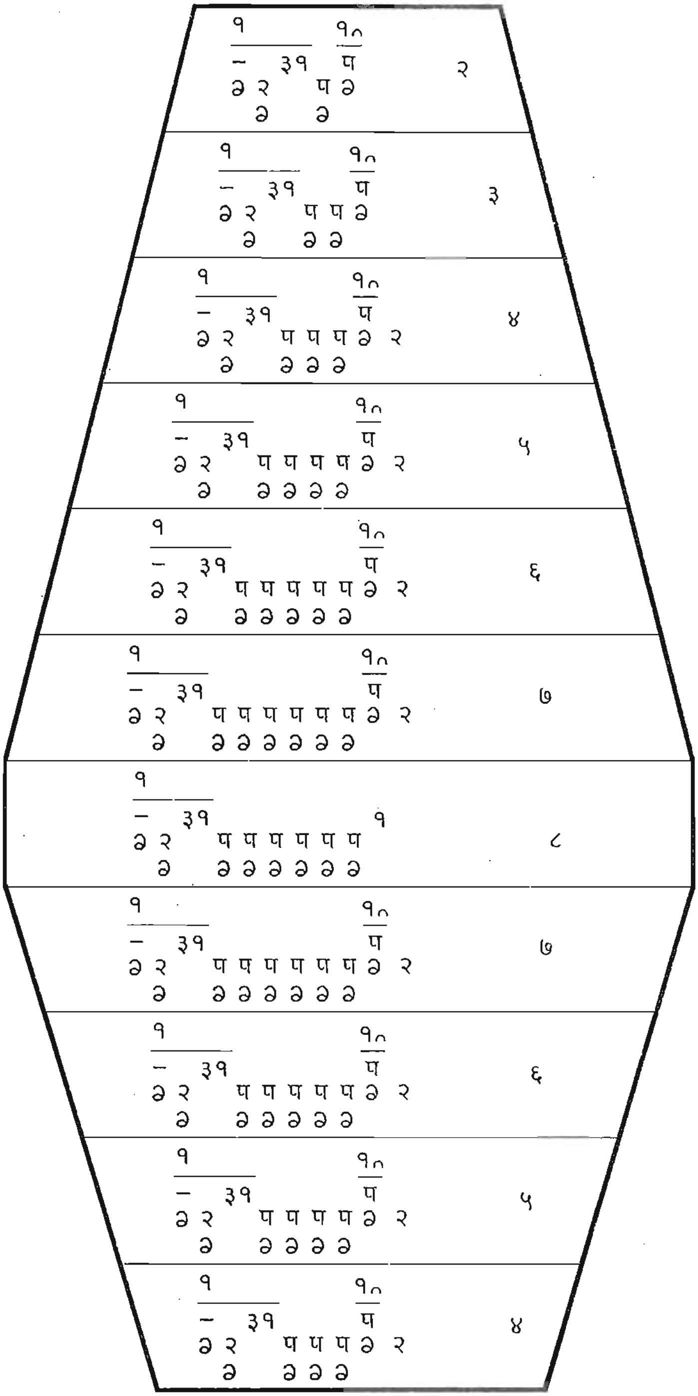

२
३
४
५
६
७
८
७
६
५
४

निरंतर प्रवर्तनेवाले योगस्थान हैं । पुनश्च उस एकभाग को पल्य के असंख्यातवें भाग का भाग देकर, एकभाग बिना बहुभाग प्रमाण तीन समय निरंतर प्रवर्तनेवाले योगस्थान हैं । पुनश्च उस एकभाग को पल्य के असंख्यातवें भाग का भाग देकर वहां एकभाग बिना अवशेष बहुभाग के आधे तो नीचे के चार समय निरंतर प्रवर्तनेवाले योगस्थान हैं और आधे ऊपर के चार समय निरंतर प्रवर्तनेवाले योगस्थान हैं ।

पुनश्च उस एकभाग को पल्य के असंख्यातवें भाग का भाग देकर एकभाग बिना बहुभाग के आधे नीचे के पांच समय निरंतर प्रवर्ते ऐसे योगस्थान हैं और आधे ऊपर के पांच समय निरंतर प्रवर्तनेवाले योगस्थान हैं । पुनश्च उस एकभाग को पल्य के असंख्यातवें भाग का भाग देकर एकभाग बिना बहुभाग के आधे तो नीचे के छह समय निरंतर प्रवर्तनेवाले योगस्थान हैं और आधे ऊपर के छह समय निरंतर प्रवर्तनेवाले योगस्थान हैं । पुनश्च उस एकभाग को पल्य के असंख्यातवें भाग का भाग देकर वहां एकभाग बिना बहुभाग के आधे तो नीचे के सात समय निरंतर प्रवर्तनेवाले योगस्थान हैं, आधे ऊपर के सात समय निरंतर प्रवर्तनेवाले योगस्थान हैं । अवशेष एकभाग रहा उसप्रमाण आठ समय निरंतर प्रवर्तनेवाले योगस्थान जानना।

इसीकारण गाथा में कहा है कि आठ समयवालों का प्रमाण थोड़ा है तथा ऊपर और नीचे असंख्यातगुणा-असंख्यातगुणा है । चार समयवालों तक नीचे और ऊपर दोनों दिशा में है । तीन और दो समयवाले स्थान केवल ऊपर ही हैं ।

इसतरह यहां काल की अपेक्षा यव आकार रचना है । जैसे यव बीच में मोटा तथा नीचे-ऊपर पतला होता है, वैसे बीच में आठ समयवाले लिखे तथा ऊपर-नीचे कम समयवाले लिखे ऐसी यव आकार रचना है ॥२४३॥

आगे पर्याप्त त्रस जीवों के परिणामयोगस्थान में जीवों का प्रमाण कहते हैं। उसकी यव नामक अनाज के आकार रचना बताते हैं –

मज्झे जीवा बहुगा उभयत्थ विसेसहीणकमजुत्ता ।
हेट्ठिमगुणहाणिसलागादुवरि सलागा विसेसऽहिया ॥२४४॥

मध्ये जीवा बहुका उभयत्र विशेषहीनक्रमयुक्ताः ।
अधस्तनगुणहानिशलाया उपरिशलाका विशेषाधिकाः ॥२४४॥

टीका – जीवों के प्रमाणरूप यवरचना में मध्य में जीव बहुत हैं, ऊपर और नीचे अनुक्रम से विशेष*(चय)* से हीन-हीन जीव हैं ।

भावार्थ – जैसे यव नामक अनाज का दाना बीच में मोटा तथा ऊपर नीचे क्रम से घटता घटता होता है, वैसे त्रस पर्याप्त संबंधी परिणामयोगस्थानों में यव आकार में जो बीच का स्थान है वहां जीवों का प्रमाण बहुत है, बीचवाले स्थान के धारक जीव बहुत हैं । उस बीचवाले स्थान से ऊपर के स्थानों में और नीचे के स्थानों में जीवों का प्रमाण अनुक्रम से घटता घटता है । उन स्थानों के धारक जीव क्रमशः घटते-घटते पाये जाते हैं, इस प्रकार यह यव आकार रचना है । वहां नीचे की गुणहानिशलाका से ऊपर की गुणहानिशलाका का प्रमाण कुछ अधिक है।

वही कहते हैं –

दव्वतियं हेट्ठुवरिमदलवारा दुगुणमुभयमण्णोण्णं ।
जीवजवे चोद्दससयबावीसं होदि बत्तीसं ।।२४५।।

चत्तारि तिण्णि कमसो पण अड अट्ठं तदो य बत्तीसं ।
किंचूणतिगुणहाणिविभजिदे दव्वे दु जवमज्झं ।।२४६।।

द्रव्यत्रयमध उपरिमदलवारा द्विगुणमुभयमन्योन्यं ।
जीवयवे चतुर्दशशतद्वाविंशतिः भवति द्वात्रिंशत् ।।२४५।।

चत्वारि त्रीणि क्रमशः पंच अष्ट-अष्ट ततश्च द्वात्रिंशत् ।
किंचिदूनत्रिगुणहानिविभाजिते द्रव्ये तु यवमध्यं ।।२४६।।

टीका – यव के आकार जीवों की संख्या की रचना में पहले अंकों की सहनानी द्वारा कथन करते हैं - वहां द्रव्य तो त्रस पर्याप्त जीवों का प्रमाण चौदह सौ बाइस(१४२२), स्थिति - त्रसपर्याप्त जीव संबंधी परिणामयोगस्थानों का प्रमाण बत्तीस(३२), गुणहानि आयाम अर्थात् एक गुणहानि में स्थानों का प्रमाण चार(४), सर्व गुणहानि आठ(८), जिसको नानागुणहानि कहते हैं । उसमें नीचे की नानागुणहानि का प्रमाण तीन(३) और ऊपर की नानागुणहानि का प्रमाण पांच(५) इसतरह आठ नानागुणहानि जानना । पुनश्च नानागुणहानिप्रमाण दो अंक लिखकर परस्पर गुणा करने पर जो प्रमाण हो, उतनी अन्योन्याभ्यस्तराशि है । वहां नीचे की अन्योन्याभ्यस्तराशि का प्रमाण आठ(८),

ऊपर की अन्योन्याभ्यस्तराशि का प्रमाण बत्तीस(३२) इस तरह सर्व चालीस है ।

वहां कुछ कम तीनगुणा गुणहानि का भाग द्रव्य को देनेपर यव आकार के मध्य में जीवों का प्रमाण आता है । गुणहानि आयाम का प्रमाण चार(४) को तीनगुणा करने पर बारह हुये, किंचित् कम कहने से इसमें से सत्तावन बटे चौंसठ ($\frac{५७}{६४}$) घटाना । यहां समच्छेद विधान से सात सौ ग्यारह का चौंसठवां भाग आया । ($१२ - \frac{५७}{६४} = \frac{७११}{६४}$)। इसका भाग सर्वद्रव्य चौदह सौ बाइस को दीजिये तब एक सौ अट्ठाइस आये । यह जीव यव आकार रचना में मध्य का प्रमाण जानना, इसलिए मध्य में जीव बहुत हैं ऐसा कहा । उस मध्य के ऊपर तथा नीचे गुणहानि के जो निषेक हैं उनमें अपनी अपनी गुणहानि में विशेष(चय) का जो प्रमाण है उतना-उतना क्रमशः हीन प्रमाण जानना।

विशेष का प्रमाण कितना है ? अपनी अपनी गुणहानि के प्रथम निषेक को दोगुणा गुणहानि आयाम प्रमाण जो दोगुणहानि, उसका भाग देनेपर जो प्रमाण हो उतना है अथवा अंतिम निषेक को एक अधिक गुणहानि आयाम का भाग देनेपर जो प्रमाण हो, वह विशेष का प्रमाण जानना । उससे नीचे और ऊपर के गुणहानि का द्रव्य और विशेष क्रमशः आधा आधा जानना ।

वही दिखाते हैं – ऊपर की पांच गुणहानियों में से पहली गुणहानि के प्रथम निषेक का प्रमाण एक सौ अट्ठाइस(१२८), उसको दोगुणहानि आठ का भाग देनेपर सोलह आये, वह विशेष(चय) जानना । इसलिए एक-एक निषेक में सोलह-सोलह घटाना । अंतिम निषेक में ~~में~~ एक कम गुणहानि आयाम का जो प्रमाण उतने विशेष घटानेपर आदि निषेक एक सौ अट्ठाइस, मध्य एक सौ बारह तथा छानबे और अंतिम निषेक अस्सी - १२८, ११२, ९६, ८० ऐसा प्रमाण आया ।

इन सबका जोड़ देनेपर **'मुहभूमि जोगदले पदगुणिदे पदधणं होदि'** - **मुख** अर्थात् अंत, **भूमि** अर्थात् आदि, अंत अस्सी और आदि एक सौ अट्ठाइस इनका **जोग** अर्थात् जोड़ दो सौ आठ, **दले** अर्थात् आधा एक सौ चार हुये । **पद** अर्थात् गच्छ-आयाम उससे गुणा करनेपर, यहां चार से गुणा करनेपर **पदधन** चार सौ सोलह हुये ।

इसतरह ऊपर की प्रथम गुणहानि का सर्वधन चार सौ सोलह जानना । यवमध्य के प्रमाण को एक अधिक तिगुणा गुणहानि आयाम से गुणा करके गुणहानि आयाम

का भाग देनेपर प्रथम गुणहानि के द्रव्य का प्रमाण आता है ।

यवमध्य का प्रमाण एक सौ अट्ठाइस को, तीनगुणा गुणहानि बारह, एक मिलाने पर हुये तेरह, उससे गुणा करके गुणहानि आयाम चार का भाग देनेपर चार सौ सोलह आये, वही प्रथम गुणहानि का द्रव्य है । ऊपर एक-एक गुणहानि में द्रव्य का प्रमाण तथा विशेष का प्रमाण आधा-आधा जानना । पुनश्च एक कम नानागुणहानि का जो प्रमाण है उतनी बार दो अंक लिखकर परस्पर गुणा करनेपर जो प्रमाण हो उसका भाग प्रथम गुणहानि के द्रव्य को देनेपर अंतिम गुणहानि के द्रव्य का प्रमाण आता है । वहां ऊपर की गुणहानि पांच, एक कम करनेपर चार हुये, चार बार दो लिखकर २।२।२।२ परस्पर गुणा करनेपर सोलह(१६) आये, इसका भाग प्रथम गुणहानि का द्रव्य चार सौ सोलह को देनेपर छब्बीस हुये, वही अंतिम गुणहानि का द्रव्य जानना।

पुनश्च नीचे की गुणहानि तीन, उनमें से प्रथम गुणहानि में यवमध्य में जो प्रमाण है उसमें से एक विशेष घटानेपर प्रथम निषेक होता है । यहां यवमध्य एक सौ अट्ठाइस इसमें से विशेष का प्रमाण सोलह घटानेपर एक सौ बारह रहे वही आदि निषेक का प्रमाण जानना । इसमें से एक-एक विशेष घटानेपर अंतिम निषेक में एक कम गुणहानि आयाम प्रमाण विशेष घटानेपर चौंसठ होते हैं (११२-४८=६४) । यहां मुख चौंसठ, भूमि एक सौ बारह इनको जोड़नेपर एक सौ छिहत्तर, इसका आधा अट्ठासी, इसको पद चार से गुणा करनेपर तीन सौ बावन हुये, वही नीचे के प्रथम गुणहानि का द्रव्य जानना। यवमध्य एक सौ अट्ठाइस को ग्यारह से गुणा करके चार का भाग देनेपर इतना प्रमाण होता है । ऊपर की प्रथम गुणहानि के द्रव्य से यहां यवमध्य को दोगुणा करके चार का भाग दीजिये इतना ऋण जानना । यवमध्य एक सौ अट्ठाइस को दोगुणा करके चार का भाग देनेपर चौंसठ आये उसे ऋण जानना । इतना ऊपर की प्रथम गुणहानि के द्रव्य में से घटानेपर नीचे की प्रथम गुणहानि का द्रव्य आता है।

पुनश्च ऊपर की गुणहानियों के निषेकों से नीचे की गुणहानि के निषेकों में ऊपर की गुणहानि के चयप्रमाण ऋण जानना । जैसे, ऊपर की गुणहानि का प्रथम निषेक एक सौ अट्ठाइस, उसमें से चय का प्रमाण सोलह घटानेपर नीचे की गुणहानि के प्रथम निषेक का प्रमाण होता है, ऐसे ही सर्वत्र जानना ।

पुनश्च गुणहानि गुणहानि प्रति द्रव्य आधा-आधा जानना । वहां एक कम नीचे

की गुणहानिमात्र दो अंकों का भाग प्रथम गुणहानि के द्रव्य को देनेपर अंतिम गुणहानि का द्रव्य आता है । प्रथम गुणहानि में जो ऋण कहा था वह भी गुणहानि गुणहानि प्रति आधा-आधा होता है । ६४।३२।१६।

वहां **'अंतधणं गुणगुणियं आदिविहीणं'** सूत्र के अनुसार अंतधन चौंसठ को गुणकार दो से गुणा करके आदि सोलह घटानेपर नीचे की सर्व गुणहानियों में ऋण का प्रमाण आता है, वही प्रमाण गुणहानि आयाम के प्रमाण से नीचे की अंतिम गुणहानि में जो चय का प्रमाण उसको गुणा करके जो प्रमाण आये उतना यवमध्य के प्रमाण में से घटानेपर आता है । गुणहानि आयाम चार, इससे नीचे की अंतिम गुणहानि का चय चार को गुणा करनेपर सोलह हुये, इसे यवमध्य में से घटानेपर एकसौ बारह रहे, वह सर्व ऋण जानना । चौंसठ, बत्तीस, सोलह सर्व मिलानेपर एकसौ बारह होते हैं ।

पुनश्च नीचे और ऊपर की सर्व गुणहानियों का सर्वद्रव्य **'अंतधणं गुणगुणियं'** इत्यादि सूत्र द्वारा जोड़कर उसमें से ऋण को घटानेपर शुद्ध द्रव्य चौदह सौ बाइस(१४२२) होता है ।

यहां गुणहानि में निषेकों में से जितना जितना घटता है ऐसा विशेष(चय) का प्रमाण, योगस्थान ही निषेक हैं उनमें जीवों का प्रमाण, गुणहानि में सर्वद्रव्य का प्रमाण, नीचे की गुणहानि में ऊपर की गुणहानि से जितना प्रमाण कम है वही ऋण-उसका प्रमाण इन सर्व प्रमाणों को दिखाने के लिये यंत्र लिखते हैं –

यंत्र - (देखिये पृष्ठ २५०)

इस यंत्र का भावार्थ इस प्रकार है – त्रस पर्याप्त संबंधी परिणामयोगस्थान बत्तीस कहे उनमें ऊपर की प्रथम गुणहानि का प्रथम निषेकरूप जो योगस्थान, उसके धारक एक सौ अट्ठाइस जीव हैं । इसको यवमध्य कहते हैं । उस स्थान से पहला और पश्चात्‌वाला दो स्थान के धारक एक सौ बारह-एक सौ बारह जीव हैं ।

इसी तरह सर्व योगस्थानों में जीवों का प्रमाण जानना ।

इसप्रकार जैसे अंकों की सहनानी द्वारा कथन दिखाया वैसा ही यथार्थ कथन जानना । विशेष इतना है कि द्रव्यादि का प्रमाण जैसा हो वैसा जानना । अन्य सर्व विधान अंकसंदृष्टि में कहा वैसे ही जानना ॥२४५-२४६॥

नाम	विशेष का प्रमाण	निषेकों में जीवों का प्रमाण	गुणहानि में सर्व द्रव्य का प्रमाण
ऊपर की पांचवीं गुणहानि	१	५ ६ ७ ८	२६
ऊपर की चौथी गुणहानि	२	१० १२ १४ १६	५२
ऊपर की तीसरी गुणहानि	४	२० २४ २८ ३२	१०४
ऊपर की दूसरी गुणहानि	८	४० ४८ ५६ ६४	२०८
ऊपर की पहली गुणहानि	१६	८० ९६ ११२ १२८	४१६
नीचे की पहली गुणहानि	१६	ऊपर की पहली गुणहानि के निषेकों से १६ कम ११२ ९६ ८० ६४	ऊपर की पहली गुणहानि के सर्व द्रव्य से ६४ कम अवशेष ३५२
नीचे की दूसरी गुणहानि	८	ऊपर की दूसरी गुणहानि के निषेकों से ८ कम ५६ ४८ ४० ३२	ऊपर की दूसरी गुणहानि के सर्व द्रव्य से ३२ कम अवशेष १७६
नीचे की तीसरी गुणहानि	४	ऊपर की तीसरी गुणहानि के निषेकों से ४ कम २८ २४ २० १६	ऊपर की तीसरी गुणहानि के सर्व द्रव्य से १६ कम अवशेष ८८

अब यथार्थ कथन दिखाने के लिये सूत्र कहते हैं –

पुण्णतसजोगठाणं छेदाऽसंखस्सऽसंखबहुभागे ।
दलमिगिभागं च दलं दव्वदुगं उभयदलवारा ॥२४७॥

पूर्णत्रसयोगस्थानं छेदासंख्यस्यासंख्यबहुभागे ।
दलमेकभागं च दलं द्रव्यद्विकमुभयदलवाराः ॥२४७॥

टीका – *(अंकसंदृष्टि में)* जैसा द्रव्य का प्रमाण चौदह सौ बाइस कहा, वैसा *(यथार्थ में)* संख्यात से भाजित प्रतरांगुल का भाग जगत्प्रतर को देनेपर जो प्रमाण होता है उतने पर्याप्त त्रस जीव हैं । पर्याप्त त्रस जीवों का यह जो प्रमाण है उसे द्रव्य जानना । जैसे स्थिति का *(निषेकों का = स्थानों का)* प्रमाण बत्तीस कहा वैसे द्वीन्द्रिय पर्याप्त के जघन्य परिणामयोगस्थान से लेकर संज्ञी पर्याप्त के उत्कृष्ट परिणामयोगस्थान तक जितने योगस्थान हैं, उतना स्थिति का प्रमाण जानना । पहले जो चौरासी स्थान कहे वहां द्वीन्द्रिय पर्याप्त के जघन्य परिणामयोगस्थान में जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भाग को पचहत्तर बार पल्य के असंख्यातवें भाग से गुणा करनेपर प्रमाण होता है । उसका अपवर्तन करनेपर जगत्श्रेणी का असंख्यातवां भाग मात्र ही हुआ । इसमें सूच्यंगुल का असंख्यातवां भाग मात्र मिलानेपर अनंतर स्थान होता है, उससे लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट योगस्थान संदृष्टि की अपेक्षा जघन्य से बत्तीसगुणा और यथार्थ की अपेक्षा पल्य के अर्धच्छेदों के असंख्यातवें भागगुणा है ।

वहां तक स्थानों का प्रमाण कहते हैं –

वहां द्वीन्द्रिय पर्याप्त के जघन्य परिणामयोगस्थान से अनंतर स्थान तो आदि जानना और संज्ञी पर्याप्त का उत्कृष्ट परिणामयोगस्थान अंत जानना ।

'आदी अंते सुद्धे वड्ढिहिदे रूवसंजुदे ठाणा' इस सूत्र द्वारा अंत में से आदि का प्रमाण घटाना । एक एक स्थान में सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण जघन्य स्पर्धक इतने अविभागप्रतिच्छेद बढ़ते हैं, इसलिए उनका भाग देकर जो प्रमाण आता है उसमें एक और मिलानेपर त्रस पर्याप्त संबंधी परिणामयोगस्थानों का प्रमाण आता है, वही स्थिति का प्रमाण जानना ।

इन स्थानों के धारक कितने-कितने जीव पाये जाते हैं ऐसा भेद कहने के

लिये विधान कहते हैं –

जैसे, आठ नानागुणहानि में तीन नीचे की और पांच ऊपर की कही थी, वैसे पल्य के अर्धच्छेदों के असंख्यातवें भागप्रमाण सर्व नानागुणहानि, उसको असंख्यात का भाग देकर एकभाग को जुदा रखकर अवशेष बहुभागों का जो प्रमाण उसका आधा तो नीचे की नानागुणहानि का प्रमाण जानना तथा बहुभाग का आधा और जुदा रखा हुआ एकभाग दोनों को मिलानेपर जो प्रमाण हो उतना ऊपर की नानागुणहानि का प्रमाण जानना ।

णाणागुणहाणिसला छेदासंखेज्जभागमेत्ताओ ।
गुणहाणीणद्धाणं सव्वत्थवि होदि सरिसं तु ॥२४८॥

नानागुणहानिशलाः छेदासंख्येयभागमात्राः ।
गुणहानीनामद्धानां सर्वत्रापि भवति सदृशं तु ॥२४८॥

टीका – नीचे की और ऊपर की गुणहानियों को मिलानेपर पल्य के अर्धच्छेदों के असंख्यातवें भागप्रमाण नानागुणहानि हुयी । उसका भाग पूर्वोक्त स्थिति के प्रमाण को देनेपर जो प्रमाण आता है उतना एक गुणहानि के आयाम का प्रमाण जानना। जैसे स्थिति बत्तीस(३२) को सर्व नानागुणहानि आठ(८) का भाग देनेपर चार(४) आये, वही एक गुणहानि आयाम का प्रमाण है । वैसा यहां भी जानना । गुणहानि आयाम का प्रमाण ऊपर और नीचे की गुणहानि में समान है । एक एक गुणहानि में इतने-इतने स्थान पाये जाते हैं । इस गुणहानि आयाम का दोगुणा प्रमाण वही दोगुणहानि का प्रमाण जानना ॥२४८॥

अण्णोण्णगुणिदरासी पल्लासंखेज्जभागमेत्तं तु ।
हेट्ठिमरासीदो पुण उवरिल्लमसंखसंगुणिदं ॥२४९॥

अन्योन्यगुणितराशिः पल्यासंख्येयभागमात्रं तु ।
अधस्तनराशितः पुनः उपरिममसंख्यातसंगुणितं ॥२४९॥

टीका – नानागुणहानिप्रमाण दो अंक लिखकर परस्पर गुणा करनेपर अन्योन्याभ्यस्तराशि आती है । जैसे नीचे की आठ और ऊपर की बत्तीस अन्योन्याभ्यस्तराशि कही वैसे सामान्यपने से पल्य के असंख्यातवें भागप्रमाण अन्योन्याभ्यस्तराशि है तथापि

नीचे की अन्योन्याभ्यस्तराशि से ऊपर की अन्योन्याभ्यस्तराशि असंख्यातगुणा है ।

अब वहां जघन्य परिणामयोग से लेकर उत्कृष्ट परिणामयोग तक के योगस्थानों में जीवों का विभाग अंकसंदृष्टिवत् निम्नप्रकार जानना –

किंचित् कम तीन गुणा गुणहानि आयाम का भाग सर्वद्रव्य को देनेपर यवमध्य का प्रमाण आता है । इसको दोगुणहानि का भाग देनेपर चय का प्रमाण आता है। चय कहो या विशेष कहो दोनों एकार्थ हैं । चय को दोगुणहानि से गुणा करनेपर यवमध्य आता है । ऊपर की प्रथम गुणहानि में प्रथम निषेक यवमध्यप्रमाण है और ऊपर द्वितीयादि निषेक एक एक चय से हीन जानना । एक कम गुणहानि आयाम प्रमाण चय यवमध्य में से घटानेपर प्रथम गुणहानि के अंतिम निषेक का प्रमाण आता है। इसमें से एक चय घटानेपर यवमध्य से आधा प्रमाण होता है, वही द्वितीय गुणहानि का प्रथम निषेक जानना । इसके ऊपर एक-एक चय घटानेपर द्वितीयादि निषेक होते हैं । एक कम गुणहानि आयाम प्रमाण चय घटानेपर अंतिम निषेक होता है । यहां प्रथम गुणहानि में चय का प्रमाण था उससे आधा द्वितीय गुणहानि में चय का प्रमाण जानना ।

पुनश्च द्वितीय गुणहानि के अंतिम निषेक में से एक चय घटानेपर द्वितीय गुणहानि के प्रथम निषेक से आधा प्रमाण होता है, वही तृतीय गुणहानि का प्रथम निषेक जानना । इसमें से द्वितीय गुणहानि के चय से आधे प्रमाणवाला चय, वहां एक एक चय घटानेपर द्वितीयादिक निषेक होते हैं । इसप्रकार अंत की गुणहानि तक जानना। गुणहानि-गुणहानि प्रति जीव द्रव्य आधे आधे जानना । नीचे की गुणहानि में यवमध्य के नीचे प्रथम गुणहानि के प्रथम निषेक से लेकर अंत की गुणहानि के अंत निषेक तक गुणहानि-गुणहानि प्रति समस्त निषेकों में जो जो ऊपर की गुणहानि के निषेकों में प्रमाण कहा उनमें से अपनी अपनी गुणहानि में जितना जितना चय का प्रमाण कहा, उतना उतना निषेक-निषेक में से ऋण करनेपर निषेकों का प्रमाण होता है। वही कहते हैं –

ऊपर की प्रथम गुणहानि का प्रथम निषेक यवमध्यप्रमाण है, उसमें से प्रथम गुणहानि में जो विशेष का प्रमाण कहा उतना घटानेपर नीचे की प्रथम गुणहानि के प्रथम निषेक का प्रमाण होता है । ऊपर की प्रथम गुणहानि के द्वितीय निषेक में

जो प्रमाण कहा उसमें से प्रथम गुणहानि के विशेषप्रमाण ऋण घटानेपर नीचे की प्रथम गुणहानि के द्वितीय निषेक का प्रमाण होता है । इसतरह प्रथम गुणहानि के अंतिम निषेक तक समझना । ऊपर की द्वितीय गुणहानि के प्रथम निषेक में जो प्रमाण है, उसमें से द्वितीय गुणहानि के विशेष का प्रमाण घटानेपर नीचे की द्वितीय गुणहानि में प्रथम निषेक का प्रमाण जानना । उसके द्वितीय निषेक में से उतने ही घटानेपर इसके द्वितीय निषेक का प्रमाण जानना । इसतरह अंतिम निषेक तक जानना ।

इसी प्रकार तृतीयादिक गुणहानि में भी ऋण का प्रमाण अपने-अपने विशेष के समान जानकर निषेक का प्रमाण जानना । नीचे की गुणहानि की रचना में ऋण को मिलानेपर नीचे की गुणहानि का प्रमाण और सर्व रचना ऊपर की गुणहानि की रचना समान होते हैं । इसतरह जिस गुणहानि के जिस जिस निषेक में जितना जितना प्रमाण हो उस उस योगस्थान में उतना-उतना जीवों का प्रमाण जानना ।

पुनश्च गुणहानि में सर्वद्रव्य जोड़ने के लिये **'मुहभूमि जोगदले पदगुणिदे पदधणं होदी'** इस सूत्र से मुख तो अंत निषेक, भूमि आदि निषेक, दोनों को मिलाकर आधा करके गुणहानि आयाम के प्रमाण से गुणा करनेपर जो प्रमाण होता है, उतना उतना अपनी अपनी गुणहानि में सर्वद्रव्य का प्रमाण जानना । प्रथम गुणहानि के सर्वद्रव्य से द्वितीय गुणहानि का द्रव्य आधा है । इसतरह गुणहानि-गुणहानि प्रति द्रव्य आधा आधा जानना ।

सर्व गुणहानियों का द्रव्य जोड़ने के लिये **'अंतधणं गुणगुणियं'** इत्यादि सूत्र द्वारा प्रथम गुणहानि का द्रव्य अंतधन है, उसको गुणकार दो से गुणा करके उसमें से अंतिम गुणहानि का द्रव्य 'आदि' घटाकर, एक कम उत्तर एक का भाग देनेपर ऊपर तथा नीचे की सर्व गुणहानियों के द्रव्य का प्रमाण आता है ।

पुनश्च नीचे की गुणहानि में जो ऋण कहा, वह अपने अपने चयप्रमाण ऋण को गुणहानि आयाम से गुणा करनेपर अपनी अपनी गुणहानि में ऋण का प्रमाण आता है । सर्व ऋण जोड़ने के लिये **'अंतधणं गुणगुणियं'** सूत्र द्वारा प्रथम गुणहानि *(अंत)* के ऋण को दो से गुणा करके उसमें से अंतिम गुणहानि *(आदि)* के ऋण को घटाकर, एक कम उत्तर एक का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है, ऋण के उस प्रमाण को ऊपर की गुणहानियों के द्रव्य में से घटानेपर अथवा नीचे की गुणहानियों के द्रव्य

में मिलानेपर नीचे की और ऊपर की गुणहानियों में द्रव्य समान होता है । पुनश्च ऊपर की और नीचे की सर्व गुणहानि संबंधी सर्वद्रव्य का जोड़ देनेपर त्रस पर्याप्त जीवों का प्रमाण होता है ।

इसतरह पर्याप्त त्रस संबंधी परिणामयोगस्थानों में पर्याप्त त्रस जीवों का प्रमाण जानना ।

अंकों की सहनानी पहले कही है उसके द्वारा कथन को ठीक तरह से समझ लेना । ऊपर की गुणहानि के प्रथम निषेकरूप जो योगस्थान उसके धारक जीव बहुत हैं । उसके नीचे और ऊपर जो योगस्थान हैं उनके धारक जीव पूर्वोक्त अनुक्रम सहित अल्प हैं । इसी कारण यव आकार रचना कही है ॥२४९॥

आगे इन योगस्थानों के धारक जीव कितना-कितना प्रदेशबंध करते हैं ? ऐसा प्रश्न करनेपर समयप्रबद्ध की वृद्धि का प्रमाण कहते हैं –

इगिठाणफड्डयाओ समयपबद्धं च जोगवड्ढी य ।
समयपबद्धचयट्ठं एदे हु पमाणफलइच्छा ॥२५०॥

एकस्थानस्पर्धकानि समयप्रबद्धं च योगवृद्धिश्च ।
समयप्रबद्धचयार्थमेते हि प्रमाणफलेच्छाः ॥२५०॥

टीका – एक-एक योगस्थान में बंधनेवाले समयप्रबद्ध का प्रमाण लाने के लिये द्वीन्द्रिय पर्याप्त के जघन्य परिणामयोगस्थान संबंधी स्पर्धक, समयप्रबद्ध और योगों की वृद्धि ये तीन क्रमशः प्रमाण, फल और इच्छा राशिरूप होते हैं । वहां जघन्य योगस्थान में श्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण जघन्य स्पर्धक पाये जाते हैं वह तो प्रमाणराशि है और उस जघन्य योगस्थान से जघन्य समयप्रबद्ध प्रमाण प्रदेशों का बंध होता है, वह फलराशि है । एक-एक योगस्थान में सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण जघन्य स्पर्धक बढ़ते जाते हैं इसलिए वह इच्छाराशि है । वहां फलराशि से इच्छाराशि को गुणा करके प्रमाणराशि का भाग देनेपर जो लब्धराशि का प्रमाण आया उतने-उतने प्रदेशों की अधिकता सहित ऊपर के एक-एक योगस्थान में समयप्रबद्ध बंधता है । जघन्य योगस्थान से जघन्य समयप्रबद्ध बंधता है, उसके अनंतर योगस्थान से इतने अधिक प्रमाण सहित समयप्रबद्ध बंधता है ।

इसी क्रम से निरंतर बढ़ते हुये जहां जघन्य योगस्थान दोगुणा होता है, वहां जघन्य समयप्रबद्ध दोगुणा बंधता है, जहां चौगुणा है, वहां चौगुणा बंधता है । इसतरह संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के उत्कृष्ट योगस्थान में जघन्य योगस्थान पल्य के अर्धच्छेदों के असंख्यातवें भागगुणा है, वहां जघन्य समयप्रबद्ध को पल्य के अर्धच्छेदों के असंख्यातवें भाग से गुणा करे ऐसा समयप्रबद्ध बंधता है ॥२५०॥

आगे इस कथन का अर्थ पांच गाथाओं द्वारा कहते हैं –

बीइंदियपज्जत्तजहण्णट्ठाणादु सण्णिपुण्णस्स ।
उक्कस्सट्ठाणोत्ति य जोगट्ठाणा कमे उड्ढा ॥२५१॥

द्वींद्रियपर्याप्तजघन्यस्थानात् संज्ञिपूर्णस्य ।
उत्कृष्टस्थानामिति च योगस्थानानि क्रमेण वृद्धानि ॥२५१॥

टीका – द्वीन्द्रिय पर्याप्त के जघन्य परिणामयोगस्थान से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव के उत्कृष्ट परिणामयोगस्थान तक परिणामयोगस्थान अनुक्रम से एक एक स्थान में समान वृद्धि के प्रमाण से बढ़ते हुये जानना ॥२५१॥

सेढियसंखेज्जदिमा तस्स जहण्णस्स फड्ढया होंति ।
अंगुलअसंखभागा ठाणं पडिफड्ढया उड्ढा ॥२५२॥

श्रेण्यसंख्येयिमानि तस्य जघन्यस्य स्पर्धकानि भवंति ।
अंगुलासंख्यभागानि स्थानं प्रति स्पर्धकानि वृद्धानि ॥२५२॥

टीका – उनमें से जो द्वीन्द्रिय पर्याप्त का जघन्य परिणामयोगस्थान है वह जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भागमात्र स्पर्धकों का समूह है । इसके अनंतर स्थान से लेकर एक-एक स्थान के प्रति सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण जघन्य स्पर्धक बढ़ते जाते हैं । जघन्य स्पर्धक के जितने अविभागप्रतिच्छेद हैं उनको सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग से गुणा करनेपर जो प्रमाण हो उतने उतने अविभागप्रतिच्छेद एक-एक योगस्थान में वृद्धिरूप जानने ॥२५२॥

धुववड्ढीवड्ढंतो दुगुणं दुगुणं कमेण जायंते।
चरिमे पल्लच्छेदाऽसंखेज्जदिमो गुणो होदि ॥२५३॥

ध्रुववृद्धिवर्धमानानि द्विगुणं द्विगुणं क्रमेण जायंते ।
चरमे पल्यच्छेदासंख्येयिमो गुणो भवति ।।२५३।।

टीका – ऐसी ध्रुववृद्धि अर्थात् स्थान-स्थान प्रति एकरूप वृद्धि से बढ़ते बढ़ते जघन्य स्थान दोगुणा होता है । इसी तरह बढ़ते बढ़ते उससे भी दोगुणा होता है। इसी अनुक्रम से दोगुणा दोगुणा होते हुये अंत के संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव के उत्कृष्ट परिणामयोगस्थान में पल्य के अर्धच्छेदों के असंख्यातवें भागप्रमाण गुणकार होता है। जघन्य योगस्थान के अविभागप्रतिच्छेदों के प्रमाण को पल्य के अर्धच्छेदों के असंख्यातवें भाग से गुणा करके जो प्रमाण हो, उतने सर्वोत्कृष्ट योगस्थान के अविभागप्रतिच्छेद जानने ।

वे भेद कितने हैं ? वह कहते हैं –

आदी अंते सुद्धे वड्ढिहिदे रूवसंजुदे ठाणा ।
सेढिअसंखेज्जदिमा जोगट्ठाणा णिरंतरगा ।।२५४।।

आदौ अंते शुद्धे वृद्धिहते रूपसंयुते स्थानानि ।
श्रेण्यसंख्येयिमानि योगस्थानानि निरंतरकानि ।।२५४।।

टीका – आदि तो जघन्य स्थान और अंत उत्कृष्ट स्थान इनको शुद्धकर अर्थात् अंत के उत्कृष्ट स्थान के जितने अविभागप्रतिच्छेद हैं उनमें से जघन्य स्थान के अविभागप्रतिच्छेद घटानेपर जो प्रमाण आता है उसको वृद्धि का भाग देने के लिये यहां एक-एक स्थान में सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण जघन्य स्पर्धक के जितने अविभागप्रतिच्छेद हैं उतने बढ़ते हैं, इसलिए उनका भाग देनेपर जो प्रमाण आता है उतना वृद्धि सहित स्थान जानना । इनमें एक जघन्य योगस्थान मिलानेपर जो प्रमाण हो उतने सर्व निरंतर योगस्थान जानना । ये स्थान जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं ।।२५४।।

अंतरगा तदसंखेज्जदिमा सेढी असंखभागा हु ।
सांतरणिरंतराणिवि सव्वाणिवि जोगठाणाणि ।।२५५।।

अंतरगाणि तदसंख्येयिमानि श्रेण्यसंख्येयभागानि हि ।
सांतरनिरंतराण्यपि सर्वाण्यपि योगस्थानानि ।।२५५।।

टीका – अंतरगत योगस्थान निरंतर योगस्थानों के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं। वे भी जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भाग ही हैं । पुनश्च सांतर निरंतर मिश्ररूप योगस्थान अंतरगत योगस्थानों के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं, वे भी जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भाग हैं । इन तीनों योगस्थानों को मिलानेपर जो सर्व योगस्थान हैं, वे भी जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं, क्योंकि असंख्यात के भेद बहुत हैं । इसलिए यथायोग्य असंख्यात का भाग जानना ॥२५५॥

इन योगस्थानों में आदि अंत स्थान कहते हैं –

सुहुमणिगोदअपज्जत्तयस्स पढमे जहण्णओ जोगो ।
पज्जत्तसण्णिपंचिंदियस्स उक्कस्सओ होदि ॥२५६॥

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकस्य प्रथमे जघन्यको योगः ।
पर्याप्तसंज्ञिपंचेंद्रियस्योत्कृष्टको भवति ॥२५६॥

टीका – इन सर्व योगस्थानों में सूक्ष्म निगोद लब्धिअपर्याप्त के अंतिम क्षुद्रभव के पहले समय में जो जघन्य उपपादयोगस्थान है वह आदिस्थान जानना तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव के जो उत्कृष्ट परिणामयोगस्थान है वह अंतस्थान जानना ॥२५६॥

पूर्वोक्त चार प्रकार के बंधों के कारण कहते हैं –

जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति ।
अपरिणदुच्छिण्णेसु य बंधट्ठिदिकारणं णत्थि ॥२५७॥

योगात्प्रकृतिप्रदेशौ स्थित्यनुभागौ कषायतो भवतः ।
अपरिणतोच्छिन्नेषु च बंधः स्थितिकारणं नास्ति ॥२५७॥

टीका – प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध दोनों तो योगों के निमित्त से होते हैं । जैसा शुभ या अशुभ योग हो, वैसी प्रकृति बंधती है और जैसा योगस्थान हो वैसा समयप्रबद्ध बंधता है इसलिए इनका निमित्त योग है । स्थितिबंध और अनुभागबंध कषायों के निमित्त से होते हैं, जैसी कषाय हो वैसी ही यथायोग्य स्थिति बंधती है और जैसा कषाय हो वैसा यथायोग्य अनुभागबंध होता है, इसलिए इनका निमित्त कषाय है ।

जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त काल प्रमाण जिसके कषायस्थान उदयरूप नहीं है ऐसा उपशांतकषाय, कषायरहित क्षीणकषाय और सयोगकेवली इनके तत्काल बंध है, उनके स्थितिबंध का कारण नहीं है । चकार से अयोगकेवली में चारों बंध के कारण योग और कषाय नहीं है ॥२५७॥

आगे योगस्थान, प्रकृतिसंग्रह, स्थितिभेद, स्थितिबंधाध्यवसायस्थान, अनुभागबंधाध्यवसायस्थान और कर्मों के प्रदेश इनका अल्पबहुत्व तीन गाथाओं द्वारा कहते हैं–

सेढिअसंखेज्जदिमा जोगट्ठाणाणि होंति सव्वाणि ।
तेहिं असंखेज्जगुणो पयडीणं संगहो सव्वो ॥२५८॥

श्रेण्यसंख्येयिमानि योगस्थानानि भवंति सर्वाणि ।
तैरसंख्येयगुणः प्रकृतीनां संग्रहः सर्वः ॥२५८॥

टीका – निरंतर, सांतर और सांतर-निरंतर भेदों सहित सर्व योगस्थान जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं । उनसे असंख्यातलोकगुणा सर्वप्रकृति संग्रह है । सर्व योगस्थान के प्रमाण को लोक से असंख्यातगुणा प्रमाण से गुणा करनेपर सर्व उत्तरोत्तर कर्मप्रकृतियों का प्रमाण होता है । वही कहते हैं –

ज्ञानावरण कर्म की उत्तरप्रकृतियां पांच, वहां श्रुतज्ञानावरण में पर्यायज्ञान तो निरावरण है, उससे असंख्यातलोक बार षट्स्थान वृद्धि से बढ़ते हुये ऐसे जो पर्यायसमास ज्ञान के भेद हैं, उनके आवरण की अपेक्षा असंख्यातलोक को असंख्यातलोक से गुणा करे इतने श्रुतज्ञानावरण के भेद हैं । तथा श्रुतज्ञान है वह मतिज्ञानपूर्वक है इसलिए उतने ही मतिज्ञानावरण के भेद हैं ।

अवधिज्ञानावरण में, जिसमें से घनांगुल का असंख्यातवां भाग घटाया है ऐसे लोक को सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग से गुणा करके जो प्रमाण हो उसमें एक और मिलाना, इतने देशावधि के भेद हैं । इसलिए देशावधिज्ञानावरण के भी इतने ही भेद हैं ।

अग्निकायिक जीवों के प्रमाण को, अग्निकायिक जीवों के शरीर की अवगाहना के भेदों का जो प्रमाण उससे गुणा करनेपर जो प्रमाण हो, उतने परमावधि के भेद हैं, इसलिए परमावधिज्ञानावरण के भी इतने ही भेद हैं । सर्वावधि एक ही प्रकार

का है इसलिए सर्वावधिज्ञानावरण का भी एक ही भेद है ।

बीस कोडाकोडी सागरों के समयप्रमाण कल्पकाल को असंख्यातगुणा करने पर इतने मनःपर्ययज्ञान के भेद हैं । इसलिए मनःपर्ययज्ञानावरण के भी इतने ही भेद हैं।

केवलज्ञान अभेद है इसलिए केवलज्ञानावरण का एक भेद है ।

इसतरह सर्व मिलाकर अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञानावरण से अधिक श्रुतज्ञानावरण युक्त मतिज्ञानावरणप्रमाण ज्ञानावरण की उत्तरोत्तर प्रकृतियों के भेद होते हैं ।

पुनश्च सर्व प्रकृतियां नामकर्म के निमित्त से हैं । इसलिए नामकर्म की प्रकृतियों में आनुपूर्वी प्रकृति के उत्तरोत्तर भेद कहते हैं । आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकी है इसलिए क्षेत्र की अपेक्षा इसके भेद जानना । नारकानुपूर्वी नरकक्षेत्रविपाकी है, वहां नरकक्षेत्र एक राजू प्रतर प्रमाण है । वहां उष्ट्रादि मुख के आकारवाले योनिस्थानों के अलावा अन्यत्र नहीं उपजते। इसलिए अंगुल के तीन भेदों में से *(उत्सेधांगुल, आत्मांगुल, प्रमाणांगुल)* प्रमाणरूप सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण आयाम द्वारा उस क्षेत्र को गुणा करते हैं । *(एक राजू प्रतर×प्रमाणांगुल का असंख्यातवां भाग)*

पर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य जब नरक को गमन करते हैं तब नारकानुपूर्वी का उदय होता है, उसके द्वारा*(निमित्त से)* पहले तिर्यंच और मनुष्य पर्याय में जो आकार था उसका नाश नहीं होता, इसलिए वहां पर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य की जघन्य अवगाहना तो घनांगुल के संख्यातवें भागप्रमाण है, उससे पूर्वोक्त क्षेत्र को गुणा करनेपर जो क्षेत्र का प्रमाण होता है, वह तो नारकानुपूर्वी का पहला भेद है। उन्ही की उत्कृष्ट अवगाहना संख्यात घनांगुल प्रमाण है, उससे पूर्वोक्त क्षेत्र को गुणा करनेपर जो प्रमाण आता है वह नारकानुपूर्वी का अंतिम भेद है । **'आदी अंते सुद्धे वड्ढिहिदे रूवसंजुदे ठाणा'** इस सूत्र के अनुसार अंतिम भेद में जितना क्षेत्र के प्रदेशों का प्रमाण हो उसमें से प्रथम भेद के क्षेत्र के प्रदेशों का प्रमाण घटानेपर जो अवशेष रहे उसको, यहां एक-एक भेद में एक-एक प्रदेश की वृद्धि है इसलिए एक का भाग देनेपर जितने के उतने रहे, उसमें एक मिलानेपर जो प्रमाण हो, उतने नारकानुपूर्वी के उत्तरोत्तर भेद जानना ।

इसी तरह तिर्यंचानुपूर्वी तिर्यंचक्षेत्रविपाकी है । तिर्यंच का क्षेत्र सर्वलोक है। नारकी जीव मरकर भोगभूमि के तिर्यंच छोड़कर कर्मभूमि के तिर्यंचों में उत्पन्न होते

हैं, त्रस-स्थावर तिर्यंच, कर्मभूमि के मनुष्य और सहस्रार तक के देव तिर्यंचगति में उत्पन्न हो सकते हैं । आनुपूर्वी के उदय से पूर्व शरीर के आकार को नहीं छोड़ते, इसलिए जघन्य अवगाहना सूक्ष्म निगोद लब्धिअपर्याप्त की घनांगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण, उससे पूर्वोक्त क्षेत्र को गुणा करनेपर तिर्यंचानुपूर्वी का प्रथम भेद होता है । उत्कृष्ट अवगाहना संख्यात घनांगुल प्रमाण है, उससे पूर्वोक्त क्षेत्र को गुणा करनेपर अंतिम भेद होता है । **'आदी अंते सुद्धे'** सूत्र के अनुसार अंत में से आदि घटाकर एक का भाग देकर, एक मिलानेपर जो प्रमाण हो उतने भेद तिर्यंचानुपूर्वी के जानना ।

पुनश्च मनुष्यानुपूर्वी मनुष्यक्षेत्रविपाकी है । मनुष्यक्षेत्र मनुष्यों के पंचेन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्तपना है, उनका उत्पत्तियोग पैंतालीस लाख योजनप्रमाण गोल विष्कंभ(व्यास) से गुणित त्रसनाली एक राजू के प्रतरप्रमाण है । यहां मानुषोत्तर के बाहर चार कोणों में भी मनुष्य उत्पन्न नहीं होते इसलिए चौकोर क्षेत्र नहीं कहा । आदि के छह नरक के नारकी तथा त्रस-स्थावर कर्मभूमि के तिर्यंच और मनुष्य मनुष्यगति में उत्पन्न होते हैं । मनुष्यानुपूर्वी के उदय से पूर्व आकार को नहीं छोड़ते । इसलिए जघन्य अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण है, उससे पूर्वोक्त क्षेत्र को गुणा करनेपर पहला भेद और उत्कृष्ट अवगाहना संख्यात घनांगुलप्रमाण उससे गुणा करनेपर अंतिम भेद होता है । इसलिए **'आदी अंते सुद्धे'** सूत्र के अनुसार अंत में से आदि को घटाकर एक का भाग देकर, एक मिलानेपर जो प्रमाण हो उतने भेद मनुष्यानुपूर्वी के जानने ।

पुनश्च देवानुपूर्वी देवक्षेत्रविपाकी है । उन देवों का क्षेत्र उनके त्रसपने से विवक्षारूप ज्योतिषी लोक के अंत तक नौ सौ योजन से त्रसनाली के प्रतरक्षेत्र को गुणा करके जो प्रमाण हो उतना जानना । शेष अन्य देवों का उत्पत्तिक्षेत्र थोड़ा है इसलिए उनकी विवक्षा नहीं ली, ज्योतिषियों की ही मुख्यता से कथन किया है । वहां पर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्यों से ही देवों में उत्पन्न होते हैं । देवगति के गमनकाल में *(विग्रहगति में)* देवगति, देवायु के उदय के साथ देवानुपूर्वी के उदय से पूर्व आकार का नाश नहीं होता, इसलिए उनकी जघन्य अवगाहना घनांगुल के संख्यातवें भागप्रमाण है, उससे उस क्षेत्र को गुणा करके प्रथम भेद होता है । उत्कृष्ट अवगाहना संख्यात घनांगुल प्रमाण है, उससे गुणा करनेपर अंतिम भेद होता है । **'आदी अंते सुद्धे'** सूत्र के अनुसार अंत में से आदि को घटाकर एक का भाग देकर, एक मिलानेपर जो प्रमाण आता है, उतने भेद देवानुपूर्वी के जानना ।

ये सर्व आनुपूर्वी के उत्तरोत्तर भेद पूर्वोक्त ज्ञानावरण के उत्तरोत्तर भेदों में मिलाने पर सर्वप्रकृतिसंग्रह होता है । ज्ञानावरण और आनुपूर्वी इनकी तो उत्तरोत्तर प्रकृति कही, शेष प्रकृतियों के उत्तरोत्तर भेदों का उपदेश यहां नहीं है ऐसा कथन टीकाकार रचना के अनुसार किया है । बहुश्रुत शुद्ध कर ग्रहण करें ।

इसतरह कर्मों की उत्तरोत्तर प्रकृतियों का प्रमाण कहा ॥२५८॥

तेहिं असंखेज्जगुणा ठिदिअवसेसा हवंति पयडीणं ।
ठिदिबंधज्झवसाणट्ठाणा तत्तो असंखगुणा ॥२५९॥

तैरसंख्येयगुणाः स्थित्यवशेषा भवंति प्रकृतीनां ।
स्थितिबंधाध्यवसायस्थानानि ततोऽसंख्यगुणानि ॥२५९॥

टीका – उन प्रकृतिसंग्रह के भेदों से प्रकृतियों के स्थिति के भेद असंख्यातगुणा हैं । किस कारण ? जघन्य स्थिति को उत्कृष्ट स्थिति में से घटाकर एक समय का भाग देकर उसमें एक मिलाने से जघन्य स्थिति से लेकर एक-एक समय से बढ़ते हुये उत्कृष्ट स्थिति तक एक-एक प्रकृति के स्थितिभेद संख्यात पल्यप्रमाण पाये जाते हैं । *(कोडाकोडी सागर भी संख्यात पल्य ही है । कोडाकोडी × १० कोडाकोडी पल्य = १ कोडाकोडी सागर)* यदि एक प्रकृति के स्थितिभेद संख्यात पल्य प्रमाण होते हैं, तो पूर्वोक्त सर्व उत्तरोत्तर प्रकृतियों के जो भेद हैं उनके स्थितिभेद कितने होंगे ? ऐसा त्रैराशिक करके प्रकृतिसंग्रह के प्रमाण से संख्यात पल्य को गुणा करने पर स्थिति के भेद होते हैं । इन स्थिति के भेदों से स्थितिबंधाध्यवसायस्थान असंख्यातगुणा हैं । जिन परिणामों से स्थितिबंध होता है, उनके स्थानों को स्थितिबंधाध्यवसायस्थान कहते हैं । इनका कथन अंकसंदृष्टि द्वारा दिखाते हैं –

एक प्रकृति के स्थितिबंध के कारणभूत कषाय परिणाम इकतीस सौ(३१००), वह तो द्रव्य जानना । उस एक प्रकृति के स्थितिभेद चालीस(४०) वह तो स्थितिस्थान जानना। नानागुणहानि पांच(५), नानागुणहानिप्रमाण दो अंक लिखकर परस्पर गुणा करनेपर अन्योन्याभ्यस्तराशि बत्तीस(३२), एक गुणहानि में स्थिति का प्रमाण, वही गुणहानि आयाम। नानागुणहानिशलाका का भाग सर्व स्थिति को देनेपर जो प्रमाण हो, वह गुणहानि आयाम का प्रमाण जानना । नानागुणहानि पांच(५) का भाग स्थिति चालीस(४०) को देनेपर

आठ आये इसलिए एक गुणहानि का आयाम आठ जानना । इसको दोगुणा करनेपर दोगुणहानि का प्रमाण आता है ।

उन स्थिति के भेदों में से सबसे जघन्य स्थितिबंध के कारणभूत ऐसे कषायाध्यवसाय सबसे थोडे हैं, उनका प्रमाण नौ(९) । **'पदहतमुखमादिधनं'** इस सूत्र के अनुसार एक गुणहानि का आयाम वही हुआ पद अर्थात् गच्छ आठ(८) उससे **हतं** अर्थात् गुणित **मुखं** अर्थात् आदि स्थान नौ(९) वह **आदिधन** अर्थात् आदिधन होता है । यहां आदिधन बहत्तर(७२) हुआ ।

पुनश्च एक अधिक गुणहानि का भाग आदिस्थान को देनेपर चय का प्रमाण आता है । यहां गुणहानि का प्रमाण आठ, एक अधिक करनेपर नौ हुये, उसका भाग आदिस्थान को देनेपर एक आया वही चय जानना । एक एक स्थान में एक एक बढ़ता हुआ कषायाध्यवसायस्थान प्रथम गुणहानि तक जानना । **'व्येकपदार्धघ्नचयगुणो गच्छ उत्तरधनं'** एक कम गच्छ के आधे को चय से गुणा करके पश्चात् गच्छ से गुणा करनेपर जो प्रमाण होता है, वह सर्व चयधन जानना ।

यहां गच्छ आठ, एक घटानेपर हुये सात, उसका आधा साढे तीन, चय का प्रमाण एक, उससे गुणा करनेपर साढे तीन ही रहे । पुनश्च गच्छ का प्रमाण आठ से गुणा करनेपर अट्ठाइस हुये, वह चयधन जानना । आदिधन और उत्तरधन *(चयधन)* दोनों को मिलानेपर प्रथम गुणहानि का सर्वद्रव्य होता है । आदिधन बहत्तर(७२), उत्तरधन अट्ठाइस(२८) दोनों मिलकर सौ(१००) हुये, वह प्रथम गुणहानि का सर्वद्रव्य *(सर्व कषायों की संख्या)* हुआ । पुनश्च गुणहानि-गुणहानि प्रति दोगुणा दोगुणा द्रव्य जानना १००, २००, ४००, ८००, १६०० । एक कम नानागुणहानिप्रमाण बार दोगुणा दोगुणा होता है इसलिए अंतस्थान में अन्योन्याभ्यस्तराशि का जो आधा प्रमाण है उससे प्रथम गुणहानि के द्रव्य को गुणा करनेपर जो प्रमाण हो वह अंत का प्रमाण जानना ।

यहां नानागुणहानि पांच में से एक घटानेपर चार हुये, इतनी बार दो लिखकर परस्पर गुणा करनेपर सोलह हुये, वही अन्योन्याभ्यस्तराशि बत्तीस का आधा प्रमाण है । सोलह से प्रथम स्थान *(प्रथम गुणहानि)* सौ को गुणा करनेपर सोलह सौ हुये, वही अंतिम गुणहानि का द्रव्य जानना । इन सब का जोड़ देते हैं – **'अंतधणं गुणगुणियं आदिविहीणं रूऊणुत्तरभजिय'** जहां स्थान-स्थान प्रति समान गुणकार होता है उनका

जोड़ देने का यह करणसूत्र है । गुणकार करते-करते अंत में जो प्रमाण आता है उसको गुणकार के प्रमाण से गुणा करके उसमें से आदि का प्रमाण घटा देना, जो प्रमाण आये उसको एक कम उत्तर का भाग देनेपर सर्वधन होता है ।

यहां अंतस्थान का प्रमाण सोलह सौ(१६००), दोगुणा-दोगुणा किया था इसलिए गुणकार का प्रमाण दो से उसको गुणा करनेपर बत्तीस सौ(३२००) हुये, उसमें आदि का प्रमाण सौ घटानेपर इकतीस सौ(३१००) रहे । यहां दोगुणा दोगुणा किया है इसलिए उत्तर का प्रमाण दो, उसमें से एक घटानेपर एक रहा, उसका भाग देनेपर इकतीस सौ रहे । इसतरह पांचों गुणहानियों का जोड़ देनेपर एक प्रकृति के स्थितिबंध के कारण इकतीस सौ जानना ।

अब यथार्थ से कथन करते हैं –

एक प्रकृति के स्थितिबंध के कारण असंख्यातलोकप्रमाण कषायाध्यवसाय हैं वह द्रव्य जानना । एक प्रकृति के जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थिति तक संख्यात पल्य प्रमाण स्थिति के भेद, उसको स्थितिस्थान जानना । नानागुणहानि पल्य के अर्धच्छेदों के असंख्यातवें भागमात्र जानना । अन्योन्याभ्यस्तराशि पल्य के असंख्यातवें भागमात्र जानना । नानागुणहानिशलाका का स्थिति को भाग देनेपर जो प्रमाण होता है, वह गुणहानि आयाम जानना । इसको दोगुणा करनेपर दोगुणहानि होती है । वहां स्थिति के सर्व भेदों में से जघन्य स्थितिबंध के कारणभूत कषायाध्यवसायस्थान सबसे थोड़े हैं, फिर भी असंख्यातलोकमात्र हैं।

'पदहतमुखमादिधनं' गच्छ से गुणित आदि स्थान वह आदिधन जानना । एक अधिक गुणहानि आयाम का भाग आदि को देनेपर चय का प्रमाण आता है और **'व्येकपदार्धघ्नचयगुणो गच्छ उत्तरधनं'** अर्थात् एक कम गच्छ के आधे को चय से गुणा करके जो प्रमाण हो, उसको गच्छ से गुणा करनेपर चयधन होता है । पुनश्च आदिधन और चयधन दोनों मिलानेपर प्रथम गुणहानि का सर्वद्रव्य होता है, वह गुणहानि-गुणहानि प्रति दोगुणा-दोगुणा होते होते अंत में एक कम नानागुणहानिप्रमाण दोगुणा होनेपर अन्योन्याभ्यस्तराशि के आधे प्रमाण से आदि को गुणा करके जो प्रमाण हो वही अंत की गुणहानि का द्रव्य जानना ।

'अंतधणं गुणगुणियं आदिविहीणं रूऊणुत्तरभजियं' सूत्र के अनुसार अंत में

जो प्रमाण आया उसको गुणकार दो से गुणा करके उसमें से आदि का प्रमाण घटाकर उसको, उत्तर का प्रमाण दो में से एक घटानेपर एक रहा उसका भाग देने से उतने ही रहे । ऐसा करनेपर जो प्रमाण हुआ वह सर्व गुणहानि का धन जानना । यदि एक प्रकृति के संख्यात पल्यप्रमाण स्थितिभेदों के इतने असंख्यातलोकप्रमाण स्थितिबंधाध्यवसाय-स्थान हुये, तो सर्व उत्तरोत्तर प्रकृतिसंग्रह के भेदों के कितने स्थितिबंधाध्यवसायस्थान होते हैं ? इसप्रकार त्रैराशिक करके स्थिति के भेदों से असंख्यातलोकगुणा प्रकट देखते हैं । इन स्थितिबंधाध्यवसायस्थानों में अधःप्रवृत्तकरणवत् अनुकृष्टि विधान है, वह कथन आगे करेंगे, यहां मुख्य कथन नहीं है, इसलिए नहीं कहा ॥२५९॥

अणुभागाणं बंधज्झवसाणमसंखलोगगुणिदमदो ।
एत्तो अणंतगुणिदा कम्मपदेसा मुणेयव्वा ॥२६०॥

अनुभागानां बंधाध्यवसायमसंख्यलोकगुणितमतः ।
एतस्मादनंतगुणिताः कर्मप्रदेशाः मंतव्याः ॥२६०॥

टीका – इन सर्व स्थितिबंधाध्यवसायस्थानों से अनुभागबंधाध्यवसायस्थान असंख्यातलोकगुणा जानना । वह कहते हैं - जघन्य स्थितिबंध के कारणभूत जो कषायाध्यवसाय-स्थान, उन संबंधी अनुभागाध्यवसायस्थान असंख्यातलोक से गुणित असंख्यातलोक प्रमाण हैं, उसे यहां द्रव्य जानना । पुनश्च जघन्य स्थितिबंध के कारण जो स्थितिबंधाध्यवसाय-स्थान असंख्यातलोक बार षट्स्थान वृद्धियुक्त हैं तथापि असंख्यातलोकमात्र ही हैं, वे यहां स्थितिस्थान जानना । नानागुणहानिशलाका आवली को दो बार असंख्यात का भाग दीजिये उसप्रमाण है ।

उस नानागुणहानि का भाग स्थितिस्थानों को देनेपर जो प्रमाण हो, उतना एक गुणहानि का आयाम जानना । इसको दोगुणा करनेपर दोगुणहानि होती है । आवली के असंख्यातवें भागप्रमाण अन्योन्याभ्यस्तराशि है । यहां जघन्य स्थितिबंध के कारण जो जघन्य अध्यवसायस्थान, उसमें अनुभागाध्यवसायस्थान असंख्यातलोक प्रमाण हैं, वे सबसे थोड़े हैं, इसको मुख कहते हैं । **'पदहतमुखमादिधनं'** पद अर्थात् गुणहानि का आयाम, इससे मुख को गुणा करनेपर जो प्रमाण होता है वह आदि धन जानना। **'व्येकपदार्धघ्नचयगुणो गच्छ उत्तरधनं'** एक कम पद जो गुणहानि आयाम उसको आधा करना । उसको, एक कम पद का भाग आदि को देनेपर चय का प्रमाण आता

है, उससे गुणा करके जो प्रमाण हो, उसको पद से भी गुणा करना । ऐसा करनेपर जो प्रमाण होता है, वह चयधन जानना ।

आदिधन और चयधन को मिलानेपर प्रथम गुणहानि का सर्वद्रव्य होता है। गुणहानि-गुणहानि प्रति दोगुणा-दोगुणा अनुक्रम से अंतिम गुणहानि में एक कम नानागुणहानि-प्रमाण दोगुणा करनेपर अन्योन्याभ्यस्तराशि का आधा प्रमाण गुणकार होता है । इससे आदि को गुणा करनेपर अंतिम गुणहानि का सर्वद्रव्य होता है । **'अंतधणं गुणगुणियं आदिविहीणं रूऊणुत्तरभजियं'** इस सूत्र के अनुसार अंत गुणहानि के द्रव्य को गुणकार दो से गुणा करके उसमें से आदि गुणहानि का द्रव्य घटाकर, उत्तर जो दो उसमें से एक घटानेपर एक रहा, उसका भाग देनेपर उतने ही रहे, ऐसा करनेपर जो प्रमाण हुआ उतना सर्व गुणहानि का द्रव्य हुआ । जघन्य स्थितिबंधाध्यवसायस्थान संबंधी अनुभागा-ध्यवसायस्थानों का इतना प्रमाण हुआ ।

यदि एक स्थितिभेद के अनुभागाध्यवसायस्थानभेद इतने हुये तो पूर्वोक्त सर्वस्थिति के भेदों के अनुभागाध्यवसायस्थान कितने होंगे ? ऐसा त्रैराशिक करनेपर लब्धराशि का जो प्रमाण होता है, वह स्थितिबंधाध्यवसायस्थानों से असंख्यातगुणा जानना ।

इन अनुभागाध्यवसायस्थानों से कर्म के प्रदेश अर्थात् परमाणु अनंतगुणे हैं, वही कहते हैं – अंकसंदृष्टि द्वारा कथन दिखाते हैं –

एक समय में जितने परमाणु बंधते हैं उन्हें समयप्रबद्ध कहते हैं, उनका प्रमाण तिरसठ सौ(६३००), कर्म की स्थिति का प्रमाण अड़तालीस समय वह स्थिति(४८), नानागुणहानि छह(६), एक एक गुणहानि में जितनी स्थिति होती है वह गुणहानि का आयाम आठ(८), नानागुणहानिप्रमाण दो अंक लिखकर परस्पर गुणा करनेपर अन्योन्याभ्यस्तराशि चौंसठ(६४), गुणहानि के आयाम को दोगुणा करनेपर दोगुणहानि का प्रमाण सोलह(१६)।

एक कम अन्योन्याभ्यस्तराशि तिरसठ का भाग सर्वद्रव्य तिरसठ सौ को देने पर सौ आये, वह अंतिम गुणहानि का प्रमाण जानना । इससे दोगुणा दोगुणा द्रव्य आदि की गुणहानि तक जानना । आधे अन्योन्याभ्यस्तराशि से अंतिम गुणहानि के द्रव्य को गुणा करनेपर आदि गुणहानि का द्रव्य होता है, इसलिए बत्तीस से सौ को गुणा करनेपर बत्तीस सौ होते हैं । वही आदि गुणहानि का द्रव्य जानना । इससे द्वितीयादि गुणहानि का द्रव्य आधा आधा जानना । (३२००, १६००, ८००, ४००,

२००, १००) ।

पुनश्च उस प्रथम गुणहानि संबंधी द्रव्य को गुणहानि आयाम का भाग देनेपर मध्यधन होता है, बत्तीस सौ को आठ का भाग देनेपर चार सौ आये, वह मध्यधन है । इसको एक कम गुणहानि आयाम के आधे प्रमाण को निषेकभागहार अर्थात् दोगुणहानि में से घटाकर जो प्रमाण रहे उसका भाग देनेपर जो प्रमाण आता है, वह चय का प्रमाण जानना । यहां एक कम गुणहानि आयाम सात, उसका आधा साढे तीन, उसको दोगुणहानि सोलह में से घटानेपर साढ़े बारह रहे उसका भाग मध्यधन को देनेपर बत्तीस आये, वही प्रथम गुणहानि में चय जानना । इस चय को दोगुणहानि से गुणा करनेपर जो प्रमाण हो वह आदिनिषेक जानना, इसलिए बत्तीस को सोलह से गुणा करनेपर पांच सौ बारह आदिनिषेक हुआ । इसमें से एक चय बत्तीस को घटानेपर चार सौ अस्सी दूसरा निषेक हुआ ।

इसी अनुक्रम से प्रथम गुणहानि के अंतिम निषेक तक घटाना ।

पुनश्च प्रथम गुणहानि के अंतिम निषेक में से प्रधम गुणहानि संबंधी एक चय घटानेपर प्रथम गुणहानि के प्रथम निषेक से आधा प्रमाण होता है, वही द्वितीय गुणहानि का प्रथम निषेक जानना । इसमें से द्वितीय गुणहानि संबंधी एक-एक चय घटानेपर द्वितीयादि निषेक होते हैं । यहां पूर्वोक्त प्रकार से विधान करनेपर प्रथम गुणहानि से द्वितीय गुणहानि में चय और निषेकों का प्रमाण सर्व आधा आधा होता है । इसके अंतिम निषेक में से द्वितीय गुणहानि संबंधी एक चय घटानेपर तृतीय गुणहानि का प्रथम निषेक होता है । इसमें से एक-एक चय घटानेपर द्वितीयादि निषेक होते हैं। यहां चय और निषेकों का प्रमाण द्वितीय गुणहानि से आधा-आधा जानना ।

इसी तरह गुणहानि-गुणहानि प्रति आधा-आधा प्रमाण है, यहां सर्व गुणहानि का यंत्र लिखते हैं ।

यहां निम्न प्रकार अर्थ जानना –

समयप्रबद्ध तिरसठ सौ वर्गणा कर्म के बंधरूप हुयी उसकी आबाधाकाल अधिक अड़तालीस समय की स्थिति बंधी । आबाधाकाल में तो कोई परमाणु खिरते नहीं। आबाधाकाल के पश्चात् पहले समय में पांच सौ बारह परमाणु खिरते हैं, पश्चात् बत्तीस-बत्तीस कम खिरते हैं । एक गुणहानि के काल में *(प्रथम गुणहानि में)* सर्व परमाणु

नाम	चय का प्रमाण	निषेकों का प्रमाण	सर्वद्रव्य का प्रमाण
प्रथम गुणहानि	३२	५१२ ४८० ४४८ ४१६ ३८४ ३५२ ३२० २८८	३२००
द्वितीय गुणहानि	१६	२५६ २४० २२४ २०८ १९२ १७६ १६० १४४	१६००
तृतीय गुणहानि	८	१२८ १२० ११२ १०४ ९६ ८८ ८० ७२	८००
चतुर्थ गुणहानि	४	६४ ६० ५६ ५२ ४८ ४४ ४० ३६	४००
पंचम गुणहानि	२	३२ ३० २८ २६ २४ २२ २० १८	२००
षष्टम गुणहानि	१	१६ १५ १४ १३ १२ ११ १० ९	१००
सर्वद्रव्य			६३००

बत्तीस सौ खिरते हैं अर्थात् कर्मवर्गणा *(कर्मस्कंध)* को छोड़कर गल जाते हैं। द्वितीय गुणहानि के प्रथम समय में दो सौ छप्पन खिरते हैं, पश्चात् सोलह-सोलह कम खिरते हैं । द्वितीय गुणहानि में सर्व परमाणु सोलह सौ खिरते हैं । इसतरह गुणहानि-गुणहानि प्रति आधा-आधा खिरता है । सर्व गुणहानियों में तिरसठ सौ परमाणु इसप्रकार खिरते हैं ।

जैसा अंकसंदृष्टि द्वारा कथन दिखाया वैसा अर्थ द्वारा (यथार्थ में) कथन जानना। विशेष इतना है कि द्रव्यादि का प्रमाण जैसा हो वैसा जानना ।

वही कहते हैं । मोहनीयकर्म की अपेक्षा कथन दिखाते हैं –

मोहनीयकर्म के परमाणु समयप्रबद्ध में जितने बंधते हैं, वह द्रव्य का प्रमाण जानना। मोहनीयकर्म की स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागर प्रमाण उसमें से आबाधाकाल घटानेपर जो प्रमाण रहे उसके जितने समय हो वह स्थिति का प्रमाण जानना । पल्य की वर्गशलाका के जितने अर्धच्छेद हैं उनको पल्य के अर्धच्छेदों में से घटानेपर जो प्रमाण रहे वह नानागुणहानिशलाका का प्रमाण जानना । उसका भाग स्थिति को देनेपर जो प्रमाण आता है, उतना एक गुणहानि आयाम का प्रमाण जानना।

इसको दोगुणा करनेपर दोगुणहानि का प्रमाण होता है ।

नानागुणहानि प्रमाण दो अंक लिखकर परस्पर गुणा करनेपर जो प्रमाण होता है, वह अन्योन्याभ्यस्तराशि का प्रमाण जानना । अंकसंदृष्टि में जैसा विधान कहा, वैसा विधान करनेपर गुणहानि और निषेकों में जितना-जितना द्रव्य का प्रमाण आता है वह जानना । आबाधाकाल के पश्चात् प्रथम समय में तो प्रथम गुणहानि के प्रथम निषेक में जितना द्रव्य का प्रमाण हो, उतने परमाणु खिरते हैं । दूसरे समय में दूसरे निषेक में जितना द्रव्य का प्रमाण हो, उतने परमाणु खिरते हैं ।

इसतरह एक गुणहानि के काल का जितने समय आयाम हो, उतने समयों में प्रथम गुणहानि का जितना द्रव्य हो, उतने परमाणु खिरते हैं । पश्चात् इसी अनुक्रम से गुणहानि-गुणहानि में आधे आधे खिरते हैं और सर्व गुणहानि में संपूर्ण समयप्रबद्ध इस अनुक्रम से कर्मपना को छोड़कर खिर जाते हैं ।

इसतरह तो जो समयप्रबद्ध बंधता है उसकी निर्जरा होने का विधान है । एक-एक समयप्रबद्ध समय-समय प्रति नवीन बंधता है तथा द्रव्यकर्म से अनादिसंबंध है इसलिए पूर्वोक्त प्रकार से बंध और निर्जरा होनेपर जीव के किंचित् कम डेढ़ गुणहानि से गुणित समयप्रबद्ध प्रमाण सदाकाल सत्ता में रहते हैं । गुणहानि के आयाम का जो प्रमाण, उसे डेढ़ गुणा करनेपर जो प्रमाण हो, उसमें से कुछ प्रमाण घटानेपर जो प्रमाण रहे, उससे समयप्रबद्ध के प्रमाण को गुणा करके जो प्रमाण आता है, उतने कर्मपरमाणुओं की सत्ता जीव के सदाकाल पायी जाती है ।

वर्तमान काल में एक-एक समयप्रबद्ध के एक-एक निषेक का उदय होने से प्रतिसमय एक-एक समयप्रबद्ध का उदय होता है । कैसे डेढ़ गुणहानि गुणित समयप्रबद्ध मात्र सत्ता होती है ? कैसे एक-एक समयप्रबद्धप्रमाण उदय होता है ? इस कथन को अर्थसंदृष्टि से त्रिकोणरचना करके दिखाते हैं –

त्रिकोणयंत्र का अर्थ लिखते हैं – यदि समयप्रबद्ध तिरसठ सौ परमाणु प्रमाण बंधरूप होते हैं तो आबाधाकाल को छोड़कर अड़तालीस समयरूप स्थिति में अनुक्रम से अड़तालीस समयों में इस प्रकार खिरते हैं – ५१२, ४८०, ४४८, ४१६, ३८४, ३५२, ३२०, २८८ यह प्रथम गुणहानि । २५६, २४०, २२४, २०८, १९२, १७६, १६०, १४४ यह द्वितीय गुणहानि । १२८, १२०, ११२, १०४, ९६, ८८, ८०,

७२ यह तृतीय गुणहानि । ६४, ६०, ५६, ५२, ४८, ४४, ४०, ३६ यह चतुर्थ गुणहानि । ३२, ३०, २८, २६, २४, २२, २०, १८ यह पंचम गुणहानि । १६, १५, १४, १३, १२, ११, १०, ९ यह षष्टम गुणहानि ।

इन छहों गुणहानियों में तिरसठ सौ परमाणु इसतरह खिरते हैं । वहां जिस समयप्रबद्ध के बंध हुये आबाधा अधिक अड़तालीस समय हो चुके, उससे लेकर जो इसके पहले समयप्रबद्ध बंधे थे उनका तो कोई भी निषेक सत्ता में रहा नहीं, इसलिए उनका तो कोई प्रयोजन रहा ही नहीं । परंतु जिस समयप्रबद्ध के बंध हुये आबाधा अधिक सैंतालीस समय हुये हैं, उसके सैंतालीस निषेक तो गल गये, अंतिम एक निषेक अवशेष रहा । उसे त्रिकोणयंत्र में नौ परमाणुरूप अंतिम निषेक ऊपर लिखा।

इसके नीचे जिस समयप्रबद्ध का बंध हुये आबाधा अधिक छियालीस समय हुये उसके छियालीस निषेक तो गल गये, अवशेष दो निषेक सत्ता में रहे, इसलिए त्रिकोणयंत्र में नौ परमाणु और दस परमाणुओं के दो निषेक लिखे । उसके नीचे जिस समयप्रबद्ध का बंध हुये आबाधा अधिक पैंतालीस समय हुये उसके पैंतालीस निषेक तो खिर गये, अवशेष तीन निषेक सत्ता में रहे । वहां त्रिकोणयंत्र में नौ परमाणु, दस परमाणु और ग्यारह परमाणु के तीन निषेक लिखे ।

इसी तरह जिस-जिस समयप्रबद्ध के बंध हुये एक-एक कम समय हुये, उस-उस के एक-एक कम निषेक तो गल गये, अवशेष एक-एक अधिक निषेक सत्ता में रहे, उनको नीचे-नीचे लिखनेपर जिस समयप्रबद्ध का बंध हुये आबाधा अधिक एक समय हुआ हो, उसका एक निषेक तो गल गया, अवशेष सैंतालीस निषेक रहे वे नौ से लेकर चार सौ अस्सी परमाणुओं के निषेक लिखे ।

उसके नीचे अंत में जिस समयप्रबद्ध के बंध हुये आबाधाकाल ही हुआ हो और जिसका एक भी निषेक खिरा नहीं हो उसके नौ से लेकर पांच सौ बारह तक परमाणुओं के सर्व ही अड़तालीस निषेक सत्ता में पाये जाते हैं, वे लिखे ।

इस प्रकार त्रिकोणयंत्र में खिरने के पश्चात् अवशेष जो निषेक रहे, वे अनुक्रम से लिखे । अब इस सर्व त्रिकोणयंत्र का जोड़ देनेपर जो प्रमाण हो उतनी सत्ता जीव के सदाकाल जानना ।

जोड़ देने का विधान कहते हैं –

अंतिम गुणहानि में अंतिम निषेक नौ लिखकर उसको एक-एक अधिक गुणकार कर नौ, ऐसी एक पंक्ति करनी । इसकी दूसरी पंक्ति के अंत में तो शून्य लिखना बाद में संकलनरूप प्रमाण लिखना । द्वितीयादि गुणहानि में प्रथमादि गुणहानि का सर्वद्रव्य तो आदि जानना, उत्तर दोनों पंक्तियों में पूर्वोक्त से दोगुणा-दोगुणा प्रमाण जानना । वहां प्रथम गुणहानि की दो पंक्तियां ऐसी जाननी –

९ १	०
९ २	१ १
९ ३	१ ३
९ ४	१ ६
९ ५	१ १०
९ ६	१ १५
९ ७	१ २१
९ ८	१ २८

वहां नौ एकं नौ वह तो पहला जोड, नौ दूनी अठारह और एक एकं एक दोनों मिलकर उन्नीस हुये, नौ और दस दोनों मिलकर उन्नीस हुये । नौ तिया सत्ताइस और तीन एकं तीन दोनों मिलकर तीस हुये, नौ, दस, ग्यारह इनका जोड़ तीस हुआ - इसतरह जोड़ देते हुये अंत में नौ अट्ठे बहत्तर और अट्ठाइस एकं अट्ठाइस दोनों मिलकर सौ हुये, इसतरह गुणहानि के सर्व निषेकों का जोड़ सौ हुआ । पुनश्च द्वितीय गुणहानि की दो पंक्तियां निम्नप्रकार जानना –

९ २ १	०
९ २ २	२ १
९ २ ३	२ ३
९ २ ४	२ ६
९ २ ५	२ १०
९ २ ६	२ १५
९ २ ७	२ २१
९ २ ८	२ २८

नौ दूनी अठारह, अठारह एकं अठारह, वह तो पहला निषेक; नौ दूनी अठारह, अठारह दूनी छत्तीस उसमें दो एकं दो मिलानेपर अड़तीस हुये । अठारह और बीस (दो निषेक) मिलाकर भी अड़तीस होते हैं । इसीतरह अंत में नौ दूनी अठारह, अठारह अट्ठे एक सौ चौवालीस और अट्ठाइस दूनी छप्पन, दोनों मिलाकर दो सौ हुये वह द्वितीय गुणहानि में सर्व निषेकों का जोड़ जानना । इस द्वितीय गुणहानि में प्रथम गुणहानि का द्रव्य सर्वत्र एक एक स्थान में मिलानेपर त्रिकोण में जोड़ होता है ।

जैसे, *(प्रथम स्थान अठारह में)* प्रथम गुणहानि का द्रव्य सौ मिलानेपर एक सौ अठारह जोड़ हुआ, उसके नीचे अड़तीस में सौ मिलानेपर एक सौ अड़तीस का जोड़ हुआ ऐसी ही जानना । ऐसे अंत की गुणहानि तक दोनों पंक्तियों में तो दोगुणा दोगुणा प्रमाण लिखकर उन दोनों पंक्तियों के एक-एक स्थान का प्रमाण मिलानेपर जो जो प्रमाण आता है उसमें पहली हुयी जो गुणहानि उनका सर्व द्रव्य मिलानेपर जो

जो प्रमाण हो उतना-उतना त्रिकोण में अनुक्रम से पंक्तियों का जोड़ जानना। ९।१९।३०।४२।५५।६९।८४।१००।११८।१३८।१६०।१८४।२१०।२३८।२६८।३००।३३६।३७६।४२०। ४६८।५२०।५७६।६३६।७००।७७२।८५२।९४०।१०३६।११४०।१२५२।१३७२।१५००।१६४४।१८०४। १९८०।२१७२।२३८०।२६०४।२८४४।३१००।३३८८।३७०८।४०६०।४४४४।४८६०।५३०८।५७८८। ६३००।

इन सर्व का जोड़ देनेपर जो प्रमाण हो उतना सर्व त्रिकोणयंत्र का जोड़ होता है । यह सर्व जोड़ किंचित् कम डेढ़ गुणहानि से गुणित समयप्रबद्ध प्रमाण जानना। सर्व त्रिकोण का जोड़ इकहत्तर हजार तीन सौ चार (७१३०४) हुआ । गुणहानि आयाम का प्रमाण आठ को डेढ़ गुणा करनेपर बारह होते हैं, इसी डेढ़ गुणहानि से समयप्रबद्ध तिरसठ सौ को गुणा करनेपर पचहत्तर हजार छह सौ हुये और यहां इकहत्तर हजार तीन सौ चार ही हुये, इसलिए गुणकार में किंचित् कम कहा । जितना यह सर्व त्रिकोणयंत्र का जोड़ आया, उतनी सत्ता जानना ।

जैसा अंकसंदृष्टि द्वारा कथन किया वैसा अर्थसंदृष्टि द्वारा कथन जानना । निषेकादि का प्रमाण जैसा हो, वैसा जानना । अन्य सर्व विधान अंकसंदृष्टिवत् जानना । संस्कृत टीका में अर्थसंदृष्टि और अंकसंदृष्टि से जोड़ देने का विधान कहा है, वहां से विशेष जानना । तथा आगे संदृष्टि अधिकार में लिखेंगे, प्रयोजन यहां लिखा ही है ।

इसतरह किंचित् कम डेढ़ गुणहानि गुणित समयप्रबद्ध प्रमाण सत्ता जीव के सदाकाल पायी जाती है । गुणहानि आयाम के समयों का जो प्रमाण उसको डेढ़गुणा करके उसमें से किंचित् कम अर्थात् पल्य की संख्यात वर्गशलाका से अधिक गुणहानि आयाम का अठारहवां भाग घटाकर उस प्रमाण से समयप्रबद्ध को गुणा करके जो प्रमाण हो, उतने कर्मपरमाणु जीव के *(साथ-सत्ता में)* सदाकाल रहते हैं । इसी कारण सर्वस्थिति संबंधी अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों से कर्मप्रदेश अनंतगुणा कहे हैं । जैसे प्रत्येक समय में एक-एक समयप्रबद्ध नया बंधता है, वैसे एक-एक समयप्रबद्ध उदयरूप होकर खिरता है, सत्ता पूर्वोक्त प्रमाण सदा रहती है ।

एक समय में एक समयप्रबद्ध का खिरना कैसे होता है ? वह कहते हैं –

वर्तमान विवक्षित समय में जिस समयप्रबद्ध का बंध हुये आबाधाकाल ही हुआ हो और जिसका एक भी निषेक गला न हो, उसके तो पांच सौ बारहरूप प्रथम

निषेक उदयरूप होता है, शेष निषेक आगामी काल में उदय में आयेंगे । जिस समयप्रबद्ध का बंध हुये आबाधाकाल और एक समय हो गया हो और जिसका एक निषेक पूर्व में खिर गया हो, उसका चार सौ अस्सीरूप दूसरा निषेक वर्तमान समय में उदय में आता है । छियालीस निषेक आगामी काल में उदय में आयेंगे । पुनश्च जिस समयप्रबद्ध का बंध हुये आबाधाकाल और दो समय हो गये हो, उसके दो निषेक तो पहले खिर गये हैं और चार सौ अड़तालीसरूप तीसरा निषेक वर्तमान समय में खिरता है । अवशेष पैंतालीस निषेक आगामी काल में खिरेंगे ।

इसी अनुक्रम से जिस-जिस समयप्रबद्ध का बंध पहले पहले हुआ उसका पश्चात् पश्चात्‌वाला निषेक वर्तमान काल में उदय में आता है, अवशेष निषेक आगामी काल में उदय में आयेंगे । अंत में जिस समयप्रबद्ध का बंध हुये आबाधाकाल और सैंतालीस समय हो गये तथा जिसके सैंतालीस निषेक पहले खिर गये उसका नौ परमाणुरूप अंतिम निषेक वर्तमान काल में उदयरूप होता है । अवशेष निषेक कोई रहा नहीं, इसके पहले जो समयप्रबद्ध बंधे थे उनके सर्व निषेक गल गये इसलिए उनका कुछ प्रयोजन ही नहीं है ।

इसतरह वर्तमान विवक्षित एक समय में पांच सौ बारह से लेकर नौ तक सर्व निषेक एक काल में उदयरूप होते हैं, उनका जोड़ देनेपर संपूर्ण समयप्रबद्धप्रमाण होता है । इसीलिए प्रतिसमय एक एक समयप्रबद्ध का उदय कहा है । एक समयप्रबद्धप्रमाण परमाणु खिरते हैं, उतने ही एक समयप्रबद्धप्रमाण परमाणु नये बंधते हैं, किंचित् कम डेढ़ गुणहानि गुणित समयप्रबद्ध प्रमाण सत्ता में रहते हैं ।

जिस प्रकार अंकसंदृष्टि द्वारा कथन किया उसी प्रकार अर्थसंदृष्टि द्वारा कथन जानना । इसी कारण अनुभागबंधाध्यवसायस्थानों से कर्मपरमाणु अनंतगुणा कहे हैं, ऐसा जानना ॥२६०॥

॥ इति प्रदेशबंध ॥

इसप्रकार बंध का निरूपण करके आगे **उदय का निरूपण** प्रारंभ करते हैं-

आहरं तु पमत्ते तित्थं केवलिणि मिस्सयं मिस्से ।
सम्मं वेदगसम्मे मिच्छदुगयदेव आणुदओ ॥२६१॥

आहारं तु प्रमत्ते तीर्थं केवलिनि मिश्रकं मिश्रे।
सम्यक् वेदकसम्ये मिथ्यद्विकायते एव आनुदयः ॥२६१॥

टीका – चारों प्रकार के बंध के निरूपण के पश्चात् गुणस्थानों में उदय का नियम कहते हैं – आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग का उदय प्रमत्त गुणस्थान में ही है । तीर्थंकर प्रकृति का उदय सयोगकेवली, अयोगकेवली में ही है । मिश्रमोहनीय का उदय सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में ही है । सम्यक्त्व मोहनीय(सम्यक्प्रकृति) का उदय असंयतादि चारों गुणस्थानवर्ती वेदक सम्यग्दृष्टि में ही है । आनुपूर्वी का उदय मिथ्यात्व, सासादन, असंयत में ही है । अन्यत्र उनके उदय का अभाव है ॥२६१॥

आनुपूर्वी के उदय का और भी विशेष कहते हैं –

णिरयं सासणसम्मो ण गच्छदित्ति य ण तस्सणिरयाणू ।
मिच्छादिसु सेसुदओ सगसगचरिमोत्ति णायव्वो ॥२६२॥

निरयं सासादनसम्यो न गच्छतीति च न तस्य निरयानुः ।
मिथ्यादिषु शेषोदयः स्वस्वकचरम इति ज्ञातव्यः ॥२६२॥

टीका – सासादन सम्यग्दृष्टि मरकर नरकगति में नहीं जाता इसलिए सासादन में नारकानुपूर्वी का उदय नहीं है । पूर्वोक्त प्रकृतियों का उदय मिथ्यात्व आदि गुणस्थानों में अपने-अपने उदयस्थान के अंत तक जानना ।

यहां उदय के प्रकरण में व्युच्छित्ति, उदय, अनुदय - इसतरह तीन प्रकार से कथन करते हैं - वहां जिस गुणस्थान में जितनी प्रकृतियों की व्युच्छित्ति कही हो, उन प्रकृतियों का उस गुणस्थान तक तो उदय जानना । उस गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थानों में उनका उदय नहीं जानना । जिस गुणस्थान में जितनी प्रकृतियों का उदय हो, वह तो उदय जानना । नीचे के गुणस्थानों में जितनी प्रकृतियों का उदय कहा हो उनमें से उसी गुणस्थान में जितनी व्युच्छित्ति कही हो उनको घटानेपर उस गुणस्थान

के अनंतर ऊपर के गुणस्थान में उदयरूप प्रकृतियों का प्रमाण जानना ।

वहां इतना विशेष है – यदि कोई प्रकृति ऊपर के गुणस्थान में उदय आयेगी उस विवक्षित गुणस्थान में उसका उदय नहीं है, तो उसको उदय में से घटा देना और यदि नीचे के गुणस्थान में जिसका उदय नहीं था और विवक्षित गुणस्थान में उसका उदय हो तो उसको मिला लेना, इसतरह उदय जानना ।

जितनी प्रकृतियों का मूल में उदय कहा हो, उनमें विवक्षित गुणस्थान में जितनी प्रकृतियों का उदय कहा हो, उनको छोड़कर शेष प्रकृतियों का अनुदय जानना ।

इस प्रकार व्युच्छित्ति, उदय, अनुदय का कथन जानना ॥२६२॥

वहां गुणस्थान में व्युच्छित्ति पक्षांतर महाधवल द्वितीय नाम कषायप्राभृत के कर्ता यतिवृषभआचार्य के अनुसार अनुक्रम से कहते हैं –

दस चउरिगि सत्तरसं अट्ठ य तह पंच चेव चउरो य ।
छच्छक्कएक्कदुगदुग चोद्दस उगुतीस तेरसुदयविही ॥२६३॥

दश चतुरेकं सप्तदश अष्ट च तथा पंच चैव चतस्रश्च ।
षट् षट्कैकद्विकद्विकं चतुर्दशैकोनत्रिंशत् त्रयोदशोदयविधिः ॥२६३॥

टीका – अभेद विवक्षा से उदय प्रकृति एक सौ बाइस हैं । उनमें उदयविधि अर्थात् उदय व्युच्छित्ति अर्थात् विवक्षित गुणस्थान से ऊपर उदय का अभाव, वह मिथ्यात्व में दस हैं, सासादन में चार हैं । इस पक्ष में एकेन्द्रिय, स्थावर, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय इन नामकर्म के प्रकृतियों की व्युच्छित्ति मिथ्यात्व में कही । सासादन में इनका उदय नहीं कहा । दूसरे पक्ष में इनका उदय सासादन में भी कहा है । ऐसे दोनों पक्ष आचार्य द्वारा कहे हैं ।

मिश्र में एक, असंयत में सत्रह, देशसंयत में आठ, प्रमत्त में पांच, अप्रमत्त में चार, अपूर्वकरण में छह, अनिवृत्तिकरण में छह, सूक्ष्मसाम्पराय में एक, उपशांतमोह में दो, क्षीणमोह में दो और चौदह, सयोगकेवली में उनतीस, क्योंकि नाना जीवों की अपेक्षा साता-असाता दोनों ही वेदनीय की व्युच्छित्ति नहीं है । अयोगकेवली में तेरह की व्युच्छित्ति जाननी ।

ऐसा होनेपर मिथ्यात्व में उदय एक सौ सत्रह; तीर्थंकर,आहारकद्विक, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वमोहनीय का उदय नहीं है, इसलिए अनुदय पांच । सासादन में उदय एक सौ छह, मिथ्यात्व में व्युच्छित्ति दस और नारकानुपूर्वी का इनके उदय नहीं है इसलिए अनुदय सोलह । मिश्र में उदय सौ(१००), सासादन की व्युच्छित्ति चार और आनुपूर्वी तीन का उदय नहीं और मिश्रप्रकृति आ मिली, इसलिए अनुदय बाइस । असंयत में उदय एक सौ चार(१०४), आनुपूर्वी चार और सम्यक्त्वमोहनीय तो आ मिली और मिश्रमोहनीय की मिश्र में ही व्युच्छित्ति हुयी, इसीलिए अनुदय अठारह ।

असंयत में व्युच्छित्ति सत्रह हुयी इसलिए देशसंयत में उदय सत्तासी, अनुदय पैंतीस । देशसंयत में आठ व्युच्छित्ति हुयी और आहारकद्विक आ मिले, इसलिए प्रमत्त में उदय इक्यासी, अनुदय इकतालीस । प्रमत्त में पांच व्युच्छित्ति हुयी इसलिए अप्रमत्त में उदय छिहत्तर(७६), अनुदय छियालीस(४६) । यहां चार व्युच्छित्ति हुयी, इसलिए अपूर्वकरण में उदय बहत्तर, अनुदय पचास । यहां छह व्युच्छित्ति हुयी, इसलिए अनिवृत्तिकरण में उदय छासठ, अनुदय छप्पन । यहां छह व्युच्छित्ति हुयी, इसलिए सूक्ष्मसाम्पराय में उदय साठ, अनुदय बासठ । यहां एक व्युच्छित्ति हुयी, इसलिए उपशांतमोह में उदय उनसठ, अनुदय तिरसठ । यहां दो व्युच्छित्ति हुयी, इसलिए क्षीणमोह में उदय सत्तावन, अनुदय पैंसठ । यहां सोलह व्युच्छित्ति हुयी और तीर्थंकर आ मिली, इसलिए सयोगकेवली में उदय बयालीस, अनुदय अस्सी । यहां उनतीस व्युच्छित्ति हुयी, इसलिए अयोगकेवली में उदय तेरह, अनुदय एक सौ नौ ।

*(**विशेषार्थ** – उदययोग्य प्रकृतियां १२२*

गुण.	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
व्यु.	१०	४	१	१७	८	५	४	६	६	१	२	१६	२९	१३
उदय	११७	१०६	१००	१०४	८७	८१	७६	७२	६६	६०	५९	५७	४२	१३
अनु.	५	१६	२२	१८	३५	४१	४६	५०	५६	६२	६३	६५	८०	१०९

उदीरणा व्युच्छित्ति, उदीरणा, अनुदीरणा की रचना में प्रमत्त गुणस्थान तक तो जैसी उदय में व्युच्छित्ति कही, वैसी ही व्युच्छित्ति है । जैसा उदय कहा, वैसी ही उदीरणा है । जैसा अनुदय कहा, वैसी ही अनुदीरणा है ।

इतना विशेष है कि मनुष्यायु, साता-असाता वेदनीय की उदीरणा प्रमत्त गुणस्थान

तक ही है, ऊपर नहीं । इसलिए अप्रमत्त में उदीरणा तिहत्तर, अनुदीरणा उनचास । यहां व्युच्छित्ति चार इसलिए अपूर्वकरण में उदीरणा उनहत्तर, अनुदीरणा तिरपन । यहां व्युच्छित्ति छह, इसलिए अनिवृत्तिकरण में उदीरणा तिरसठ, अनुदीरणा उनसठ । यहां व्युच्छित्ति छह, इसलिए सूक्ष्मसाम्पराय में उदीरणा सत्तावन, अनुदीरणा पैंसठ । यहां व्युच्छित्ति एक, इसलिए उपशांतमोह में उदीरणा छप्पन, अनुदीरणा छासठ । यहां व्युच्छित्ति दो, इसलिए क्षीणमोह में उदीरणा चौवन, अनुदीरणा अड़सठ । यहां व्युच्छित्ति सोलह, सयोगकेवली में तीर्थंकर के मिलने से उदीरणा उनतालीस, अनुदीरणा तिरासी । यहां व्युच्छित्ति उनतालीस, इसलिए अयोगकेवली में उदीरणा नास्ति, अनुदीरणा एक सौ बाइस ॥२६३॥

*(**विशेषार्थ** – छठवें गुणस्थान तक उदय, अनुदय समान ही उदीरणा, अनुदीरणा है ।*

गुणस्थान	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
व्युच्छित्ति	४	६	६	१	२	१६	३९	-
उदीरणा	७३	६९	६३	५७	५६	५४	३९	-
अनुदीरणा	४९	५३	५९	६५	६६	६८	८३	१२२

आगे भूतबलि आचार्य कृत धवल शास्त्र का उपदेश इत्यादिरूप दूसरे पक्ष द्वारा कथन करते हैं –

पण णवइगि सत्तरसं अड पंच च चउर छक्क छच्चेव ।
इगिदुग सोलस तीसं बारस उदये अजोगंता ॥२६४॥

पंचनवैकं सप्तदशाष्ट पंच च चतस्रः षट्कं षट् चैव ।
एकद्विकं षोडश त्रिंशत् द्वादश उदये अयोगांताः ॥२६४॥

टीका – अपने अनुभागरूप स्वभाव की जो प्रकटता, उसको उदय कहते हैं। अथवा अपना कार्य करके कर्मपना को छोड़े, उसको उदय कहते हैं । उस उदय का जो अंत, उसको यहां व्युच्छित्ति कहते हैं । जिस गुणस्थान में जिसकी व्युच्छित्ति कही उस गुणस्थान के ऊपर उसका उदय नहीं है । मिथ्यात्व से लेकर अयोगकेवली तक गुणस्थानों में व्युच्छित्ति प्रकृति अनुक्रम से पांच, नौ, एक, सत्रह, आठ, पांच, चार, छह, छह, एक, दो, सोलह, तीस, बारह जानना ॥२६४॥

वे व्युच्छित्ति प्रकृति कौनसी हैं ? कहते हैं –

मिच्छे मिच्छादावंसुहुमतियं सासणे अणेइंदी ।
थावरवियलं मिस्से मिस्सं च य उदयवोच्छिण्णा ॥२६५॥

मिथ्ये मिथ्यातपं सूक्ष्मत्रयं सासादन अनेकेंद्रियं ।
स्थावरविकलं मिश्रे मिश्रं च च उदयव्युच्छिन्नाः ॥२६५॥

टीका – मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण - ये पांच प्रकृतियों की उदय से व्युच्छित्ति हुयी । सासादन में अनंतानुबंधी चार, एकेन्द्रिय, स्थावर, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय इन नौ की उदय से व्युच्छित्ति हुयी।

पूर्वपक्ष में और इस पक्ष में इतना विशेष है कि यहां तो सासादन में एकेन्द्रिय, स्थावर, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय का उदय कहा और पूर्वपक्ष में इनका उदय सासादन में न कहा, मिथ्यात्व में ही कहा । दोनों कथन आचार्यों ने किये हैं, इसलिए दोनों का कथन किया है ।

मिश्र में एक सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति की उदय से व्युच्छित्ति हुयी ॥२६५॥

अयदे बिदियकसाया वेगुव्वियछक्क णिरयदेवाऊ ।
मणुयतिरियाणुपुव्वी दुब्भगणादेज्ज अज्जसयं ॥२६६॥

अयते द्वितीयकषाया वैगूर्विकषट्कं निरयदेवायुः ।
मनुजतिर्यगानुपूर्व्ये दुर्भगानादेयमयशस्कं ॥२६६॥

टीका – असंयत में अप्रत्याख्यानावरण चार, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अंगोपांग, नरक-देवगति और उनकी आनुपूर्वी ये छह, नरक-देव आयु, मनुष्य-तिर्यंच आनुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय, अयशस्कीर्ति – इन सत्रह की व्युच्छित्ति हुयी ॥२६६॥

देसे तदियकसाया तिरियाउज्जोवणीचतिरियगदी ।
छट्ठे आहारदुगं थीणतियं उदयवोच्छिण्णा ॥२६७॥

देशे तृतीयकषाया तिर्यगायुरुद्योतनीचतिर्यग्गतिः ।
षष्ठे आहारकद्विकं स्त्यानत्रयमुदयव्युच्छिन्नाः ॥२६७॥

टीका – देशविरत में प्रत्याख्यानावरण चार, तिर्यंचायु, उद्योत, नीचगोत्र, तिर्यंचगति ये आठ, प्रमत्तविरत छठवें गुणस्थान में आहारक शरीर और अंगोपांग, स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला तीन ऐसी पांच उदय से व्युच्छित्ति हुयी । **'व्युच्छिन्नाः'** शब्द मध्यदीपक समान है इसलिए अन्यत्र भी जानना कि व्युच्छित्ति कही है ॥२६७॥

अपमत्ते सम्मत्तं अंतिमतियसंहदी यऽपुव्वम्हि ।
छच्चेव णोकसाया अणियट्टीभागभागेसु ॥२६८॥

अप्रमत्ते सम्यक्त्वमंतिमसंहतिश्चापूर्वे ।
षट्चैव नोकषायाः अनिवृत्तिभागभागयोः ॥२६८॥

टीका – अप्रमत्तविरत में सम्यक्त्वमोहनीय, अर्धनाराच, कीलित, असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन तीन - ये चार; अपूर्वकरण में हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा छह नोकषाय की व्युच्छित्ति हुयी । अनिवृत्तिकरण में प्रकृतिनाश के अनुक्रम की अपेक्षा सवेद भाग और अवेद भाग में इसप्रकार *(निम्न प्रकार)* व्युच्छित्ति है ॥२६८॥

वेदतिय कोहमाणं माया संजलणमेव सुहुमंते ।
सुहुमो लोहो संते वज्जं णारायणारायं ॥२६९॥

वेदत्रयं क्रोधमानं माया संज्वलनमेव सूक्ष्मांते ।
सूक्ष्मो लोभः शांते वज्रनाराचनाराचं ॥२६९॥

टीका – अनिवृत्तिकरण का वेदसहित जो सवेदभाग उसमें तो तीन वेद की व्युच्छित्ति हुयी । अवेदभागों में अनुक्रम से संज्वलन क्रोध, संज्वलन मान, संज्वलन माया की व्युच्छित्ति हुयी -ऐसी छह की व्युच्छित्ति है । बादर लोभ की भी अनिवृत्तिकरण में व्युच्छित्ति हुयी । सूक्ष्मसाम्पराय के अंत में सूक्ष्मकृष्टि को प्राप्त हुये लोभ की व्युच्छित्ति हुयी । उपशांतमोह में वज्रनाराच, नाराच दो संहनन की व्युच्छित्ति हुयी ॥२६९॥

खीणकसायदुचरिमे णिद्दा पयला य उदयवोच्छिण्णा ।
णाणंतरायदसयं दंसणचत्तारि चरिमम्हि ॥२७०॥

क्षीणकषायद्विचरमे निद्रा प्रचला च उदयव्युच्छिन्नाः ।
ज्ञानांतरायदशकं दर्शनचत्वारि चरमे ॥२७०॥

टीका – क्षीणमोह गुणस्थान के अंतिम दो समयों में से पहले द्विचरम (उपांत) समय में निद्रा, प्रचला दो की उदय से व्युच्छित्ति हुयी । अंतिम समय में पांच ज्ञानावरण, पांच अंतराय, चार दर्शनावरण - इन चौदह की व्युच्छित्ति हुयी - इसप्रकार सोलह हुये ॥२७०॥

तदियेक्कवज्जणिमिणं थिरसुहसरगदिउरालतेजदुगं ।
संठाणं वण्णागुरुचउक्क पत्तेय जोगिम्हि ॥२७१॥

तृतीयैकवज्रनिर्माणं स्थिरशुभस्वरगतिऔरालतेजोद्विकम् ।
संस्थानं वर्णागुरुचतुष्कं प्रत्येकं योगिनि ॥२७१॥

टीका – सयोगकेवली गुणस्थान में दो वेदनीय में से एक कोई वेदनीय, वज्रवृषभनाराच संहनन, निर्माण, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, सुस्वर-दुस्वर, प्रशस्त-अप्रशस्त विहायोगति, औदारिक शरीर और अंगोपांग, तेजसशरीर, कार्माणशरीर, संस्थान छह, वर्णादि चार, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास ये चार, प्रत्येक शरीर - इन तीस प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हुयी ॥२७१॥

तदियेक्कं मणुवगदी पंचिंदियसुभगतसतिगादेज्जं ।
जसतित्थं मणुवाऊ उच्चं च अजोगिचरिमम्हि ॥२७२॥

तृतीयैकं मानवगतिः पंचेंद्रियसुभगत्रसत्रिकादेयं ।
यशस्तीर्थं मानवायुरुच्चं चायोगिचरिमे ॥२७२॥

टीका – अयोगकेवली गुणस्थान के अंतिम समय में दो वेदनीय में से एक कोई वेदनीय, मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, सुभग, त्रस-बादर-पर्याप्त ये तीन, आदेय, यशस्कीर्ति, तीर्थंकर, मनुष्यायु, उच्चगोत्र - बारह की व्युच्छित्ति हुयी । यह व्युच्छित्ति नाना जीवों की अपेक्षा कहते हैं । वहां सयोगी-अयोगी गुणस्थान में साता और असाता में से एक ही की व्युच्छित्ति कही है वह तो एक जीव की अपेक्षा कही है । नाना जीवों की अपेक्षा सयोगी गुणस्थान में साता और असाता दोनों की व्युच्छित्ति नहीं है । इसलिए सयोगी-अयोगी में एक जीव की अपेक्षा तीस और बारह की व्युच्छित्ति है तथा नाना जीवों की अपेक्षा उनतीस और तेरह की व्युच्छित्ति है ॥२७२॥

आगे पहले गुणस्थानवत् सयोगकेवली में भी साता-असाता का उदय होगा, ऐसी शंका को दूर करते हैं –

णट्ठा य रायदोसा इंदियणाणं च केवलिम्हि जदो ।
तेण दु सादासादजसुहदुक्खं णत्थि इंदियजं ॥२७३॥

नष्टौ च रागद्वेषौ इंद्रियज्ञानं च केवलिनि यतः ।
तेन तु सातासातजसुखदुःखं नास्ति इंद्रियजम् ॥२७३॥

टीका – सयोगकेवली के घातिकर्मों का नाश हुआ है, इसलिए राग के कारणभूत चारों प्रकार की माया, चारों प्रकार के लोभ, तीन वेद, हास्य-रति का तथा द्वेष के कारणभूत चारों प्रकार के क्रोध, चारों प्रकार के मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा का निर्मूल नाश हुआ है अतः रागद्वेष नष्ट हुये हैं । पुनश्च युगपत् सकल प्रकाशी ज्ञान में क्षयोपशमरूप परोक्ष मतिज्ञान और श्रुतज्ञान पाया नहीं जा सकता इसलिए इन्द्रियजनित ज्ञान नष्ट हुआ है । इस कारण केवली के साता-असाता वेदनीय के उदय से सुख-दुःख नहीं है, क्योंकि सुख-दुःख इन्द्रियजनित है । पुनश्च वेदनीय का सहकारी कारण मोहनीय का अभाव हुआ है, इसलिए वेदनीय का उदय होते हुये भी वह अपना सुख-दुःख देनेरूप कार्य करने को समर्थ नहीं है ॥२७३॥

इसका हेतु कहते हैं –

समयट्ठिदिगो बंधो सादस्सुदयप्पिगो जदो तस्स ।
तेण असादस्सुदओ सादसरूवेण परिणमदि ॥२७४॥

समयस्थितिको बंधः सातस्योदयात्मको यतस्तस्य ।
तेनासातस्योदयः सातस्वरूपेण परिणमति ॥२७४॥

टीका – केवली के सातावेदनीय का बंध एक समय की स्थितिवाला होने से उदयरूप ही है तथा केवली के असातावेदनीय का उदय सातारूप होकर परिणमता है । किस कारण ? केवली के विशुद्धि विशेष है इसलिए असातावेदनीय की अनुभागशक्ति अनंतगुणा हीन हुयी है और मोह का सहाय था उसका अभाव हुआ है । इस कारण असातावेदनीय का अप्रकट सूक्ष्म उदय है । तथा जो सातावेदनीय कर्म बंधता है उसका अनुभाग अनंतगुणा है, क्योंकि सातावेदनीय की स्थिति की अधिकता तो संक्लेश से

ही है, अनुभाग की अधिकता विशुद्धि से होती है । *(दसवें गुणस्थान के बाद स्थिति और अनुभाग का बंध नहीं है । दसवें में सातावेदनीय के उत्कृष्ट अनुभाग का बंध होता है और सत्ता में पडे हुये सर्व सातावेदनीय के परमाणु उत्कृष्ट अनुभागरूप से संक्रमित हो जाते हैं ।)* केवली के विशुद्धि विशेष अधिक है, इसलिए स्थितिबंध का तो अभाव है, बंध होता है वह उदयरूप परिणमता ही होता है । उनके सातावेदनीय का अनुभाग अनंतगुणा होता है, इसी कारण यदि आसाता का भी उदय है, वह सातारूप होकर परिणमता है ।

कोई कहेगा कि साता का उदय असातारूप होकर परिणमता है ऐसा क्यों नहीं कहते ?

उसका उत्तर है कि साता का स्थितिबंध दो समय का ठहरेगा और अन्य प्रकार कहने से असाता का ही बंध होने का प्रसंग आयेगा, इसलिए तुमने कहा वैसा कहना सम्भव नहीं ॥२७४॥

*(**विशेषार्थ** – जिसका बंध होता हो उसरूप संक्रमण होता है इसलिए असातारूप संक्रमण असाता के बंध के काल में ही हो सकता है । असाता के बंध की व्युच्छित्ति तो छठवें गुणस्थान में ही हो गयी है ।)*

एदेण कारणेण दु सादस्सेव दु णिरंतरो उदओ ।
तेणासादणिमित्ता परीसहा जिणवरे णत्थि ॥२७५॥

एतेन कारणेन तु सातस्यैव तु निरंतर उदयः ।
तेनासातनिमित्ताःपरीषहाः जिनवरे न सन्ति ॥२७५॥

टीका – इसी कारण केवली के निरंतर साता ही का उदय है तथा इसी कारण असाता के उदय से उत्पन्न ऐसा क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, मल ये ग्यारह परिषह केवली के नहीं है । तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता ने **'एकादश जिने'** और **'वेदनीये शेषाः'** कहा है वह कारणरूप असातावेदनीय के उदय में कार्यरूप परीषह का उपचार करके कहा है । मुख्यपने से (निश्चय से) केवली के परीषह का अभाव है ।

अथ अभेदविवक्षा से उदय प्रकृति एक सौ बाइस(१२२) । वहां मिथ्यात्व में

उदय एक सौ सत्रह(११७), अनुदय तीर्थंकर, आहारकद्विक, सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय – पांच । पांच की व्युच्छित्ति और नारकानुपूर्वी मिलकर सासादन में अनुदय ग्यारह, उदय एक सौ ग्यारह है । नौ व्युच्छित्ति और अवशेष तीन आनुपूर्वी का अनुदय है और सम्यग्मिथ्यात्व का उदय है इसलिए मिश्र गुणस्थान में अनुदय बाइस, उदय सौ(१००)। व्युच्छित्ति एक का अनुदय और चार आनुपूर्वी तथा सम्यक्त्वमोहनीय का उदय है, इसलिए असंयत में अनुदय अठारह, उदय एक सौ चार । व्युच्छित्ति सत्रह है इसलिए देशविरत में अनुदय पैंतीस, उदय सत्तासी । व्युच्छित्ति आठ का अनुदय है और आहारकद्विक का उदय है इसलिए प्रमत्तविरत में अनुदय इकतालीस, उदय इक्यासी । व्युच्छित्ति पांच है इसलिए अप्रमत्तविरत में अनुदय छियालीस, उदय छिहत्तर। व्युच्छित्ति चार इसलिए अपूर्वकरण में अनुदय पचास, उदय बहत्तर । व्युच्छित्ति छह; इसलिए अनिवृत्तिकरण में अनुदय छप्पन, उदय छासठ । व्युच्छित्ति छह; इसलिए सूक्ष्मसाम्पराय में अनुदय बासठ, उदय साठ । व्युच्छित्ति एक; इसलिए उपशांतमोह में अनुदय तिरसठ, उदय उनसठ । व्युच्छित्ति दो; इसलिए क्षीणमोह में अनुदय पैंसठ, उदय सत्तावन । व्युच्छित्ति सोलह का अनुदय और तीर्थंकरत्व का उदय है; इसलिए सयोगकेवली में अनुदय अस्सी, उदय बयालीस । व्युच्छित्ति तीस; इसलिए अयोगकेवली में अनुदय एक सौ दस, उदय बारह जानना ॥२७५॥

उपरोक्त उदय, अनुदय को दो गाथाओं द्वारा कहते हैं –

सत्तरसेक्कारख चदुसहियसयं सगिगिसीदि छदुसदरी ।
छावट्ठि सट्ठि णवसग वण्णास दुदालबारुदया ॥२७६॥

सप्तदशैकादशशून्यचतुःसहितशतं सप्तैकाशीतिः षट्द्विसप्ततिः ।
षट्षष्टिः षष्टि नवसप्त पंचाशत् द्विचत्वारिंशद्द्वादशोदयाः ॥२७६॥

टीका – मिथ्यात्वादि गुणस्थानों में अनुक्रम से एक सौ सत्रह, एक सौ ग्यारह, सौ, एक सौ चार, सत्तासी, इक्यासी, छिहत्तर, बहत्तर, छासठ, साठ, उनसठ, सत्तावन, बयालीस, बारह प्रकृतियां उदयरूप जानना ॥२७६॥

पंचेक्कारसबावीसट्ठारसपंचतीस इगिछादालं ।
पण्णं छप्पण्णं बितिपणसट्ठि असीदि दुगुणपणवण्णं ॥२७७॥

पंचैकादशद्वाविंशत्यष्टादशपंचत्रिंशदेकषट्चत्वारिंशत् ।
पंचाशत् षट्पंचाशत् द्वित्रिपंचषष्टिरशीतिः द्विगुणपंचपंचाशत् ॥२७७॥

टीका – उन मिथ्यात्वादि गुणस्थानों में अनुक्रम से पांच, ग्यारह, बाइस, अठारह, पैंतीस, इकतालीस, छियालीस, पचास, छप्पन, बासठ, तिरसठ, पैंसठ, अस्सी, एक सौ दस प्रकृतियां अनुदयरूप जानना ॥२७७॥

आगे उदय प्रकृतियों की उदीरणा कहते हैं –

उदयस्सुदीरणस्स य सामित्तादो ण विज्जदि विसेसो ।
मोत्तूण तिण्णिठाणं पमत्त जोगी अजोगी य ॥ २७८॥

उदयस्योदीरणायाश्च स्वामित्वात् न विद्यते विशेषः ।
मुक्त्वा त्रयस्थानं प्रमत्तं योग्ययोगी च ॥२७८॥

टीका – उदय और उदीरणा के स्वामीत्व में कुछ अंतर नहीं है । प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, सयोगकेवली तीनों गुणस्थानों को छोड़कर अन्यत्र उदयवत् उदीरणा जानना ॥२७८॥

वहां विशेष (अंतर) क्या है ? वह कहते हैं –

तीसं बारस उदयुच्छेदं केवलिणमेकदं किच्चा ।
सादमसादं च तहिं मणुवाउगमवणिदं किच्चा ॥२७९॥

त्रिंशत् द्वादश उदयोच्छेदं केवलिनोरेकत्र कृत्वा ।
सातमसातं च तत्र मानवायुष्कपनीतं कृत्वा ॥२७९॥

टीका – सयोगकेवली, अयोगकेवली में व्युच्छित्ति तीस और बारह है उनको एकत्रित करके उनमें से साता, असाता, मनुष्यायु घटाना ॥२७९॥

अवणिदतिप्पयडीणं पमत्तविरदे उदीरणा होदि ।
णत्थित्ति अजोगिजिणे उदीरणा उदयपयडीणं ॥२८०॥

अपनीतत्रिप्रकृतीनां प्रमत्तविरते उदीरणा भवति ।
नास्तीति अयोगिजिने उदीरणा उदयप्रकृतीनां ॥२८०॥

टीका – घटायी हुयी तीन प्रकृतियां - साता, असाता, मनुष्यायु की उदीरणा

की व्युच्छित्ति प्रमत्तविरत में ही हुयी, इसलिए प्रमत्तविरत में (उदीरणा की) व्युच्छित्ति आठ है । पुनश्च अयोगकेवली में उदीरणा का अभाव है । इसलिए उन तीन प्रकृतियों को घटानेपर शेष उनतालीस प्रकृतियां रही, उनकी उदीरणा की व्युच्छित्ति सयोगकेवली में जानना । उन तीन प्रकृतियों की उदीरणा अप्रमत्तादि गुणस्थानों में नहीं है क्योंकि इनकी उदीरणा संक्लेश परिणामों से होती है ॥२८०॥

आगे उदीरणा की व्युच्छित्ति कहते हैं –

पण णव इगि सत्तरसं अट्ठट्ठ य चदुर छक्क छच्चेव ।
इगि दुग सोलुगदालं उदीरणा होंति जोगंता ॥२८१॥

पंच नवैकं सप्तदश अष्टाष्ट च चत्वारि षट्कं षट् चैव ।
एकं द्विकं षोडशैकोनचत्वारिंशदुदीरणा भवंति योग्यंताः ॥२८१॥

टीका – मिथ्यात्व से सयोगकेवली गुणस्थान तक उदीरणा की व्युच्छित्ति अनुक्रम से पांच, नौ, एक, सत्रह, आठ, आठ, चार, छह, छह, एक, दो, सोलह, उनतालीस प्रकृति जानना । इसतरह व्युच्छित्ति होनेपर मिथ्यात्व में उदीरणा एक सौ सत्रह, अनुदीरणा तीर्थंकर, आहारकद्विक, सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय – ये पांच । व्युच्छित्ति पांच और नारकानुपूर्वी की उदीरणा नहीं इसलिए सासादन में अनुदीरणा ग्यारह, उदीरणा एक सौ ग्यारह । वहां व्युच्छित्ति नौ और शेष तीन आनुपूर्वी की उदीरणा नहीं परंतु सम्यग्मिथ्यात्व की उदीरणा है इसलिए मिश्र में अनुदीरणा बाइस, उदीरणा सौ(१००) । वहां व्युच्छित्ति एक की उदीरणा नहीं, सम्यक्त्वमोहनीय और चार आनुपूर्वी की उदीरणा है इसलिए असंयत में अनुदीरणा अठारह, उदीरणा एक सौ चार । व्युच्छित्ति सत्रह; इसलिए देशविरत में अनुदीरणा पैंतीस, उदीरणा सत्तासी । व्युच्छित्ति आठ की उदीरणा नहीं और आहारकद्विक की उदीरणा है, इसलिए प्रमत्तविरत में अनुदीरणा इकतालीस, उदीरणा इक्यासी । व्युच्छित्ति आठ; इसलिए अप्रमत्तविरत में अनुदीरणा उनचास, उदीरणा तिहत्तर । व्युच्छित्ति चार; इसलिए अपूर्वकरण में अनुदीरणा तिरपन, उदीरणा उनहत्तर । व्युच्छित्ति छह; इसलिए अनिवृत्तिकरण में अनुदीरणा उनसठ, उदीरणा तिरसठ । व्युच्छित्ति छह; इसलिए सूक्ष्मसाम्पराय में अनुदीरणा पैंसठ, उदीरणा सत्तावन । व्युच्छित्ति एक; इसलिए उपशांतमोह में अनुदीरणा छासठ, उदीरणा छप्पन । व्युच्छित्ति दो; इसलिए क्षीणमोह में अनुदीरणा अडसठ, उदीरणा चौवन । व्युच्छित्ति सोलह की उदीरणा नहीं और तीर्थंकर की उदीरणा है इसलिए

सयोगकेवली में अनुदीरणा तिरासी, उदीरणा उनतालीस । व्युच्छित्ति उनतालीस; इसलिए अयोगकेवली में उदीरणा का अभाव, अनुदीरणा एक सौ बाइस है ।

उदीरणा किसे कहते हैं ? **'अपक्वपाचनं उदीरणा'** दीर्घ काल में जिनका उदय आयेगा ऐसे ऊपर के निषेकों का *(उनमें से कुछ परमाणुओं का)* अपकर्षण करके थोड़े काल में जिनका उदय आ जाये इसतरह निषेकों को उदयावली में देकर उदयरूप अनुभव करके कर्मपना छुड़ाकर अन्य पुद्गल पर्यायरूप परिणमावना, उसको उदीरणा कहते हैं ।

भावार्थ – जो कर्मप्रकृतियां बंधरूप हुई थी, वे अपनी-अपनी गुणहानि में जो निषेक उनके अनुक्रम से उदयरूप होती हैं । जो निषेक आगामी बहुत काल में उदय में आयेंगे, उन निषेकों को जो निषेक थोड़े काल में उदय में आयेंगे उनमें मिला देना ।

जिसतरह आम बहुत काल पश्चात् पकनेवाला था, उसको पाल में रखकर थोड़े काल में पकाया, उसतरह जो परमाणुओं के समूहरूप निषेक बहुत काल पश्चात् उदय में आने योग्य थे, उनको थोड़े काल में उदय आने योग्य किया । उनका उदयरूप अनुभव कराके उन कर्मपरमाणुओं को कर्मपने से छुड़ाकर अन्य पर्यायरूप परिणमाने का नाम उदीरणा है ॥२८१॥

पूर्वोक्त उदीरणा और अनुदीरणारूप प्रकृतियों की संख्याओं का दो गाथाओं द्वारा कथन करते हैं –

सत्तरसेक्कारखचदुसहियसयं सगिगिसीदि तियसदरी ।
णवतिण्णिसट्ठि सगछक्कवण्ण चउवण्णमुगुदालं ॥२८२॥
पंचेक्कारसबावीसट्ठारस पंचतीस इगिणवदालं ।
तेवण्णेक्कुणसट्ठी पणछक्कडसट्ठि तेसीदी ॥२८३॥

सप्तदशैकादशखचतुः सहितशतं सप्तैकाशीतिः त्रिसप्ततिः ।
नवत्रिषष्ठिः सप्तषट्कपंचाशत् चतुःपंचाशत् एकोनचत्वारिंशत् ॥२८२॥

पंचैकादशद्वाविंशत्यष्टादश पंचत्रिंशत् एकनवचत्वारिंशत् ।
त्रिपंचाशदेकोनषष्टिः पंचषट्काष्टषष्टिः त्र्यशीतिः ॥२८३॥

टीका – मिथ्यात्वादि तेरह गुणस्थानों में एक सौ सत्रह, एक सौ ग्यारह, सौ, एक सौ चार, सत्तासी, इक्यासी, तिहत्तर, उनहत्तर, तिरसठ, सत्तावन, छप्पन, चौवन, उनतालीस उदीरणा प्रकृतियां अनुक्रम से जानना । पुनश्च पांच, ग्यारह, बाइस, अठारह, पैंतीस, इकतालीस, उनचास, तिरपन, उनसठ, पैंसठ, छासठ, अडसठ, तिरासी अनुदीरणा प्रकृतियां जानना ॥२८२-२८३॥

इसतरह गुणस्थानों में उदय, उदीरणा त्रिभंगी कही, अब गत्यादि मार्गणाओं में उदय त्रिभंगी कहना चाहते हैं । प्रथम गत्यादि में उदय का अनुक्रम कहते हैं –

गदियादिसु जोग्गाणं पयडिप्पहुदीणमोघसिद्धाणं ।
सामित्तं णेदव्वं कमसो उदयं समासेज्ज ॥२८४॥

गत्यादिषु योग्यानां प्रकृतिप्रभृतीनामोघसिद्धानां ।
स्वामित्वं नेतव्यं क्रमश उदयं समासाद्य ॥२८४॥

टीका – गुणस्थान वर्णन में सिद्ध हुआ यथायोग्य प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग का स्वामीत्व गति आदि मार्गणाओं में आगम के अनुसार क्रम से उदय की अपेक्षा से प्राप्त करना ॥२८४॥

वहां प्रथम परिभाषा पांच गाथाओं द्वारा कहते हैं –

गदिआणुआउउदओ सपदे भूपुण्णबादरे ताओ ।
उच्चुदओ णरदेवे थीणतिगुदओ णरे तिरिये ॥२८५॥

गत्यान्वायुरुदयः सपदे भूपूर्णबादरे आतपः ।
उच्चोदयो नरदेवे स्त्यानत्रिकोदयो नरे तिरश्चि ॥२८५॥

टीका – विवक्षित पर्याय के प्रथम समय में ही उस विवक्षित पर्याय संबंधी गति, आनुपूर्वी और आयु का उदय होता है । सपदे अर्थात् एक पर्याय संबंधी समान गति, आनुपूर्वी और आयु का उदय एक जीव के युगपत् होता है । आतप प्रकृति का उदय बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक जीव ही के है, अन्य के नहीं है । उच्चगोत्र का उदय किसी मनुष्य में और देवों के सर्व भेदों में पाया जाता है । स्त्यानगृद्धि आदि तीन निद्रा का उदय मनुष्य और तिर्यंच में ही है, अन्यत्र नहीं है ॥२८५॥

संखाउगणरतिरिए इंदियपज्जत्तगादु थीणतियं ।
जोग्गमुदेदुं वज्जिय आहारविगुव्विणुट्ठवगे ॥२८६॥

संख्यायुष्कनरतिरश्चि इंद्रियपर्याप्तकात् स्त्यानत्रयं ।
योग्यमुदेतुं वर्जयित्वा आहारविगूर्वणोत्थापके ॥२८६॥

टीका – संख्यात वर्ष की जिनकी आयु है ऐसे कर्मभूमियां मनुष्य और तिर्यंच के इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के पश्चात् स्त्यानगृद्धि आदि तीन प्रकृतियां उदययोग्य हैं, वहां भी आहारक ऋद्धि और वैक्रियिक ऋद्धि के धारक मनुष्य के स्त्यानगृद्धि आदि तीन प्रकृतियां उदययोग्य नहीं हैं ॥२८६॥

अयदापुण्णे ण हि थी संढोवि य धम्मणारयं मुच्चा ।
थीसंढयदे कमसो णाणुचऊ चरिमतिण्णाणू ॥२८७॥

अयतापूर्णे न हि स्त्री षंढोऽपि च धर्मनारकं मुक्त्वा ।
स्त्रीषंढायते क्रमशो नानुचत्वारि चरमत्रयानुः ॥२८७॥

टीका – निर्वृत्तिअपर्याप्त असंयत गुणस्थान में स्त्रीवेद का उदय नहीं है क्योंकि असंयत सम्यग्दृष्टि मरकर स्त्री में जन्म नहीं लेता; तथा घर्मानरक बिना नपुंसकवेद का भी उदय नहीं है क्योंकि जिसने पहले नरकायु बांधी है ऐसे तिर्यंच और मनुष्य सम्यक्त्व सहित मरकर घर्मानरक में ही उत्पन्न होते हैं । इसीलिए असंयत में स्त्रीवेदी के तो चारों आनुपूर्वी का उदय नहीं है और नपुंसकवेदी(असंयत) के नारकानुपूर्वी बिना तीन आनुपूर्वी का उदय नहीं है ॥२८७॥

इगिविगलथावरचऊ तिरिए अपुण्णो णरेवि संघडणं ।
ओरालदु णरतिरिए वेगुव्वदु देवणेरयिए ॥२८८॥

एकविकलस्थावरचत्वारि तिरश्चि अपूर्णो नरेऽपि संहननं ।
औरालद्विनरतिरश्चि वैक्रियिकद्विदेवनैरयिके ॥२८८॥

टीका – एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्म और स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण नामकर्म तिर्यंचों में ही उदययोग्य हैं । अपर्याप्त प्रकृति मनुष्य में भी उदययोग्य है । छह संहनन, औदारिक शरीर और अंगोपांग तिर्यंच, मनुष्य में

ही उदययोग्य है । वैक्रियिक शरीर और अंगोपांग देव, नरक में ही उदययोग्य है ॥२८८॥

तेउतिगूणतिरिक्खे सुज्जोवो बादरेसु पुण्णेसु ।
सेसाणं पयडीणं ओघं वा होदि उदओ दु ॥२८९॥

तेजस्त्रिकोनतिर्यक्षु उद्योतो बादरेषु पूर्णेषु ।
शेषाणां प्रकृतिनामोघवत् भवति उदयस्तु ॥२८९॥

टीका – अग्निकायिक, वायुकायिक, साधारण वनस्पतिकायिक को छोड़कर अन्य बादर पर्याप्त तिर्यंचों में उद्योत प्रकृति का उदय है । अवशेष प्रकृतियों का उदय का अनुक्रम गुणस्थानवत् जानना ॥२८९॥

इसतरह पांच परिभाषा सूत्रों से उदय का नियम कहकर चारों गतियों में उदय प्रकृति कहना चाहते हैं । वहां प्रथम नरकगति में कहते हैं –

थीणतिथीपुरिसूणा घादी णिरयाउणीचवेयणियं ।
णामे सगवचिठाणं णिरयाणू णारयेसुदया ॥२९०॥

स्त्यानत्रिस्त्रीपुरुषोना घातिनी निरयायुर्नीचवेदनीयं ।
नाम्नि स्वकवचः स्थानं निरयानुः नारकेषूदयाः ॥२९०॥

टीका – स्त्यानगृद्धि आदि तीन, स्त्रीवेद, पुरुषवेद इन पांच को छोड़कर घातिकर्म की बयालीस प्रकृतियां, नरकायु, नीचगोत्र, साता-असातावेदनीय तथा नामकर्म की उनतीस प्रकृतियां जो नारकी जीवों के भाषापर्याप्ति स्थान *(भाषापर्याप्ति पूर्ण होनेपर मरणतक का काल)* में उदयरूप पायी जाती हैं और नारकानुपूर्वी *(जो विग्रहगति में उदयरूप होती है)* - ये छिहत्तर प्रकृतियां नरकगति में उदययोग्य हैं ॥२९०॥

उन उनतीस प्रकृतियों का कथन करते हैं –

वेगुव्वतेजथिरसुहदुग दुग्गदिहुंडणिमिणपंचिंदी ।
णिरयगदि दुब्भगागुरु तसवण्णचऊ य वचिठाणं ॥२९१॥

वैगूर्वतेजः स्थिरशुभद्विकं दुर्गतिहुंडनिर्माणपंचेंद्रियं ।
निरयगतिर्दुर्भगागुरु त्रसवर्णचत्वारि च वचःस्थानं ॥२९१॥

टीका – वैक्रियिकद्विक, तेजस, कार्माण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, अप्रशस्तविहायोगति, हुंडकसंस्थान, निर्माण, पंचेन्द्रियजाति, नरकगति, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयशस्कीर्ति -ये चार; अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास -ये चार, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक -ये चार, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श -ये चार -ऐसी उनतीस प्रकृतियां नारकी जीवों के भाषापर्याप्ति स्थान में उदयरूप हैं ॥२९१॥

आगे धर्मानरक में उदय की व्युच्छित्ति कहते हैं –

मिच्छमणंतं मिस्सं मिच्छादितिए कमा छिदी अयदे ।
बिदियकसाया दुब्भगणादेज्जदुगाउणिरयचऊ ॥२९२॥

मिथ्यमनंतं मिश्रं मिथ्यात्वादित्रये क्रमात् छित्तिरयते ।
द्वितीयकषाया दुर्भगानादेयद्विकायुर्निरयचत्वारि ॥२९२॥

टीका – मिथ्यात्व में व्युच्छित्ति एक मिथ्यात्व, सासादन में व्युच्छित्ति चार अनंतानुबंधी, मिश्र में व्युच्छित्ति एक सम्यग्मिथ्यात्व, असंयत में व्युच्छित्ति बारह - अप्रत्याख्यान चार, दुर्भग, अनादेय, अयशस्कीर्ति, नरकायु, नरकगति, नारकानुपूर्वी, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अंगोपांग ।

ऐसा होनेपर धर्मानरक में मिथ्यात्व में मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय - ये अनुदय दो, उदय चौहत्तर(७४) । मिथ्यात्व की व्युच्छित्ति और नारकानुपूर्वी का उदय नहीं होने से सासादन में अनुदय चार, उदय बहत्तर । व्युच्छित्ति चार का उदय नहीं और मिश्रमोहनीय का उदय पाया जाता है इसलिए मिश्र में अनुदय सात, उदय उनहत्तर । व्युच्छित्ति एक का उदय नहीं और सम्यक्त्वमोहनीय और नारकानुपूर्वी का उदय पाया जाता है इसलिए असंयत में अनुदय छह, उदय सत्तर है ॥२९२॥

प्रथम नरक रचना - उदययोग्य प्रकृतियां ७६

गुणस्थान	मि	सा	मि	अ
व्युच्छित्ति	१	४	१	१२
उदय	७४	७२	६९	७०
अनुदय	२	४	७	६

आगे द्वितीयादि पृथ्वियों में कहते हैं –

बिदियादिसु छसुपुढिविसु एवं णवरि य असंजदट्ठाणे ।
णत्थि णिरयाणुपुव्वी तिस्से मिच्छेव वोच्छेदो ॥२९३॥

द्वितीयादिषु षट्सु पृथ्वीषु एवं नवरि च असंयतस्थाने ।
नास्ति निरयानुपूर्वी तस्मात् मिथ्ये एव व्युच्छेदः ॥२९३॥

टीका – वंशादि पृथ्वियों में धर्मावत् उदययोग्य प्रकृतियां छिहत्तर । वहां असंयत में नारकानुपूर्वी का उदय नहीं है । पहले जिनका नरकायु का बंध हुआ हो ऐसा भी सम्यग्दृष्टि वंशादिक पृथ्वियों में उत्पन्न नहीं होता, इसलिए मिथ्यात्व गुणस्थान में नारकानुपूर्वी और मिथ्यात्व इन दो प्रकृतियों की व्युच्छित्ति है । उदय चौहत्तर, अनुदय दो – मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय । व्युच्छित्ति दो; इसलिए सासादन में अनुदय चार, उदय बहत्तर । व्युच्छित्ति चार का उदय नहीं और मिश्रमोहनीय का उदय है; इसलिए मिश्र में अनुदय सात, उदय उनहत्तर । व्युच्छित्ति एक का उदय नहीं है और सम्यक्त्वमोहनीय का उदय है; इसलिए असंयत में अनुदय सात, उदय उनहत्तर है ॥२९३॥

द्वितीयादि नरक रचना (गाथा २९३ के आधार से) उदययोग्य प्रकृतियां ७६-

गुणस्थान	मि	सा	मि	अ
व्युच्छित्ति	२	४	१	११
उदय	७४	७२	६९	६९
अनुदय	२	४	७	७

आगे तिर्यंचगति में कहते हैं –

तिरिये ओघो सुरणर णिरयाऊउच्च मणुदुहारदुगं ।
वेगुव्वछक्कतित्थं णत्थि हु एमेव सामण्णे ॥२९४॥

तिरश्चि ओघः सुनरनिरयायुरुच्चं मनुद्वि आहारद्विकं ।
वैगूर्विकषट्कतीर्थं नास्ति हि एवमेव सामान्ये ॥२९४॥

टीका – तिर्यंचगति में **ओघः** अर्थात् गुणस्थानवत् उदययोग्य एक सौ बाइस; उनमें से यहां देवायु, मनुष्यायु, नारकायु -तीन आयु, उच्चगोत्र, मनुष्यगति और आनुपूर्वी,

आहारक शरीर और अंगोपांग; वैक्रियिक शरीर और अंगोपांग, देवगति और आनुपूर्वी, नरकगति और आनुपूर्वी -ये छह, तीर्थंकर -ये पंद्रह प्रकृतियां उदययोग्य नहीं हैं, इसलिए उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ सात हैं ।

पांच प्रकार के तिर्यंचों में सामान्य तिर्यंचों में इसी प्रकार उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ सात, गुणस्थान पांच । वहां व्युच्छित्ति गुणस्थानों में कही वैसी ही पांच, नौ आदि जानना; इसलिए मिथ्यात्व में व्युच्छित्ति पांच, उदय एक सौ पांच, अनुदय मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय – दो । सासादन में पांच मिलाने से अनुदय सात, उदय सौ(१००), व्युच्छित्ति नौ । नौ व्युच्छित्ति और तिर्यंचानुपूर्वी का उदय नहीं है और मिश्रमोहनीय का उदय है; इसलिए मिश्र में अनुदय सोलह, उदय इक्यानबे, व्युच्छित्ति एक । व्युच्छित्ति एक का उदय नहीं और सम्यक्त्वमोहनीय और तिर्यंचानुपूर्वी का उदय है; इसलिए असंयत में अनुदय पंद्रह, उदय बानबे, व्युच्छित्ति अप्रत्याख्यान चार, तिर्यंचानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय, अयशस्कीर्ति -ये आठ । व्युच्छित्ति आठ का उदय नहीं; इसलिए देशसंयत में अनुदय तेइस, उदय चौरासी, व्युच्छित्ति गुणस्थानवत् आठ ॥२९४॥

सामान्य तिर्यंच रचना (गाथा २९४ के आधार से) - उदययोग्य प्रकृतियां १०७

गुणस्थान	मि	सा	मि	अ	दे
व्युच्छित्ति	५	९	१	८	८
उदय	१०५	१००	९१	९२	८४
अनुदय	२	७	१६	१५	२३

आगे पंचेन्द्रिय तिर्यंच और पर्याप्त तिर्यंच में कहते हैं –

थावरदुगसाहारणताविगिविगलूण ताणि पंचक्खे ।
इत्थिअपज्जत्तूणा ते पुण्णे उदयपयडीओ ॥२९५॥

स्थावरद्विकसाधारणातपैकविकलोनाः ताः पंचाक्षे ।
स्त्र्यपर्याप्तोनास्ताः पूर्णे उदयप्रकृतयः ॥२९५॥

टीका – सामान्य तिर्यंच में उदययोग्य प्रकृतियां (१०७) कही थी उनमें से स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय -इन आठ प्रकृतियों को छोड़कर, पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के उदययोग्य प्रकृतियां निन्यानबे हैं । वहां

मिथ्यात्व में व्युच्छित्ति मिथ्यात्व, अपर्याप्त – ये दो, उदय सत्तानबे, अनुदय मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय – ये दो । सासादन में व्युच्छित्ति अनंतानुबंधी चार, उदय पंचानबे, अनुदय दो मिलाने से चार । मिश्र में व्युच्छित्ति मिश्रमोहनीय एक, उदय इक्यानबे; तिर्यंचानुपूर्वी का उदय नहीं है, मिश्रमोहनीय का उदय है और व्युच्छित्ति चार के मिलाने से अनुदय आठ । असंयत में व्युच्छित्ति पूर्वोक्त आठ, मिश्र संबंधी आठ में से वहां की व्युच्छित्ति एक मिलानेपर तथा सम्यक्त्वमोहनीय और तिर्यंचानुपूर्वी का उदय पाया जाता है; इसलिए इनको घटानेपर अनुदय सात, उदय बानबे । देशसंयत में व्युच्छित्ति गुणस्थानवत् आठ, अनुदय आठ मिलाने से पंद्रह, उदय चौरासी है ।

(पंचेन्द्रिय तिर्यंच रचना - उदययोग्य प्रकृतियां ९९(गाथा २९५ के आधार से)

गुणस्थान	*मि*	*सा*	*मि*	*अ*	*दे*
व्युच्छित्ति	२	४	१	८	८
उदय	९७	९५	९१	९२	८४
अनुदय	२	४	८	७	१५

पंचेन्द्रिय तिर्यंच के उदययोग्य प्रकृतियां (९९) में से स्त्रीवेद और अपर्याप्त - ये दो प्रकृतियां घटानेपर पंचेन्द्रिय पर्याप्त के उदययोग्य प्रकृतियां सत्तानबे । वहां मिथ्यात्व में व्युच्छित्ति एक मिथ्यात्व, अनुदय सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय -ये दो, उदय पंचानबे । पुनश्च सासादन में व्युच्छित्ति अनंतानुबंधी चार, एक मिलाने से अनुदय तीन, उदय चौरानबे । मिश्र में व्युच्छित्ति मिश्रमोहनीय एक, अनुदय -पूर्व में व्युच्छित्ति हुयी चार और तिर्यंचानुपूर्वी के मिलाने से और मिश्रमोहनीय के घटाने से सात, उदय नब्बे। असंयत में व्युच्छित्ति आठ, अनुदय – एक मिलाने से तथा सम्यक्त्वमोहनीय और तिर्यंचानुपूर्वी के घटाने से छह, उदय इक्यानबे । देशसंयत में व्युच्छित्ति आठ, अनुदय – आठ मिलाने से चौदह, उदय तिरासी ॥२९५॥

पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच रचना-उदययोग्य प्रकृतियां ९७ (गाथा २९५ के आधार से)

गुणस्थान	मि	सा	मि	अ	दे
व्युच्छित्ति	१	४	१	८	८
उदय	९५	९४	९०	९१	८३
अनुदय	२	३	७	६	१४

पुंसंढूणित्थिजुदा जोणिणिये अविरदे ण तिरयाणू ।
पुण्णिदरे थी थीणति परघाददु पुण्णउज्जोवं ।।२९६।।

पुंषंढोनस्त्रीयुता योनिमती अविरते न तिर्यगानुः ।
पूर्णेतरे स्त्री स्त्यानत्रि परघातद्वि पूर्णोद्योतं ।।२९६।।

टीका – योनीमति तिर्यंच अर्थात् तिर्यंचनी के उदययोग्य प्रकृतियां, पंचेन्द्रिय तिर्यंच पर्याप्त के सत्तानबे कही थी उसमें से पुरुषवेद, नपुंसकवेद घटाकर स्त्रीवेद मिलाने पर छानबे होती हैं । वहां व्युच्छित्ति मिथ्यात्व में एक मिथ्यात्व, सासादन में व्युच्छित्ति अनंतानुबंधी चार और तिर्यंचानुपूर्वी -ये पांच क्योंकि अविरत सम्यग्दृष्टि मरकर तिर्यंचनी में नहीं उपजता । *(३रे, ४थे, ५वें गुणस्थान में यहां तिर्यंचानुपूर्वी का उदय नहीं इसलिए २ रे में ही व्युच्छित्ति कही है)* । मिश्र में व्युच्छित्ति एक मिश्रमोहनीय, असंयत में आठ में से तिर्यंचानुपूर्वी को छोड़कर सात । देशसंयत में गुणस्थानवत् व्युच्छित्ति आठ।

इसतरह होनेपर मिथ्यात्व में अनुदय दो – मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय, उदय चौरानबे । एक व्युच्छित्ति हुयी, इसलिए सासादन में अनुदय तीन, उदय तिरानबे। व्युच्छित्ति पांच का उदय नहीं और मिश्रमोहनीय का उदय होने से मिश्र में अनुदय सात, उदय नवासी । व्युच्छित्ति एक का उदय नहीं और सम्यक्त्वमोहनीय का उदय होने से असंयत में अनुदय सात, उदय नवासी । व्युच्छित्ति सात होने से देशसंयत में अनुदय चौदह, उदय बयासी ।

योनिमती तिर्यंच रचना - उदययोग्य प्रकृतियां ९६(गाथा २९६ के आधार से)

गुणस्थान	मि	सा	मि	अ	दे
व्युच्छित्ति	१	५	१	७	८
उदय	९४	९३	८९	८९	८२
अनुदय	२	३	७	७	१४

पुनश्च लब्धिअपर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यंच में, योनिमती तिर्यंच में कही हुयी उदययोग्य छानबे प्रकृतियों में से निम्न प्रकृतियां घटाना - स्त्रीवेद, स्त्यानगृद्धि आदि तीन, परघात, उच्छ्वास, पर्याप्त, उद्योत । *(ये आठ तथा अन्य ११ नाम गाथा २९७ में कहे हैं)*।।२९६।।

सुरगदिदु जसादेज्जं आदीसंठाणसंहदीपणगं ।
सुभगं सम्मं मिस्सं हीणा तेऽपुण्णसंढजुदा ॥२९७॥

स्वरगतिद्वि यश आदेयमादिसंस्थानसंहतिपंचकं ।
सुभगं सम्यक्त्वं मिश्रं हीनाः ता अपूर्णषंढयुताः ॥२९७॥

टीका – *(ऊपर बताये हुये आठ और)* सुस्वर, दुस्वर, प्रशस्त-अप्रशस्त विहायोगति, यशस्कीर्ति, आदेय, आदि के पांच संस्थान, आदि के पांच संहनन, सुभग, सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय - ये सत्ताइस घटानेपर और अपर्याप्त, नपुंसकवेद मिलानेपर पंचेन्द्रिय लब्धिअपर्याप्त की उदययोग्य प्रकृतियां इकहत्तर हैं । गुणस्थान एक मिथ्यात्व है ॥२९७॥

आगे मनुष्यगति में कहते हैं –

मणुवे ओघो थावर तिरियादावदुगएयवियलिंदी ।
साहरणिदराउतियं वेगुव्वियछक्क परिहीणो ॥२९८॥

मानवे ओघः स्थावर तिर्यगातपद्विकैकविकलेंद्रियं ।
साधारणेतरायुस्त्रयं वैगूर्विकषट्कं परिहीनः ॥२९८॥

टीका – चार प्रकार के मनुष्यों में से सामान्य मनुष्यों में उदययोग्य प्रकृतियां, गुणस्थान में उदययोग्य एक सौ बाइस प्रकृतियों में से स्थावर, सूक्ष्म, तिर्यंचगति और आनुपूर्वी, आतप, उद्योत, एकेन्द्रियादि चार जाति, साधारण, नारकायु, तिर्यंचायु, देवायु वैक्रियिक शरीर और अंगोपांग, देवगति और आनुपूर्वी, नरकगति और आनुपूर्वी - ये छह - ऐसी बीस प्रकृतियां घटानेपर, एक सौ दो प्रकृतियां जाननी ॥२९८॥

मिच्छमपुण्णं छेदो अणमिस्सं मिच्छगादितिसु अयदे ।
बिदियकसायणराणू दुब्भगऽणादेज्जअज्जसयं ॥२९९॥

मिथ्यात्वमपूर्णं छेदः अनमिश्रं मिथ्यकादित्रिषु अयते ।
द्वितीयकषायनरानुः दुर्भगानादेयायशस्कं ॥२९९॥

टीका – यहां व्युच्छित्ति मिथ्यात्व में मिथ्यात्व, अपर्याप्त – दो; सासादन में अनंतानुबंधी चार; मिश्र में मिश्रमोहनीय; असंयत में अप्रत्याख्यान कषाय चार, मनुष्यानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय, अयशस्कीर्ति – ये आठ ॥२९९॥

देसे तदियकसाया णीचं एमेव मणुससामण्णे ।
पज्जत्तेवि य इत्थीवेदापज्जत्तिपरिहीणो ॥३००॥

देशेतृतीयकषाया नीचमेवमेव मनुष्यसामान्ये ।
पर्याप्तेऽपि च स्त्री वेदापर्याप्तिपरिहीना ॥३००॥

टीका – देशसंयत में तीसरा प्रत्याख्यान कषाय चार और नीचगोत्र – ये पांच। ऊपर प्रमत्तविरत आदि में गुणस्थानोक्त पांच; चार, छह, छह, एक, दो, सोलह, तीस, बारह की व्युच्छित्ति जानना ।

वहां मिथ्यात्व में अनुदय मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, आहारकद्विक, तीर्थंकर -ये पांच, उदय सत्तानबे । यहां व्युच्छित्ति दो, इसलिए सासादन में अनुदय सात, उदय पंचानबे । यहां व्युच्छित्ति चार और मनुष्यानुपूर्वी का उदय नहीं है, किन्तु मिश्रमोहनीय का उदय है, इसलिए मिश्र में अनुदय ग्यारह, उदय इक्यानबे । व्युच्छित्ति एक का उदय नहीं किन्तु सम्यक्त्वमोहनीय और मनुष्यानुपूर्वी का उदय है इसलिए असंयत में अनुदय दस, उदय बानबे । व्युच्छित्ति आठ; इसलिए देशसंयत में अनुदय अठारह, उदय चौरासी । व्युच्छित्ति पांच का उदय नहीं किन्तु आहारकद्विक का उदय है; इसलिए प्रमत्तसंयत में अनुदय इक्कीस, उदय इक्यासी । व्युच्छित्ति पांच; इसलिए अप्रमत्तसंयत में अनुदय छब्बीस, उदय छिहत्तर । व्युच्छित्ति चार; इसलिए अपूर्वकरण में अनुदय तीस, उदय बहत्तर । व्युच्छित्ति छह; इसलिए अनिवृत्तिकरण में अनुदय छत्तीस, उदय छासठ । व्युच्छित्ति छह; इसलिए सूक्ष्मसाम्पराय में अनुदय बयालीस, उदय साठ । यहां व्युच्छित्ति एक; इसलिए उपशांतमोह में अनुदय तैंतालीस, उदय उनसठ । यहां व्युच्छित्ति दो, इसलिए क्षीणमोह में अनुदय पैंतालीस, उदय सत्तावन । यहां व्युच्छित्ति सोलह का उदय नहीं किन्तु तीर्थंकर का उदय; इसलिए सयोगकेवली में अनुदय साठ, उदय बयालीस । व्युच्छित्ति तीस, इसलिए अयोगकेवली में अनुदय नब्बे, उदय बारह।

*(**विशेषार्थ** – सामान्य मनुष्य रचना - उदययोग्य प्रकृतियां १०२*

गुण.	*मि*	*सा*	*मि*	*अ*	*दे*	*प्र*	*अप्र*	*अपू*	*अनि*	*सू*	*उ*	*क्षी*	*स*	*अ*
व्यु.	२	४	१	८	५	५	४	६	६	१	२	१६	३०	१२
उदय	९७	९५	९१	९२	८४	८१	७६	७२	६६	६०	५९	५७	४२	१२
अनु.	५	७	११	१०	१८	२१	२६	३०	३६	४२	४३	४५	६०	९०

उसी प्रकार पर्याप्त मनुष्य में, सामान्य मनुष्य में कही हुयी प्रकृतियों में से स्त्रीवेद, अपर्याप्त को घटानेपर, उदययोग्य प्रकृतियां सौ(१००) । वहां व्युच्छित्ति मिथ्यात्व में एक मिथ्यात्व, सासादन में अनंतानुबंधी चार, मिश्र में एक, असंयत में आठ, देशसंयत में पांच, प्रमत्तसंयत में पांच, अप्रमत्तसंयत में चार, अपूर्वकरण में छह, अनिवृत्तिकरण में स्त्रीवेद बिना पांच ही । ऊपर सामान्य मनुष्यवत् व्युच्छित्ति जानना ।

ऐसा होनेपर मिथ्यात्व में अनुदय पांच पूर्वोक्त, उदय पंचानबे । पुनश्च व्युच्छित्ति एक; इसलिए सासादन में अनुदय छह, उदय चौरानबे । व्युच्छित्ति चार; मनुष्यानुपूर्वी का उदय नहीं और मिश्रमोहनीय का उदय है; इसलिए मिश्र में अनुदय दस, उदय नब्बे । व्युच्छित्ति एक का उदय नहीं, सम्यक्त्वमोहनीय और मनुष्यानुपूर्वी का उदय है, इसलिए असंयत में अनुदय नौ, उदय इक्यानबे । व्युच्छित्ति आठ; इसलिए देशसंयत में अनुदय सत्रह, उदय तिरासी । व्युच्छित्ति पांच का उदय नहीं, आहारकद्विक का उदय है; इसलिए प्रमत्तसंयत में अनुदय बीस, उदय अस्सी । व्युच्छित्ति पांच; इसलिए अप्रमत्तसंयत में अनुदय पच्चीस, उदय पचहत्तर । व्युच्छित्ति चार; इसलिए अपूर्वकरण में अनुदय उनतीस, उदय इकहत्तर । व्युच्छित्ति छह; इसलिए अनिवृत्तिकरण में अनुदय पैंतीस, उदय पैंसठ । व्युच्छित्ति पांच; इसलिए सूक्ष्मसाम्पराय में अनुदय चालीस, उदय साठ । व्युच्छित्ति एक; इसलिए उपशांतमोह में अनुदय इकतालीस, उदय उनसठ । व्युच्छित्ति दो; इसलिए क्षीणकषाय में अनुदय तैंतालीस, उदय सत्तावन । व्युच्छित्ति सोलह का उदय नहीं और तीर्थंकर का उदय है; इसलिए सयोगकेवली में अनुदय अट्ठावन, उदय बयालीस । व्युच्छित्ति तीस, इसलिए अयोगकेवली में अनुदय अठ्ठासी, उदय बारह है ॥३००॥

*(**विशेषार्थ** – पर्याप्त मनुष्य रचना - उदययोग्य प्रकृतियां १००*

गुण.	मि	सा	मि	अ	दे	प्र	अप्र	अपू	अनि	सू	उ	क्षी	स	अ
व्यु.	१	४	१	८	५	५	४	६	५	१	२	१६	३०	१२
उदय	९५	९४	९०	९१	८३	८०	७५	७१	६५	६०	५९	५७	४२	१२
अनु.	५	६	१०	९	१७	२०	२५	२९	३५	४०	४१	४३	५८	८८

मणुसिणिएत्थीसहिदा तित्थयराहारपुरिससंढूणा ।
पुण्णिदरेव अपुण्णे सगाणुगदिआउगं णेयं ॥३०१॥

मनुष्यिण्यां स्त्रीसहिताः तीर्थकराहारपुरुषषंढोनाः ।
पूर्णेतर इवापूर्णे स्वकानुगत्यायुष्कं ज्ञेयं ॥३०१॥

टीका – मनुष्यणी में उदययोग्य प्रकृतियां छानबे हैं । पर्याप्त मनुष्य में सौ कही, उनमें स्त्रीवेद मिलाना और तीर्थंकर, आहारकद्विक, पुरुषवेद, नपुंसकवेद घटाना। वहां व्युच्छित्ति मिथ्यात्व में एक मिथ्यात्व; सासादन में अनंतानुबंधी चार और मनुष्यानुपूर्वी – ये पांच; मिश्र में मिश्रमोहनीय एक; असंयत में दूसरा कषाय (अप्रत्याख्यान) चार, दुर्भग, अनादेय, अयशस्कीर्ति -ये सात; देशविरत में तीसरा कषाय(प्रत्याख्यान) चार, नीचगोत्र – ये पांच; प्रमत्तसंयत में स्त्यानगृद्धित्रिक; अप्रमत्तसंयत और अपूर्वकरण में गुणस्थानवत् चार और छह; अनिवृत्तिकरण के भागों में अनुक्रम से स्त्रीवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया – ये चार; सूक्ष्मसाम्पराय में सूक्ष्म लोभ, उपशांतमोह में वज्रनाराच, नाराच – ये दो; क्षीणमोह में सोलह; सयोगकेवली में तीस और अयोगकेवली में तीर्थंकर प्रकृति नहीं होने से ग्यारह ।

ऐसा होनेपर मिथ्यात्व में अनुदय मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय – दो; उदय चौरानबे । यहां व्युच्छित्ति एक, इसलिए सासादन में अनुदय तीन, उदय तिरानबे । व्युच्छित्ति पांच का उदय नहीं किन्तु मिश्रमोहनीय का उदय है, इसलिए मिश्र में अनुदय सात, उदय नवासी । व्युच्छित्ति एक का उदय नहीं, सम्यक्त्वमोहनीय का उदय है; इसलिए असंयत में अनुदय सात, उदय नवासी । यहां व्युच्छित्ति सात; इसलिए देशसंयत में अनुदय चौदह, उदय बयासी । व्युच्छित्ति पांच; इसलिए प्रमत्तसंयत में अनुदय उन्नीस, उदय सतहत्तर । व्युच्छित्ति तीन; इसलिए अप्रमत्तसंयत में अनुदय बाइस, उदय चौहत्तर। व्युच्छित्ति चार; इसलिए अपूर्वकरण में अनुदय छब्बीस, उदय सत्तर । व्युच्छित्ति छह; इसलिए अनिवृत्तिकरण में अनुदय बत्तीस, उदय चौंसठ । व्युच्छित्ति चार; इसलिए सूक्ष्मसाम्पराय में अनुदय छत्तीस, उदय साठ । व्युच्छित्ति एक; इसलिए उपशांतमोह में अनुदय सैंतीस, उदय उनसठ । व्युच्छित्ति दो; इसलिए क्षीणमोह में अनुदय उनतालीस, उदय सत्तावन। व्युच्छित्ति सोलह; इसलिए सयोगकेवली में अनुदय पचपन, उदय इकतालीस। व्युच्छित्ति तीस; इसलिए अयोगकेवली में अनुदय पचासी, उदय ग्यारह ।

गाथा ३०१ के आधार से मनुष्यणी रचना - उदययोग्य प्रकृतियां ९६ ।

गुण.	मि	सा	मिश्र	अ	दे	प्र	अप्र	अपू	अनि	सू	उ	क्षी	स	अ
व्यु.	१	५	१	७	५	३	४	६	४	१	२	१६	३०	११
उदय	९४	९३	८९	८९	८२	७७	७४	७०	६४	६०	५९	५७	४१	११
अनु.	२	३	७	७	१४	१९	२२	२६	३२	३६	३७	३९	५५	८५

पुनश्च मनुष्य लब्धिअपर्याप्त में उदय प्रकृतियां इकहत्तर । तिर्यंच लब्धिअपर्याप्त में कही उनमें से तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, तिर्यंचायु घटाना; मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु मिलाना । गुणस्थान एक मिथ्यात्व है ॥३०१॥

आगे भोगभूमि के मनुष्य और तिर्यंच में दो गाथाओं द्वारा कहते हैं –

मणुसोघं वा भोगे दुब्भगचउणीचसंढथीणतियं ।
दुग्गदितित्थमपुण्णं संहदिसंठाणचरिमपणं ॥३०२॥

हारदुहीणा एवं तिरये मणुदुच्चगोदमणुवाउं ।
अवणिय पक्खिव णीचं तिरियदुतिरियाउउज्जोवं ॥३०३॥

मनुष्यौघ इव भोगे दुर्भगचतुर्नीचषंढस्त्यानत्रयं ।
दुर्गतितीर्थमपूर्णं संहतिसंस्थानचरमपंच ॥३०२॥

आहारद्विहीना एवं तिरश्चि मनुद्विउच्चगोत्रमानवायुः ।
अपनीय प्रक्षिप्य नीचं तिर्यग्द्वितिर्यगायुरुद्योतं ॥३०३॥

टीका – भोगभूमियां मनुष्य में सामान्य मनुष्यवत् एक सौ दो - उसमें से दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयशस्कीर्ति – ये चार, नीचगोत्र, नपुंसकवेद, स्त्यानगृद्धि आदि तीन, अप्रशस्त विहायोगति, तीर्थंकर, अपर्याप्त, अंत के पांच संहनन, अंत के पांच संस्थान, आहारकद्विक – इन चौबीस को छोड़कर उदययोग्य अठहत्तर । वहां व्युच्छित्ति मिथ्यात्व में एक मिथ्यात्व; सासादन में अनंतानुबंधी चार, मिश्र में मिश्रमोहनीय; असंयत में दूसरा कषाय(अप्रत्याख्यान) चार, मनुष्यायु – ये पांच ।

ऐसा होनेपर मिथ्यात्व में अनुदय मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय – दो, उदय छिहत्तर । व्युच्छित्ति एक; इसलिए सासादन में अनुदय तीन, उदय पचहत्तर । व्युच्छित्ति चार, मनुष्यानुपूर्वी का उदय नहीं और मिश्रमोहनीय का उदय है; इसलिए मिश्र में

अनुदय सात, उदय इकहत्तर । व्युच्छित्ति एक का उदय नहीं और सम्यक्त्वमोहनीय, मनुष्यानुपूर्वी का उदय है इसलिए असंयत में अनुदय छह, उदय बहत्तर है ।

गाथा ३०२ के आधार से - भोगभूमि मनुष्य रचना - उदययोग्य प्रकृतियां ७८।

गुणस्थान	मि	सा	मिश्र	अ
व्युच्छित्ति	१	४	१	५
उदय	७६	७५	७१	७२
अनुदय	२	३	७	६

ऐसे ही भोगभूमियां तिर्यंच में उदययोग्य प्रकृतियां उन्नासी - वहां मनुष्यवत् अठहत्तर प्रकृतियों में से मनुष्यगति और आनुपूर्वी, उच्चगोत्र, मनुष्यायु -ये चार दूर करना और तिर्यंचगति और आनुपूर्वी, नीचगोत्र, तिर्यंचायु और उद्योत -ये पांच मिलाना । वहां मिथ्यात्व गुणस्थान में व्युच्छित्ति मिथ्यात्व, सासादन में अनंतानुबंधी चार, मिश्र में मिश्रमोहनीय, असंयत में दूसरा कषाय(अप्रत्याख्यान) चार और तिर्यंचायु – इन पांच की व्युच्छित्ति होती है ।

ऐसा होनेपर मिथ्यात्व में अनुदय -मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय – दो; उदय सतहत्तर । यहां व्युच्छित्ति एक; इसलिए सासादन में अनुदय तीन, उदय छिहत्तर । व्युच्छित्ति चार, तिर्यंचानुपूर्वी का उदय नहीं और मिश्रमोहनीय का उदय है; इसलिए मिश्र में अनुदय सात, उदय बहत्तर । व्युच्छित्ति एक का उदय नहीं और सम्यक्त्वमोहनीय, तिर्यंचानुपूर्वीका उदय है; इसलिए असंयत में अनुदय छह, उदय तिहत्तर है ॥३०२-३०३॥

गाथा ३०३ के आधार से – भोगभूमि तिर्यंच रचना-उदययोग्य प्रकृतियां ७९

गुणस्थान	मि	सा	मिश्र	अ
व्युच्छित्ति	१	४	१	५
उदय	७७	७६	७२	७३
अनुदय	२	३	७	६

आगे देवगति में कहते हैं –

भोगं व सुरे णरचउणराउवज्जूण सुरचउसुराउं ।
खिव देवे णेवित्थी इत्थिम्मि ण पुरिसवेदो य ॥३०४॥

भोग इव सुरे नरचतुर्नरायुर्वज्रोनित्वा सुरचतुःसुरायुः ।
क्षिप्त्वा देवे नैव स्त्री स्त्रियां न पुरुषवेदश्च ॥३०४॥

टीका – देवगति में उदययोग्य प्रकृतियां सतहत्तर । वहां भोगभूमि मनुष्यवत् अठहत्तर में से मनुष्यगति और आनुपूर्वी, औदारिक शरीर और अंगोपांग, मनुष्यायु, वज्रवृषभनाराचसंहनन -ये छह घटाना और देवगति और आनुपूर्वी, वैक्रियिक शरीर और अंगोपांग, देवायु – ये पांच मिलाना ।

इसतरह सामान्य देव में उदययोग्य सतहत्तर । वहां व्युच्छित्ति मिथ्यात्व में मिथ्यात्व, सासादन में अनंतानुबंधी चार, मिश्र में मिश्रमोहनीय एक, असंयत में दूसरा (अप्रत्याख्यान) कषाय चार, देवगति और आनुपूर्वी, वैक्रियिकशरीर और अंगोपांग, देवायु – ये नौ।

ऐसा होनेपर मिथ्यात्व में अनुदय सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय – दो, उदय पचहत्तर । यहां व्युच्छित्ति एक; इसलिए सासादन में अनुदय तीन, उदय चौहत्तर। व्युच्छित्ति चार, देवानुपूर्वी का उदय नहीं, मिश्रमोहनीय का उदय है; इसलिए मिश्र में अनुदय सात, उदय सत्तर । व्युच्छित्ति एक का उदय नहीं और सम्यक्त्वमोहनीय, देवानुपूर्वी का उदय है; इसलिए असंयत में अनुदय छह, उदय इकहत्तर ।

देवों में पुरुषवेद का ही उदय है, देवांगना में स्त्रीवेद का ही उदय है; इसलिए सौधर्मादि उपरिम ग्रैवेयक तक देवों में उदययोग्य प्रकृतियां स्त्रीवेद छोड़कर छिहत्तर । अन्य सर्व रचना सामान्य देववत् है । वहां मिथ्यात्वादि चार गुणस्थानों में व्युच्छित्ति एक, चार, एक, नौ; उदय चौहत्तर, तिहत्तर, उनहत्तर, सत्तर; अनुदय दो, तीन, सात, छह अनुक्रम से जानना ॥३०४॥

सामान्य देव रचना उदययोग्य प्रकृतियां ७७

गुणस्थान	मि	सा	मिश्र	अ
व्युच्छित्ति	१	४	१	९
उदय	७५	७४	७०	७१
अनुदय	२	३	७	६

गाथा ३०४ के आधार से - सौधर्मादि उपरिम ग्रैवेयक तक देव रचना - उदययोग्य प्रकृतियां ७६

गुणस्थान	मि	सा	मिश्र	अ
व्युच्छित्ति	१	४	१	९
उदय	७४	७३	६९	७०
अनुदय	२	३	७	६

आगे अनुदिशादि में कहते हैं –

अविरदठाणं एक्कं अणुद्दिसादिसु सुरोघमेव हवे ।
भवणतिकप्पित्थीणं असंजदे णत्थि देवाणू ।।३०५।।

अविरतस्थानमेकमनुदिशादिषु सुरौघमेव भवेत् ।
भवनत्रिकल्पस्त्रीणामसंयते नास्ति देवानुः ।।३०५।।

टीका – नौ अनुदिश, पांच अनुत्तर - इन चौदह विमानों में एक असंयत गुणस्थान ही है; इसलिए देवों में असंयत गुणस्थान में उदयरूप कही हुयी सत्तर प्रकृतियां वहां उदययोग्य जानना ।

भवनत्रिक और कल्पवासिनी देवांगना इनकी सामान्य देववत् उदययोग्य प्रकृतियां सतहत्तर - उनमें केवल देवों में स्त्रीवेद बिना और केवल देवांगनाओं में पुरुषवेद बिना छिहत्तर प्रकृतियां उदययोग्य जानना । भवनत्रिक और कल्पवासिनी देवांगना इनमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होते; इसलिए देवानुपूर्वी का चौथे गुणस्थान में उदय नहीं है । इसतरह सासादन में व्युच्छित्ति पांच और असंयत में व्युच्छित्ति आठ कहना; अन्य सर्व सुगम है ।

मिथ्यात्वादि में व्युच्छित्ति एक, पांच, एक, आठ; उदय चौहत्तर, तिहत्तर, उनहत्तर, उनहत्तर; अनुदय दो, तीन, सात, सात जानना ।।३०५।।

गाथा ३०५ के आधार से –

अनुदिश, अनुत्तर रचना

अ.
०
७०
०

भवनत्रिक कल्पवासिनी रचना

गुणस्थान	मि	सा	मिश्र	अ
व्युच्छित्ति	१	५	१	८
उदय	७४	७३	६९	६९
अनुदय	२	३	७	७

आगे इन्द्रियमार्गणा में तीन गाथाओं द्वारा कहते हैं –

तिरियअपुण्णं वेगे परघादचउक्कपुण्णसाहरणं ।
एइंदियजसथीणतिथावरजुगलं च मिलिदव्वं ।।३०६।।
रिणमंगोवंगतसं संहदिपंचक्खमेवमिह वियले ।
अवणिय थावरजुगलं साहरणेयक्खमादावं ।।३०७।।
खिव तसदुग्गदिदुस्सरमंगोवंगं सजादिसेवट्टं ।
ओघं सयले साहरणिगिविगलादावथावरदुगूणं ।।३०८।।

तिर्यगपूर्णमिवैके परघातचतुष्कपूर्णसाधारणं ।
एकेंद्रिययशः स्त्यानत्रिस्थावरयुगलं मेलितव्यं ।।३०६।।
ऋणमंगोपांगत्रसं संहतिपंचाक्षमेवमिह विकले ।
अपनीय स्थावरयुगलं साधारणैकाक्षमातापं ।।३०७।।
क्षिप्त्वा त्रसदुर्गतिदुःस्वरमंगोपांगं स्वजातिसृपाटिकं ।
ओघः सकले साधारणैकविकलातापस्थावरद्विकोनं ।।३०८।।

टीका – एकेन्द्रिय मार्गणा में उदययोग्य प्रकृतियां अस्सी । वहां तिर्यंच लब्धिअपर्याप्तवत् इकहत्तर में परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, पर्याप्त, साधारण, एकेन्द्रिय, यशस्कीर्ति, स्त्यानगृद्धित्रिक, स्थावर, सूक्ष्म - ये तेरह मिलाना और औदारिक अंगोपांग, त्रस, सृपाटिका संहनन, पंचेन्द्रिय -ये चार घटाना -ऐसी उदययोग्य प्रकृतियां अस्सी । वहां व्युच्छित्ति मिथ्यात्व में मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण -ये पांच; तथा स्त्यानगृद्धित्रिक, परघात, उद्योत, उच्छ्वास -इन छहों का एकेन्द्रिय के सासादन में उदय नहीं है इसलिए छह ये – ऐसे सर्व ग्यारह की व्युच्छित्ति । सासादन में अनंतानुबंधी चार, एकेन्द्रिय,

स्थावर, – छह की व्युच्छित्ति । इसतरह मिथ्यात्व में अनुदय नास्ति, उदय अस्सी। व्युच्छित्ति ग्यारह; इसलिए सासादन में अनुदय ग्यारह, उदय उनहत्तर है ।

पुनश्च द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय - इन विकलेन्द्रियों में उदययोग्य प्रकृतियां इक्यासी। वहां एकेन्द्रियवत् अस्सी में से स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, एकेन्द्रिय, आतप -ये पांच घटाना; त्रस, अप्रशस्त विहायोगति, दुस्वर, अंगोपांग, अपनी-अपनी जाति, सृपाटिका संहनन – ये छह मिलाना । इसतरह उदययोग्य प्रकृतियां इक्यासी हैं । वहां व्युच्छित्ति मिथ्यात्व में मिथ्यात्व, अपर्याप्त, स्त्यानगृद्धित्रिक, परघात, उच्छ्वास, उद्योत, अप्रशस्त विहायोगति, दुस्वर – ये दस; सासादन में अनंतानुबंधी चार, अपनी एक जाति – ये पांच। इसतरह मिथ्यात्व में अनुदय नास्ति, उदय इक्यासी । व्युच्छित्ति दस; इसलिए सासादन में अनुदय दस, उदय इकहत्तर ।

पंचेन्द्रियों में उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ चौदह । वहां गुणस्थानवत् एक सौ बाइस में से साधारण, एकेन्द्रियादि जाति चार, आतप, स्थावर, सूक्ष्म – ये आठ घटाने पर उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ चौदह और गुणस्थान चौदह । वहां व्युच्छित्ति मिथ्यात्व में मिथ्यात्व, अपर्याप्त दो; सासादन में अनंतानुबंधी चार, मिश्रादि में गुणस्थानवत् एक, सत्रह, आठ, पांच, चार, छह, छह, एक, दो, सोलह, तीस, बारह जानना।

वहां मिथ्यात्व में अनुदय गुणस्थानवत् पांच, उदय एक सौ नौ । व्युच्छित्ति दो और नारकानुपूर्वी का उदय नहीं; इसलिए सासादन में अनुदय आठ, उदय एक सौ छह । मिश्रादि में गुणस्थानवत् उदय अनुक्रम से सौ, एक सौ चार, सत्तासी, इक्यासी, छिहत्तर, बहत्तर, छासठ, साठ, उनसठ, सत्तावन, बयालीस, बारह प्रकृति जानना। मूल में आठ कम हैं; इसलिए मिश्रादि में अनुदय अनुक्रम से चौदह, दस, सत्ताइस, तैंतीस, अड़तीस, बयालीस, अड़तालीस, चौवन, पचपन, सत्तावन, बहत्तर, एक सौ दो प्रकृतियां जानना ॥३०६-३०८॥

एकेन्द्रिय रचना - उदययोग्य ८०

गुणस्थान	मि	सा
व्युच्छित्ति	११	६
उदय	८०	६९
अनुदय	०	११

विकलत्रय रचना - उदययोग्य ८१

मि	सा
१०	५
८१	७१
०	१०

पंचेन्द्रिय रचना - उदययोग्य ११४

गुण.	मि	सा	मिश्र	अ	दे	प्र	अप्र	अपू	अनि	सू	उ	क्षी	स	अ
व्यु.	२	४	१	१७	८	५	४	६	६	१	२	१६	३०	१२
उदय	१०९	१०६	१००	१०४	८७	८१	७६	७२	६६	६०	५९	५७	४२	१२
अनु.	५	८	१४	१०	२७	३३	३८	४२	४८	५४	५५	५७	७२	१०२

आगे कायमार्गणा में कहते हैं –

एवं वा पणकाये ण हि साहारणमिणं च आदावं ।
दुसु तद्दुगमुज्जोवं कमेण चरिमम्हि आदावं ॥३०९॥

एकं वा पंच काये नहि साधारणमिदं चातापं ।
द्वयोस्तद्द्विकमुद्योतः क्रमेण चरमे आतपः ॥३०९॥

टीका – कायमार्गणा में पांच काय में पृथ्वीकायिक में एकेन्द्रियवत् अस्सी में से साधारण घटानेपर उदययोग्य उन्नासी; उन अस्सी में से साधारण, आतप दो घटाने पर अपकायिक में उदययोग्य अठहत्तर; उन अस्सी में से साधारण, आतप, उद्योत - ये तीन घटानेपर अग्निकायिक, वायुकायिक में उदययोग्य सतहत्तर; उन अस्सी में से आतप घटानेपर वनस्पतिकायिक में उदययोग्य उन्नासी ।

वहां पृथ्वीकायिक में उदययोग्य उन्नासी, गुणस्थान दो, क्योंकि '**णहि सासणो अपुण्णो साहारणसुहमगेय तेउदुगे**' इस वचन से *(सासादन मरकर अपर्याप्त, साधारण, सूक्ष्म, अग्निकायिक, वायुकायिक में उपजता नहीं ।) (बादर पर्याप्त)* पृथ्वी, अप्, प्रत्येक वनस्पति में सासादन ही मर कर उपजता है । वहां उत्पन्न हुए सासादन के उस गुणस्थान में उदययोग्य नहीं ऐसी मिथ्यात्व, आतप, उद्योत, सूक्ष्म, अपर्याप्त - ये पांच प्रकृतियां; तथा उनके सासादन तो निर्वृत्तिअपर्याप्त दशा में ही होता है और स्त्यानगृद्धि तीन तो इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होनेपर उदययोग्य है, उच्छ्वास प्रकृति उच्छ्वासपर्याप्ति पूर्ण होनेपर उदययोग्य है, परघात शरीरपर्याप्ति पूर्ण होनेपर उदययोग्य है; इसलिए इन पांच का उदय सासादन में नहीं है; इसलिए मिथ्यात्व में व्युच्छित्ति दस है । सासादन में अनंतानुबंधी चार, एकेन्द्रिय, स्थावर –ये छह व्युच्छित्ति है । ऐसा होनेपर मिथ्यात्व में अनुदय नास्ति, उदय उन्नासी, व्युच्छित्ति दस; इसलिए सासादन में अनुदय दस,

उदय उनहत्तर ।

पुनश्च अप्कायिक में उदययोग्य प्रकृतियां अठहत्तर; वहां मिथ्यात्व में व्युच्छित्ति पूर्वोक्त दस में से आतप बिना नौ, सासादन में पूर्वोक्त छह - ऐसा होनेपर मिथ्यात्व में अनुदय नास्ति, उदय अठहत्तर; व्युच्छित्ति नौ । इसलिए सासादन में अनुदय नौ, उदय उनहत्तर ।

पुनश्च अग्निकायिक, वायुकायिक में उदययोग्य प्रकृतियां सतहत्तर, गुणस्थान एक मिथ्यात्व ।

पुनश्च वनस्पतिकायिकों में उदययोग्य प्रकृतियां उन्नासी । वहां व्युच्छित्ति मिथ्यात्व में मिथ्यात्व, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, स्त्यानगृद्धित्रिक, परघात, उच्छ्वास, उद्योत - ये दस; सासादन में पूर्वोक्त छह - ऐसा होनेपर मिथ्यात्व में अनुदय नास्ति, उदय उन्नासी। व्युच्छित्ति दस; इसलिए सासादन में अनुदय दस, उदय उनहत्तर ॥३०९॥

गाथा ३०९ के आधार से –

पृथ्वीकायिक रचना | अप्कायिक रचना | अग्नि-वायुकायिक रचना | वनस्पतिकायिक रचना

मि	सा	मि	सा	मि	मि	सा
१०	६	९	६	०	१०	६
७९	६९	७८	६९	७७	७९	६९
०	१०	०	९	०	०	१०

आगे त्रसमार्गणा में कहते हैं –

ओघं तसे ण थावर दुगसाहरणेयतावमथ ओघं ।
मणवयणसत्तगे ण हि ताविगिविगलं च थावराणुचओ ॥३१०॥

ओघस्त्रसे न स्थावर द्विकसाधारणैकातपमथ ओघः ।
मनोवचन सप्तके नहि आतापैकविकलं च स्थावरानुचतुष्कं ॥३१०॥

टीका – त्रसकायिक में उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ सत्रह । वहां गुणस्थानवत् एक सौ बाइस में से स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, एकेन्द्रिय, आतप -ये पांच घटानेपर उदययोग्य एक सौ सत्रह और गुणस्थान चौदह । व्युच्छित्ति मिथ्यात्व में मिथ्यात्व,

अपर्याप्त -ये दो; सासादन में अनंतानुबंधी चतुष्क और विकलत्रय तीन मिलकर सात; मिश्रादिक में गुणस्थानवत् अनुक्रम से एक, सत्रह, आठ, पांच, चार, छह, छह, एक, दो, सोलह, तीस, बारह की व्युच्छित्ति जाननी ।

ऐसा होनेपर मिथ्यात्व में अनुदय पांच गुणस्थानवत्; उदय एक सौ बारह । वहां व्युच्छित्ति दो और नारकानुपूर्वी का उदय नहीं; इसलिए सासादन में अनुदय आठ, उदय एक सौ नौ । मिश्रादि गुणस्थानों में उदय गुणस्थानवत् अनुक्रम से सौ, एक सौ चार, सत्तासी, इक्यासी, छिहत्तर, बहत्तर, छासठ, साठ, उनसठ, सत्तावन, बयालीस, बारह प्रकृतियां है । मूल में पांच प्रकृतियां उदययोग्य नहीं है; इसलिए मिश्रादिक में अनुदय अनुक्रम से सत्रह, तेरह, तीस, छत्तीस, एकतालीस, पैंतालीस, इक्यावन, सत्तावन, अट्ठावन, साठ, पचहत्तर, एक सौ पांच प्रकृतियां है ।

गाथा ३१० के आधार से - त्रसकाय रचना उदययोग्य प्रकृतियां ११७

गुण.	मि	सा	मिश्र	अ	दे	प्रम	अप्र	अपू	अनि	सू	उ	क्षी	स	अ
व्यु.	२	७	१	१७	८	५	४	६	६	१	२	१६	३०	१२
उदय	११२	१०९	१००	१०४	८७	८१	७६	७२	६६	६०	५९	५७	४२	१२
अनु.	५	८	१७	१३	३०	३६	४१	४५	५१	५७	५८	६०	७५	१०५

पुनश्च योगमार्गणा में चार प्रकार के मनोयोग तथा सत्य, असत्य, उभय वचनयोग – इन सातों में उदययोग्य एक सौ नौ प्रकृतियां है । वहां गुणस्थानवत् एक सौ बाइस में से आतप, एकेन्द्रिय, विकलत्रय, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, चार आनुपूर्वी इन तेरह को छोड़कर उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ नौ, गुणस्थान तेरह । व्युच्छित्ति – मिथ्यात्व में मिथ्यात्व; सासादन में अनंतानुबंधी चार; मिश्र में मिश्रमोहनीय; असंयत में सत्रह में से चार आनुपूर्वी घटाकर तेरह । चूंकि चार आनुपूर्वी का उदय तो परभव के गमन करते समय होता है और मनोयोग वचनयोग अपनी पर्याप्ति पूर्ण होने के पश्चात् होता है, इसलिए आनुपूर्वी नहीं कही । देशसंयत में तीसरा(प्रत्याख्यान) कषाय चार, तिर्यंचायु, उद्योत, नीचगोत्र, तिर्यंचगति – ये आठ । प्रमत्तादि में गुणस्थानवत् पांच, चार, छह, छह, एक, दो, सोलह । अयोगकेवली में योग का अभाव है, इसलिए तीस और बारह मिलाकर सयोगकेवली में बयालीस की व्युच्छित्ति जानना ।

ऐसा होनेपर मिथ्यात्व में गुणस्थानोक्त अनुदय पांच, उदय एक सौ चार । वहां

व्युच्छित्ति एक; इसलिए सासादन में अनुदय छह, उदय एक सौ तीन । व्युच्छित्ति चार का अनुदय, मिश्रमोहनीय का उदय; इसलिए मिश्र में अनुदय नौ, उदय सौ । व्युच्छित्ति एक का अनुदय, सम्यक्त्वमोहनीय का उदय; इसलिए असंयत में अनुदय नौ, उदय सौ । व्युच्छित्ति तेरह; इसलिए देशसंयत में अनुदय बाइस, उदय सत्तासी। आगे प्रमत्तादि में गुणस्थानवत् उदय अनुक्रम से इक्यासी, छिहत्तर, बहत्तर, छासठ, साठ, उनसठ, सत्तावन, बयालीस जानना । मूल में तेरह प्रकृतियां उदयरूप नहीं है; इसलिए प्रमत्तादि में अनुदय अनुक्रम से अट्ठाइस, तैंतीस, सैंतीस, तैंतालीस, उनचास, पचास, बावन, सड़सठ जानना ॥३१०॥

गाथा ३१० के आधार से - ४ मनोयोग, ३ वचनयोग-उदययोग्य प्रकृतियां १०९

गुण.	मि	सा	मिश्र	अ	दे	प्र	अप्र	अपू	अनि	सू	उ	क्षी	स
व्यु.	१	४	१	१३	८	५	४	६	६	१	२	१६	४२
उदय	१०४	१०३	१००	१००	८७	८१	७६	७२	६६	६०	५९	५७	४२
अनु.	५	६	९	९	२२	२८	३३	३७	४३	४९	५०	५२	६७

आगे अनुभयवचन और औदारिक काययोग में कहते हैं –

अणुभयवचि वियलजुदा ओघमुराले ण हारदेवाऊ ।
वेगुव्वछक्कणरतिरियाणु अपज्जत्तणिरयाऊ ॥३११॥

अनुभयवचसि विकलयुता ओघ औराले नाहारदेवायुः ।
वैगुर्वषट्कनरतिरियानुः अपर्याप्तनिरयायुः ॥३११॥

टीका – पूर्वोक्त एक सौ नौ में विकलत्रय मिलानेपर अनुभय वचन में उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ बारह, गुणस्थान तेरह । वहां मिथ्यात्व में व्युच्छित्ति एक मिथ्यात्व; सासादन में अनंतानुबंधी चार, विकलत्रय तीन -ये सात; मिश्रादि में पूर्वोक्तवत् एक, तेरह, आठ, पांच, चार, छह, छह, एक, दो, सोलह, बयालीस व्युच्छित्ति है ।

ऐसा होनेपर मिथ्यात्व में गुणस्थानवत् अनुदय पांच, उदय एक सौ सात । व्युच्छित्ति एक; इसलिए सासादन में अनुदय छह, उदय एक सौ छह। मिश्रादि में पूर्वोक्तवत् उदय अनुक्रम से सौ, सौ, सत्तासी, इक्यासी, छिहत्तर, बहत्तर, छासठ, साठ,

उनसठ, सत्तावन, बयालीस जानना । पूर्वोक्त से उदययोग्य तीन प्रकृतियां बढ़ती है; इसलिए मिश्रादिक में अनुदय अनुक्रम से बारह, बारह, पच्चीस, इकतीस, छत्तीस, चालीस, छियालीस, बावन, तिरपन, पचपन, सत्तर जानना ।

गाथा ३११ के आधार से - अनुभयवचनयोग - उदययोग्य प्रकृतियां ११२

गुण.	मि	सा	मिश्र	अ	दे	प्र	अप्र	अपू	अनि	सू	उ	क्षी	स
व्यु.	१	७	१	१३	८	५	४	६	६	१	२	१६	४२
उदय	१०७	१०६	१००	१००	८७	८१	७६	७२	६६	६०	५९	५७	४२
अनु.	५	६	१२	१२	२५	३१	३६	४०	४६	५२	५३	५५	७०

औदारिक काययोग में उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ नौ । गुणस्थानवत् एक सौ बाइस में से आहारकद्विक, देवायु, वैक्रियिक शरीर और अंगोपांग, देवगति-आनुपूर्वी, नरकगति-आनुपूर्वी -ये छह, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, अपर्याप्त, नरकायु -इन तेरह बिना उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ नौ, गुणस्थान तेरह । वहां व्युच्छित्ति मिथ्यात्व में गुणस्थानवत् पांच में से अपर्याप्त बिना चार; सासादन में अनंतानुबंधी चार, एकेन्द्रिय, स्थावर, विकलत्रय - ये नौ; मिश्र में एक मिश्रमोहनीय; असंयत में दूसरी कषाय(अप्रत्याख्यान) चार, दुर्भग-अनादेय-अयशस्कीर्ति - तीन, इसप्रकार सात; देशसंयत में गुणस्थानवत् आठ; प्रमत्तसंयत में औदारिककाययोग की प्रवृत्ति होते हुये, आहारकयोग की प्रवृत्ति नहीं होती - अर्थात् एक काल में दोनों योग नहीं होते; इसलिए प्रमत्तसंयत में व्युच्छित्ति स्त्यानगृद्धि आदि तीन । अप्रमत्तादि में व्युच्छित्ति पूर्वोक्तवत् चार, छह, छह, एक, दो, सोलह, बयालीस है ।

ऐसा होनेपर मिथ्यात्व में अनुदय मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, तीर्थंकर -ये तीन, उदय एक सौ छह । व्युच्छित्ति चार; इसलिए सासादन में अनुदय सात, उदय एक सौ दौ । व्युच्छित्ति नौ का उदय नहीं और मिश्रमोहनीय का उदय है; इसलिए मिश्र में अनुदय पंद्रह, उदय चौरानबे । व्युच्छित्ति एक का उदय नहीं और सम्यक्त्वमोहनीय का उदय है; इसलिए असंयत में अनुदय पंद्रह, उदय चौरानबे । व्युच्छित्ति सात; इसलिए देशसंयत में अनुदय बाइस, उदय सत्तासी । व्युच्छित्ति आठ; इसलिए प्रमत्तसंयत में अनुदय तीस, उदय उन्नासी । व्युच्छित्ति तीन; इसलिए अप्रमत्तसंयत में अनुदय तैंतीस, उदय छिहत्तर । ऊपर अपूर्वकरणादि में उदय पूर्ववत् अनुक्रम से बहत्तर, छासठ, साठ,

उनसठ, सत्तावन, बयालीस जानना । अनुदय सैंतीस, तैंतालीस, उनचास, पचास, बावन, सड़सठ जानना ॥३११॥

गाथा ३११ के आधार से - औदारिक काययोग रचना-उदययोग्य प्रकृतियां १०९

गुण.	मि	सा	मिश्र	अ	दे	प्र	अप्र	अपू	अनि	सू	उ	क्षी	स
व्यु.	४	९	१	७	८	३	४	६	६	१	२	१६	४२
उदय	१०६	१०२	९४	९४	८७	७९	७६	७२	६६	६०	५९	५७	४२
अनु.	३	७	१५	१५	२२	३०	३३	३७	४३	४९	५०	५२	६७

आगे औदारिकमिश्र काययोग में दो गाथाओं द्वारा कहते हैं –

तम्मिस्से पुण्णजुदा ण मिस्सथीणतियसरविहायदुगं ।
परघादचओ अयदे णादेज्जदुदुब्भगं ण संढिच्छी ॥३१२॥

साणे तेसिं छेदो वामे चत्तारि चोद्दसा साणे ।
चउदालं वोछेदो अयदे जोगिम्हि छत्तीसं ॥३१३॥

तन्मिश्रे पूर्णयुता न मिश्रस्त्यानत्रयस्वरविहायोद्विकं ।
परघातचत्वार्ययतेऽनादेयद्विदुर्भगं न षंढस्त्री ॥३१२॥

साने तेषां छेदो वामे चत्वारि चतुर्दश साने ।
चतुश्चत्वारिंशत् व्युच्छेदः अयते योगिनि षट्त्रिंशत् ॥३१३॥

टीका – औदारिकमिश्र काययोग में उदययोग्य प्रकृतियां अट्ठानबे । वहां औदारिक काययोग में एक सौ नौ कही थी उनमें अपर्याप्त मिलाना; तथा मिश्रमोहनीय, स्त्यानगृद्धित्रिक, सुस्वर, दुस्वर, प्रशस्त-अप्रशस्त विहायोगति, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास -ये बारह घटाना -ऐसे उदययोग्य प्रकृतियां अट्ठानबे, गुणस्थान चार (१, २, ४, १३) । सामान्य उदय प्रकृतियां एक सौ बाइस में से आहारकद्विक, देवायु, वैक्रियिक षट्क, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, नरकायु, मिश्रमोहनीय, स्त्यानगृद्धित्रिक, स्वरद्विक, विहायोगतिद्विक, परघातादि चतुष्क -ये चौबीस उदययोग्य नहीं हैं; क्योंकि देव-नरक गति संबंधी, पर्याप्तिकाल संबंधी और विग्रहगति संबंधी प्रकृतियों का यहां उदय नहीं है । इसलिए उदययोग्य प्रकृतियां अट्ठानबे ही हैं । वहां औदारिकमिश्र काययोगी असंयत गुणस्थानवर्ती के अनादेय,

अयशस्कीर्ति, दुर्भग, नपुंसक, स्त्रीवेद इनका उदय नहीं है, इसलिए इनकी व्युच्छित्ति सासादन में ही जानना ।

इसतरह मिथ्यात्व में मिथ्यात्व, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण - ये चार व्युच्छित्ति हैं । आतप प्रकृति पर्याप्ति पूर्ण होनेपर उदययोग्य है इसलिए यहां नहीं पायी जाती। सासादन में अनंतानुबंधी चार, स्थावर, एकेन्द्रिय, विकलत्रय, अनादेय, अयशस्कीर्ति, दुर्भग, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद -ये व्युच्छित्ति चौदह । असंयत में अप्रत्याख्यान कषाय चार तथा क्षीणमोह तक औदारिक मिश्र काययोग नहीं पाया जाता; इसलिए ऊपर के गुणस्थानों की भी व्युच्छित्ति यहींपर कहना । सो देशसंयत संबंधी उद्योत बिना सात, प्रमत्तसंयत संबंधी आहारकद्विक स्त्यानगृद्धि आदि तीन बिना शून्य, अप्रमत्तसंयत संबंधी चार, अपूर्वकरण संबंधी छह, अनिवृत्तिकरण संबंधी स्त्रीवेद, नपुंसकवेद बिना चार, सूक्ष्मसाम्पराय संबंधी लोभ, उपशांतमोह संबंधी दो, क्षीणमोह संबंधी सोलह -ऐसे असंयत में व्युच्छित्ति चौवालीस, सयोगकेवली में व्युच्छित्ति छत्तीस, क्योंकि कपाट समुद्घात के समय औदारिक मिश्र काययोग है। वहां स्वरद्विक, विहायोगतिद्विक, परघात, उच्छ्वास इनका उदय नहीं है।

ऐसा होने से मिथ्यात्व में अनुदय सम्यक्त्वमोहनीय, तीर्थंकर -दो; उदय छानबे। यहां व्युच्छित्ति चार; इसलिए सासादन में अनुदय छह, उदय बानबे । व्युच्छित्ति चौदह का उदय नहीं, सम्यक्त्वमोहनीय का उदय; इसलिए असंयत में अनुदय उन्नीस, उदय उन्नासी । व्युच्छित्ति चौवालीस का उदय नहीं, तीर्थंकर का उदय है, इसलिए सयोगकेवली में अनुदय बासठ, उदय छत्तीस ॥३१२-३१३॥

गाथा ३१२, ३१३ के आधार से - औदारिकमिश्र काययोग रचना - उदययोग्य प्रकृतियां ९८

गुणस्थान	मि	सा	अ	स
व्युच्छित्ति	४	१४	४४	३६
उदय	९६	९२	७९	३६
अनुदय	२	६	१९	६२

आगे वैक्रियिक काययोग में कहते हैं –

देवोघं वेगुव्वे ण सुराणू पक्खिवेज्ज णिरयाऊ ।
णिरयगदिहुंडसंढं दुग्गदि दुब्भगचओ णीचं ॥३१४॥

देवौघः वैगूर्वे च सुरानुः प्रक्षिप्य निरयायुः।
निरयगतिहुंडषंढं दुर्गतिः दुर्भगचत्वारि नीचं ॥३१४॥

टीका – वैक्रियिक काययोग में उदययोग्य प्रकृतियां छियासी । सामान्य देवगतिवत् सतहत्तर में से देवानुपूर्वी घटाकर; नरकायु, नरकगति, हुंडकसंस्थान, नपुंसकवेद, अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयशस्कीर्ति, नीचगोत्र -ये दश मिलाना – ऐसी उदययोग्य प्रकृतियां छियासी । वहां व्युच्छित्ति - मिथ्यात्व में एक मिथ्यात्व; सासादन में अनंतानुबंधी चार; मिश्र में एक मिश्रमोहनीय, असंयत में दूसरा कषाय (अप्रत्याख्यान) चार, देवगति, नरकगति, वैक्रियिकद्विक, देवायु, नरकायु, दुर्भग आदि तीन -ये तेरह।

ऐसा होनेपर मिथ्यात्व में अनुदय मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय -दो, उदय चौरासी। व्युच्छित्ति एक; इसलिए सासादन में अनुदय तीन, उदय तिरासी । व्युच्छित्ति चार का उदय नहीं, मिश्रमोहनीय का उदय है; इसलिए मिश्र में अनुदय छह, उदय अस्सी। व्युच्छित्ति एक का उदय नहीं, सम्यक्त्वमोहनीय का उदय है, इसलिए असंयत में अनुदय छह, उदय अस्सी ॥३१४॥

गाथा ३१४ के आधार से - वैक्रियिक काययोग रचना - उदययोग्य प्रकृतियां ८६

गुणस्थान	मि	सा	मि	अ
व्युच्छित्ति	१	४	१	१३
उदय	८४	८३	८०	८०
अनुदय	२	३	६	६

आगे वैक्रियिकमिश्र काययोग में डेढ़ गाथा द्वारा कहते हैं –

वेगुव्वं वा मिस्से ण मिस्स परघादसरविहायदुगं ।
साणे ण हुंडसंढं दुब्भगणादेज्ज अज्जसयं ॥३१५॥

णिरयगदि आउणीचं ते खित्तयदेऽवणिज्ज थीवेदं ।
छट्ठगुणं वाहारे ण थीणतियसंढथीवेदं ॥३१६॥

वैगूर्व वा मिश्रे न मिश्रं परघातस्वरविहायोद्विकं।
साने न हुंडषंढं दुर्भगानादेयमयशस्कं ॥३१५॥

निरयगत्यायुर्नीचं ताः क्षिपायतेऽपनीय स्त्रीवेदं ।
षष्ठगुणं वाऽहारे न स्त्यानत्रयषंढस्त्रीवेदं ।।३१६।।

टीका – वैक्रियिकमिश्र काययोग में उदययोग्य प्रकृतियां उन्नासी । वहां वैक्रियिक काययोगवत् छियासी में से वहां मिश्रमोहनीय, परघात, उच्छ्वास, सुस्वर, दुस्वर, प्रशस्त-अप्रशस्त विहायोगति -ये नहीं है इसलिए उदययोग्य प्रकृतियां उन्नासी *(गुणस्थान १,२,४)*। वहां व्युच्छित्ति - मिथ्यात्व में मिथ्यात्व; सासादनवाला नरक नहीं जाता इसलिए हुंडकसंस्थान, नपुंसकवेद, दुर्भगादि तीन, नरकगति, नरकायु, नीचगोत्र -इनका सासादन में उदय नहीं, असंयत में है और सासादन में स्त्रीवेद, अनंतानुबंधी चार -पांच की व्युच्छित्ति है; असंयत में अप्रत्याख्यान कषाय चार, वैक्रियिकद्विक, देवगति, नरकगति, देवायु, नरकायु, दुर्भगादि तीन -ऐसी व्युच्छित्ति तेरह ।

ऐसे होनेपर मिथ्यात्व में अनुदय एक सम्यक्त्वमोहनीय, उदय अठहत्तर । व्युच्छित्ति एक और हुंडकसंस्थान आदि आठ का उदय नहीं; इसलिए सासादन में अनुदय दस, उदय उनहत्तर । व्युच्छित्ति पांच का उदय नहीं और सम्यक्त्वमोहनीय, हुंडकसंस्थान आदि आठ -इन नौ का उदय है; इसलिए असंयत में अनुदय छह, उदय तिहत्तर।

गाथा ३१५-३१६ के आधार से वैक्रियिकमिश्र काययोग रचना उदययोग्य प्रकृतियां ७९

गुणस्थान	मि	सा	अ
व्युच्छित्ति	१	५	१३
उदय	७८	६९	७३
अनुदय	१	१०	६

आहारक काययोग में, छठवें गुणस्थान में उदययोग्य इक्यासी में से स्त्यानगृद्धि आदि तीन, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद इन पांच को घटाना ।।३१५-३१६।।

दुग्गदिदुस्सरसंहदि ओरालदु चरिमपंचसंठाणं ।
ते तम्मिस्से सुस्सर परघाददुसत्थगदि हीणा ।।३१७।।

दुर्गतिदुस्वरसंहतिः औरालद्वे चरमपंचसंस्थानं ।
तास्तन्मिश्रे सुस्वरं परघातद्विशस्तगतिर्हीनाः ।।३१७।।

टीका – *(आहारक काययोग में)* अप्रशस्त विहायोगति, दुस्वर, छह संहनन,

औदारिक शरीर और अंगोपांग, अंत के पांच संस्थान - ये बीस नहीं हैं; इसलिए उदययोग्य प्रकृतियां इकसठ हैं । पुनश्च आहारकमिश्र में उन इकसठ में से सुस्वर, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति - ये चार घटानेपर वहां उदययोग्य सत्तावन हैं । दोनों में गुणस्थान एक प्रमत्तविरत ही है ॥३१७॥

गाथा ३१७ के आधार से आहारक, आहारकमिश्र काययोग रचना - उदययोग्य प्रकृतियां ६१, ५७

गुणस्थान-प्रमत्त	आहारक	आहारकमिश्र
	०	०
	६१	५७
	०	०

आगे कार्माण काययोग में दो गाथाओं द्वारा कहते हैं -

ओघं कम्मे सरगदिपत्तेयाहारुरालदुग मिस्सं ।
उवघादपणविगुव्वदुथीणतिसंठाणसंहदी णत्थि ॥३१८॥

ओघः कर्मणि स्वरगतिप्रत्येकाहाररौरालद्विकं मिश्रं ।
उपघातपंचवैगूर्वद्विस्त्यानत्रिसंस्थानसंहतिर्नास्ति ॥३१८॥

टीका – कार्माण काययोग में उदययोग्य प्रकृतियां नवासी । सामान्य उदय प्रकृतियां एक सौ बाइस में से सुस्वर, दुस्वर, प्रशस्त-अप्रशस्त विहायोगति, प्रत्येक, साधारण, आहारक शरीर और अंगोपांग, औदारिक शरीर और अंगोपांग, वैक्रियिक शरीर और अंगोपांग, मिश्रमोहनीय, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, स्त्यानगृद्धित्रिक, छह संस्थान, छह संहनन - इन तैंतीस बिना, उदययोग्य प्रकृतियां नवासी हैं ।

यहां प्रश्न – यदि अनादि संसार में विग्रहगति, अविग्रहगति में मिथ्यात्व से सयोगकेवली तक सर्व गुणस्थानों में कार्माण का निरंतर उदय है, तो सूत्र में '**विग्रहगतौ कर्मयोगः**' अर्थात् विग्रहगति में ही कार्माण काययोग कैसे कहा ?

उसका उत्तर – '**सिद्धे सत्यारंभो नियमाय**' सिद्ध होनेपर भी जो आरंभ है वह नियम के लिये है; इसलिए यहां ऐसा नियम है कि विग्रहगति में मात्र कार्माण काययोग ही है, अन्य योग नहीं है ।

पुनः प्रश्न – विग्रहगति का अर्थ तो यह है कि, विग्रह अर्थात् नवीन शरीर धारण करने के लिये जो गमन होता है, उसे विग्रहगति कहते हैं । वह मिथ्यात्व, सासादन और असंयत में तो पायी जाती है, सयोगकेवली में विग्रहगति का अभाव है; तो वहां कार्माण काययोग कैसे कहा ?

उसका समाधान – मात्र विग्रहगति में कार्माण काययोग है ऐसा तो नियम नहीं है, इसलिए प्रतर, लोकपूरण समुद्घात में तीन समय कार्माण काययोग पाया जाता है ॥३१८॥

(केवली समुद्घात में प्रतर-लोकपूरण-प्रतर इसतरह ये तीन समय जानना ।)

साणे थीवेदछिदी णिरयदुणिरयाउगं ण तियदसयं ।
इगिवण्णं पणवीसं मिच्छादिसु चउसु वोच्छेदो ॥३१९॥

साने स्त्रीवेदछित्तिः निरयद्विनिरायुष्कं न त्रिकदशकं।
एकपंचाशत् पंचविंशतिः मिथ्यादिषु चतुर्षु व्युच्छेदः ॥३१९॥

टीका – वहां व्युच्छित्ति - मिथ्यात्व में मिथ्यात्व, सूक्ष्म, अपर्याप्त - ये तीन; सासादन में अनंतानुबंधी चार, एकेन्द्रिय, स्थावर, विकलत्रय, स्त्रीवेद - ये दस; असंयत के सत्रह में से वैक्रियिकद्विक बिना पंद्रह; तथा क्षीणकषाय तक कार्माण काययोग नहीं पाया जाता इसलिए ऊपर के गुणस्थानों की व्युच्छित्ति यहां *(चौथे गुणस्थान में ही)* कहना । वहां देशसंयत में उद्योत बिना सात, प्रमत्तसंयत संबंधी आहारकद्विक, स्त्यानगृद्धित्रिक बिना शून्य, अप्रमत्तसंयत संबंधी तीन संहनन बिना एक - सम्यक्त्वमोहनीय, अपूर्वकरण संबंधी छह, अनिवृत्तिकरण संबंधी स्त्रीवेद की सासादन में ही व्युच्छित्ति हुयी, इसलिए पांच; सूक्ष्मसाम्पराय संबंधी एक, उपशांतमोह संबंधी संहनन के अभाव से शून्य, क्षीणकषाय संबंधी सोलह - ऐसी सब मिलाकर असंयत में व्युच्छित्ति इक्यावन । पुनश्च सयोगकेवली संबंधी बयालीस में से वज्रवृषभनाराच, स्वरद्विक, विहायोगतिद्विक, औदारिकद्विक, संस्थान छह, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रत्येक -इन सत्रह बिना व्युच्छित्ति पच्चीस ।

ऐसा होनेपर मिथ्यात्व में अनुदय - सम्यक्त्वमोहनीय, तीर्थंकर दो, उदय सत्तासी। वहां व्युच्छित्ति तीन और नरकद्विक, नरकायु का उदय नहीं हैं, इसलिए सासादन में अनुदय आठ, उदय इक्यासी । व्युच्छित्ति दस का उदय नहीं और सम्यक्त्वमोहनीय,

नरकद्विक, नरकायु का उदय है; इसलिए असंयत में अनुदय चौदह, उदय पचहत्तर । व्युच्छित्ति इक्यावन का उदय नहीं, तीर्थंकर का उदय है, इसलिए सयोगकेवली में अनुदय चौंसठ, उदय पच्चीस पाया जाता है ॥३१९॥

गाथा ३१९ के आधार से - कार्माणकाययोग रचना - उदययोग्य प्रकृतियां ८९

गुणस्थान	मि	सा	अ	स
व्युच्छित्ति	३	१०	५१	२५
उदय	८७	८१	७५	२५
अनुदय	२	८	१४	६४

आगे वेदमार्गणा में कहते हैं –

मूलोघं पुंवेदे थावरचउणिरयजुगलतित्थयरं ।
इगिविगलं थीसंढं तावं णिरयाउगं णत्थि ॥३२०॥

मूलौघः पुंवेदे स्थावरचतुर्निरययुगलतीर्थकरं ।
एकविकलं स्त्रीषंढमातपं निरयायुष्कं नास्ति ॥३२०॥

टीका – पुरुषवेद में उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ सात । वहां मूलौघवत् एक सौ बाइस में से स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, नरकद्विक, तीर्थंकर, एकेन्द्रिय, विकलत्रय, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, आतप, नरकायु - इन पंद्रह बिना उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ सात । वहां व्युच्छित्ति - मिथ्यात्व में मिथ्यात्व, सासादन में अनंतानुबंधी चार, मिश्र में एक मिश्रमोहनीय, असंयत में अप्रत्याख्यान कषाय, वैक्रियिकद्विक, देवद्विक, देवायु, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय,अयशस्कीर्ति - ये चौदह; देशसंयत आदि में गुणस्थानवत् अनुक्रम से आठ, पांच, चार, छह । अनिवृत्तिकरण के पहले सवेद भाग में पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया, सूक्ष्म लोभ, वज्रनाराच, नाराच, क्षीणमोह संबंधी सोलह, तीर्थंकर बिना केवली संबंधी इकतालीस - ऐसी सब मिलकर चौंसठ की व्युच्छित्ति जानना, क्योंकि अनिवृत्तिकरण के सवेद भाग के ऊपर वेद का उदय नहीं है ।

वहां मिथ्यात्व में मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, आहारकद्विक - ये अनुदय चार, उदय एक सौ तीन । वहां व्युच्छित्ति एक; इसलिए सासादन में अनुदय पांच, उदय

एक सौ दो । व्युच्छित्ति चार, आनुपूर्वी तीन का उदय नहीं, मिश्रमोहनीय का उदय; इसलिए मिश्र में अनुदय ग्यारह, उदय छानबे । व्युच्छित्ति एक का उदय नहीं और सम्यक्त्वमोहनीय, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, देवानुपूर्वी का उदय है; इसलिए असंयत में अनुदय आठ, उदय निन्यानबे । व्युच्छित्ति चौदह; इसलिए देशसंयत में अनुदय बाइस, उदय पचासी । व्युच्छित्ति आठ का उदय नहीं, आहारकद्विक का उदय है; इसलिए प्रमत्तसंयत में अनुदय अट्ठाइस, उदय उन्नासी । व्युच्छित्ति पांच; इसलिए अप्रमत्तसंयत में अनुदय तैंतीस, उदय चौहत्तर । व्युच्छित्ति चार; इसलिए अपूर्वकरण में अनुदय सैंतीस, उदय सत्तर । व्युच्छित्ति छह; इसलिए अनिवृत्तिकरण के सवेद भाग में अनुदय तैंतालीस, उदय चौंसठ ॥३२०॥

गाथा ३२० के आधार से - पुरुषेवद रचना - उदययोग्य प्रकृतियां १०७

गुणस्थान	मि	सा	मिश्र	अ	दे	प्र	अप्र	अपू	अनि
व्युच्छित्ति	१	४	१	१४	८	५	४	६	६४
उदय	१०३	१०२	९६	९९	८५	७९	७४	७०	६४
अनुदय	४	५	११	८	२२	२८	३३	३७	४३

आगे स्त्रीवेद-नपुंसकवेद में कहते हैं –

इत्थीवेदे वि तहा हारदुपुरिसूणमित्थिसंजुत्तं ।
ओघं संढे ण हि सुरहारदुथीपुंसुराउतित्थयरं ॥३२१॥

स्त्रीवेदेऽपि तथाऽऽहारद्विपुरुषोनं स्त्रीसंयुक्तं ।
ओघः षंढे नहि सुराहारद्विस्त्रीपुंसुरायुस्तीर्थकरं ॥३२१॥

टीका – स्त्रीवेद में उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ पांच । वहां पुरुषवेदवत् एक सौ सात में से आहारकद्विक, पुरुषवेद घटाकर, स्त्रीवेद मिलाना - ऐसी उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ पांच । वहां व्युच्छित्ति - मिथ्यात्व में मिथ्यात्व, सासादन में अनंतानुबंधी चार, देवानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी -ये सात; मिश्र में एक -मिश्रमोहनीय, असंयत में अप्रत्याख्यान कषाय चार, देवगति, वैक्रियिकद्विक, देवायु, दुर्भग, अनादेय, अयशस्कीर्ति -ये ग्यारह; देशसंयत में गुणस्थानवत् आठ; प्रमत्तसंयत में स्त्रीवेदी संक्लेशी है, इसलिए आहारकद्विक नहीं, इसलिए स्त्यानगृद्धि तीन; अप्रमत्तसंयत में सम्यक्त्वमोहनीय, अंत के

तीन संहनन -ये चार; अपूर्वकरण में छह नोकषाय; अनिवृत्तिकरण में चौंसठ ।

ऐसा होनेपर मिथ्यात्व में अनुदय - मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय - दो, उदय एक सौ तीन । वहां व्युच्छित्ति एक; इसलिए सासादन में अनुदय तीन, उदय एक सौ दो । व्युच्छित्ति सात का उदय नहीं; मिश्रमोहनीय का उदय है, इसलिए मिश्र में अनुदय नौ, उदय छानबे । व्युच्छित्ति एक का उदय नहीं, सम्यक्त्वमोहनीय का उदय है, इसलिए असंयत में अनुदय नौ, उदय छानबे । व्युच्छित्ति ग्यारह, इसलिए देशसंयत में अनुदय बीस, उदय पचासी । व्युच्छित्ति आठ; इसलिए प्रमत्तसंयत में अनुदय अट्ठाइस, उदय सतहत्तर । व्युच्छित्ति तीन, इसलिए अप्रमत्तसंयत में अनुदय इकतीस, उदय चौहत्तर। व्युच्छित्ति चार; इसलिए अपूर्वकरण में अनुदय पैंतीस, उदय सत्तर। व्युच्छित्ति छह, इसलिए अनिवृत्तिकरण के सवेद भाग में अनुदय इकतालीस, उदय चौंसठ है।

गाथा ३२१ के आधार से - स्त्रीवेद रचना - उदययोग्य प्रकृतियां १०५

गुणस्थान	मि	सा	मिश्र	अ	दे	प्र	अप्र	अपू	अनि
व्युच्छित्ति	१	७	१	११	८	३	४	६	६४
उदय	१०३	१०२	९६	९६	८५	७७	७४	७०	६४
अनुदय	२	३	९	९	२०	२८	३१	३५	४१

पुनश्च नपुंसकवेद में उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ चौदह । वहां **ओघः** अर्थात् मूलप्रकृतियां एक सौ बाइस उसमें से देवगति और आनुपूर्वी, आहारकद्विक, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, देवायु, तीर्थंकर - इन आठ बिना, उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ चौदह । वहां व्युच्छित्ति - मिथ्यात्व में मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त - ये पांच। सासादन में अनंतानुबंधी चार, एकेन्द्रिय, स्थावर, विकलत्रय, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी - ये ग्यारह; मिश्र में मिश्रमोहनीय । असंयत में अप्रत्याख्यान कषाय चार, वैक्रियिकद्विक, नरकगति और आनुपूर्वी, नरकायु, दुर्भग, अनादेय, अयशस्कीर्ति - ये बारह । देशसंयत में गुणस्थानवत् आठ । प्रमत्तसंयत में स्त्यानगृद्धित्रिक । अप्रमत्तसंयत में सम्यक्त्वमोहनीय, अंत के तीन संहनन - ये चार । अपूर्वकरण में छह नोकषाय । अनिवृत्तिकरण के नपुंसकवेद भाग में चौंसठ ।

ऐसा होनेपर मिथ्यात्व में अनुदय मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय दो, उदय एक सौ बारह । वहां व्युच्छित्ति पांच, नारकानुपूर्वी का उदय नहीं, इसलिए सासादन

में अनुदय आठ, उदय एक सौ छह । व्युच्छित्ति ग्यारह का उदय नहीं, मिश्रमोहनीय का उदय है, इसलिए मिश्र में अनुदय अठारह, उदय छानबे । व्युच्छित्ति एक का उदय नहीं, सम्यक्त्वमोहनीय, नारकानुपूर्वी का उदय है, इसलिए असंयत में अनुदय सत्रह, उदय सत्तानबे । व्युच्छित्ति बारह, इसलिए देशसंयत में अनुदय उनतीस, उदय पचासी । व्युच्छित्ति आठ, इसलिए प्रमत्तसंयत में अनुदय सैंतीस, उदय सतहत्तर । व्युच्छित्ति तीन; इसलिए अप्रमत्तसंयत में अनुदय चालीस, उदय चौहत्तर । व्युच्छित्ति चार; इसलिए अपूर्वकरण में अनुदय चौवालीस, उदय सत्तर । व्युच्छित्ति छह; इसलिए अनिवृत्तिकरण के सवेद भाग में अनुदय पचास, उदय चौंसठ है ॥३२१॥

गाथा ३२१ के आधार से - नपुंसकवेद रचना - उदययोग्य प्रकृतियां ११४

गुणस्थान	मि	सा	मिश्र	अ	दे	प्र	अप्र	अपू	अनि
व्युच्छित्ति	५	११	१	१२	८	३	४	६	६४
उदय	११२	१०६	९६	९७	८५	७७	७४	७०	६४
अनुदय	२	८	१८	१७	२९	३७	४०	४४	५०

आगे कषायमार्गणा में कहते हैं –

तित्थयरमाणमायालोहचउक्कूणमोघमिह कोहे ।
अणरहिदे णिगिविगलं तावऽणकोहाणुथावरचउक्कं ॥३२२॥

तीर्थंकरमानमायालोभचतुष्कोनमोघ इह क्रोधे ।
अनरहिते नैकविकलमातापानक्रोधानुस्थावरचतुष्कं ॥३२२॥

टीका – क्रोध कषाय में उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ नौ । वहां सामान्य एक सौ बाइस में से चारों क्रोध बिना, अन्य बारह कषाय और तीर्थंकर - इन तेरह बिना उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ नौ । वहां व्युच्छित्ति - मिथ्यात्व में गुणस्थानवत् पांच । सासादन में अनंतानुबंधी क्रोध, एकेन्द्रिय, स्थावर, विकलत्रय - ये छह । मिश्र में मिश्रमोहनीय । असंयत में अप्रत्याख्यान क्रोध, वैक्रियिक षट्क, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, देवायु, नरकायु, दुर्भगादि तीन - ये चौदह । देशसंयत में प्रत्याख्यान क्रोध, तिर्यंचायु, उद्योत, नीचगोत्र, तिर्यंचगति - ये पांच । प्रमत्तसंयत में आहारकद्विक, स्त्यानगृद्धित्रिक - ये पांच । अप्रमत्तसंयत में सम्यक्त्वमोहनीय, अंत के तीन संहनन

- ये चार । अपूर्वकरण में नोकषाय छह । अनिवृत्तिकरण के पहले भाग संबंधी तीन वेद, दूसरे भाग संबंधी संज्वलन क्रोध, सूक्ष्मसाम्पराय संबंधी लोभ का ग्रहण नहीं *(पहले उदययोग्य गिना नहीं है)* इसलिए शून्य, उपशांतमोह संबंधी दो, क्षीणमोह संबंधी सोलह, केवली संबंधी तीर्थंकर बिना इकतालीस - इसतरह सर्व मिलकर तिरसठ प्रकृतियों की अनिवृत्तिकरण के द्वितीय भाग में व्युच्छित्ति जानना ।

ऐसा होनेपर मिथ्यात्व में अनुदय मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, आहारकद्विक - ये चार, उदय एक सौ पांच । वहां व्युच्छित्ति पांच, नारकानुपूर्वी का उदय नहीं है; इसलिए सासादन में अनुदय दस, उदय निन्यानबे । वहां व्युच्छित्ति छह, अवशेष तीन आनुपूर्वी का उदय नहीं, मिश्रमोहनीय का उदय है, इसलिए मिश्र में अनुदय अठारह, उदय इक्यानबे । व्युच्छित्ति एक का उदय नहीं, सम्यक्त्वमोहनीय, चार आनुपूर्वी का उदय है, इसलिए असंयत में अनुदय चौदह, उदय पंचानबे । व्युच्छित्ति चौदह, इसलिए देशसंयत में अनुदय अट्ठाइस, उदय इक्यासी । व्युच्छित्ति पांच का उदय नहीं, आहारकद्विक का उदय है, इसलिए प्रमत्तसंयत में अनुदय इकतीस, उदय अठहत्तर । व्युच्छित्ति पांच, इसलिए अप्रमत्तसंयत में अनुदय छत्तीस, उदय तिहत्तर । व्युच्छित्ति चार, इसलिए अपूर्वकरण में अनुदय चालीस, उदय उनहत्तर । व्युच्छित्ति छह; इसलिए अनिवृत्तिकरण के दूसरे क्रोधकषाय भाग में अनुदय छियालीस, उदय तिरसठ है ।

पुनश्च अनंतानुबंधी रहित क्रोध में मिथ्यात्व में उदययोग्य प्रकृतियां इक्यानबे जानना। अनंतानुबंधी क्रोध सहित मिथ्यात्व में एक सौ पांच प्रकृतियां उदययोग्य कही है, उनमें से एकेन्द्रिय, विकलत्रय, आतप, अनंतानुबंधी क्रोध, चार आनुपूर्वी, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण - इन चौदह प्रकृतियों को छोड़कर शेष इक्यानबे प्रकृतियां उदययोग्य जानना। अनंतानुबंधी का विसंयोजन करके मिथ्यात्व गुणस्थान में प्राप्त हुये जीव के कितने ही काल तक *(एक आवली काल तक)* अनंतानुबंधी का उदय नहीं पाया जाता, उसका यह कथन जानना ॥३२२॥

गाथा ३२२ के आधार से - क्रोधकषाय रचना - उदययोग्य प्रकृतियां १०९

गुण.	मि	सा	मिश्र	अ	दे	प्र	अप्र	अपू	अनि		अनंता. रहित मि.
व्यु.	५	६	१	१४	५	५	४	६	६३		१
उदय	१०५	९९	९१	९५	८१	७८	७३	६९	६३		९१
अनु.	४	१०	१८	१४	२८	३१	३६	४०	४६		०

एवं माणादितिए मदिसुदअण्णाणगे दु सगुणोघं ।
वेभंगेवि ण ताविगिविगलिंदी थावराणुचऊ ॥३२३॥

एवं मानादित्रये मतिश्रुताज्ञानके तु स्वगुणौघः ।
वैभंगेऽपि नातापैकविकलेंद्रियं स्थावरानुचत्वारि ॥३२३॥

टीका – इसी प्रकार जैसे अनंतानुबंधी आदि चार प्रकार के क्रोध का कथन किया, उसी प्रकार मानचतुष्क, मायाचतुष्क में शेष बारह कषाय और तीर्थंकर बिना उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ नौ, एक सौ नौ हैं । इसलिए उनकी रचना क्रोधरचनावत् जानना । लोभ में भी उसी प्रकार तेरह प्रकृतियों के अभाव से उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ नो हैं । इसकी रचना सूक्ष्मसाम्पराय तक जानना ।

लोभकषाय रचना - उदययोग्य प्रकृतियां १०९ – अपूर्वकरण तक क्रोधरचनावत् जानना ।

गुणस्थान	अनि.	सू.
व्युच्छित्ति	३	६०
उदय	६३	६०
अनुदय	४६	४९

ज्ञानमार्गणा में कुमति-कुश्रुतज्ञान में उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ सत्रह । *(सामान्य)* एक सौ बाइस प्रकृतियों में से आहारकद्विक, तीर्थंकर, मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय बिना उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ सत्रह हैं, *(गुणस्थान दो)* वहां व्युच्छित्ति - मिथ्यात्व में मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्मादि तीन *(सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त)*, नारकानुपूर्वी - ये छह। सासादन में गुणस्थानवत् नौ । ऐसा होनेपर मिथ्यात्व में अनुदय नास्ति, उदय एक सौ सत्रह । वहां व्युच्छित्ति छह; इसलिए सासादन में अनुदय छह, उदय एक सौ ग्यारह ।

विभंगज्ञान में उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ चार । वहां *(उपरोक्त एक सौ सत्रह में से)* आतप, एकेन्द्रिय, विकलत्रय, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, आनुपूर्वी चार -इन तेरह को छोड़कर शेष एक सौ चार प्रकृतियां उदययोग्य हैं । वहां व्युच्छित्ति -मिथ्यात्व में एक, मिथ्यात्व । सासादन में अनंतानुबंधी चार । ऐसा होनेपर मिथ्यात्व में अनुदय नास्ति, उदय एक सौ चार । वहां व्युच्छित्ति एक; इसलिए सासादन में

अनुदय एक, उदय एक सौ तीन ॥३२३॥

१) गाथा ३२३ के आधार से कुमति-कुश्रुतज्ञान रचना -उदययोग्य प्रकृतियां ११७

गुणस्थान	मि	सा
व्युच्छित्ति	६	९
उदय	११७	१११
अनुदय	०	६

२) विभंगज्ञान रचना - उदययोग्य प्रकृतियां १०४

गुणस्थान	मि	सा
व्युच्छित्ति	१	४
उदय	१०४	१०३
अनुदय	०	१

सण्णाणपंचयादी दंसणमग्गणपदोत्ति सगुणोघं ।
मणपज्जवपरिहारे णवरि ण संढित्थि हारदुगं ॥३२४॥

सद्ज्ञानपंचकादि दर्शनमार्गणापदमिति स्वगुणौघः ।
मनःपर्ययपरिहारे नवरि न षंढस्त्री आहारद्वयं ॥३२४॥

टीका – सुज्ञान पांच से लेकर दर्शनमार्गणा तक की रचना गुणस्थानरचनावत् जानना । वही कहते हैं – मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान में गुणस्थान असंयत आदि नौ *(चौथे से बारहवें तक)*, उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ छह । वहां एक सौ बाइस में से पहले, दूसरे, तीसरे गुणस्थानों संबंधी व्युच्छित्ति पंद्रह *(५+९+१)* और तीर्थंकर -इन सोलह बिना शेष एक सौ छह प्रकृतियां उदययोग्य हैं । वहां व्युच्छित्ति गुणस्थानवत् असंयतादि में अनुक्रम से सत्रह, आठ, पांच, चार, छह, छह, एक, दो, सोलह जानना।

ऐसा होनेपर असंयत में अनुदय आहारकद्विक, उदय एक सौ चार । ऊपर देशसंयत से क्षीणमोह तक गुणस्थानवत् उदय अनुक्रम से सत्तासी, इक्यासी, छिहत्तर, बहत्तर, छासठ, साठ, उनसठ, सत्तावन जानना । मूल में सोलह प्रकृतियां उदययोग्य नहीं हैं, इसलिए देशसंयतादि में अनुदय क्रम से उन्नीस, पच्चीस, तीस, चौंतीस, चालीस, छियालीस,

सैंतालीस, उनचास जानना ।

गाथा ३२४ के आधार से मति, श्रुत, अवधिज्ञान रचना -उदययोग्य प्रकृतियां १०६

गुणस्थान	अ	दे	प्र	अप्र	अपू	अनि	सू	उ	क्षी
व्युच्छित्ति	१७	८	५	४	६	६	१	२	१६
उदय	१०४	८७	८१	७६	७२	६६	६०	५९	५७
अनुदय	२	१९	२५	३०	३४	४०	४६	४७	४९

मनःपर्ययज्ञान में **'संढीत्थीहारदुगं ण'** अर्थात् नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, आहारकद्विक -ये उदययोग्य नहीं हैं, इसलिए प्रमत्तसंयत गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियों में से इन चार को घटानेपर मनःपर्ययज्ञान में उदययोग्य प्रकृतियां सतहत्तर । गुणस्थान प्रमत्तादि सात *(छठवें से बारहवें तक)* वहां व्युच्छित्ति प्रमत्तसंयत में स्त्यानगृद्धि आदि तीन, अप्रमत्तसंयत में गुणस्थानवत् चार, अपूर्वकरण में नोकषाय छह, अनिवृत्तिकरण में पुरुषवेद, संज्वलन क्रोधादि तीन -ये चार, सूक्ष्मसाम्पराय में सूक्ष्म लोभ, उपशांतमोह में वज्रनाराच, नाराच संहनन -ये दो, क्षीणमोह में गुणस्थानवत् सोलह ।

ऐसा होनेपर प्रमत्तसंयत में अनुदय शून्य, उदय सतहत्तर । व्युच्छित्ति तीन, इसलिए अप्रमत्त में अनुदय तीन, उदय चौहत्तर । व्युच्छित्ति चार, इसलिए अपूर्वकरण में अनुदय सात, उदय सत्तर । व्युच्छित्ति छह; इसलिए अनिवृत्तिकरण में अनुदय तेरह, उदय चौंसठ। व्युच्छित्ति चार; इसलिए सूक्ष्मसाम्पराय में अनुदय सत्रह, उदय साठ । व्युच्छित्ति एक; इसलिए उपशांतमोह में अनुदय अठारह, उदय उनसठ । व्युच्छित्ति दो; इसलिए क्षीणकषाय में अनुदय बीस, उदय सत्तावान है ।

मनःपर्ययज्ञान रचना - उदययोग्य प्रकृतियां ७७

गुणस्थान	प्र	अप्र	अपू	अनि	सू	उ	क्षी
व्युच्छित्ति	३	४	६	४	१	२	१६
उदय	७७	७४	७०	६४	६०	५९	५७
अनुदय	०	३	७	१३	१७	१८	२०

पुनश्च केवलज्ञान में उदययोग्य प्रकृतियां बयालीस । वहां व्युच्छित्ति - सयोगकेवली में तीस, अयोगकेवली में बारह । ऐसा होनेपर सयोगकेवली में अनुदय शून्य, उदय

बयालीस; अयोगकेवली में अनुदय तीस, उदय बारह ।

केवलज्ञान रचना - उदययोग्य प्रकृतियां ४२

गुणस्थान	स	अ
व्युच्छित्ति	३०	१२
उदय	४२	१२
अनुदय	०	३०

संयममार्गणा में सामायिक, छेदोपस्थापना संयम में उदययोग्य प्रकृतियां प्रमत्तसंयत गुणस्थानवत् इक्यासी, गुणस्थान प्रमत्तादि चार । वहां व्युच्छित्ति प्रमत्तादि में गुणस्थानवत् क्रम से पांच, चार, छह, छह । उदय भी गुणस्थानवत् इक्यासी, छिहत्तर, बहत्तर, छासठ । तथा अनुदय शून्य, पांच, नौ, पंद्रह जानना ।

परिहारविशुद्धिसंयम में **'संढित्थीहारदुगं ण'** अर्थात् नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, आहारकद्विक -इन चार बिना, उदययोग्य प्रकृतियां सतहत्तर; गुणस्थान दो । वहां व्युच्छित्ति प्रमत्तसंयत में स्त्यानगृद्धि आदि तीन, अप्रमत्तसंयत में गुणस्थानवत् चार । ऐसा होनेपर प्रमत्तसंयत में अनुदय शून्य, उदय सतहत्तर । वहां व्युच्छित्ति तीन; इसलिए अप्रमत्तसंयत में अनुदय तीन, उदय चौहत्तर ।

सामायिक, छेदोपस्थानपना रचना उदययोग्य प्रकृतियां ८१ — परिहारविशुद्धि रचना उदययोग्य प्रकृतियां ७७

प्र	अप्र	अपू	अनि	गुणस्थान	प्र	अप्र
५	४	६	६	व्युच्छित्ति	३	४
८१	७६	७२	६२	उदय	७७	७४
०	५	९	१५	अनुदय	०	३

पुनश्च सूक्ष्मसाम्परायसंयम में उदययोग्य प्रकृतियां साठ - सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवत्। गुणस्थान एक ।

यथाख्यातसंयम में, उपशांतमोह की उनसठ में तीर्थंकर मिलानेपर, उदययोग्य प्रकृतियां साठ; गुणस्थान उपशांतमोह आदि चार । उनमें व्युच्छित्ति गुणस्थानवत् दो, सोलह, तीस, बारह । उदय गुणस्थानवत् उनसठ, सत्तावन, बयालीस, बारह । अनुदय एक,

तीन, अठारह, अडतालीस जानना ।

सूक्ष्मसाम्पराय रचना उदययोग्य प्रकृतियां ६०

गुणस्थान	सू
व्युच्छित्ति	१
उदय	६०
अनुदय	०

यथाख्यातसंयम - उदययोग्य प्रकृतियां ६०

उ	क्षी	स	अ
२	१६	३०	१२
५९	५७	४२	१२
१	३	१८	४८

देशसंयम में गुणस्थानवत् उदययोग्य प्रकृतियां सत्तासी, गुणस्थान वही एक जानना। *(उदय सत्तासी, अनुदय शून्य, व्युच्छित्ति आठ)*

असंयम में तीर्थंकर, आहारकद्विक बिना उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ उन्नीस; गुणस्थान मिथ्यात्वादि चार । उनमें व्युच्छित्ति - गुणस्थानवत् अनुक्रम से पांच, नौ, एक, सत्रह । उदय - गुणस्थानवत् अनुक्रम से एक सौ सत्रह, एक सौ ग्यारह, सौ, एक सौ चार । तीन प्रकृतियां मूल में उदययोग्य नहीं हैं, इसलिए अनुदय दो, आठ, उन्नीस, पंद्रह जानना ।।३२४।।

(असंयम रचना - उदययोग्य प्रकृतियां ११९

गुणस्थान	*मि*	*सा*	*मिश्र*	*अ*
व्युच्छित्ति	*५*	*९*	*१*	*१७*
उदय	*११७*	*१११*	*१००*	*१०४*
अनुदय	*२*	*८*	*१९*	*१५*

चक्खुम्मि ण साहारणताविगिबितिजाइ थावरं सुहुमं ।
किण्हदुगे सगुणोघं मिच्छे णिरयाणुवोच्छेदो ।।३२५।।

चक्षुषि न साधारणातापैकद्वित्रिजातिः स्थावरं सूक्ष्मं ।
कृष्णद्विके स्वगुणौघो मिथ्ये निरयानुव्युच्छेदः ।।३२५।।

टीका – दर्शनमार्गणा में चक्षुदर्शन में उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ चौदह । एक सौ बाइस में से साधारण, आतप, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, स्थावर, सूक्ष्म, तीर्थंकर - इन आठ बिना, उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ चौदह, गुणस्थान मिथ्यात्वादि

बारह हैं । वहां व्युच्छित्ति-मिथ्यात्व में मिथ्यात्व,अपर्याप्त दो । सासादन में अनंतानुबंधी चार, चतुरिन्द्रिय-ये पांच । मिश्रादि में गुणस्थानवत् अनुक्रम से एक, सत्रह, आठ, पांच, चार, छह, छह, एक, दो, सोलह प्रकृतियों की व्युच्छित्ति जानना ।

ऐसा होनेपर मिथ्यात्व में मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, आहारकद्विक-ये चार अनुदय, उदय एक सौ दस । यहां व्युच्छित्ति दो और नारकानुपूर्वी का उदय नहीं; इसलिए सासादन में अनुदय सात, उदय एक सौ सात । यहां व्युच्छित्ति पांच, तीन आनुपूर्वी का उदय नहीं, मिश्रमोहनीय का उदय है; इसलिए मिश्र में अनुदय चौदह, उदय सौ । असंयतादि में उदय गुणस्थानवत्, अनुक्रम से एक सौ चार, सत्तासी, इक्यासी, छिहत्तर, बहत्तर, छासठ, साठ, उनसठ, सत्तावन जानना ।

पुनश्च मूल में आठ प्रकृतियां उदययोग्य नहीं हैं, इसलिए असंयतादि में अनुदय क्रम से दस, सत्ताइस, तैंतीस, अड़तीस, बयालीस, अड़तालीस, चौवन, पचपन, सत्तावन जानना । नीचे की व्युच्छित्ति ऊपर के अनुदय में मिलाना और यथायोग्य प्रकृतियों का उदय, अनुदय का विचार करना ।

(चक्षुदर्शन रचना - उदययोग्य प्रकृतियां ११४

गुण.	मि	सा	मिश्र	अ	दे	प्र	अप्र	अपू	अनि	सू	उ	क्षी
व्यु.	२	५	१	१७	८	५	४	६	६	१	२	१६
उदय	११०	१०७	१००	१०४	८७	८१	७६	७२	६६	६०	५९	५७
अनु.	४	७	१४	१०	२७	३३	३८	४२	४८	५४	५५	५७

अचक्षुदर्शन में तीर्थंकर बिना उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ इक्कीस; गुणस्थान मिथ्यात्वादि बारह । वहां व्युच्छित्ति - गुणस्थानवत् पांच, नौ, एक, सत्रह, आठ, पांच, चार, छह, छह, एक, दो, सोलह प्रकृतियां जानना । उदय भी गुणस्थानवत् - एक सौ सत्रह, एक सौ ग्यारह, सौ, एक सौ चार, सत्तासी, इक्यासी, छिहत्तर, बहत्तर, छासठ, साठ, उनसठ, सत्तावन जानना । मूल में एक प्रकृति उदययोग्य नहीं है; इसलिए अनुदय - गुणस्थानोक्त अनुदय से एक-एक कम जानना । सो मिथ्यात्व में तीर्थंकर बिना, अनुदय चार । सासादनादि में क्रम से दस, इक्कीस, सत्रह, चौंतीस, चालीस, पैंतालीस, उनचास, पचपन, इकसठ, बासठ, चौंसठ अनुदय जानना ।

(अचक्षुदर्शन रचना - उदययोग्य प्रकृतियां १२१

गुण.	मि	सा	मिश्र	अ	दे	प्र	अप्र	अपू	अनि	सू	उ	क्षी
व्यु.	५	९	१	१७	८	५	४	६	६	१	२	१६
उदय	११७	१११	१००	१०४	८७	८१	७६	७२	६६	६०	५९	५७
अनु.	४	१०	२१	१७	३४	४०	४५	४९	५५	६१	६२	६४

अवधिदर्शन में अवधिज्ञानवत् उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ छह, गुणस्थान नौ। उनमें व्युच्छित्ति, उदय, अनुदय अवधिज्ञानरचनावत् जानना ।

केवलदर्शन में उदययोग्य प्रकृतियां बयालीस, गुणस्थान दो । वहां रचना केवलज्ञानवत् जानना ।

लेश्यामार्गणा में कृष्ण-नील में तीर्थंकर, आहारकद्विक बिना उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ उन्नीस, गुणस्थान मिथ्यात्वादि चार; क्योंकि **'अयदोत्ति छल्लैसाओ'** इस वचन से असंयत तक छहों लेश्या हैं । वहां व्युच्छित्ति - मिथ्यात्व में गुणस्थानवत् पांच और एक नारकानुपूर्वी -ये छह; क्योंकि सासादन में मरकर नरक में गमन नहीं होता, मिश्र के आनुपूर्वी का उदय नहीं है और असंयत के द्वितीयादि पृथ्वी में उपजना नहीं है; इसलिए कृष्ण-नील लेश्यारूप नारकानुपूर्वी की यहीं *(१ले गुणस्थान में ही)* व्युच्छित्ति हुयी ।

पुनश्च सासादन में व्युच्छित्ति - गुणस्थानवत् नौ और असंयत संबंधी देवद्विक, देवायु, तिर्यंचानुपूर्वी - ये तेरह । मिश्र में मिश्रमोहनीय; असंयत में दूसरा कषाय *(अप्रत्याख्यान कषाय)* चार, नरकगति, नरकायु, वैक्रियिकद्विक, मनुष्यानुपूर्वी, दुर्भगादि तीन - ये बारह।

वहां **'भोगा पुण्णगसम्मेकाउस्स जहण्णियं हवे'** इस नियम से तिर्यंचानुपूर्वी यहां नहीं कही, क्योंकि देव, नारकी–असंयत, तिर्यंच में उत्पन्न नहीं होते । तथा नरक से आनेवाले सम्यग्दृष्टि के कर्मभूमि के मनुष्य में उपजने का नियम है । वहां पहले अंतर्मुहूर्त काल तक पूर्व भव संबंधी लेश्या रहती है, इसलिए मनुष्यानुपूर्वी का उदय असंयत में यहां *(कृष्ण-नील लेश्या में)* पाया जाता है ।

ऐसा होनेपर मिथ्यात्व में मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय का अनुदय; उदय एक सौ सत्रह । यहां व्युच्छित्ति छह; इसलिए सासादन में अनुदय आठ, उदय एक सौ

ग्यारह । व्युच्छित्ति तेरह; मनुष्यानुपूर्वी का उदय नहीं और मिश्रमोहनीय का उदय है; इसलिए मिश्र में अनुदय इक्कीस, उदय अट्ठानबे । व्युच्छित्ति एक का उदय नहीं, सम्यक्त्वमोहनीय और मनुष्यानुपूर्वी का उदय है; इसलिए असंयत में अनुदय बीस, उदय निन्यानबे है ।

(कृष्ण-नील लेश्या रचना - उदययोग्य प्रकृतियां ११९

गुणस्थान	*मि*	*सा*	*मिश्र*	*अ*
व्युच्छित्ति	६	१३	१	१२
उदय	११७	१११	९८	९९
अनुदय	२	८	२१	२०

पुनश्च कपोतलेश्या में कृष्ण-नीलवत् उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ उन्नीस, गुणस्थान आदि के चार । वहां मिथ्यात्व में व्युच्छित्ति गुणस्थानवत् पांच । सासादन में गुणस्थानवत् नौ और देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, देवायु - ये बारह । मिश्र में एक मिश्रमोहनीय । असंयत में अप्रत्याख्यान कषाय चार, नरकगति और आनुपूर्वी, नरकायु, वैक्रियिक शरीर और अंगोपांग, तिर्यंचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, दुर्भगादि तीन - ये चौदह ।

ऐसा होनेपर मिथ्यात्व में अनुदय दो-सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय, उदय एक सौ सत्रह । व्युच्छित्ति पांच और नारकानुपूर्वी का उदय नहीं; इसलिए सासादन में अनुदय आठ, उदय एक सौ ग्यारह । व्युच्छित्ति बारह, दो आनुपूर्वी का उदय नहीं, मिश्रमोहनीय का उदय; इसलिए मिश्र में अनुदय इक्कीस, उदय अट्ठानबे । व्युच्छित्ति एक का उदय नहीं, सम्यक्त्वमोहनीय और तीन आनुपूर्वी का उदय है, इसलिए असंयत में अनुदय अठारह, उदय एक सौ एक ।

(कापोतलेश्या रचना - उदययोग्य प्रकृतियां ११९

गुणस्थान	*मि*	*सा*	*मिश्र*	*अ*
व्युच्छित्ति	५	१२	१	१४
उदय	११७	१११	९८	१०१
अनुदय	२	८	२१	१८

भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी देवों के अपर्याप्त काल में कृष्ण, नील, कापोत लेश्या ही है । पर्याप्त काल में पीत लेश्या का जघन्य अंश पाया जाता है । पुनश्च अशुभ लेश्या का धारक असंयत भवनत्रिक में उपजता नहीं है; इसलिए देवद्विक, देवायु इन तीन प्रकृतियों की व्युच्छित्ति सासादन में ही कही ॥३२५॥

वही कहते हैं –

साणे सुराउसुरगदिदेवतिरिक्खाणुवोच्छिदी एवं ।
काओदे अयदगुणे णिरयतिरिक्खाणुवोच्छेदो ॥३२६॥

साने सुरायुःसुरगति देवतिर्यगानुव्युच्छित्तिरेवं ।
कापोते अयतगुणे निरयतिर्यगानुव्युच्छेदः ॥३२६॥

टीका – इसलिए कृष्ण-नील लेश्या में सासादन गुणस्थान में देवगति, देवानुपूर्वी, देवायु, तिर्यंचानुपूर्वी की व्युच्छित्ति जानना तथा गुणस्थानवत् नौ मिलकर सर्व तेरह की व्युच्छित्ति है । **'एव'** कहने से इसी प्रकार कापोत लेश्या में भी उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ उन्नीस हैं । वहां असंयत गुणस्थान में नारकानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय, अयशस्कीर्ति, मनुष्यानुपूर्वी आदि -ऐसी चौदह की व्युच्छित्ति है -ऐसा कहा है ॥३२६॥

आगे तीन शुभ लेश्या में कहते हैं –

तेउतिये सगुणोघं णादाविगिविगलथावरचउक्कं ।
णिरयदुतदाउतिरियाणुगं णराणू ण मिच्छदुगे ॥३२७॥

तेजस्त्रये स्वगुणौघो नातावैकविकलस्थावरचतुष्कं ।
निरयद्वितदायुस्तिर्यगानुकं नरानु न मिथ्यद्विके ॥३२७॥

टीका – पीत, पद्म, शुक्ल लेश्या में अपने अपने गुणस्थानवत् रचना है । वहां विशेष *(अंतर)* इतना है कि आतप, एकेन्द्रिय, विकलत्रय, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, नरकगति, नारकानुपूर्वी, नरकायु, तिर्यंचानुपूर्वी - इन तेरह बिना, उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ नौ हैं । वहां भी पीत-पद्म में तीर्थंकर बिना, उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ आठ; गुणस्थान आदि के सात । वहां व्युच्छित्ति-मिथ्यात्व में मिथ्यात्व, सासादन में अनंतानुबंधी चार, मिश्र में मिश्रमोहनीय, असंयत में अप्रत्याख्यान कषाय चार, देवगति,

देवानुपूर्वी, वैक्रियिक शरीर और अंगोपांग, देवायु, मनुष्यानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय, अयशस्कीर्ति -ये तेरह । देशसंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत में गुणस्थानवत् आठ, पांच, चार की व्युच्छित्ति है ।

ऐसा होनेपर मिथ्यात्व में अनुदय-मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, आहारकद्विक और **'णराणू ण मिच्छदुगे'** इस वचन से मनुष्यानुपूर्वी ये पांच; उदय एक सौ तीन। वहां व्युच्छित्ति एक; इसलिए सासादन में अनुदय छह, उदय एक सौ दो । व्युच्छित्ति चार, देवानुपूर्वी का अनुदय और मिश्रमोहनीय का उदय; इसलिए मिश्र में अनुदय दस, उदय अट्ठानबे । व्युच्छित्ति एक का अनुदय, सम्यक्त्वमोहनीय, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी का उदय; इसलिए असंयत में अनुदय आठ, उदय सौ । व्युच्छित्ति तेरह; इसलिए देशसंयत में अनुदय इक्कीस, उदय सत्तासी । व्युच्छित्ति आठ का अनुदय, आहारकद्विक का उदय इसलिए प्रमत्तसंयत में अनुदय सत्ताइस, उदय इक्यासी । व्युच्छित्ति पांच, इसलिए अप्रमत्तसंयत में अनुदय बत्तीस, उदय छिहत्तर ।

(पीत-पद्म लेश्या रचना - उदययोग्य प्रकृतियां १०८

गुणस्थान	*मि*	*सा*	*मिश्र*	*अ*	*दे*	*प्र*	*अप्र*
व्युच्छित्ति	१	४	१	१३	८	५	४
उदय	१०३	१०२	९८	१००	८७	८१	७६
अनुदय	५	६	१०	८	२१	२७	३२

पुनश्च शुक्ललेश्या में उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ नौ, गुणस्थान आदि के तेरह। वहां व्युच्छित्ति - मिथ्यात्व से अप्रमत्तसंयत तक पीत-पद्मवत् एक, चार, एक तेरह, आठ, पांच, चार; अपूर्वकरणादि में गुणस्थानवत् छह, छह, एक, दो, सोलह; सयोगकेवली में बयालीस प्रकृतियों की व्युच्छित्ति जानना ।

ऐसा होनेपर मिथ्यात्व में अनुदय मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, आहारकद्विक, तीर्थंकर और **'णराणू ण मिच्छदुगे'** वचन से मनुष्यानुपूर्वी-ये छह, उदय एक सौ तीन। व्युच्छित्ति एक; सासादनादि में अनुदय पीत-पद्म से एक तीर्थंकर का अधिक है; इसलिए यहां सासादनादि में अनुदय क्रम से सात, ग्यारह, नौ, बाइस, अट्ठाइस और तैंतीस जानना । अपूर्वकरणादि में मूल में तेरह प्रकृतियां उदययोग्य नहीं है; इसलिए गुणस्थानोक्त अनुदय से तेरह-तेरह कम जानना; इसलिए अपूर्वकरणादि में अनुदय क्रम से सैंतीस,

तैंतालीस, उनचास, पचास, बावन, सड़सठ प्रकृतियों का जानना । सासादनादि में उदय तो पीत-पद्मवत् एक सौ दो, अट्ठानबे, सौ, सत्तासी, इक्यासी, छिहत्तर जानना। अपूर्वकरणादि में गुणस्थानवत् बहत्तर, छासठ, साठ, उनसठ, सत्तावन, बयालीस प्रकृतियों का उदय जानना ।

भव्विदरुवसमवेदगखइये सगुणोघमुवसमे खयिये ।
ण हि सम्ममुवसमे पुण णादितियाणू य हारदुगं ।।३२८।।

भव्येतरोपशमवेदकक्षायिके स्वगुणौघ उपशमे क्षायिके ।
नहि सम्यगुपशमे पुनर्नादित्रयानु चाहारद्विकं ।।३२८।।

टीका – भव्य-अभव्य, उपशम-वेदक-क्षायिक सम्यक्त्व इन मार्गणाओं में अपने-अपने गुणस्थान के सामान्य कथनवत् कथन जानना । विशेष इतना है कि उपशमसम्यक्त्व में दर्शनमोहनीय का प्रशस्त उपशम है, क्षयोपशमसम्यक्त्व की भांति अप्रशस्त उपशम नहीं है, इसलिए वहां सम्यक्त्वमोहनीय का उदय नहीं है । पुनश्च क्षायिकसम्यक्त्व में दर्शनमोहनीय का क्षय हुआ है, इसलिए सम्यक्त्वमोहनीय का उदय नहीं है । उपशमसम्यक्त्व में नारकानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, आहारकद्विक - ये भी उदययोग्य नहीं है, क्योंकि पहले आयुबंध होनेपर भी वहां मरण नहीं है ।।३२८।।

(प्रथमोपशम सम्यक्त्व के काल में मरण नहीं होता) ।

कैसे ? वह कहते हैं –

मिस्साहारस्सयया खवगा चडमाडपढमपुव्वा य ।
पढमुवसमया तमतम गुणपडिवण्णा य ण मरंति ।।१।।
अणसंयोगे मिच्छे मुहुत्तअंतोत्ति णत्थि मरणं तु ।
कदकरणिज्जं जाव दु सव्वपरट्ठाण अट्ठपदा ।।२।।

(ये गाथायें कर्मकाण्ड के स्थानसमुत्कीर्तना नामक पांचवें अधिकार की गाथा क्र. ५६० एवं ५६१ हैं ।)

टीका – निर्वृत्तिअपर्याप्त अवस्था के धारक, आहारकमिश्र काययोग के धारक, क्षपकश्रेणीवाले, उपशमश्रेणी चढ़ते हुए अपूर्वकरण के प्रथम भागवाले, प्रथमोपशम सम्यक्त्व संयुक्त और तमस्तम सातवीं नरक पृथ्वी में सम्यक्त्व गुणसहित जीव - ये सब जीव

मरण को प्राप्त नहीं होते । अनंतानुबंधी का विसंयोजन करके अन्य कषायरूप परिणमाने के पश्चात् जो मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ है, उसका अंतर्मुहूर्त काल तक मरण नहीं होता । दर्शनमोहनीय का क्षय करनेवाले जीव का जब तक कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टिपना नहीं होता, तब तक मरण नहीं होता *(कृतकृत्यवेदक अवस्था में मरण हो सकता है)*। **'तु'** शब्द से, जिनके पहले देवायु का बंध हुआ हो, उनके यदि उपशमश्रेणी चढ़कर उतरने में अपूर्वकरण गुणस्थान तक मरण हो जाये, तब मरकर असंयत गुणस्थानवर्ती देव ही होता है; इसलिए प्रथमोपशम सम्यक्त्व में नारकानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी का उदय नहीं । द्वितीयोपशम सम्यक्त्व में देवायु बिना अन्य आयु का सत्त्व नहीं पाया जाता, क्योंकि उपशमश्रेणी चढ़ने के निमित्त सातिशय अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती जीव के द्वारा ही द्वितीयोपशम सम्यक्त्व अंगीकार किया जाता है । अणुव्रत और महाव्रत देवायु बिना अन्य आयु के बंधवाले के होते नहीं है; इसलिए उपशम सम्यक्त्व में देव बिना तीन आनुपूर्वीका सत्त्व नहीं, इसलिए उदय भी नहीं है । पुनश्च दोनों उपशम सम्यक्त्व में आहारक ऋद्धि की प्राप्ति नहीं होती, ऐसा जानना ।

भव्यमार्गणा में गुणस्थानवत् उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ बाइस, गुणस्थान चौदह। व्युच्छित्ति, उदय, अनुदय सर्व गुणस्थानवत् जानना, विशेष कुछ नहीं है । अभव्यमार्गणा में गुणस्थान एक मिथ्यात्व । वहां उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ सत्रह जानना ।

सम्यक्त्वमार्गणा में उपशम सम्यक्त्व में उदययोग्य प्रकृतियां सौ । असंयत में उदययोग्य एक सौ चार, उनमें से **'णादितियाणू य हारदुगं'** इस वचन से नारकानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी - तीन और सम्यक्त्वमोहनीय - इन चार बिना, उदययोग्य प्रकृतियां सौ, गुणस्थान असंयतादि आठ *(चौथे से ग्यारहवें तक)* । वहां असंयत में अप्रत्याख्यान कषाय चार, देवायु, नरकायु, नरकगति, देवगति, देवानुपूर्वी, वैक्रियिक शरीर और अंगोपांग, दुर्भग, अनादेय, अयशस्कीर्ति - इन चौदह की व्युच्छित्ति है । यहां नरकगति, नरकायु का उदय प्रथमोपशम सम्यक्त्व की अपेक्षा जानना ।

पुनश्च देशसंयत में प्रत्याख्यान कषाय चार, तिर्यंचायु, उद्योत, नीचगोत्र, तिर्यंचगति -इन आठ की व्युच्छित्ति है । यहां भी तिर्यंचायु आदि चार प्रकृतियों का उदय प्रथमोपशम सम्यक्त्व की अपेक्षा ही जानना । प्रमत्तसंयत में आहारकद्विक, उपशम सम्यक्त्ववाले के नहीं होता, इसलिए स्त्यानगृद्धित्रिक की व्युच्छित्ति है । अप्रमत्तसंयत में सम्यक्त्वमोहनीय का मूल में उदय नहीं है, इसलिए अंत के तीन संहनन की व्युच्छित्ति है । अपूर्वकरण

में छह नोकषाय, अनिवृत्तिकरण में तीन वेद और संज्वलन क्रोधादि तीन - ये छह, सूक्ष्मसाम्पराय में सूक्ष्म लोभ, उपशांतमोह में वज्रनाराच, नाराच - ये दो की व्युच्छित्ति है ।

ऐसा होनेपर असंयत में अनुदय नास्ति, उदय सौ । व्युच्छित्ति चौदह; इसलिए देशसंयत में अनुदय चौदह, उदय छियासी । व्युच्छित्ति आठ; इसलिए प्रमत्त में अनुदय बाइस, उदय अठहत्तर । व्युच्छित्ति तीन; इसलिए अप्रमत्त में अनुदय पच्चीस, उदय पचहत्तर । व्युच्छित्ति तीन; इसलिए अपूर्वकरण में अनुदय अट्ठाइस, उदय बहत्तर । व्युच्छित्ति छह; इसलिए अनिवृत्तिकरण में अनुदय चौंतीस, उदय छासठ । व्युच्छित्ति छह; इसलिए सूक्ष्मसाम्पराय में अनुदय चालीस, उदय साठ । व्युच्छित्ति एक; इसलिए उपशांतमोह में अनुदय इकतालीस, उदय उनसठ है ।

(उपशम सम्यक्त्व रचना - उदययोग्य प्रकृतियां १००

गुणस्थान	अ	दे	प्र	अप्र	अपू	अनि.	सू	उ
व्युच्छित्ति	१४	८	३	३	६	६	१	२
उदय	१००	८६	७८	७५	७२	६६	६०	५९
अनुदय	०	१४	२२	२५	२८	३४	४०	४१

पुनश्च वेदक सम्यक्त्व में स्वगुणस्थानवत् । मिथ्यात्वादि तीन गुणस्थानों में पांच, नौ, एक - इन पंद्रह की व्युच्छित्ति और एक तीर्थंकर - इन सोलह बिना, उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ छह; गुणस्थान असंयतादि चार । वहां असंयत, देशसंयत, प्रमत्तसंयत में व्युच्छित्ति गुणस्थानवत् सत्रह, आठ, पांच । अप्रमत्तसंयत आदि संबंधी व्युच्छित्ति चार, छह, छह, एक, दो, सोलह, तीस, तीर्थंकर बिना ग्यारह - ये सब मिलकर छिहत्तर की व्युच्छित्ति अप्रमत्तसंयत में जानना; क्योंकि, अपूर्वकरणादि में क्षयोपशम सम्यक्त्व नहीं है ।

ऐसा होनेपर असंयत में अनुदय दो - आहारकद्विक, उदय एक सौ चार । यहां सत्रह व्युच्छित्ति; इसलिए देशसंयत में अनुदय उन्नीस, उदय सत्तासी । व्युच्छित्ति आठ का उदय नहीं, आहारकद्विक का उदय; इसलिए प्रमत्तसंयत में अनुदय पच्चीस, उदय इक्यासी । व्युच्छित्ति पांच; इसलिए अप्रमत्तसंयत में अनुदय तीस, उदय छिहत्तर।

(वेदक सम्यक्त्व रचना - उदययोग्य प्रकृतियां १०६

गुणस्थान	अ	दे	प्र	अप्र
व्युच्छित्ति	१७	८	५	७६
उदय	१०४	८७	८१	७६
अनुदय	२	१९	२५	३०

क्षायिक सम्यक्त्व में उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ छह । मिथ्यात्वादि तीन गुणस्थान में व्युच्छित्ति हुयी पंद्रह और सम्यक्त्वमोहनीय - इन सोलह बिना (१२२-१६=१०६) उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ छह, गुणस्थान असंयतादि ॥१-२॥

खाइयसम्मो देसो णर एव जदो तहिं ण तिरियाऊ ।
उज्जोवं तिरियगदी तेसिं अयदम्हि वोच्छेदो ॥३२९॥

क्षायिकसम्यग् देशो नर एव यतस्तस्मिन् न तिर्यगायुः ।
उद्योतस्तिर्यग्गति स्तेषामयते व्युच्छेदः ॥३२९॥

टीका – देशसंयत गुणस्थानवर्ती क्षायिक सम्यग्दृष्टि मनुष्य ही होता है, तिर्यंच नहीं; इसलिए तिर्यंचायु, उद्योत, तिर्यंचगति इन तीन का उदय पांचवें गुणस्थान में नहीं है, इनकी व्युच्छित्ति चौथे में ही हुयी; इसलिए असंयत में व्युच्छित्ति गुणस्थानवत् सत्रह और तिर्यंचायु, उद्योत, तिर्यंचगति - ये तीन - ऐसी बीस की व्युच्छित्ति है । देशसंयत में वे तीन नहीं हैं; इसलिए प्रत्याख्यान कषाय चार, नीचगोत्र - ऐसे पांच की व्युच्छित्ति है । प्रमत्तसंयत में गुणस्थानवत् पांच, अप्रमत्तसंयत में सम्यक्त्वमोहनीय नहीं है; इसलिए तीन । अपूर्वकरणादि में गुणस्थानवत् छह, छह, एक, दो, सोलह, तीस, बारह की व्युच्छित्ति जानना ।

ऐसा होनेपर असंयत में अनुदय आहारकद्विक, तीर्थंकर - ये तीन, उदय एक सौ तीन । यहां व्युच्छित्ति बीस; इसलिए देशसंयत में अनुदय तेइस, उदय तिरासी। व्युच्छित्ति पांच का अनुदय, आहारकद्विक का उदय; इसलिए प्रमत्तसंयत में अनुदय छब्बीस, उदय अस्सी । अप्रमत्तसंयत आदि में नीचे की व्युच्छित्ति मिलानेपर अनुदय अनुक्रम से इकतीस, चौंतीस, चालीस, छियालीस, सैंतालीस, उनचास जानना । पुनश्च व्युच्छित्ति सोलह, तीर्थंकर का उदय; इसलिए सयोगकेवली में अनुदय चौंसठ । व्युच्छित्ति तीस; इसलिए अयोगकेवली में अनुदय चौरानबे । अप्रमत्तसंयतादि में उदय अनुक्रम

से पचहत्तर, बहत्तर, छासठ, साठ, उनसठ, सत्तावन, बयालीस, बारह जानना ॥३२९॥

(क्षायिक सम्यक्त्व रचना - उदययोग्य प्रकृतियां १०६

गुण.	अ	दे	प्र	अप्र	अपू	अनि	सू	उ	क्षी	स	अ
व्यु.	२०	५	५	३	६	६	१	२	१६	३०	१२
उदय	१०३	८३	८०	७५	७२	६६	६०	५९	५७	४२	१२
अनु.	३	२३	२६	३१	३४	४०	४६	४७	४९	६४	९४

सेसाणं सगुणोघं सण्णिस्सवि णत्थि तावसाहरणं ।
थावरसुहुमिगिविगलं असण्णिणोवि य ण मणुदुच्चं ॥३३०॥

वेगुव्वछ पणसंहदिसंठाण सुगमण सुभगआउतियं ।
आहारे सगुणोघं णवरि ण सव्वाणुपुव्वीओ ॥३३१॥

शेषाणां स्वगुणौघः संज्ञिनोऽपिनास्ति आतपसाधारणं ।
स्थावरसूक्ष्मैकविकलमसंज्ञिनोऽपि च न मनुद्विउच्चं ॥३३०॥

वैगूर्वषट् पंचसंहतिसंस्थानं सुगमनं सुभगायुस्त्रयं ।
आहारे स्वगुणोघौ नवरि न सर्वानुपूर्व्यः ॥३३१॥

टीका – अवशेष मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र सम्यक्त्वमार्गणा में अपने-अपने गुणस्थानवत् जानना । वहां मिथ्यारुचि में मिथ्यात्व गुणस्थानवत् उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ सत्रह, गुणस्थान एक - मिथ्यात्व । सासादनरुचि में सासादन गुणस्थानवत् उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ ग्यारह, गुणस्थान एक सासादन । मिश्ररुचि में मिश्र गुणस्थानवत् उदययोग्य प्रकृतियां सौ, गुणस्थान एक मिश्र ।

पुनश्च संज्ञीमार्गणा में संज्ञी में आतप, साधारण, स्थावर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, विकलत्रय, तीर्थंकर - इन नौ बिना, उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ तेरह, गुणस्थान मिथ्यात्वादि बारह। सयोगी-अयोगी मन रहित हैं; इसलिए उन्हें संज्ञी नहीं कहते; तथा तिर्यंच को छोड़कर अन्यत्र असंज्ञी नहीं होते, इसलिए उन्हें असंज्ञी भी नहीं कहते । वहां व्युच्छित्ति - मिथ्यात्व में मिथ्यात्व,अपर्याप्त - ये दो, सासादन में अनंतानुबंधी चार, मिश्र में मिश्रमोहनीय। असंयतादि में गुणस्थानवत् क्रम से सत्रह, आठ, पांच, चार, छह, छह, एक, दो।

क्षीणमोह में सोलह और सयोगी-अयोगी संबंधी तीर्थंकर बिना इकतालीस मिलकर सत्तावन की व्युच्छित्ति है ।

ऐसा होनेपर मिथ्यात्व में अनुदय मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, आहारकद्विक -ये चार; उदय एक सौ नौ । यहां व्युच्छित्ति दो, नारकानुपूर्वी का उदय नहीं; इसलिए सासादन में अनुदय सात, उदय एक सौ छह । व्युच्छित्ति चार और तिर्यंचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी का उदय नहीं, मिश्रमोहनीय का उदय है; इसलिए मिश्र में अनुदय तेरह, उदय सौ । व्युच्छित्ति एक का उदय नहीं, सम्यक्त्वमोहनीय और चारों आनुपूर्वी का उदय हैं इसलिए असंयत में अनुदय नौ, उदय एक सौ चार ।

पुनश्च नौ प्रकृतियां उदययोग्य नहीं हैं; इसलिए गुणस्थानों के अनुदय से नौ-नौ कम अनुदय, देशसंयतादि में जानना । इसलिए देशसंयतादि में क्रम से छब्बीस, बत्तीस, सैंतीस, इकतालीस, सैंतालीस, तिरपन, चौवन, छप्पन अनुदय जानना । देशसंयतादि में उदय गुणस्थानवत् क्रम से सत्तासी, इक्यासी, छिहत्तर, बहत्तर, छासठ, साठ, उनसठ, सत्तावन जानना ।

(संज्ञी रचना - उदययोग्य प्रकृतियां ११३

गुण.	मि	सा	मिश्र	अ	दे	प्र	अप्र	अपू	अनि	सू	उ	क्षी
व्यु.	२	४	१	१७	८	५	४	६	६	१	२	५७
उदय	१०९	१०६	१००	१०४	८७	८१	७६	७२	६६	६०	५९	५७
अनु.	४	७	१३	९	२६	३२	३७	४१	४७	५३	५४	५६

पुनश्च असंज्ञीमार्गणा में उदययोग्य प्रकृतियां इक्यानबे । वहां मिथ्यात्व संबंधी एक सौ सत्रह में से मनुष्यद्विक, उच्चगोत्र, देवगति और आनुपूर्वी, नरकगति और आनुपूर्वी, वैक्रियिक शरीर और अंगोपांग - ये छह, आदि के संहनन पांच, आदि के संस्थान पांच, प्रशस्त विहायोगति, सुभगादि तीन *(सुभग, सुस्वर, आदेय)*, नरकायु, मनुष्यायु, देवायु - इन छब्बीस प्रकृतियों को घटानेपर उदययोग्य प्रकृतियां इक्यानबे हैं । गुणस्थान दो ।

वहां मिथ्यात्व में व्युच्छित्ति गुणस्थानवत् पांच; तथा स्त्यानगृद्धित्रिक, परघात, उद्योत, उच्छ्वास, दुस्वर, अप्रशस्त विहायोगति इनका उदय पर्याप्त अवस्था में होता

है और असंज्ञी के पर्याप्त अवस्था में सासादन गुणस्थान नहीं होता, इसलिए इनकी भी व्युच्छित्ति मिथ्यात्व में ही है, ऐसी मिथ्यात्व में व्युच्छित्ति तेरह की है । सासादन में गुणस्थानवत् नौ की व्युच्छित्ति है । ऐसा होनेपर मिथ्यात्व में अनुदय शून्य, उदय इक्यानबे, व्युच्छित्ति तेरह; इसलिए सासादन में अनुदय तेरह, उदय अठहत्तर है।

(असंज्ञी रचना - उदययोग्य प्रकृतियां ९१

गुणस्थान	*मि*	*सा*
व्युच्छित्ति	*१३*	*९*
उदय	*९१*	*७८*
अनुदय	*०*	*१३*

आहारमार्गणा में *(आहारक में)* चार आनुपूर्वी बिना उदययोग्य प्रकृतियां एक सौ अठारह; गुणस्थान आदि के तेरह । वहां मिथ्यात्वादि तीन में व्युच्छित्ति गुणस्थानवत् पांच, नौ, एक । असंयत में चार आनुपूर्वी बिना तेरह । देशसंयतादि में गुणस्थानवत् आठ, पांच, चार, छह, छह, एक, दो, सोलह । सयोगकेवली में व्युच्छित्ति बयालीस जानना ।

ऐसा होनेपर मिथ्यात्व में अनुदय गुणस्थानवत् पांच, उदय एक सौ तेरह । यहां व्युच्छित्ति पांच; इसलिए सासादन में अनुदय दस, उदय एक सौ आठ । व्युच्छित्ति नौ का उदय नहीं है, मिश्रमोहनीय का उदय है; इसलिए मिश्र में अनुदय अठारह, उदय सौ । व्युच्छित्ति एक का उदय नहीं है, सम्यक्त्वमोहनीय का उदय है, इसलिए असंयत में अनुदय अठारह, उदय सौ ।

मूल में चार प्रकृतियां उदययोग्य नहीं है; इसलिए गुणस्थानोक्त उदय से देशसंयतादि में अनुदय चार-चार कम जानना; उदय गुणस्थानोक्त ही जानना । वहां देशसंयतादि में अनुदय क्रम से इकतीस, सैंतीस, बयालीस, छियालीस, बावन, अट्ठावन, उनसठ, इकसठ, छिहत्तर जानना । उदय सत्तासी, इक्यासी, छिहत्तर, बहत्तर, छासठ, साठ, उनसठ, सत्तावन, बयालीस जानना ॥३३०-३३१॥

(आहारक रचना - उदययोग्य प्रकृतियां ११८

गुण.	मि	सा	मिश्र	अ	दे	प्र	अप्र	अपू	अनि	सू	उ	क्षी	स
व्यु.	५	१	१	१३	८	५	४	६	६	१	२	१६	४२
उदय	११३	१०८	१००	१००	८७	८१	७६	७२	६६	६०	५९	५७	४२
अनु.	५	१०	१८	१८	३१	३७	४२	४६	५२	५८	५९	६१	७६

कम्मे व अणाहारे पयडीणं उदयमेवमादेसे ।
कहियमिणं बलमाहवचंदच्चियणेमिचंदेण ।।३३२।।

कार्मे इवानाहारे प्रकृतिनामुदय एवमादेश ।
कथितोऽयं बलमाधवचंद्रार्चितनेमिचंद्रेण ।।३३२

टीका – अनाहारक में कार्माण काययोगवत् नवासी प्रकृतियां उदययोग्य हैं । गुणस्थान पांच *(पहला, दूसरा, चौथा, तेरहवां, चौदहवां)* । वहां व्युच्छित्ति - मिथ्यात्व, सासादन, असंयत में कार्माण काययोगवत् तीन, दस, इक्यावन जानना । सयोगकेवली में साता-असाता में से एक वेदनीय, निर्माण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, तेजस, कार्माण, वर्णादि चार, अगुरुलघु - इन तेरह की व्युच्छित्ति है । अयोगकेवली में गुणस्थानवत् बारह की व्युच्छित्ति है ।

ऐसा होनेपर मिथ्यात्व, सासादन, असंयत, सयोगकेवली में अनुदय और उदय कार्माण काययोगवत् जानना, अर्थात् अनुदय दो, आठ, चौदह, चौंसठ जानना । उदय सत्तासी, इक्यासी, पचहत्तर, पच्चीस जानना । सयोगकेवली में व्युच्छित्ति तेरह; इसलिए अयोगकेवली में अनुदय सतहत्तर, उदय बारह ।

(अनाहारक रचना - उदययोग्य प्रकृतियां ८९

गुणस्थान	मि	सा	अ	स	अ
व्युच्छित्ति	३	१०	५१	१३	१२
उदय	८७	८१	७५	२५	१२
अनुदय	२	८	१४	६४	७७

इसतरह आदेश अर्थात् मार्गणास्थान में उदय है, वह **'बल'** अर्थात् बलभद्र

और **'माधव'** अर्थात् नारायण इनके द्वारा **'अर्चित'** अर्थात् पूजित ऐसे **'नेमिचन्द्र'** अर्थात् नेमिनाथ तीर्थंकर, वे ही हुये चंद्रमा, उन्हों ने कहा है । अथवा **'बल'** अर्थात् बलदेव अपना भाई और **'माधव'** अर्थात् माधवचंद्र त्रैविद्यदेव - इनसे **'अर्चित'** - पूजित ऐसे नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने कहा है, सो जानना ॥३३२॥

।। इति उदयप्रकरण समाप्त ।।

आगे **सत्ता का निरूपण** करते हैं; वहां गुणस्थानों में सत्त्व कहते हैं –

तित्थाहारा जुगवं सव्वं तित्थं ण मिच्छगादितिए ।
तस्सत्तकम्मियाणं तग्गुणठाणं ण संभवदि ॥३३३॥

तीर्थहारा युगपत्सर्वं तीर्थं न मिथ्यकादित्रये ।
तत्सत्त्वकर्मकाणां तद्गुणस्थानं न संभवति ॥३३३॥

टीका – मिथ्यात्व गुणस्थान में जिसके तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता है, उसको आहारकद्विक का सत्त्व नहीं होता; जिसके आहारकद्विक का सत्त्व है, उसके तीर्थंकर प्रकृति का सत्त्व नहीं होता । इसलिए मिथ्यात्व गुणस्थान में युगपत् एक जीव की अपेक्षा तीर्थंकर और आहारकद्विक इन दोनों का सत्त्व नहीं होता, एक का ही हो सकता है । परंतु अनुक्रम से और नाना जीवों की अपेक्षा उन दोनों का सत्त्व पाया जाता है । सासादन में एक जीव की अपेक्षा या नाना जीवों की अपेक्षा, क्रम से या युगपत् तीर्थंकर और आहारकद्विक का सत्त्व नहीं पाया जाता । मिश्र में एक तीर्थंकर का सत्त्व नहीं पाया जाता; क्योंकि इन प्रकृतियों का जिनके सत्त्व हो, उनके वह गुणस्थान नहीं पाया जाता ॥३३३॥

चत्तारिवि खेत्ताइं आउगबंधेण होइ सम्मत्तं ।
अणुवदमहव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं ॥३३४॥

चतुर्णामपि क्षेत्राणामायुष्कबंधेन भवति सम्यक्त्वं ।
अणुव्रतमहाव्रतानि न लभते देवायुष्कं मुक्त्वा ॥३३४॥

टीका – चारों **'क्षेत्र'** अर्थात् गति संबंधी जिनके आयु बंधी हो, उनके सम्यक्त्व हो सकता है । परंतु देवायु बिना अन्य गति संबंधी आयु जिनके बंधी हो, वे तिर्यंच

तो अणुव्रत को और मनुष्य अणुव्रत या महाव्रत को प्राप्त नहीं हो सकते ।

भावार्थ – यदि पहले चारों आयु में से किसी भी आयु का बंध हुआ हो और पश्चात् सम्यक्त्व को धारण करे तो करे, कोई दोष नहीं है । परंतु यदि पहले नरकायु, तिर्यंचायु या मनुष्यायु का बंध हुआ हो तो वह जीव अणुव्रत, महाव्रत धारण करने के लिए समर्थ नहीं होता । एकमात्र देवायु का बंध पहले हुआ हो और अणुव्रत, महाव्रत धारण करे तो करे, कुछ दोष नहीं है; क्योंकि जिनके अन्य आयु का बंध हुआ हो, उनके व्रत परिणाम के कारणभूत विशुद्धरूप कषायों के स्थानों का उदय नहीं पाया जाता ॥३३४॥

णिरयतिरिक्खसुरा उगसत्ते ण हि देससयलवदखवगा ।
अयदचउक्कं तु अणं अणियट्टीकरणचरिमम्हि ॥३३५॥

जुगवं संजोगित्ता पुणोवि अणियट्टिकरणबहुभागं ।
वोलिय कमसो मिच्छं मिस्सं सम्मं खवेदि कमे ॥३३६॥

निरयतिर्यक्सुरायुष्क सत्त्वे नहि देशसकलव्रतक्षपकाः ।
अयतचतुष्कस्तु अनमनिवृत्तिकरणचरमे ॥३३५॥

युगपद्विसंयोज्य पुनरपि अनिवृत्तिकरण बहुभागं ।
व्यतीत्य क्रमशो मिथ्यं मिश्रं सम्यक् क्षपयति क्रमेण ॥३३६॥

टीका – विद्यमान जिस आयु को भोगता है वह भुज्यमान आयु और आगामी जिस आयु का बंध किया है वह बध्यमान आयु, ऐसी दोनों अपेक्षा से नरकायु का सत्त्व होनेपर देशव्रत नहीं होते; नरक, तिर्यंचायु का सत्त्व होनेपर सकलव्रत नहीं होते; नरक, तिर्यंच, देवायु का सत्त्व होनेपर क्षपकश्रेणी नहीं होती ।

अनंतानुबंधी चार और दर्शनमोहनीय तीन - इन सात की सत्ता का असंयतादि चार गुणस्थानों में से किसी एक गुणस्थान में नाश करके जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है । कैसे नाश करता है, वह कहते हैं ।

प्रथम तीन करण करता है, वहां अनिवृत्तिकरण के अंतर्मुहूर्त काल के अंतिम समय में अनंतानुबंधी चौकडी को क्या करता है, वह कहते हैं –

उस अनंतानुबंधी के चतुष्क को युगपत् एक ही बार विसंयोजन करता है अर्थात् बारह कषाय और नोकषायरूप परिणमाता है । इसतरह विसंयोजन करके अंतर्मुहूर्तमात्र काल तक विश्राम करता है । उसके पश्चात् दर्शनमोह के नाश का उद्यमी होकर पुनश्च अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण करता है । वहां अनिवृत्तिकरण का जो अंतर्मुहूर्तमात्र काल, उसको संख्यात का भाग देकर, उसमें एकभाग अवशेष रहे और बहुभाग सर्व व्यतीत हो जाये, तब उस एकभाग के प्रथम समय से लेकर पहले तो मिथ्यात्व प्रकृति का क्षय करता है । उसके पश्चात् मिश्रप्रकृति (सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति) का क्षय करता है, उसके पश्चात् सम्यक्त्वप्रकृति का क्षय करता है, तब क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है ।

अब गुणस्थानों में सत्ता कहते हैं –

मिथ्यात्व गुणस्थान में एक जीव की अपेक्षा आहारकद्विक और तीर्थंकर का सत्त्व अनुक्रम से पाया जा सकता है । कैसे ? किसी जीव ने ऊपर के गुणस्थानों में आहारकद्विक का बंध करके, मिथ्यात्व गुणस्थान में आकर, आहारकद्विक की उद्वेलना की अर्थात् बंध हुआ था उसको दूर किया, पश्चात् नरकायु का बंध किया । उसके पश्चात् असंयत गुणस्थानवर्ती होकर तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया, पश्चात् दूसरी या तीसरी नरक पृथ्वी को जाने के काल में *(मरण के अंतर्मुहूर्त पहले)* पुनः मिथ्यादृष्टि हुआ । इसतरह एक जीव के *(मिथ्यात्व गुणस्थान में)* अनुक्रम से आहारकद्विक और तीर्थंकर का सत्त्व पाया जाता है ।

नाना जीवों की अपेक्षा *(इनका सत्त्व)* युगपत् पाया जाता है । एक ही काल में किसी जीव के आहारकद्विक का सत्त्व पाया जाता है, किसी जीव के तीर्थंकर का सत्त्व पाया जाता है । इसतरह मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थंकर, आहारकद्विक का सत्त्व पाया जाता है, तथा अन्य प्रकृतियों का सत्त्व प्रकट है ही । इसलिए मिथ्यात्व में सत्त्व एक सौ अड़तालीस है ।

सासादन में आहारकद्विक और तीर्थंकर का सत्त्व किसी भी प्रकार से नहीं है; इसलिए सत्त्व एक सौ पैंतालीस है । मिश्र में तीर्थंकर का सत्त्व किसी भी प्रकार से नहीं है; इसलिए सत्त्व एक सौ सैंतालीस है । असंयतादि में जिन के अनंतानुबंधी चतुष्क और दर्शनमोह तीन – इनकी सत्ता पायी जाती है, ऐसे औपशमिक और क्षायोपशमिक

सम्यग्दृष्टि जीवों के असंयत में तो सत्त्व एक सौ अड़तालीस । देशसंयत में नरकायु बिना सत्त्व एक सौ सैंतालीस । प्रमत्तसंयत में नरकायु, तिर्यंचायु बिना सत्त्व एक सौ छियालीस । अप्रमत्तसंयत में भी उसी प्रकार सत्त्व एक सौ छियालीस है । पुनश्च क्षायिक सम्यग्दृष्टि के इन गुणस्थानों में सात-सात प्रकृति कम सत्त्व जानना । अपूर्वकरणादि में दो श्रेणी हैं - एक क्षपक श्रेणी, एक उपशमक श्रेणी ।

(गुणस्थानों में सत्त्व -

गुणस्थान	१	२	३	४	५	६	७	८
सत्त्व	१४८	१४५	१४७	१४८	१४७	१४६	१४६	१३८, १३९, १४२
क्षायिक सम्यग्दृष्टि				१४१	१४०	१३९	१३९	१३८

वहां प्रथम क्षपक श्रेणी की अपेक्षा कथन करते हैं –

वहां अपूर्वकरण में सत्त्व एक सौ अड़तीस क्योंकि सात प्रकृतियों का असंयतादि किसी एक गुणस्थान में क्षय किया है तथा नरकायु, तिर्यंचायु, देवायु का इसके सत्त्व नहीं होता, क्योंकि जिसके आयुबंध न हुआ हो, वही क्षपक श्रेणी मांड़ सकता है। इसतरह एक सौ अड़तीस की सत्ता है ॥३३६॥

आगे अनिवृत्तिकरणादि में क्षययोग्य प्रकृतियां अनुक्रम से कहते हैं –

सोलट्ठेक्किगिछक्कं चदुसेक्कं बादरे अदो एक्कं ।
खीणे सोलसऽजोगे बावत्तरि तेरुवत्तंते ॥३३७॥

षोडशाष्टैकैकषट्कं चतुर्ष्वेकं बादरे अत एकं ।
क्षीणेषोडशायोगे द्वासप्ततिस्त्रयोदश उपरिमांते ॥३३७॥

टीका – यहां प्रकृतियों की सत्त्व व्युच्छित्ति कहते हैं । जहां जिन प्रकृतियों की व्युच्छित्ति होती है, उसके ऊपर *(के गुणस्थानों में)* उन प्रकृतियों की सत्ता का अभाव जानना । वहां अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में अनुक्रम से सोलह, आठ, एक, एक, छह और चार में से एक एक (१,१,१,१) प्रकृति की सत्ता में से व्युच्छित्ति है । सूक्ष्मसाम्पराय में एक, क्षीणकषाय में सोलह, सयोगकेवली में शून्य, अयोगकेवली के अंत के दो समय में द्विचरम समय में बहत्तर और चरम *(अंतिम)* समय में तेरह के सत्त्व की व्युच्छित्ति है ॥३३७॥

(क्षपक श्रेणी - सत्त्व व्युच्छित्ति

गुण.	अपू.	अनि.१	अनि.२	अनि.३	अनि.४	अनि.५	अनि.६	अनि.७	अनि.८	अनि.९	सू	क्षी	स	अ.द्विच.	अ.च.
सत्त्व व्यु	०	१६	८	१	१	६	१	१	१	१	१	१६	०	७२	१३
सत्त्व	१३८	१३८	१२२	११४	११३	११२	१०६	१०५	१०४	१०३	१०२	१०१	८५	८५	१३

वे सोलह आदि प्रकृतियां कौनसी हैं ? कहते हैं –

णिरयातिरिक्खदु वियलंथीणतिगुज्जोवतावएइंदी ।
साहरणसुहुमथावर सोलं मज्झिमकसायट्ठं ॥३३८॥

निरयतिर्यग्द्वि विकलस्त्यानत्रिकमुद्योतातपैकेंद्रियं ।
साधारणसूक्ष्मस्थावरं षोडश मध्यमकषायाष्टौ ॥३३८॥

टीका – नरकगति और आनुपूर्वी, तिर्यंचगति और आनुपूर्वी, विकलत्रिक, स्त्यानगृद्धित्रिक, उद्योत, आतप, एकेन्द्रिय, साधारण, सूक्ष्म, स्थावर - इन सोलह प्रकृतियों की अनिवृत्तिकरण के पहले भाग में व्युच्छित्ति है । अप्रत्याख्यान कषाय चार, प्रत्याख्यान कषाय चार - इन मध्यम आठ कषायों की दूसरे भाग में व्युच्छित्ति है ॥३३८॥

संढिथि छक्कसाया पुरिसो कोहो य माण मायं च ।
थूले सुहुमे लोहो उदयं वा होदि खीणम्ही ॥३३९॥

षंढस्त्री षट् कषायाः पुरुषः क्रोधश्च मानं माया च ।
स्थूले सूक्ष्मे लोभ उदयो वा भवति क्षीणे ॥३३९॥

टीका – नपुंसकवेद की तीसरे भाग में, स्त्रीवेद की चौथे भाग में, छ नोकषाय की पांचवें भाग में, पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, संज्वलन मान, संज्वलन माया - इन चार की छठवें, सातवें, आठवें, नौवें भाग में अनुक्रम से व्युच्छित्ति है । इसतरह स्थूल अर्थात् अनिवृत्तिकरण *(बादर साम्पराय)* में छत्तीस प्रकृतियों की व्युच्छित्ति है। सूक्ष्मसाम्पराय में संज्वलन लोभ की व्युच्छित्ति है । क्षीणकषाय में उदय की व्युच्छित्ति के समान पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पांच अंतराय, निद्रा, प्रचला - इन सोलह के सत्त्व की व्युच्छित्ति है । सयोगकेवली में व्युच्छित्ति नहीं है ॥३३९॥

देहादीफस्संता थिरसुहसरसुरविहायदुग दुभगं ।
णिमिणाजसऽणादेज्जं पत्तेया पुण्ण अगुरुचऊ ॥३४०॥
अणुदयतदियं णीचमजोगिदुचरिमम्मि सत्तवोच्छिण्णा ।
उदयगबार णराणू तेरस चरिमम्हि वोच्छिण्णा ॥३४१॥

देहादिस्पर्शांताः स्थिरशुभस्वरसुरविहायोद्विकं दुर्भगं ।
निर्माणायशोनादेयं प्रत्येकापूर्णमगुरुचत्वारि ॥३४०॥
अनुदयतृतीयं नीचमयोगिद्विचरमे सत्त्वव्युच्छिन्नाः ।
उदयगद्वादश नरानुः त्रयोदश चरमे व्युच्छिन्नाः ॥३४१॥

टीका – पांच शरीर, पांच बंधन, पांच संघात, छह संस्थान, तीन अंगोपांग, छह संहनन, पांच वर्ण, दो गंध, पांच रस, आठ स्पर्श, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुस्वर, देवगति और आनुपूर्वी, प्रशस्त-अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, निर्माण, अयशस्कीर्ति, अनादेय, प्रत्येक, अपर्याप्त, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, जिसका उदय नहीं है ऐसी साता-असाता में से एक वेदनीय, नीचगोत्र - इन बहत्तर प्रकृतियों की अयोगकेवली के द्विचरम समय में व्युच्छित्ति है ।

पुनश्च जिनका उदय अयोगी में पाया जाता है ऐसी साता-असाता वेदनीय में से एक वेदनीय, मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्त, आदेय, यशस्कीर्ति, तीर्थंकर, मनुष्यायु, उच्चगोत्र - ये बारह और मनुष्यानुपूर्वी - इन तेरह प्रकृतियों की अयोगकेवली के अंतिम समय में व्युच्छित्ति है ।

ऐसा होनेपर सत्त्व-असत्त्व कहते हैं ।

जिन प्रकृतियों की सत्ता नहीं पायी जाती उन्हें असत्त्व कहते हैं, जिनकी सत्ता पायी जाती है, उन्हें सत्त्व कहते हैं । अनिवृत्तिकरण के पहले भाग में असत्त्व दस, सत्त्व एक सौ अड़तीस । वहां व्युच्छित्ति सोलह, इसलिए अनिवृत्तिकरण के दूसरे स्थान में असत्त्व छब्बीस, सत्त्व एक सौ बाइस । पुनः व्युच्छित्ति आठ; इसलिए उसी के तीसरे स्थान में असत्त्व चौंतीस, सत्त्व एक सौ चौदह । पुनः व्युच्छित्ति एक; इसलिए चौथे स्थान में असत्त्व पैंतीस, सत्त्व एक सौ तेरह । पुनः व्युच्छित्ति एक; इसलिए पांचवें स्थान में असत्त्व छत्तीस, सत्त्व एक सौ बारह । पुनः व्युच्छित्ति छह; इसलिए

छठवें स्थान में असत्त्व बयालीस, सत्त्व एक सौ छह । पुनः व्युच्छित्ति एक; इसलिए सातवें स्थान में असत्त्व तैंतालीस, सत्त्व एक सौ पांच । पुनः व्युच्छित्ति एक; इसलिए आठवें स्थान में असत्त्व चौवालीस, सत्त्व एक सौ चार । पुनः व्युच्छित्ति एक; इसलिए अनिवृत्तिकरण के नौवें स्थान में असत्त्व पैंतालीस, सत्त्व एक सौ तीन ।

पुनः व्युच्छित्ति एक; इसलिए सूक्ष्मसाम्पराय में असत्त्व छियालीस, सत्त्व एक सौ दो । पुनः व्युच्छित्ति एक; इसलिए क्षीणकषाय में असत्त्व सैंतालीस, सत्त्व एक सौ एक । पुनः व्युच्छित्ति सोलह; इसलिए सयोगकेवली में असत्त्व तिरसठ; सत्त्व पचासी। यहां व्युच्छित्ति नास्ति । इसलिए अयोगकेवली के द्विचरम समय तक असत्त्व तिरसठ, सत्त्व पचासी । वहां व्युच्छित्ति बहत्तर; इसलिए अयोगकेवली के अंतिम समय में असत्त्व एक सौ पैंतीस, सत्त्व तेरह ॥३४०-३४१॥

(क्षपक श्रेणी रचना - अनिवृत्तिकरण आदि में

गुण.	*९-१*	*९-२*	*९-३*	*९-४*	*९-५*	*९-६*	*९-७*	*९-८*	*९-९*	*१०*	*१२*	*१३*	*१४द्वि.*	*१४च.*
व्यु.	*१६*	*८*	*१*	*१*	*६*	*१*	*१*	*१*	*१*	*१*	*१६*	*०*	*७२*	*१३*
सत्त्व	*१३८*	*१२२*	*११४*	*११३*	*११२*	*१०६*	*१०५*	*१०४*	*१०३*	*१०२*	*१०१*	*८५*	*८५*	*१३*
असत्त्व	*१०*	*२६*	*३४*	*३५*	*३६*	*४२*	*४३*	*४४*	*४५*	*४६*	*४७*	*६३*	*६३*	*१३५*

इसतरह कथित सत्त्व-असत्त्व का आचार्य कथन करते हैं –

णभतिगिणभइगि दोद्दो दस दससोलट्ठगादिहीणेसु ।
सत्ता हवंति एवं असहायपरक्कमुद्दिट्ठं ॥३४२॥

नभस्त्र्येकनभ एकं द्वे द्वे दश दश षोडशाष्टकादिहीनेषु ।
सत्ता भवंति एवमसहायपराक्रमोद्दिष्टं ॥३४२॥

टीका – असत्त्व मिथ्यात्व में शून्य, सासादन में तीन, मिश्र में एक, असंयत में शून्य, देशसंयत में एक, प्रमत्तसंयत में दो, अप्रमत्तसंयत में दो, अपूर्वकरण में दस, अनिवृत्तिकरण के पहले भाग में दस, दूसरे-तीसरे भागादि में सोलह-आठ आदि मिलानेपर असत्त्व होता है ।

सर्व प्रकृतियों में से असत्त्वप्रकृति घटानेपर उस-उस गुणस्थान में सत्त्वप्रकृति पूर्वोक्त अनुक्रम से जानना; इसतरह जिसे सहाय की आवश्यकता नहीं है ऐसे पराक्रम के

धारी श्री वर्धमानस्वामी ने कहा है ।

यहां अनिवृत्तिकरणवाला बादर लोभ की क्षपणा करता है – उस लोभ की सूक्ष्मकृष्टि करता है । उन सूक्ष्मकृष्टियों का सूक्ष्मसाम्पराय में उदय होता है, ऐसा जानना । इस क्षपणाविधान में उदय को प्राप्त जो पुरुषवेद आदि, उनका एक निषेक तो एक समय स्थितिवाला है, दो निषेक दो समय स्थितिवाले हैं - ऐसा अनुक्रम जानना। तथा उदय को प्राप्त नहीं ऐसे जो नपुंसकवेद आदि, उनकी क्षय होने के पश्चात् शेष उच्छिष्ट रही *(शेष बची)* सर्व स्थिति समय अधिक आवलीप्रमाण है; क्योंकि वहां एक निषेक दो समय स्थितिवाला है, दो निषेक तीन समय स्थितिवाले हैं, इत्यादि अनुक्रम का सद्भाव है; इसलिए उच्छिष्टावली से एक समय अधिक स्थिति जानना।

पुनश्च उदय को प्राप्त नहीं ऐसे नपुंसकवेद आदि परमुख उदय द्वारा समान समयों में उदयरूप एक एक निषेक, कहे हुये अनुक्रम से संक्रमित होकर प्रवर्तते हैं । ऐसा स्वमुख-परमुख उदय का विशेष जानना ।

जो प्रकृति स्वरूप रहकर ही उदय में आती है, वहां स्वमुख उदय है । जो प्रकृति अन्य प्रकृतिरूप होकर उदय में आती है, वहां परमुख उदय है । इसका विशेष स्वरूप आगे क्षपणासार अनुसार इस भाषाटीका में कथन करेंगे, वहां जानना ॥३४२॥

आगे उपशम श्रेणीवाले के मोहनीय की सात प्रकृतियां तो पहले ही उपशमित हुई थी, अवशेष इक्कीस प्रकृतियों के उपशमाने का विधान कहते हैं –

खवणं वा उवसमणे णवरि य संजलणपुरिसमज्झम्हि ।
मज्झिमदोद्दो कोहादीया कमसोवसंता हु ॥३४३॥

क्षपणामिवोपशमने नवरि च संज्वलनपुरुषमध्ये ।
मध्यमद्वौ द्वौ क्रोधाधिकौ क्रमश उपशांतौ हि ॥३४३॥

टीका – क्षपणा के समान उपशम विधान में भी अनुक्रम है । परंतु विशेष इतना है कि, संज्वलन कषाय और पुरुषवेद के बीच में मध्य के जो अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान क्रोधादि हैं, वे अनुक्रम से उपशमित होते हैं । वही कहते हैं –

नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, हास्यादि छह, पुरुषवेद इनका अनुक्रम से उपशम होता है। पश्चात् पुरुषवेद के उपशमने के अनंतर, उस पुरुषवेद के नवकबंध सहित मध्यम जो

अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान क्रोध युग्म, उसको उपशमाता है ।

यहां जो तत्काल नवीन बंध हुआ, उसका नाम **नवकबंध** जानना । पुरुषवेद का जो नवीनबंध हुआ, उसके निषेक पुरुषवेद को उपशमाने के काल में उपशमाने योग्य नहीं हुये; क्योंकि अचलावली *(बंधावली - बंध होनेपर एक आवली काल तक)* में कर्मप्रकृति को अन्यथा परिणमाने की असमर्थता है; इसलिए पुरुषवेद के निषेक मध्यम क्रोधयुग्म को उपशमाने के काल में उपशमाता है - इसीतरह संज्वलन क्रोधादि का भी नवकबंध का स्वरूप यथावस्थित जानना ।

पुनश्च उसके अनंतर संज्वलन क्रोध को उपशमाता है । उसके अनंतर उसी संज्वलन क्रोध के नवकबंध सहित, मध्यम जो अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान मान युग्म, उसको उपशमाता है । उसके अनंतर संज्वलन मान को उपशमाता है । पुनश्च उसके अनंतर उसी संज्वलन मान के नवकबंध सहित, मध्यम जो अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान मायायुग्म, उसको उपशमाता है। उसके अनंतर संज्वलन माया को उपशमाता है । उसके पश्चात् उस संज्वलन माया के नवकबंध सहित मध्यम जो अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान लोभ युग्म उसको उपशमाता है । उसके अनंतर बादर संज्वलन लोभ को उपशमाता है ।

ऐसा विशेष मोहनीयकर्म ही का उपशम जानना; क्योंकि मोहनीय के अलावा अन्य कर्मों का उपशम विधान नहीं है ।

इसतरह उपशम श्रेणी में मोह को उपशमाता है । सत्ता का नाश नहीं होता; इसलिए अपूर्वकरण से उपशांतमोह गुणस्थान तक उपशमश्रेणीवाले के नरकायु, तिर्यंचायु के बिना एक सौ छियालीस प्रकृतियों की सत्ता जानना । क्षायिक सम्यग्दृष्टि उपशमश्रेणीवाले के एक सौ अड़तीस की सत्ता अपूर्वकरण से उपशांतमोह तक जानना । तथा जिसके आयुबंध न हुआ हो उस क्षायिक सम्यग्दृष्टि के असंयतादि चार गुणस्थानों में भी एक सौ अड़तीस ही की सत्ता जानना ।।३४३।।

णिरयादिसु पयडिट्ठिदिअणुभागपदेसभेदभिण्णस्स ।
सत्तस्स य सामित्तं णेदव्वमिदो जहाजोग्गं ।।३४४।।

निरयादिषु प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदभिन्नस्य ।
सत्त्वस्य च स्वामित्वं नेतव्यमितो यथायोग्यं ।।३४४।।

टीका – यहां से आगे नरकगति आदि मार्गणाओं में प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश - चारों प्रकार के भेदवाले कर्मों का जो सत्त्व, वह यथायोग्य प्राप्त करना ॥३४४॥

आगे परिभाषा कहते हैं –

तिरिए ण तित्थसत्तं णिरयादिसु तिय चउक्क चउ तिण्णि ।
आऊणि होंति सत्ता सेसं ओघादु जाणेज्जो ॥३४५॥

तिरश्चि न तीर्थसत्त्वं निरयादिषु त्रीणि चतुष्कं चत्त्वारि त्रीणि ।
आयूंषि भवंति सत्ताः शेषमोघाज्ज्ञातव्यं ॥३४५॥

टीका – तिर्यंच में तीर्थंकर प्रकृति का सत्त्व नहीं है । नरकगति में भुज्यमान नरकायु, बध्यमान तिर्यंचायु और मनुष्यायु -ऐसे तीन आयु का ही सत्त्व है, देवायु का सत्त्व नहीं है । तिर्यंचगति में भुज्यमान तिर्यंचायु; बध्यमान नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु, देवायु - ऐसे चारों आयु का सत्त्व है । मनुष्यगति में भुज्यमान आयु; बध्यमान नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु, देवायु - ऐसे चारों आयु का सत्त्व है । देवगति में भुज्यमान देवायु; बध्यमान तिर्यंचायु, मनुष्यायु - ऐसे तीन आयु का सत्त्व है ।

जिसको भोगते हैं, उसको भुज्यमान कहते हैं; आगामी उदय होने के योग्य जिसका बंध हुआ हो, उसको बध्यमान कहते हैं ।

अवशेष प्रकृतियों का सत्त्व गुणस्थानवत् जानना ॥३४५॥

वहां नरकगति में सत्त्व कहते हैं –

ओघं वा णेरइये ण सुराऊ तित्थमत्थि तदियोत्ति ।
छट्ठित्ति मणुस्साऊ तिरिए ओघं ण तित्थयरं ॥३४६ ॥

ओघ इव नैरयिके न सुरायुस्तीर्थमस्ति तृतीय इति ।
षष्ठ इति मनुष्यायुस्तिरश्चि ओघो न तीर्थकरं ॥३४६॥

टीका – नरकगति में गुणस्थानवत् है । वहां देवायु का सत्त्व नहीं है; इसलिए सत्त्व योग्य एक सौ सैंतालीस हैं । वहां भी तीर्थंकर का सत्त्व तीसरे पृथ्वी तक है; इसलिए चौथी आदि पृथ्वियों में सत्त्व एक सौ छियालीस है । वहां भी मनुष्यायु का सत्त्व छठवीं पृथ्वी तक है; इसलिए सातवीं माघवी पृथ्वी में एक सौ पैंतालीस

का ही सत्त्व है ।

वहां धर्मादि तीन पृथ्वियों में सत्त्व एक सौ सैंतालीस; सो मिथ्यात्व में असत्त्व नास्ति, सत्त्व एक सौ सैंतालीस । सासादन में आहारकद्विक, तीर्थंकर - ये असत्त्व तीन; सत्त्व एक सौ चौवालीस । मिश्र में असत्त्व एक तीर्थंकर, सत्त्व एक सौ छियालीस। असंयत में असत्त्व शून्य, सत्त्व एक सौ सैंतालीस ।

अंजनादि तीन पृथ्वियों में सत्त्व एक सौ छियालीस, वहां मिथ्यात्व में असत्त्व नास्ति, सत्त्व एक सौ छियालीस । सासादन में असत्त्व आहारकद्विक, सत्त्व एक सौ चौवालीस । मिश्र-असंयत में असत्त्व नास्ति, सत्त्व एक सौ छियालीस ।

माघवी-सातवीं पृथ्वी में सत्त्व एक सौ पैंतालीस । वहां मिथ्यात्व, मिश्र, असंयत में असत्त्व नास्ति, सत्त्व एक सौ पैंतालीस । सासादन में असत्त्व आहारकद्विक, सत्त्व एक सौ तैंतालीस जानना ।

तिर्यंचगति में तीर्थंकर बिना, गुणस्थानवत् सत्त्व एक सौ सैंतालीस । वहां मिथ्यात्व, मिश्र, असंयत में असत्त्व शून्य, सत्त्व एक सौ सैंतालीस । सासादन में असत्त्व आहारकद्विक, सत्त्व एक सौ पैंतालीस । असंयत में नरकायु, मनुष्यायु की व्युच्छित्ति हुई, क्योंकि इनका सत्त्व होनेपर अणुव्रत नहीं होते; इसलिए देशसंयत में असत्त्व नरकायु, मनुष्यायु -दो, सत्त्व एक सौ पैंतालीस है ॥३४६॥

एवं पंचतिरिक्खे पुण्णिदरे णत्थि णिरयदेवाऊ ।
ओघं मणुसतियेसुवि अपुण्णगे पुण अपुण्णेव ॥३४७॥

एवं पंचतिरश्चि पूर्णेतरस्मिन् नास्ति निरयदेवायुः ।
ओघो मनुष्यत्रयेष्वपि अपूर्णके पुनरपूर्णे इव ॥३४७॥

टीका – ऐसे ही सामान्य तिर्यंच, पंचेन्द्रिय तिर्यंच, योनिमत् तिर्यंच, पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच में जानना । विशेष इतना है कि लब्धिअपर्याप्त में नरकायु, देवायु का सत्त्व नहीं है; इसलिए सत्त्व एक सौ पैंतालीस; गुणस्थान एक मिथ्यात्व ही है । क्योंकि **'णहि सासणो अपुण्णे'** इस वचन से उसके सासादन भी नहीं है ।

मनुष्यगति में सामान्य मनुष्य, पर्याप्त मनुष्य, योनिमत् मनुष्य *(मनुष्यणी)* में **ओघः** अर्थात् गुणस्थानवत् है । वहां योनिमत् मनुष्य में क्षपकश्रेणी में विशेष है । सामान्य

मनुष्य और पर्याप्त मनुष्य में मिथ्यात्वादि अयोगकेवली गुणस्थान तक सर्व सत्त्व-असत्त्व गुणस्थान रचनावत् जानना । विशेष इतना है कि, देशसंयत गुणस्थान में तिर्यंचायु की भी सत्ता नहीं है, इसलिए वहां सत्त्व एक सौ छियालीस, असत्त्व दो कहना । अन्य सर्व कथन समान जानना ।

योनिमत् मनुष्य में क्षपकश्रेणी में विशेष इतना है । तीर्थंकर सत्तावाले के अप्रमत्त गुणस्थान के ऊपर स्त्रीवेदीपनाका अभाव है; इसलिए योनिमत् मनुष्य के क्षपक श्रेणी के अपूर्वकरण में सत्त्व एक सौ सैंतीस, असत्त्व दस । इसी तरह अनिवृत्तिकरण के नौ भाग तथा सूक्ष्मसाम्पराय से अयोगकेवली तक के गुणस्थानों में गुणस्थानोक्त सत्त्व से एक-एक कम सत्त्व जानना, असत्त्व गुणस्थानोक्त ही जानना ।

लब्धिअपर्याप्त मनुष्य में लब्धिअपर्याप्त तिर्यंचवत् तीर्थंकर, नरकायु, देवायु बिना सत्त्व एक सौ पैंतालीस, गुणस्थान एक मिथ्यात्व जानना ॥३४७॥

आगे देवगति में कहते हैं –

ओघं देवे ण हि णिरयाउ सारोत्ति होदि तिरियाऊ ।
भवणतियकप्पवासियइत्थीसु ण तित्थयरसत्तं ॥३४८॥

ओघो देवे न हि निरयायुः सार इति भवति तिर्यगायुः ।
भवनत्रयकल्पवासिकस्त्रीषु न तीर्थंकरसत्त्वं ॥३४८॥

टीका – देवगति में नरकायु बिना सामान्यवत् सत्त्व प्रकृति एक सौ सैंतालीस हैं । तिर्यंचायु का सत्त्व सहस्रार तक ही है, ऊपर नहीं है । इसलिए सौधर्म से सहस्रार तक बारह स्वर्गों में सत्त्व एक सौ सैंतालीस । वहां **'किण्ह दुगसुहतिलेस्सिय-वामेविणतित्थयरसत्तं'** इस वचन से तीर्थंकर के सत्त्व बिना मिथ्यात्व में सत्त्व एक सौ छियालीस, असत्त्व एक । सासादन में तीर्थंकर, आहारकद्विक – ये असत्त्व तीन, सत्त्व एक सौ चौवालीस । मिश्र में असत्त्व एक तीर्थंकर, सत्त्व एक सौ छियालीस। असंयत में असत्त्व नास्ति, सत्त्व एक सौ सैंतालीस है ।

आनतादि *(आनत, प्राणत, आरण, अच्युत)* चार स्वर्ग और नौ ग्रैवेयक इनमें नरकायु, तिर्यंचायु बिना सत्त्व एक सौ छियालीस । वहां मिथ्यात्व, मिश्र में असत्त्व एक तीर्थंकर, सत्त्व एक सौ पैंतालीस । सासादन में तीर्थंकर, आहारकद्विक - ये तीन

असत्त्व, सत्त्व एक सौ तैंतालीस । असंयत में असत्त्व नास्ति, सत्त्व एक सौ छियालीस।

नौ अनुदिश, पांच अनुत्तर विमान में नरकायु, तिर्यंचायु बिना सत्त्व प्रकृतियां एक सौ छियालीस । गुणस्थान एक असंयत ही है ।

भवनत्रिक देव, कल्पवासिनी स्त्री - इनमें तीर्थंकर, नरकायु बिना सत्त्व एक सौ छियालीस । वहां मिथ्यात्व में सत्त्व एक सौ छियालीस, असत्त्व शून्य । सासादन में असत्त्व आहारकद्विक, सत्त्व एक सौ चौवालीस । मिश्र-असंयत में असत्त्व शून्य, सत्त्व एक सौ छियालीस जानना ॥३४८॥

आगे इन्द्रियमार्गणा, कायमार्गणा में कहते हैं –

ओघं पंचक्खतसे सेसिंदियकायगे अपुण्णं वा ।
तेउदुगे ण णराऊ सव्वत्थुव्वेल्लणावि हवे ॥३४९॥

ओघः पंचाक्षत्रसे शेषेंद्रियकायके अपूर्णं वा ।
तेजोद्विके न नरायुः सर्वत्रोद्वेल्लनापि भवेत् ॥३४९॥

टीका – इन्द्रियमार्गणा और कायमार्गणा में पंचेन्द्रिय और त्रसकाय इनमें सामान्यवत् सत्त्व प्रकृतियां एक सौ अड़तालीस, गुणस्थान सर्व चौदह । उनमें सर्व रचना गुणस्थानवत् जानना, कुछ विशेष नहीं है ।

अवशेष एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय मार्गणा और पृथ्वी, अप्, वनस्पति कायमार्गणा इनमें लब्धिअपर्याप्तवत् तीर्थंकर, नरकायु, देवायु बिना सत्त्व प्रकृतियां एक सौ पैंतालीस । वहां मिथ्यात्व में सत्त्व एक सौ पैंतालीस, असत्त्व शून्य । सासादन में असत्त्व आहारकद्विक, सत्त्व एक सौ तैंतालीस ।

अग्निकायिक, वायुकायिक में मनुष्यायु भी नहीं है, इसलिए सत्त्व प्रकृतियां एक सौ चौवालीस, गुणस्थान एक मिथ्यात्व । सर्वत्र इन्द्रियमार्गणा और कायमार्गणा में उद्वेलना भी होती है ।

उद्वेलना किसे कहते हैं ?

जैसे, रस्सा जोर लगाकर बनाया था, पश्चात् जोर लगाकर ही उधेड़ दिया; वैसे, जिन प्रकृतियों का बंध किया था, पश्चात् उनका उद्वेलनभागहार से अपकर्षण करके अन्य प्रकृतिपने को प्राप्त करके नाश करना, उद्वेलन कहलाता है ॥३४९॥

(पंचेन्द्रिय और त्रसकायिक रचना - उनके योग्य सत्त्वप्रकृतियां १४८

गुण.	मि	सा	मिश्र	अ	दे	प्र	अप्र	अपू	अ१	अ२	अ३	अ४	अ५	अ६	अ७	अ८	अ९
व्यु.	०	०	०	०	१	०	८	०	१६	८	१	१	६	१	१	१	१
सत्त्व	१४८	१४५	१४७	१४८	१४७	१४६	१४६	१३८	१३८	१२२	११४	११३	११२	१०६	१०५	१०४	१०३
असत्व	०	३	१	०	१	२	२	१०	१०	२६	३४	३५	३६	४२	४३	४४	४५

क्षपकश्रेणी

गुण.	सू	क्षी	स.	अ द्विच.	अ. चरम
व्यु.	१	१६	०	७२	१३
सत्त्व	१०२	१०१	८५	८५	१३
अस.	४६	४७	६३	६३	१३५

उपशमश्रेणी

द्वितीयोपशम स. दृ.	क्षायिक स. दृ.
०	०
१४६	१३८
२	१०

वे उद्वेलन प्रकृतियां कौनसी हैं ? वह कहते हैं –

हारदु सम्मं मिस्सं सुरदुग णारयचउक्कमणुकमसो ।
उच्चागोदं मणुदुगमुव्वेल्लिज्जंति जीवेहिं ।।३५०।।

हारद्वि सम्यक् मिश्रं सुरद्विकं नारकचतुष्कमनुक्रमशः ।
उच्चैर्गोत्रं मनुद्विकमुद्वेल्ल्यंते जीवैः ।।३५०।।

टीका – उद्वेलना का विधान आगे विस्तार से कहेंगे, तथापि यहां भी प्रसंग पाकर कुछ कहते हैं - आहारकद्विक, सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, देवगति और देवानुपूर्वी; नरकगति और नारकानुपूर्वी, वैक्रियिक शरीर और अंगोपांग - ये वैक्रियिक चतुष्क या नारकचतुष्क की चार, उच्चगोत्र, मनुष्यगति और मनुष्यानुपूर्वी - ये तेरह प्रकृतियां अनुक्रम से उद्वेलनारूप करते हैं ।।३५०।।

कौनसा जीव किस प्रकृति की उद्वेलना करता है, वह कहते हैं –

चदुगदिमिच्छे चउरो इगिविगले छप्पि तिण्णि तेउदुगे ।
सिय अत्थि णत्थि सत्तं सपदे उप्पण्णठाणेवि ।।३५१।।

चतुर्गतिमिथ्ये चतस्र एकविकले षडपि तिस्रस्तेजोद्विके ।
स्यादस्ति नास्ति सत्त्वं स्वपदे उत्पन्नस्थानेऽपि ।।३५१।।

टीका – चारों गतिवाले मिथ्यादृष्टि जीवों में चार, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियों में छह; और अग्निकायिक, वायुकायिक में तीन प्रकृतियां स्वस्थान और उत्पन्न स्थान में स्यादस्ति, स्यान्नास्ति; अर्थात् किसी प्रकार से सत्त्व है, किसी प्रकार से सत्त्व नहीं है । यदि उद्वेलना नहीं हुई हो, तो सत्त्व पाया जाता है और यदि उद्वेलना पूर्ण हुयी हो, तो सत्त्व नहीं पाया जाता । वही कहते हैं –

तीर्थंकर, नरकायु, देवायु - इनकी सत्ता जिनके नहीं पायी जाती ऐसे चतुर्गतिवाले संक्लेशपरिणामी मिथ्यादृष्टि जीव, उनके उद्वेलना हुये बिना सत्त्व एक सौ पैंतालीस पाया जाता है । आहारकद्विक की उद्वेलना होनेपर सत्त्व एक सौ तैंतालीस पाया जाता है। सम्यक्त्वमोहनीय की उद्वेलना होनेपर सत्त्व एक सौ बयालीस पाया जाता है । मिश्रमोहनीय की उद्वेलना होनेपर सत्त्व एक सौ इकतालीस पाया जाता है । इसतरह स्वस्थान में सत्त्व जानना ।

पुनश्च उत्पन्न स्थान में एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पृथ्वी, अप्, वनस्पतिकाय में वे चार पूर्वोक्त प्रकार से एक सौ पैंतालीस, एक सौ तैंतालीस, एक सौ बयालीस, एक सौ इकतालीस का सत्त्व पाया जाता है । पुनश्च देवगति और देवानुपूर्वी की उद्वेलना होनेपर स्वस्थान में उन एकेन्द्रियादि के एक सौ उनतालीस का सत्त्व है । पुनश्च वैक्रियिक चतुष्क की उद्वेलना होनेपर एक सौ पैंतीस का सत्त्व है ।

पुनश्च उत्पन्न स्थान में अग्निकायिक-वायुकायिक में मनुष्यायु का भी सत्त्व नहीं है; इसलिए बिना उद्वेलन के सत्त्व एक सौ चौवालीस है । आहारकद्विक आदि चारों की उद्वेलना होनेपर क्रम से एक सौ बयालीस, एक सौ इकतालीस, एक सौ चालीस; सुरद्विक की उद्वेलना होनेपर एक सौ अड़तीस, वैक्रियिक चतुष्क की उद्वेलना होनेपर एक सौ चौंतीस सत्त्व पाया जाता है ।

पुनश्च स्वस्थान में अग्निकायिक, वायुकायिक के उच्चगोत्र की उद्वेलना होनेपर, सत्त्व एक सौ तैंतीस का है । पुनश्च मनुष्यद्विक की उद्वेलना होनेपर, एक सौ इकतीस का ही सत्त्व पाया जाता है । ये अंत के दो सत्त्व - एक सौ तैंतीस और एक सौ इकतीस उत्पन्न स्थान की अपेक्षा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पृथ्वी, अप्, वनस्पति में भी जानना । जहां पूर्व पर्याय में उद्वेलना से या बिना उद्वेलना से जो सत्त्व हुआ हो, उस सहित उत्तर पर्याय में उत्पन्न हो, वहां उत्तर पर्याय में

उस सत्त्व के उत्पन्न स्थान में सत्त्व कहते हैं । तथा उस विवक्षित पर्याय में बिना उद्वेलना से या उद्वेलना से जो सत्त्व होता है, उसे स्वस्थान में सत्त्व कहते हैं ॥३५१॥

(ए. द्वी. त्री. च. पृथ्वी, अप्, वनस्पति योग्य १४५ प्रकृतियां - देवायु, नरकायु, तीर्थंकर बिना

उद्वेलना प्रकृति		*आ२*	*स. १*	*मि. १*	*सुर २*	*नारक ४*	*उत्पन्न में*	
सत्त्व	*१४५*	*१४३*	*१४२*	*१४१*	*१३९*	*१३५*	*१३३*	*१३१*

अग्निकायिक-वायुकायिक योग्य १४४ प्रकृतियां -उपरोक्त तीन और मनुष्यायु बिना

उद्वेलना प्रकृति		*आ. २*	*स. १*	*मि. १*	*सुर. २*	*ना. ४*	*उच्च. १*	*म. २*
सत्त्व	*१४४*	*१४२*	*१४१*	*१४०*	*१३८*	*१३४*	*१३३*	*१३१*

आगे योगमार्गणा में कहते हैं –

पुण्णेक्कारसजोगे साहारयमिस्सगेवि स गुणोघं ।
वेगुव्वियमिस्सेवि य णवरि ण माणुसतिरिक्खाऊ ॥३५२॥

पूर्णैकादशयोगे साहारकमिश्रकेऽपि स्वगुणौघः ।
वैगूर्विकमिश्रेऽपि च नवरि न मानुषतिर्यगायुः ॥३५२॥

टीका – चारों मनोयोग, चारों वचनयोग, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, आहारकमिश्र काययोग - इनमें अपने-अपने गुणस्थानवत् रचना है । वहां चारों मनोयोग, चारों वचनयोग, औदारिक काययोग - इनमें सत्त्व प्रकृतियां एक सौ अड़तालीस, गुणस्थान बारह और तेरह, वहां रचना गुणस्थानवत् जानना, कुछ विशेष नहीं है ।

आहारक, आहारकमिश्र काययोग में नरकायु, तिर्यंचायु बिना सत्त्व एक सौ छियालीस, गुणस्थान एक - प्रमत्तसंयत ।

वैक्रियिक काययोग में सत्त्व प्रकृतियां एक सौ अड़तालीस, गुणस्थान चार । वहां मिथ्यात्व में सत्त्व सर्व, असत्त्व नास्ति, क्योंकि तीर्थंकर सत्तावाला तीसरी पृथ्वी तक उत्पन्न होता है । सासादन, मिश्र, अविरत में गुणस्थानवत् सत्त्व-असत्त्व जानना।

वैक्रियिकमिश्र काययोग में तिर्यंचायु, मनुष्यायु बिना सत्त्व प्रकृतियां एक सौ छियालीस। वहां मिथ्यात्व और असंयत में असत्त्व नास्ति, सत्त्व सर्व । सासादन में आहारकद्विक,

तीर्थंकर, नरकायु - ये असत्त्व चार, सत्त्व एक सौ बयालीस है ॥३५२॥

औदारिकमिश्र काययोग में कहते हैं –

ओरालमिस्सजोगे ओघं सुरणिरयआउगं णत्थि ।
तम्मिस्सवामगे ण हि तित्थं कम्मेवि सगुणोघं ॥३५३॥

औरालमिश्रयोगे ओघः सुरनिरयायुष्कं नास्ति ।
तन्मिश्रवामके न हि तीर्थं कार्मेऽपि स्वगुणौघः ॥३५३॥

टीका – औदारिकमिश्र काययोग में देवायु, नरकायु बिना, सामान्यवत् सत्त्व प्रकृतियां एक सौ छियालीस । वहां **'तम्मिस्सवामगे ण हि तित्थं'** इस वचन से मिथ्यात्व में असत्त्व एक तीर्थंकर, सत्त्व एक सौ पैंतालीस । सासादन में तीर्थंकर, आहारकद्विक - ये असत्त्व तीन, सत्त्व एक सौ तैंतालीस । असंयत में असत्त्व शून्य, सत्त्व एक सौ छियालीस । सयोगकेवली में सत्त्व पचासी, असत्त्व इकसठ ।

कार्माण काययोग में चारों भुज्यमान आयु पायी जाती हैं; इसलिए सत्त्व प्रकृतियां एक सौ अड़तालीस । वहां मिथ्यात्व, असंयत में सत्त्व सर्व, असत्त्व नास्ति । सासादन में तीर्थंकर, आहारकद्विक, नरकायु - ये असत्त्व चार, सत्त्व एक सौ चौवालीस । सयोगकेवली में असत्त्व तिरसठ, सत्त्व पचासी ॥३५३॥

आगे वेदमार्गणा में कहते हैं –

वेदादाहारोत्ति य सगुणोघं णवरि संढथीखवगे ।
किण्हदुगसुहतिलेस्सियवामेवि ण तित्थयरसत्तं ॥३५४॥

वेदादाहार इति च स्वगुणौघः नवरि षंढस्त्रीक्षपके ।
कृष्णद्विकशुभत्रिलेश्यिकवामेऽपि न तीर्थकरसत्त्वं ॥३५४॥

टीका – वेदमार्गणा से लेकर आहारमार्गणा तक अपने-अपने गुणस्थानवत् सामान्य रचना है । वहां पुरुषवेद में सत्त्व प्रकृतियां एक सौ अड़तालीस, गुणस्थान चौदह । वहां सर्व रचना गुणस्थानवत् जानना । पुनश्च नपुंसकवेद, स्त्रीवेद में सत्त्व प्रकृतियां एक सौ अड़तालीस । वहां **'णवरि संढथी खवगे'** इस वचन से क्षपकश्रेणी में तीर्थंकर का सत्त्व नहीं है । *(गाथा ३४७ की टीका में भी यही बात गतिमार्गणा में मनुष्यणी*

के संदर्भ में बतायी है)। इसलिए अपूर्वकरणादि में सत्त्व प्रकृतियां गुणस्थानोक्त सत्त्व प्रकृतियों से एक एक कम जानना । अन्य सर्व रचना गुणस्थानवत् जानना ।

कषायमार्गणा में सत्त्व एक सौ अड़तालीस, गुणस्थान क्रोध, मान, माया में अनिवृत्तिकरण तक नौ, लोभ में सूक्ष्मसाम्पराय तक दस । वहां सर्व रचना गुणस्थानवत् जानना ।

ज्ञानमार्गणा में कुमति, कुश्रुत, विभंगज्ञान में सत्त्व एक सौ अड़तालीस, गुणस्थान मिथ्यात्व, सासादन - दो; वहां रचना गुणस्थानवत् । मति, श्रुत, अवधिज्ञान में सत्त्व प्रकृतियां एक सौ अड़तालीस, गुणस्थान असंयतादि नौ । वहां रचना गुणस्थानवत् जानना। मनःपर्यय में नरकायु, तिर्यंचायु बिना सत्त्व प्रकृतियां एक सौ छियालीस, गुणस्थान प्रमत्तसंयतादि सात । वहां सत्त्व गुणस्थानवत्, असत्त्व गुणस्थानोक्त असत्त्व से दो-दो कम जानना। केवलज्ञान में सत्त्व प्रकृतियां पचासी, गुणस्थान सयोगी-अयोगी दो । वहां सत्त्व गुणस्थानवत्, असत्त्व सयोगकेवली में नास्ति, अयोगकेवली में द्विचरम समय तक नास्ति, चरम समय में बहत्तर ।

पुनश्च संयममार्गणा में असंयत में सत्त्व एक सौ अड़तालीस, गुणस्थान मिथ्यात्वादि चार । वहां रचना गुणस्थानवत् जानना । देशसंयत में नरकायु बिना सत्त्व एक सौ सैंतालीस, गुणस्थान एक देशसंयत । सामायिक-छेदोपस्थापना में नरकायु, तिर्यंचायु बिना सत्त्व एक सौ छियालीस, गुणस्थान प्रमत्तसंयतादि चार । वहां सत्त्व गुणस्थानोक्त, असत्त्व –गुणस्थानोक्त से दो-दो कम जानना ।

परिहारविशुद्धिसंयम में सत्त्व पूर्वोक्त एक सौ छियालीस, गुणस्थान प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत -दो । पुनश्च सूक्ष्मसाम्परायसंयम *(क्षपक)* में सत्त्व एक सौ दो, गुणस्थान एक सूक्ष्मसाम्पराय । यथाख्यातसंयम में गुणस्थान चार, वहां उपशांतमोह में सत्त्व एक सौ छियालीस *(द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि – नरकायु, तिर्यंचायु बिना)* अथवा एक सौ अड़तीस *(क्षायिक सम्यग्दृष्टि – ३ आयु बिना; बद्धायु में १३९)* । क्षीणमोह में एक सौ एक, सयोगकेवली में ~~एक सौ~~ पचासी, अयोगकेवली में द्विचरम समय तक पचासी, चरम समय में तेरह हैं ।

दर्शनमार्गणा में चक्षु-अचक्षुदर्शन में सत्त्व एक सौ अड़तालीस, गुणस्थान आदि के बारह, वहां गुणस्थानोक्तवत् रचना है । अवधिदर्शन में सत्त्व एक सौ अड़तालीस,

गुणस्थान असंयतादि नौ, वहां रचना गुणस्थानोक्त है । केवलदर्शन में रचना केवलज्ञानवत् जानना ।

लेश्यामार्गणा में कृष्ण-नील में सत्त्व प्रकृतियां एक सौ अड़तालीस, गुणस्थान मिथ्यात्वादि चार, वहां **'किण्हदुगे वामे ण तित्थयरसत्तं'** इस वचन से मिथ्यात्व में तीर्थंकर सत्त्व नहीं है, क्योंकि तीन अशुभलेश्या में तीर्थंकर का प्रारंभ नहीं होता; तथा जिसके नरकायु बंधी हो वह दूसरी-तीसरी पृथ्वी में उत्पन्न होता है वहां भी कापोत लेश्या पायी जाती है । इसलिए मिथ्यात्व गुणस्थान में एक सौ सैंतालीस का सत्त्व है । सासादनादि में गुणस्थानवत् रचना है ।

कापोतलेश्या में सत्त्व एक सौ अड़तालीस, गुणस्थान चार आदि के, वहां रचना गुणस्थानवत् जानना ।

पीत-पद्मलेश्या में सत्त्व एक सौ अड़तालीस, गुणस्थान सात आदि के, वहां **'सुहतियलेस्सियवामे वि ण तित्थयरसत्तं'** इस वचन से मिथ्यात्व में तीर्थंकर सत्त्व नहीं है, क्योंकि तीर्थंकर सत्तावाला जो नरक जाने के सन्मुख हो, उसी के सम्यक्त्व की विराधना होती है । *(इसके अलावा अन्य कोई तीर्थंकर की सत्तावाला जीव सम्यक्त्व से छूटकर नीचे नहीं आता । नरक के सन्मुख उस जीव के कापोतलेश्या पायी जाती है ।)* तीनों शुभलेश्या में सम्यक्त्व की विराधना नहीं होती, इसलिए वहां *(मिथ्यात्व में)* सत्त्व एक सौ सैंतालीस । सासादनादि में गुणस्थानवत् रचना जानना ।

शुक्ललेश्या में सत्त्व एक सौ अड़तालीस, गुणस्थान मिथ्यात्वादि तेरह । वहां मिथ्यात्व में तीर्थंकर की सत्ता नहीं; इसलिए सत्त्व एक सौ सैंतालीस । सासादनादि में गुणस्थानवत् रचना जानना ।

भव्यमार्गणा में (भव्य में) सत्त्व एक सौ अड़तालीस, गुणस्थान चौदह, वहां रचना गुणस्थानवत् जानना ॥३५४॥

अभव्वसिद्धे णत्थि हु सत्तं तित्थयरसम्ममिस्साणं ।
आहारचउक्कस्सवि असण्णिजीवे ण तित्थयरं ॥३५५॥

अभव्यसिद्धे नास्ते हि सत्त्वं तीर्थंकरसम्यग्मिश्राणां ।
आहारचतुष्कस्यापि असंज्ञिजीवे न तीर्थंकरं ॥३५५॥

टीका – अभव्यमार्गणा में *(भव्यमार्गणा में अभव्यों में)* तीर्थंकर, सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय, आहारकशरीर, अंगोपांग, बंधन, संघात - ये चार–इन सात का सत्त्व नहीं है । क्योंकि उसके कभी भी सम्यग्दर्शनादि की प्रकटता नहीं है; इसलिए सत्त्व एक सौ इकतालीस, गुणस्थान एक मिथ्यात्व ।

सम्यक्त्वमार्गणा में मिथ्यारुचि में सत्त्व एक सौ अड़तालीस; गुणस्थान एक मिथ्यात्व। सासादनरुचि में तीर्थंकर, आहारकद्विक बिना सत्त्व एक सौ पैंतालीस, गुणस्थान एक सासादन । मिश्ररुचि में तीर्थंकर बिना सत्त्व एक सौ सैंतालीस, गुणस्थान एक मिश्र। उपशमसम्यक्त्व में सत्त्व प्रकृतियां एक सौ अड़तालीस, गुणस्थान असंयतादि आठ । वहां असंयत में असत्त्व नास्ति, सत्त्व सर्व । देशसंयत में असत्त्व नरकायु, सत्त्व एक सौ सैंतालीस । प्रमत्तसंयत से उपशांतमोह तक के गुणस्थानों में असत्त्व नरकायु, तिर्यंचायु -दो, सत्त्व एक सौ छियालीस ।

वेदकसम्यक्त्व में सत्त्व एक सौ अड़तालीस, गुणस्थान असंयतादि चार, वहां रचना गुणस्थानवत् ।

क्षायिकसम्यक्त्व में चार अनंतानुबंधी और तीन दर्शनमोहनीय का अभाव है; इसलिए सत्त्व प्रकृतियां एक सौ इकतालीस; गुणस्थान असंयतादि ग्यारह । वहां असंयत में असत्त्व नास्ति, सत्त्व एक सौ इकतालीस । असंयत में नरकायु, तिर्यंचायु की व्युच्छित्ति हुई, क्योंकि क्षायिक सम्यग्दृष्टि तिर्यंच देशसंयत गुणस्थानवर्ती नहीं होता । इसलिए देशसंयत में असत्त्व दो, सत्त्व एक सौ उनतालीस । प्रमत्तसंयत-अप्रमत्तसंयत में एक सौ उनतालीस सत्त्व है । अपूर्वकरण में दोनों श्रेणियों की अपेक्षा सत्त्व एक सौ अड़तीस *(उपशमश्रेणी में बद्धायुष्क जीवों के एक सौ उनतालीस का सत्त्व है)* । अनिवृत्तिकरणादि में गुणस्थानवत् कथन जानना ।

संज्ञीमार्गणा में सत्त्व एक सौ अड़तालीस, गुणस्थान मिथ्यात्वादि बारह, रचना गुणस्थानवत् जानना । असंज्ञीमार्गणा में *(संज्ञीमार्गणा में असंज्ञी में)*- **'ण तित्थयरं'** इस वचन से तीर्थंकर बिना सत्त्व एक सौ सैंतालीस । वहां मिथ्यात्व में असत्त्व नास्ति, सत्त्व सर्व । सासादन में असत्त्व आहारकद्विक, सत्त्व एक सौ पैंतालीस है ।

आहारमार्गणा में आहारक में सत्त्व एक सौ अड़तालीस, गुणस्थान सयोगकेवली तक तेरह, वहां रचना गुणस्थानवत् जानना ॥३५५॥

कम्मेवाणाहारे पयडीणं सत्तमेवमादेसे ।
कहियमिणं बलमाहवचंदच्चियणेमिचंदेण ॥३५६॥

कार्मे एवानाहारे प्रकृतीनां सत्त्वमेवमादेशे ।
कथितमिदं बलमाधवचंद्रार्चितनेमिचंद्रेण ॥३५६॥

टीका – अनाहारमार्गणा में *(आहारमार्गणा में अनाहारक में)* कार्माण काययोगवत् रचना जानना । वहां मिथ्यात्व, सासादन, असंयत, सयोगकेवली में कार्माणकाययोगवत् रचना है और अयोगकेवली में अयोगी गुणस्थानवत् रचना जानना ।

इसतरह मार्गणास्थान में प्रकृतियों का सत्त्व, प्रत्यक्ष वंदन करनेवाले बलभद्र और माधव अर्थात् वासुदेव द्वारा अर्चित-पूजित ऐसे जो नेमिचन्द्र तीर्थंकरदेव, उन्होंने निरूपित किया है । अथवा बलदेव अपना भाई और माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव इनके द्वारा पूजित ऐसे जो नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती, उन्होंने निरूपित किया है ॥३५६॥

(अनाहारक रचना - प्रकृतियां १४८

गुण.	*मि*	*सा*	*असंयत*	*सयोगी*	*अ. द्विचरम*	*अ. चरम*
व्यु.	०	०	६३	०	७२	१३
सत्त्व	१४८	१४४	१४८	८५	८५	१३
असत्त्व	०	४	०	६३	६३	१३५

सो मे तिहुवणमहियो सिद्धो बुद्धो णिरंजणो णिच्चो ।
दिसदु वरणाणलाहं बुहजणपरिपत्थणं परमसुद्धं ॥३५७॥

स मे त्रिभुवनमहितः सिद्धो बुद्धो निरंजनो नित्यः ।
दिशतु वरज्ञानलाभं बुधजनपरिप्रार्थनं परमशुद्धं ॥३५७॥

टीका – वे श्रीनेमिचन्द्र स्वामी तीन भुवन द्वारा पूजित हैं, सिद्ध हैं, बुद्ध हैं, निरंजन हैं, उनकी बुध-ज्ञानी जन प्रार्थना करते हैं, याचना करते हैं कि परमशुद्ध हो ऐसा वर अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञान-लाभ मुझको दो, प्राप्त कराओ ॥३५७॥

सोरठा – बंध उदय फुनि सत्त्व इस अधिकार विषै कहे ।
इनका जाने तत्त्व सो ज्ञानी शिवपद लहे ।।२।।

इति आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती विरचित गोम्मटसार द्वितीय नाम पंचसंग्रह ग्रंथ की
जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका के अनुसार सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका
भाषाटीका में कर्मकाण्ड में बंधोदयसत्त्वनिरूपण नामक
दूसरा अधिकार समाप्त हुआ ॥२॥

सत्त्वस्थानभंगाधिकार ।।३।।

।। दोहा ।।

करि विशेष सत्ता सहित, अष्टकर्म अरि नाश ।
महावीर जयवंत जगि, धारें ज्ञानप्रकाश ।।

णमिऊण वड्ढमाणं कणयणिहं देवरायपरिपुज्जं ।
पयडीण सत्तठाणं ओघे भंगे समं वोच्छं ।।३५८।।

नत्वा वर्धमानं कनकनिभं देवराजपरिपूज्यं ।
प्रकृतीनां सत्त्वस्थानमोघे भंगेन समं वक्ष्यामि ।।३५८।।

टीका – कनक अर्थात् सुवर्ण के समान वर्णसंयुक्त, देवों का राजा जो इन्द्र उसके द्वारा सर्व प्रकार से पूज्य ऐसे वीर-वर्धमान तीर्थंकरदेव को नमस्कार करके, **ओघ** अर्थात् गुणस्थान में भंगों के साथ प्रकृतियों के सत्त्वस्थान कहूंगा । वहां स्थान क्या है ? और भंग क्या है ? वह कहते हैं –

संख्या-भेद द्वारा एक काल में एक जीव में जो प्रकृतियों का समूह पाया जाय, वह **स्थान** है । तथा एकसंख्यारूप जो प्रकृतियां, उनमें प्रकृतियों का पलटना वह **भंग** है । अथवा संख्याभेद से एकत्व में प्रकृति भेद द्वारा भंग होते हैं ।

भावार्थ – एक जीव के, एक काल में, जितनी प्रकृतियों की सत्ता पायी जाती है, उनके समूह का नाम **स्थान** है, जहां अन्य अन्य संख्या सहित प्रकृतियों की सत्ता पायी जाती है, वहां अन्य अन्य स्थान कहते हैं ।

जैसे, कई जीवों के एक सौ छियालीस की सत्ता पायी जाती है, कई जीवों के एक सौ पैंतालीस की सत्ता पायी जाती है, तो यहां दो स्थान हुये - ऐसे ही सर्वत्र जानना । पुनश्च जहां एक ही स्थान में प्रकृतियों का बदलना पाया जाता है, उसे भंग कहते हैं । जैसे, कई जीवों के मनुष्यायु और देवायु की सत्ता सहित एक सौ पैंतालीस की सत्ता पायी जाती है, कई जीवों के तिर्यंचायु, नरकायु की सत्ता सहित एक सौ पैंतालीस की सत्ता पायी जाती है, यहां स्थान तो एक ही हुआ, क्योंकि संख्या एक है; परंतु भंग अन्य हुआ, क्योंकि प्रकृति बदल गयी । वहां मनुष्यायु,

देवायु की सत्ता है, यहां तिर्यंचायु, नरकायु की सत्ता है - इसी तरह सर्वत्र प्रकृतियों की अन्य-अन्य संख्या से स्थानभेद होते हैं । पुनश्च एक स्थान में कोई प्रकृति अन्य-अन्य होने से भंगभेद होते हैं – ऐसा जानना ॥३५८॥

आगे गुणस्थानों में स्थान और भंग कहने का विधान कहते हैं –

आउगबंधाबंधणभेदमकाऊण वण्णणं पढमं ।
भेदेण य भंगसमं परूवणं होदि बिदियम्हि ॥३५९॥

आयुष्कबंधाबंधनभेदमकृत्वा वर्णनं प्रथमं ।
भेदेन च भंगसमं प्ररूपणं भवति द्वितीयस्मिन् ॥३५९॥

टीका – आयु के बंध का और आयु के अबंध का भेद न करके पहला वर्णन है । दूसरे वर्णन में आयु के बंध का और अबंध का भेदसहित प्ररूपण है ॥३५९॥

वहां प्रथम पक्ष में आयु के बंध और अबंध संबंधी अंतर किये बिना जो सामान्य वर्णन है, उसमें कैसे सत्ता पायी जाती है, वह कहते हैं –

सव्वं तिगेग सव्वं चेगं छसु दोण्णि चउसु छद्दस य दुगे ।
छस्सगदालं दोसु तिसट्ठी परिहीण पडि सत्तं जाणे ॥३६०॥

सर्वं त्रिकैकं सर्वं चैकं षट्सु द्वयं चतुर्षु षट् दश च द्विके ।
षट्सप्तचत्वारिंशत् द्वयोस्त्रिषष्टिः परिहीनं प्रति सत्त्वं जानीहि ॥३६०॥

टीका – मिथ्यात्व में सत्त्व सर्व एक सौ अड़तालीस है । सासादन में तीर्थंकर, आहारकद्विक - इन तीन बिना, एक सौ पैंतालीस सत्त्व है । मिश्र में एक तीर्थंकर बिना एक सौ सैंतालीस सत्त्व है । असंयत में सर्व एक सौ अड़तालीस सत्त्व है। देशसंयत में एक नरकायु बिना एक सौ सैंतालीस सत्त्व है । प्रमत्तसंयत आदि छह गुणस्थानों में उपशमसम्यक्त्व की अपेक्षा नरकायु, तिर्यंचायु इन दो बिना, एक सौ छियालीस सत्त्व है । अपूर्वकरणादि चार गुणस्थानों में अनंतानुबंधी की विसंयोजना करने की अपेक्षा नरकायु, तिर्यंचायु, अनंतानुबंधी चतुष्क इन छहों बिना एक सौ बयालीस का भी सत्त्व पाया जाता है ।

पुनश्च क्षपकश्रेणी की अपेक्षा अपूर्वकरणादि दो गुणस्थानों में नरकायु, तिर्यंचायु, देवायु, तीन दर्शनमोह, अनंतानुबंधी चतुष्क इन दस बिना, एक सौ अड़तीस सत्त्व है । सूक्ष्मसाम्पराय में अनिवृत्तिकरण में व्युच्छित्ति हुयी सोलह, आठ, एक, एक, छह, एक, एक, एक, एक, - इन सहित छियालीस बिना एक सौ दो सत्त्व है । क्षीणमोह में लोभसहित सैंतालीस बिना एक सौ एक सत्त्व है । सयोगकेवली, अयोगकेवली में घातिकर्म की सैंतालीस, नामकर्म की तेरह, तीन आयु - इन तिरसठ बिना पचासी सत्त्व है, चकार से अयोगकेवली के अंतिम समय में एक सौ पैंतीस बिना तेरह सत्त्व है । ऐसे सत्त्व जानना ॥३६०॥

आगे ये जो प्रकृतियां घटायी हैं, उनके नाम कहते हैं –

सासणमिस्से देसे संजददुग सामगेसु णत्थी य।
तित्थाहारं तित्थं णिरयाऊ णिरयतिरियआउअणं ॥३६१॥

सासादनमिश्रे देशे संयतद्विके शामकेषु नास्ति च ।
तीर्थाहारं तीर्थं निरयायुर्निरयतिर्यगायुरनं ॥३६१॥

टीका – सासादन, मिश्र, देशसंयत, संयतद्विक प्रमत्त-अप्रमत्त और उपशमश्रेणी में सत्त्व में से घटायी हुई प्रकृतियों के नाम अनुक्रम से - तीर्थंकर, आहारकद्विक - ये तीन, तीर्थंकर, नरकायु, नरकायु-तिर्यंचायु - ये दो, नरकायु-तिर्यंचायु - ये दो, नरकायु, तिर्यंचायु-अनंतानुबंधी - ये छह जानना । 'चकार' से क्षपकश्रेणी में **'दश यु दुगे'** इत्यादि पूर्वोक्त प्रकार से हीन प्रकृतियां जानना ॥३६१॥

*(**विशेषार्थ** – यहां नाना जीवों की अपेक्षा गुणस्थानों में सत्त्व का वर्णन है। एक जीव की अपेक्षा एकसाथ तीर्थंकर और आहारकद्विक का सत्त्व नहीं हो सकता, परंतु अन्य अन्य जीवों में अर्थात् नाना जीवों की अपेक्षा उनका सत्त्व पाया जाता है । एक जीव के भुज्यमान एक ही आयु होगी और बद्धायु जीव के बध्यमान एक आयु का सत्त्व भी पाया जायेगा परंतु नाना जीवों की अपेक्षा चारों ही आयु का सत्त्व पहले चार गुणस्थानों में पाया जायेगा । पांचवें गुणस्थानवालों को भुज्यमान मनुष्यायु, तिर्यंचायु होगी परंतु बध्यमान मात्र देवायु ही होती है परंतु नरकायु का तो सत्त्व ही संभव नहीं है । इसीतरह छठवें गुणस्थान से तिर्यंचायु का सत्त्व नहीं होता ।)*

(विशेषार्थ –

गुणस्थान	सत्त्व	असत्त्व
मिथ्यात्व	१४८	०
सासादन	१४५	३
मिश्र	१४७	१
असंयत	१४८	०
देशसंयत	१४७	१ नरकायु
प्रमत्तसंयत	१४६	२ नरकायु, तिर्यंचायु
अप्रमत्तसंयत	१४६	२ नरकायु, तिर्यंचायु
उपशमक अपूर्वकरण, अनिवृत्ति., सूक्ष्मसाम्पराय, उपशांतमोह	१४६	२ नरकायु, तिर्यंचायु
उपशमक द्वितीयोपशमवाला	१४२(अबद्धायु)	६ नरकायु, तिर्यंचायु, अनंतानुबंधी विसंयोजना
उपशमक क्षायिक सम्यग्दृष्टि	१३८(अबद्धायु)	१० तीन आयु, अनंता. ४, द.मोह ३
क्षपक सूक्ष्मसाम्पराय	१०२	४६ उपरोक्त १०+३६
क्षीणमोह	१०१	४७ उपरोक्त ४६ + सूक्ष्म लोभ
सयोगकेवली	८५	६३ उपरोक्त ४७ + १६
अयोगकेवली द्विचरम	८५	६३
अयोगकेवली चरम समय	१३	१३५ – उपरोक्त ६३ + ७२)

आगे गुणस्थान में आयु के बंध-अबंध के भेद के साथ विशेष वर्णन करते हैं। वहां स्थानसंख्या दो गाथाओं द्वारा कहते हैं –

बिगुणणव चारि अट्ठं मिच्छतिये अयदचउसु चालीसं ।
तिय उवसमगे संते चउवीसा होंति पत्तेयं ॥३६२॥

चउछक्कदि चउअट्ठं चउछक्क य होंति सत्तठाणाणि ।
आउगबंधाबंधे अजोगि अंते तदो भंगा ॥३६३॥

द्विगुणनव चत्वारि अष्ट मिथ्यत्रये अयतचतुर्षु चत्वारिंशत् ।
त्रीणि उपशामके शांते चतुर्विंशतिः भवंति प्रत्येकं ॥३६२॥

चतुः षट्कृतिः चतुरष्ट चतुःषट्कं च भवंति सत्त्वस्थानानि ।
आयुष्कबंधाबंधे अयोग्यंते ततो भंगाः ॥३६३॥

टीका – मिथ्यात्व में नौ के दोगुणा अठारह सत्त्वस्थान हैं । सासादन में चार हैं । मिश्र में आठ हैं । असंयतादि चार गुणस्थानों में प्रत्येक में चालीस-चालीस सत्त्वस्थान हैं । उपशमश्रेणी के अपूर्वकरणादि तीन और उपशांतमोह में प्रत्येक में चौबीस-चौबीस सत्त्वस्थान हैं । क्षपकश्रेणी में अपूर्वकरण में तो चार, अनिवृत्तिकरण में छत्तीस, सूक्ष्मसाम्पराय में चार, क्षीणमोह में आठ, सयोगकेवली में चार, अयोगकेवली में छह सत्त्वस्थान हैं । इसतरह आयु के बंध और अबंध की विवक्षा में अयोगकेवली तक के गुणस्थानों में सत्त्वस्थान हैं ॥३६२-३६३॥

इसके आगे इन स्थानों के भंगों की संख्या कहते हैं –

पण्णास बार छक्कदि वीससयं अट्ठदाल दुसु दालं ।
अडवीसा बासट्ठी अडचउवीसा य अट्ठ चउ अट्ठ ॥३६४॥

पंचादश द्वादश षट्कृतिः विंशशतं अष्टचत्वारिंशत् द्वयोः चत्वारिंशत् ।
अष्टाविंशतिः द्वाषष्टिः अष्टचतुर्विंशतिः च अष्ट चत्वारि अष्ट ॥३६४॥

टीका – मिथ्यात्व के अठारह स्थानों के पचास भंग हैं । सासादन के चार स्थानों के बारह भंग हैं । मिश्र के आठ स्थानों के छत्तीस भंग हैं । असंयत के चालीस स्थानों के एक सौ बीस भंग हैं । देशसंयत के चालीस स्थानों के अड़तालीस भंग हैं । प्रमत्त-अप्रमत्त संयत के चालीस-चालीस स्थानों के चालीस-चालीस भंग हैं। दोनों श्रेणीरूप अपूर्वकरण के अट्ठाइस स्थानों के अट्ठाइस भंग हैं । दोनों श्रेणीरूप अनिवृत्तिकरण के साठ स्थानों के बासठ भंग हैं । दोनों श्रेणीरूप सूक्ष्मसाम्पराय के अट्ठाइस स्थानों के अट्ठाइस भंग हैं । उपशांतमोह के चौबीस स्थानों के चौबीस भंग हैं । क्षीणमोह के आठ स्थानों के आठ भंग हैं । सयोगकेवली के चार स्थानों के चार भंग हैं । अयोगकेवली के छह स्थानों के आठ भंग हैं ॥३६४॥

आगे मिथ्यात्व के अठारह स्थानों की प्रकृतियों की संख्या आयु के बंध और अबंध की विवक्षा से कहते हैं –

दुतिछस्सत्तट्ठणवेक्कारस सत्तरसमूणवीसमिगिवीसं ।
हीणा सव्वे सत्ता मिच्छे बद्धाउगिदरमेगूणं ।।३६५।।

द्वित्रिषट्सप्ताष्टनवैकादश सप्तदशोनविंशमेकविंशं ।
हीना सर्वा सत्ता मिथ्ये बद्धायुष्कमितरदेकोनं ।।३६५।।

टीका – जिस के आगामी आयु का बंध हुआ हो उसको बद्धायु कहते हैं। जिसके आगामी आयु का बंध न हुआ हो, उसको अबद्धायु कहते हैं । वहां बद्धायु मिथ्यादृष्टि के सर्व सत्त्वरूप एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों में से दो प्रकृति कम ऐसा पहला स्थान है । द्वितीयादि स्थान अनुक्रम से तीन, छह, सात, आठ, नौ, ग्यारह, सत्रह, उन्नीस, इक्कीस प्रकृतियों से कम हैं । ये दस स्थान तो बद्धायु के हैं ।

अबद्धायु के स्थानों में ऊपर के स्थानों में से एक एक प्रकृति और कम करने से स्थान पाये जाते हैं ।

ऐसे इस बीस स्थानों में पुनरुक्त *(जिनकी संख्या समान हो)* दो स्थान घटानेपर मिथ्यात्व में सब अठारह स्थान जानना ।।३६५।।

आगे घटायी हुयी प्रकृतियों के नाम कहते हैं –

तिरियाउगदेवाउगमण्णदराउगदुगं तहा तित्थं ।
देवतिरियाउसहियाहारचउक्कं तु छच्चेदे ।।३६६।।

आउदुगहारतित्थं सम्मं मिस्सं च तह य देवदुगं ।
णारयछक्कं च तहा णराउउच्चं च मणुवदुगं ।।३६७।।

तिर्यगायुष्कदेवायुष्कमन्यतरायुष्कद्विकं तथा तीर्थं ।
देवतिर्यगायुस्सहितमाहारचतुष्कं च षट् चैताः ।।३६६।।

आयुर्द्विकाहारतीर्थं सम्यं मिश्रं च तथा च देवद्विकं ।
नारकषट्क च तथा नरायुरुच्चं च मानवद्विकं ।।३६७।।

टीका – जिस जीव के तिर्यंचायु, देवायु बिना एक सौ छियालीस की सत्ता पायी जाती है, उस बद्धायु का एक स्थान तो यह है । भुज्यमान, बध्यमान दो आयु

को छोड़कर अन्य दो आयु और तीर्थंकर इन तीन बिना, एक सौ पैंतालीस का सत्त्व पाया जाये, तो एक यह स्थान है । पुनश्च देवायु, तिर्यंचायु, आहारक चतुष्क इन छह के बिना, एक सौ बयालीस का सत्त्व पाया जाता है, तो एक यह स्थान है। कोई दो आयु, आहारकचतुष्क, तीर्थंकर - इन सात बिना एक सौ इकतालीस का सत्त्व पाया जाता है, तो एक यह स्थान है । पूर्वोक्त सात और सम्यक्त्वमोहनीय –इन आठ बिना एक सौ चालीस का सत्त्व पाया जाता है, तो एक यह स्थान है। पूर्वोक्त आठ और मिश्रमोहनीय इन नौ बिना, एक सौ उनतालीस का सत्त्व पाया जाता है, तो एक यह स्थान है । पूर्वोक्त नौ और देवगति, आनुपूर्वी इन ग्यारह बिना, एक सौ सैंतीस का सत्त्व पाया जाता है, एक यह स्थान है । पूर्वोक्त ग्यारह तथा नरकगति और आनुपूर्वी, वैक्रियिक शरीर अंगोपांग-बंधन-संघात - ये नारकषट्क – इन सत्रह बिना एक सौ इकतीस का सत्त्व पाया जाता है, एक यह स्थान है । पूर्वोक्त सत्रह तथा मनुष्यायु, उच्चगोत्र इन उन्नीस के बिना, एक सौ उनतीस का सत्त्व पाया जाता है, एक यह स्थान है। पूर्वोक्त उन्नीस और मनुष्यगति और आनुपूर्वी इन इक्कीस बिना एक सौ सत्ताइस का सत्त्व पाया जाता है, एक यह स्थान है ।

इसतरह ये बद्धायु के दस स्थान जानने ।

पुनश्च अबद्धायु की भुज्यमान आयु की ही सत्ता पायी जाती है, बध्यमान आयु की सत्ता नहीं पायी जाती । इसलिए पूर्वोक्त सत्त्व से एक-एक बध्यमान आयु से हीन ऐसे अबद्धायु के दस स्थान जानना । वहां पुनरुक्त दो स्थान दूर करनेपर अठारह स्थान मिथ्यात्व में हैं ।

भावार्थ यह है कि मिथ्यात्व में एक जीव के, एक काल में, इसप्रकार प्रकृतियों की सत्ता पायी जाती है, अन्य प्रकार से कभी भी नहीं पायी जाती । यहां विद्यमान जिस आयु को भोगता है, उसको भुज्यमान आयु कहते हैं । तथा जिस आगामी आयु का बंध किया हो उसको बध्यमान आयु कहते हैं ।

अब इन अठारह स्थानों के पचास भंग रचना के अनुसार परमगुरु के उपदेश से कहते हैं –

१) बद्धायु का पहला सत्त्वस्थान – १४६ / भंग – १ ।

वहां पहले जिसके नरकायु का बंध हुआ हो, ऐसा मिथ्यादृष्टि मनुष्य वेदक

सम्यक्त्व को अंगीकार करके असंयत गुणस्थानवर्ती होकर केवली, श्रुतकेवली के निकट षोडश भावनाओं को भाकर, तीर्थंकर प्रकृति के बंध का प्रारंभ करके तीर्थंकर प्रकृति की सत्तायुक्त होकर मरण काल में भुज्यमान मनुष्यायु का अंतर्मुहूर्त काल अवशेष रहनेपर मिथ्यादृष्टि हुआ उस जीव के तिर्यंचायु, देवायु के सत्त्व का अभाव है । इसलिए एक सौ छियालीस प्रकृतिरूप सत्त्वस्थान पाया जाता है । यहां भंग भी एक ही पाया जाता है, क्योंकि जिनके बध्यमान तिर्यंचायु, मनुष्यायु हो और भुज्यमान मनुष्यायु हो उन असंयत सम्यग्दृष्टि के तीर्थंकरबंध का प्रारंभ नहीं होता । पुनश्च बध्यमान देवायु, भुज्यमान मनुष्यायु युक्त जो असंयतादि चार गुणस्थानवर्ती जीव सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर मिथ्यादृष्टि नहीं होते ।

पुनश्च भुज्यमान नरकायु, बध्यमान मनुष्यायु ऐसा भंग नरकायु के छह महिने अवशेष रहनेपर पाया जाता है, वहां गर्भावतरण कल्याणक के सद्भाव से मिथ्यात्व नहीं पाया जाता; इसलिए भुज्यमान मनुष्यायु, बध्यमान नरकायु ऐसा एक ही भंग होता है । अन्य प्रकार से प्रकृति बदलने से एक सौ छियालीस का सत्त्व नहीं पाया जाता।

२) अबद्धायु का पहला सत्त्वस्थान – १४५ / भंग – १।

अबद्धायु के एक भुज्यमान आयु के सत्त्व के अलावा अन्य आयु का सत्त्व नहीं पाया जाता; इसलिए देवायु, मनुष्यायु, तिर्यंचायु बिना एक सौ पैंतालीस के सत्त्वरूप स्थान होता है । वहां भी भंग एक भुज्यमान नरकायुरूप ही जानना । क्योंकि वही बध्यमान नरकायु तीर्थंकर की सत्तावाला मनुष्य मरकर नारकी हुआ, उसके निर्वृत्तिअपर्याप्त अवस्था में अंतर्मुहूर्त तक मिथ्यात्व रहता है । वहां अबद्धायुपना होने से भुज्यमान एक नरकायु के सत्त्व बिना, अन्य सत्त्व नहीं है । उसी जीव के एक सौ पैंतालीस का सत्त्वस्थान पाया जाता है । अन्य के ऐसा सत्त्व नहीं पाया जाता ।

३) बद्धायु का दूसरा सत्त्वस्थान – १४५। भंग – ५ ।

पुनश्च बद्धायु का दूसरा स्थान भुज्यमान-बध्यमान दो आयु छोड़कर अन्य दो आयु और तीर्थंकर इन तीन बिना, एक सौ पैंतालीस प्रकृतियों के सत्त्वरूप जानना। वहां भंग कहते हैं –

१) भुज्यमान नरकायु, बध्यमान तिर्यंचायु । २) भुज्यमान नरकायु, बध्यमान मनुष्यायु; ३) भुज्यमान तिर्यंचायु, बध्यमान नरकायु; ४) भुज्यमान तिर्यंचायु, बध्यमान

तिर्यंचायु; ५) भुज्यमान तिर्यंचायु, बध्यमान मनुष्यायु; ६) भुज्यमान तिर्यंचायु, बध्यमान देवायु; ७) भुज्यमान मनुष्यायु, बध्यमान नरकायु; ८) भुज्यमान मनुष्यायु, बध्यमान तिर्यंचायु; ९) भुज्यमान मनुष्यायु, बध्यमान मनुष्यायु; १०) भुज्यमान मनुष्यायु, बध्यमान देवायु; ११) भुज्यमान देवायु, बध्यमान तिर्यंचायु; १२) भुज्यमान देवायु, बध्यमान मनुष्यायु -ऐसे बारह भंग हुये ।

इनमें से भुज्यमान तिर्यंचायु, बध्यमान तिर्यंचायु और भुज्यमान मनुष्यायु, बध्यमान मनुष्यायु - ये दोनों भंग पुनरुक्त हैं, क्योंकि भुज्यमान तिर्यंचायु, बध्यमान तिर्यंचायु इस भंग में एक तिर्यंचायु की ही सत्ता है, अन्य दूसरी प्रकृति नहीं है । इसी तरह भुज्यमान मनुष्यायु, बध्यमान मनुष्यायु में भी जानना । इसलिए ये दोनों भंग नहीं गिने, अवशेष दस रहे उनमें से भुज्यमान तिर्यंचायु, बध्यमान नरकायु की और भुज्यमान नरकायु, बध्यमान तिर्यंचायु की समानता है, क्योंकि दोनों भंगों में नरकायु, तिर्यंचायु की ही सत्ता पायी जाती है; इसलिए इन दो भंगों का एक ही भंग गिनते हैं ।

इसीतरह भुज्यमान मनुष्यायु, बध्यमान नरकायु और भुज्यमान नरकायु, बध्यमान मनुष्यायु में; पुनश्च भुज्यमान मनुष्यायु, बध्यमान तिर्यंचायु और भुज्यमान तिर्यंचायु, बध्यमान मनुष्यायु में; पुनश्च भुज्यमान देवायु, बध्यमान तिर्यंचायु और भुज्यमान तिर्यंचायु, बध्यमान देवायु में; पुनश्च भुज्यमान देवायु, बध्यमान मनुष्यायु और भुज्यमान मनुष्यायु, बध्यमान देवायु में समानता है । इसलिए इनका एक-एक ही भंग गिना । इसतरह बद्धायु के एक सौ पैंतालीस प्रकृतियों के सत्त्वरूप स्थान में पांच भंग जानना ।

यहां भंगों का भावार्थ निम्न प्रकार है –

भुज्यमान-बध्यमान तिर्यंचायु, नरकायुवाले के तो तिर्यंचायु, नरकायु की सत्ता सहित एक सौ पैंतालीस का सत्त्वस्थान पाया जाता है, सो एक तो यह भंग हुआ। पुनश्च भुज्यमान-बध्यमान मनुष्यायु-नरकायुवाले के मनुष्यायु-नरकायु सहित एक सौ पैंतालीस का सत्त्वस्थान पाया जाता है, सो यह दूसरा भंग हुआ । उस भंग में तिर्यंचायु और इस भंग में मनुष्यायु इसतरह एक प्रकृति बदल गयी; इसलिए अन्य अन्य भंग कहा। ऐसे ही अन्यत्र भी भंगो का स्वरूप जान लेना ।

४) पुनश्च अबद्धायु का दूसरा सत्त्वस्थान – १४४ । भंग – ४ ।

पुनश्च दूसरा स्थान एक सौ पैंतालीस में से बध्यमान एक आयु की सत्ता घटानेपर

एक सौ चौवालीस प्रकृतिरूप अबद्धायु का स्थान है । इसलिए भुज्यमान आयु की अपेक्षा चारों गति के जीवों के चार भंग पाये जाते हैं ।

भुज्यमान तिर्यंचायुवाले के तिर्यंचायु की सत्ता सहित एक सौ चौवालीस का सत्त्वस्थान है और भुज्यमान नरकायुवाले के नरकायु की सत्ता सहित एक सौ चौवालीसरूप सत्त्वस्थान पाया जाता है । इसतरह प्रकृति बदलने से यहां भी अन्य-अन्य भंग जानना। इसीतरह अन्यत्र भी भंग जानना ।

कोई मिथ्यादृष्टि जीव पहले अप्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त हुआ हो, वहां आहारक चतुष्टय का बंध नहीं किया है, इसलिए उसके आहारक चतुष्टय का सत्त्व नहीं है। अथवा अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में आहारक चतुष्टय का बंध करके पश्चात् मिथ्यादृष्टि होकर आहारक चतुष्टय की उद्वेलना की । इसलिए आहारक चतुष्टय के सत्त्व से रहित हुआ, ऐसा मनुष्य पहले नरकायु का बंध करके पश्चात् वेदकसम्यक्त्व को धारण करके असंयत गुणस्थानवर्ती होकर केवली, श्रुतकेवली के निकट षोडषकारण द्वारा तीर्थंकर के बंध का प्रारंभ करके तीर्थंकर के सत्त्व सहित होकर भुज्यमान आयु का अंतर्मुहूर्त अवशेष रहने पर दूसरी, तिसरी पृथ्वी में गमन करनेयोग्य मिथ्यादृष्टि होता है ।

५) बद्धायु का तीसरा सत्त्वस्थान – १४२ / भंग – १) ।

जिस जीव के तीसरा बद्धायुस्थान तिर्यंचायु, देवायु, आहारकचतुष्कबिना एक सौ बयालीस प्रकृतिरूप पाया जाता है, वहां भंग एक ही है । इसी प्रकार से एक सौ बयालीस का सत्त्व पाया जाता है, अन्य प्रकार से नहीं । क्योंकि मनुष्यायु, तिर्यंचायु का पहले बंध हुआ हो, उसके तीर्थंकर का बंध नहीं होता । देवायु का जिसके बंध हुआ हो, उसके तीर्थंकर का सत्त्व होता है परंतु वह मिथ्यात्व में नहीं आता।

यहां प्रश्न – यदि मनुष्य ही में तीर्थंकर बंध का प्रारंभ कहा, तो देव, नारकी के असंयत में तीर्थंकर बंध कैसे कहा ?

उसका समाधान – तीर्थंकर बंध का प्रारंभ तो मनुष्य ही के होता है । पश्चात् यदि सम्यक्त्व से भ्रष्ट न हो, तो प्रति समय समयप्रबद्ध में तीर्थंकर प्रकृति का बंध हुआ करता है और उत्कृष्टपने अंतर्मुहूर्त अधिक आठ वर्ष से कम दो कोटि पूर्व अधिक तैंतीस सागर तक प्रतिसमय उसका बंध होता रहता है; इसलिए देव, नारकी में भी तीर्थंकर का बंध पाया जाता है ।

६) अबद्धायु का तीसरा सत्त्वस्थान - १४१ । भंग - १।

पुनश्च तीसरा अबद्धायुस्थान मनुष्यायु के भी सत्त्व से रहित है; इसलिए तिर्यंचायु, मनुष्यायु, देवायु - ये तीन आयु और आहारक चतुष्टय - इन सात बिना एक सौ इकतालीस प्रकृतिरूप यह सत्त्वस्थान जानना । यहां वह तीर्थंकर सत्तावाला मरकर दूसरी, तीसरी नरक पृथ्वी में प्राप्त हुआ । वहां अपर्याप्त अवस्था में मिथ्यादृष्टि ही रहता है, उसके भुज्यमान नरकायु के सत्ता बिना, अन्य आयु का सत्त्व नहीं है । उसी जीव के ऐसी सत्ता पायी जाती है; इसलिए भंग एक ही जानना, अन्य प्रकार से ऐसी सत्ता नहीं हो सकती ।

७) बद्धायु का चौथा सत्त्वस्थान - १४१ । भंग - ५ ।

पुनश्च चौथा बद्धायुस्थान भुज्यमान आयु के अलावा अन्य दो आयु, आहारक चतुष्क, तीर्थंकर - इन सात बिना, एक सौ इकतालीस प्रकृतिरूप जानना । वहां पूर्वोक्त बारह भंगों में से दो पुनरुक्त और पांच समान भंगों को छोड़कर अवशेष पांच भंग जानना ।

८) अबद्धायु का चौथा सत्त्वस्थान - १४० । भंग - ४ ।

पुनश्च चौथा अबद्धायुस्थान (१४०) भुज्यमान आयु को छोड़कर अन्य तीन आयु, आहारक चतुष्क और तीर्थंकर - इन आठ बिना, एक सौ चालीस प्रकृतिरूप जानना। वहां भुज्यमान आयु के चार गति की अपेक्षा चार भंग हैं ।

९) बद्धायु का पांचवां सत्त्वस्थान - १४० । भंग - ५ ।

पुनश्च पांचवां बद्धायुस्थान भुज्यमान, बध्यमान आयु को छोड़कर अन्य दो आयु, आहारक चतुष्क, तीर्थंकर, सम्यक्त्वमोहनीय - इन आठ बिना, एक सौ चालीस प्रकृतिरूप जानना । वहां पूर्वोक्त प्रकार से बारह भंगों में से पांच भंग जानना ।

१०) अबद्धायु का पांचवां सत्त्वस्थान - १३९ । भंग - ४ ।

पांचवां अबद्धायुस्थान पूर्वोक्त एक सौ चालीस में से बध्यमान आयु के बिना, एक सौ उनतालीस प्रकृतिरूप जानना । वहां चार गति के भेद से चार भंग जानना।

११) बद्धायु का छठवां सत्त्वस्थान - १३९ । भंग - ५।

पुनश्च छठवां बद्धायुस्थान भुज्यमान, बध्यमान आयु के बिना दो आयु, तीर्थंकर, आहारक चतुष्क, सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय - इन नौ बिना, एक सौ उनतालीस प्रकृतिरूप जानना । वहां भंग पूर्वोक्त प्रकार से पांच जानना ।

१२) अबद्धायु का छठवां सत्त्वस्थान – १३८ । भंग – ४ ।

छठवां अबद्धायुस्थान पूर्वोक्त एक सौ उनतालीस में से बध्यमान आयु बिना, एक सौ अड़तीस प्रकृतिरूप जानना । वहां चार गति की अपेक्षा चार भंग जानना।

१३) बद्धायु का सातवां सत्त्वस्थान – १३७ । भंग – १ ।

सातवां बद्धायुस्थान (१३७) देवद्विक की उद्वेलना जिनकी हुयी है ऐसे एकेन्द्रिय, विकलत्रय जीवों के भुज्यमान तिर्यंचायु, बध्यमान मनुष्यायु के बिना, अवशेष देवायु और नरकायु, आहारक चतुष्क, तीर्थंकर, सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, देवगति और देवानुपूर्वी - इन *(ग्यारह)* बिना, एक सौ सैंतीस प्रकृतिरूप जानना । वहां भुज्यमान एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय संबंधी तिर्यंचायु, बध्यमान तिर्यंचायु तथा भुज्यमान तिर्यंचायु, बध्यमान मनुष्यायु -ये दो भंग हैं । उनमें से भुज्यमान तिर्यंचायु, बध्यमान तिर्यंचायु यह पुनरुक्त भंग है, उसे गिना नहीं; इसलिए भंग एक ही जानना ।

यहां उद्वेलना का स्वरूप पहले कहा, वह जानना ॥३६६-३६७॥

उव्वेल्लिददेवदुगे बिदियपदे चारि भंगया एवं ।
सपदे पढमो बिदियं सो चेव णरेसु उप्पण्णो ॥३६८॥

वेगुव्वअट्ठरहिदे पंचिंदियतिरियजादिसुववण्णे ।
सुरछब्बंधे तदियो णरेसु तब्बंधणे तुरियो ॥३६९॥

उद्वेल्लितदेवद्विके द्वितीयपदे चत्वारो भंगा एवं ।
स्वपदे प्रथमो द्वितीयः स चैवं नरेषु उत्पन्नः ॥३६८॥

वैगूर्वाष्टरहिते पंचेंद्रियतिर्यग्जातिषूपपन्ने ।
सुरषड्बंधे तृतीयो नरेषु तद्बंधने तुरीयः ॥३६९॥

टीका – *१४) अबद्धायु का सातवां सत्त्वस्थान – १३६ । भंग – ४ ।*

पुनश्च सातवां अबद्धायुस्थान एक सौ छत्तीस प्रकृतिरूप है । वहां देवद्विक की जिसके उद्वेलना हुयी है ऐसे एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीव के उसी पर्याय में आहारक चतुष्क, तीर्थंकर, सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय देवगति, देवानुपूर्वी - नौ तो ये और भुज्यमान तिर्यंचायु बिना, अवशेष तीन आयु – इन बारह बिना, सत्त्व एक सौ छत्तीस का पाया जाता है – एक तो यह भंग है ।

पुनश्च वही एकेन्द्रिय, विकलत्रय मिथ्यादृष्टि जीव जिसके देवद्विक की उद्वेलना हो गयी है, मरकर मनुष्य में उत्पन्न हुआ । वहां अपर्याप्त अवस्था में मिथ्यात्व के कारण सुरचतुष्क *(देवगति, देवानुपूर्वी, वैक्रियिक शरीर और अंगोपांग)* का बंध नहीं है । इसलिए पूर्वोक्त नौ और भुज्यमान मनुष्यायु बिना तीन आयु – इन बारह बिना एक सौ छत्तीस का सत्त्व पाया जाता है – यह दूसरा भंग है ।

पुनश्च जिसके वैक्रियिक अष्टक *(देवद्विक, नरकद्विक, वैक्रियिक चतुष्क)* की उद्वेलना हो गयी है ऐसा कोई एकेन्द्रिय, विकलत्रय जीव मरकर पंचेन्द्रिय तिर्यंच में उत्पन्न हुआ, वहां पर्याप्त दशा में देवगति, देवानुपूर्वी, वैक्रियिक शरीर-अंगोपांग-बंधन-संघात इस सुरषट्क का तो बंध किया परंतु नरकगति और नारकानुपूर्वी का बंध वहां नहीं किया; वहां आहारक चतुष्क, तीर्थंकर, सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, नरकगति और आनुपूर्वी – नौ तो ये और भुज्यमान तिर्यंचायु बिना अन्य तीन आयु – ऐसे बारह बिना, एक सौ छत्तीस का सत्त्व पाया जाता है – यह तीसरा भंग है ।

पुनश्च वही जीव मरकर मनुष्य में उत्पन्न हुआ; वहां सुरचतुष्क का बंध होनेपर पूर्वोक्त नौ और भुज्यमान मनुष्यायु बिना अन्य तीन आयु – ऐसे बारह बिना, एक सौ छत्तीस का सत्त्व पाया जाता है, यह चौथा भंग है । इसतरह चार भंग हुये। यहां सभी भंगों में एक सौ छत्तीस ही की संख्या है, इसलिए स्थान एक कहा और प्रकृति बदलने से चार भंग होते हैं, इसलिए चार भंग कहे ।

१५) बद्धायु का आठवां सत्त्वस्थान – १३१ । भंग – १ ।

पुनश्च आठवां बद्धायुस्थान नारकषट्क की उद्वेलना होनेपर एकेन्द्रिय, विकलत्रय जीवों के होता है । भुज्यमान तिर्यंचायु, बध्यमान मनुष्यायु बिना, देवायु, नरकायु - दो आयु, आहारक चतुष्क, तीर्थंकर, सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, देवगति-आनुपूर्वी, नरकगति-आनुपूर्वी, वैक्रियिक शरीर-अंगोपांग-बंधन-संघात यह नारकषट्क – इन सत्रह

बिना, एक सौ इकतीस प्रकृतिरूप सत्त्व जानना । वहां भंग दो - १) भुज्यमान तिर्यंचायु, बध्यमान तिर्यंचायु और २) भुज्यमान तिर्यंचायु, बध्यमान मनुष्यायु । वहां भुज्यमान तिर्यंचायु, बध्यमान तिर्यंचायु यह भंग पुनरुक्त है; इसलिए इसका ग्रहण नहीं करना - एक ही भंग जानना ॥३६८-३६९॥

णारकछक्कुव्वेल्ले आउगबंधुज्झिदे दुभंगा हु ।
इगिविगलेसिगिभंगो तम्मि णरे बिदियमुप्पण्णे ॥३७०॥

नारकषट्कोद्वेल्ये आयुर्बंधोज्झिते द्विभंगौ हि ।
एकविकलेष्वेकभंगस्तस्मिन्नरे द्वितीयमुत्पन्ने ॥३७०॥

टीका – *१६) अबद्धायु का आठवां सत्त्वस्थान – १३० । भंग – २ ।*

पुनश्च आठवां अबद्धायुस्थान भुज्यमान आयु बिना तीन आयु और आहारक चतुष्टय आदि पंद्रह – इनके बिना एक सौ तीस प्रकृतिरूप जानना । वहां भंग दो हैं । जिनके नारकषट्क की उद्वेलना हुयी है ऐसे एकेन्द्रिय, विकलत्रय जीव के तिर्यंचायु बिना अन्य तीन आयु, आहारक चतुष्टय आदि पंद्रह – इनके बिना, एक सौ तीस का सत्त्व पाया जाता है, एक तो यह भंग है ।

पुनश्च वही एकेन्द्रिय, विकलत्रय जीव मरकर मनुष्य में उत्पन्न हुआ, वहां अपर्याप्त काल में मनुष्यायु बिना तीन आयु, आहारक चतुष्टय आदि पंद्रह – इनके बिना एक सौ तीस का सत्त्व पाया जाता है, यह दूसरा भंग है ।

१७) बद्धायु का नौवां सत्त्वस्थान – १२९ । भंग – १ ।

पुनश्च नौवां बद्धायुस्थान जिनके उच्चगोत्र की उद्वेलना हुयी है ऐसे अग्निकायिक, वायुकायिक जीवों के पाया जाता है । पूर्वोक्त एक सौ तीस में से उच्चगोत्र का अभाव हुआ; इसलिए एक सौ उनतीस प्रकृतिरूप जानना ।

वहां भंग एक भुज्यमान तिर्यंचायु, बध्यमान तिर्यंचायु । यह भंग पुनरुक्त है, तथापि यहां अन्य प्रकार से कोई भंग नहीं है, इसलिए इसीका ग्रहण करना ।

अबद्धायु का नौवां सत्त्वस्थान – १२९ ।

पुनश्च नौवां अबद्धायुस्थान भी एक सौ उनतीस प्रकृतिरूप ही है, यह स्थान

बद्धायुस्थान के समान है; इसलिए पुनरुक्त है । इसकारण इस स्थान का ग्रहण नहीं करना ।

१८) बद्धायु का दसवां सत्त्वस्थान – १२७ । भंग – १ ।

पुनश्च दसवां बद्धायुस्थान मनुष्यद्विक की उद्वेलना होनेपर अग्निकायिक, वायुकायिक जीवों के पाया जाता है । वह पूर्वोक्त एक सौ उनतीस में से मनुष्यगति और मनुष्यानुपूर्वी बिना, एक सौ सत्ताइस के सत्त्वरूप जानना । यहां भंग एक ही है । यह भंग पुनरुक्त है *(भुज्यमान तिर्यंचायु, बध्यमान तिर्यंचायु)* तथापि ग्रहण करना । पहले पुनरुक्त भंग अबद्धायुस्थान में गर्भित हुये थे इसलिए ग्रहण नहीं किये थे, यहां अबद्धायुस्थान का ग्रहण ही नहीं किया, इसलिए पुनरुक्त भंग का ग्रहण किया ।

अबद्धायु का दसवां सत्त्वस्थान – १२७ । (इस स्थान का ग्रहण नहीं है)

पुनश्च दसवां अबद्धायुस्थान भी वैसे ही एक सौ सत्ताइस प्रकृतिरूप जानना । इस बद्धायुस्थान अबद्धायुस्थान में संख्या और प्रकृति का कोई विशेष नहीं है *(दोनों समान हैं)*; इसलिए इस स्थान का ग्रहण नहीं करना ॥३७०॥

ऊपर कहे हुये अठारह स्थानों के पुनरुक्त और समभंग को छोड़कर शेष जो भंग कहे, उनकी संख्या गाथा द्वारा कहते हैं –

बिदिये तुरिये पणगे छट्ठे पंचेव सेसगे एक्कं ।
बिगचउपणछस्सत्तय ठाणे चत्तारि अट्ठगे दोण्णि ॥३७१॥

द्वितीये चतुर्थे पंचमे षष्ठे पंचैव शेषके एकः ।
द्विकचतुःपंचषट्सप्तम स्थाने चत्वारः अष्टमे द्वौ ॥३७१॥

टीका – दूसरे, चौथे, पांचवें, छठवें बद्धायुस्थान में पांच-पांच भंग जानना। अवशेष पहले, तीसरे, सातवें, आठवें, नौवें, दसवें बद्धायुस्थान में एक-एक भंग जानना। अबद्धायुस्थान में दूसरे, चौथे, पांचवें, छठवें, सातवें में चार-चार; आठवें में दो; अवशेष पहले, तीसरे में एक-एक भंग जानना ।

इसतरह मिथ्यात्व गुणस्थान में सत्त्वस्थान अठारह, भंग पचास जानना ॥३७१॥

आगे सासादन, मिश्र में स्थान और भंगों की संख्या चार गाथाओं द्वारा कहते हैं–

सत्ततिगं आसाणे मिस्से तिगसत्तसत्तएयारा ।
परिहीण सव्वसत्तं बद्धस्सियरस्स एगूणं ॥३७२॥

सप्तत्रिकमासाने मिश्रे त्रिकसप्तसप्तैकादश ।
परिहीनं सर्वसत्त्वं बद्धस्येतरस्यैकोनं ॥३७२॥

टीका – सासादन में सर्व सत्त्व में सात से हीन और तीन से हीन - ऐसे दो स्थान जानना । मिश्र में तीन से हीन, सात से हीन, सात से हीन, ग्यारह से हीन - ऐसे चार स्थान जानना - ये बद्धायु के स्थान हैं । अबद्धायु के स्थान बद्धायु के स्थान से एक-एक बध्यमान आयु से हीन स्थान जानना ॥३७२॥

वे हीन प्रकृतियां कौन कौनसी हैं ? वह सासादन में कहते हैं –

तित्थाहाराचउक्कं अण्णदराउगदुगं च सत्तेदे ।
हारचउक्कं वज्जिय तिण्णि य केइं समुद्दिट्ठं ॥३७३॥

तीर्थाहारचतुष्कमन्यतरायुष्कद्विकं च सप्तैताः ।
आहारकचतुष्कं वर्जयित्वा तिस्रश्च कैश्चित्समुद्दिष्टं ॥३७३॥

टीका – सासादन में तीर्थंकर, आहारक चतुष्क, भुज्यमान-बध्यमान बिना अन्य दो आयु – इन सात बिना, एक सौ इकतालीस रूप प्रथम स्थान जानना ।

यदि उन सात में आहारक चतुष्क नहीं गिनेंगे, तो एक सौ पैंतालीसरूप दूसरा स्थान जानना । इस एक सौ पैंतालीस के स्थान में जो आहारक चतुष्क का सत्त्व कहा, वह कई आचार्यों ने कहा है, इसलिए यहां कहा है । परंतु कई आचार्य सासादन में आहारक चतुष्क के सत्त्व का अभाव ही कहते हैं, उस अपेक्षा एक सौ इकतालीस का ही एक स्थान है ॥३७३॥

आगे मिश्र में कहते हैं –

तित्थण्णदराउदुगं तिण्णिवि अणसहिय तह य सत्तं च ।
हारचउक्के सहिया ते चेव य होंति एयारा ॥३७४॥

तीर्थान्यतरायुर्द्विकं तिस्रः अपि अनसहिताः तथा च सत्त्वं च ।
आहारचतुष्केण सहिता स्ताः चैव च भवंति एकादश ॥३७४॥

टीका – मिश्र में तीर्थंकर और भुज्यमान, बध्यमान बिना अन्य दो आयु - इन तीन बिना, एक सौ पैंतालीस प्रकृतिरूप प्रथम स्थान है । पुनश्च तीन ये और चार अनंतानुबंधी अथवा आहारकचतुष्क - इन सात बिना, एक सौ इकतालीस प्रकृतिरूप दूसरा, तीसरा स्थान है । पुनश्च पूर्वोक्त तीन, अनंतानुबंधी चार और आहारक चतुष्क -इन ग्यारह बिना, एक सौ सैंतीस प्रकृतिरूप चतुर्थ स्थान है । ऐसे बद्धायु के स्थान कहे । इनमें से एक-एक बध्यमान आयु घटानेपर अबद्धायु के स्थान होते हैं॥३७४॥

आगे इनमें भंग संख्या कहते हैं –

साणे पण इगि भंगा बद्धस्सियरस्स चारि दो चेव ।
मिस्से पण पण भंगा बद्धस्सियरस्स चउ चऊ णेया ॥३७५॥

साने पंच एको भंगा बद्धस्येतरस्य चत्वारो द्वौ चैव ।
मिश्रे पंच पंच भंगा बद्धस्येतरस्य चत्वारश्चत्वारो ज्ञेयाः ॥३७५॥

टीका – सासादन में बद्धायुस्थान के पांच और एक भंग है, इतर अर्थात् अबद्धायु के चार और दो भंग हैं । मिश्र में बद्धायुस्थान के पांच-पांच भंग हैं और अबद्धायुस्थान के चार-चार भंग हैं । वही कहते हैं –

सासादन में एक सौ इकतालीरूप बद्धायुस्थान में चारों गतियों के बद्धायु जीवों की अपेक्षा पूर्वोक्त बारह भंगों में से समभंग पुनरुक्त भंग बिना, पांच भंग जानना। एक सौ चालीस प्रकृतिरूप अबद्धायुस्थान में भुज्यमान चार आयु की अपेक्षा चार भंग जानना । पुनश्च एक सौ पैंतालीस प्रकृतिरूप बद्धायुस्थान में आहारक चतुष्क का बंध जिसके हुआ हो, उस किसी को सासादन की प्राप्ति होती है । इस उपदेश की अपेक्षा एक भंग ही है ।

पुनश्च एक सौ चौवालीस प्रकृतिरूप अबद्धायुस्थान में दो भंग हैं । वहां भुज्यमान मनुष्यायुवाला उपशम सम्यग्दृष्टि आहारक चतुष्क का बंध करके गिरकर सासादन हुआ, एक तो यह भंग है । पुनश्च पहले देवायु का बंध जिसके हुआ था, ऐसा उपशम सम्यग्दृष्टि आहारक चतुष्क का बंध करके मरकर देव होकर सासादन हुआ, वहां भुज्यमान

देवायु का सत्त्व पाया जाता है, यह दूसरा भंग है ।

मिश्र में बद्धायु के चारों स्थानों में पूर्वोक्त प्रकार से बारह भंगों में से पांच पांच भंग जानना । अबद्धायु के चारों स्थानों में भुज्यमान चार आयु की अपेक्षा चार-चार भंग जानना ।

यहां प्रश्न – मिश्र में अनंतानुबंधी का सत्त्व कैसे नहीं पाया जाता ?

उसका समाधान – असंयतादि चार गुणस्थानों में कहीं पर तीन करण द्वारा अनंतानुबंधी का विसंयोजन किया । पश्चात् दर्शनमोहनीय की क्षपणा के सन्मुख तो न हुआ और संक्लेश परिणाम करके मिश्रमोहनीय के उदय से मिश्र गुणस्थानवर्ती हुआ, उसके अनंतानुबंधी का सत्त्व नहीं पाया जाता; नवीन बंध से सत्त्व होता है, वहां नवीन बंध का तो सासादन में ही व्युच्छेद हुआ ॥३७५॥

आगे असंयत में चालीस स्थान के प्रकार और उनके एक सौ बीस भंग छह गाथाओं द्वारा कहते हैं –

दुग छक्क सत्त अट्ठं णवरहियं तह य चउपडिं किच्चा ।
णभमिगि चउ पणहीणं बद्धस्सियरस्स एगूणं ॥३७६॥

द्विकं षट्कं सप्त अष्ट नवरहितं तथा च चतुःपंक्तीः कृत्वा ।
नभं एकं चतुष्कं पंचहीनं बद्धस्येतरस्यैकोनं ॥३७६॥

टीका – दो, छह, सात, आठ, नौ प्रकृतियों से रहित पांच स्थान बराबर लिखना । ऐसे ही पांच-पांच स्थानों की चार पंक्तियां नीचे नीचे लिखनी । वहां प्रथम पंक्ति के पांच स्थानों में से शून्य घटाना; वे पांच स्थान ज्यों के त्यों अर्थात् सर्व प्रकृतियों में से दो, छह, सात, आठ, नौ प्रकृतिरहित जानना । दूसरी पंक्ति में एक-एक प्रकृति और घटाना, वे पांच स्थान सर्व प्रकृतियों में से तीन, सात, आठ, नौ, दस प्रकृतिरहित जानना । तीसरी पंक्ति में चार चार प्रकृतियां घटाना; वे पांच स्थान छह, दस, ग्यारह, बारह, तेरह प्रकृतिरहित जानना । चौथी पंक्ति में से पांच-पांच प्रकृति घटाना; वे पांच स्थान सात, ग्यारह, बारह, तेरह, चौदह प्रकृतिरहित जानना।

(विशेषार्थ – असंयत बद्धायु के स्थान - बीस ।

प्रथम पंक्ति – २ कम=१४६। ६ कम=१४२। ७ कम=१४१। ८ कम=१४०। ९ कम=१३९।
दूसरी पंक्ति – ३ कम=१४५। ७ कम=१४१। ८ कम=१४०। ९ कम=१३९। १० कम=१३८।
तीसरी पंक्ति – ६ कम=१४२। १० कम=१३८। ११ कम=१३७। १२ कम=१३६। १३ कम=१३५।
चतुर्थ पंक्ति – ७ कम=१४१। ११ कम=१३७। १२ कम=१३६। १३ कम=१३५। १४ कम=१३४।

असंयत अबद्धायु के स्थान - बीस ।

प्रथम पंक्ति – ३ कम=१४५। ७ कम=१४१। ८ कम=१४०। ९ कम=१३९। १० कम=१३८।
दूसरी पंक्ति – ४ कम=१४४। ८ कम=१४०। ९ कम=१३९। १० कम=१३८। ११ कम=१३७।
तीसरी पंक्ति – ७ कम=१४१। ११ कम=१३७। १२ कम=१३६। १३ कम=१३५। १४ कम=१३४।
चतुर्थ पंक्ति – ८ कम=१४०। १२ कम=१३६। १३ कम=१३५। १४ कम=१३४। १५ कम=१३३।)

यहां, जहां दो प्रकृतियां घटायी हैं, वहां एक सौ छियालीस की सत्तारूप स्थान जानना । छह घटायी हैं, वहां एक सौ बयालीस की सत्तारूप स्थान जानना । इसतरह जितनी-जितनी प्रकृतियां घटायी हो, उतनी-उतनी एक सौ अड़तालीस में से घटानेपर जितनी रहे, उतनी सत्तारूप स्थान जानना । इसतरह बद्धायु के सत्तारूप स्थान बीस हुये । पुनश्च बद्धायु के जो बीस स्थान कहे थे, उनमें जितनी-जितनी प्रकृतियों की सत्ता कही थी, उनमें से बध्यमान आयुरूप एक-एक प्रकृति और घटानेपर जितनी-जितनी रहे, उतनी-उतनी सत्तारूप बीस स्थान अबद्धायु के जानना ।

सर्व मिलकर असंयत में चालीस सत्त्वस्थान हुये ।

असंयत में स्थान और भंगों का यंत्र । कोठों में ऊपर प्रकृतियों का प्रमाण और नीचे भंगों का प्रमाण जानना ।

बद्धायु का यंत्र – स्थान बीस, भंग साठ ।

तीर्थंकर, आहारक सहित	१४६ २	१४२ २	१४१ २	१४० २	१३९ २
तीर्थंकर रहित	१४५ ५	१४१ ५	१४० ३	१३९ ३	१३८ ४
आहारक रहित	१४२ २	१३८ २	१३७ २	१३६ २	१३५ २
तीर्थंकर, आहारक रहित	१४१ ५	१३७ ५	१३६ ३	१३५ ३	१३४ ४

(अबद्धायु का यंत्र – स्थान बीस, भंग साठ ।

तीर्थंकर आहारक सहित	१४५ ३	१४१ ३	१४० १	१३९ ३	१३८ ३
तीर्थंकर रहित	१४४ ४	१४० ४	१३९ १	१३८ ४	१३७ ४
आहारक रहित	१४१ ३	१३७ ३	१३६ १	१३५ ३	१३४ ३
तीर्थंकर आहारक रहित	१४० ४	१३६ ४	१३५ १	१३४ ४	१३३ ४

आगे चारों पंक्तियों में तीर्थंकर, आहारक की अपेक्षा विशेष है, सो कहते हैं–

तित्थाहारे सहियं तित्थूणं अह य हारचउहीणं ।
तित्थाहारचउक्के णूणं इदि चउपडिट्ठाणं ।।३७७।।

तीर्थाहारेण सहितं तीर्थोनमथ चाहारचतुर्हीनं ।
तीर्थाहारचतुष्केणोनमिति चतुःपंक्तिस्थानं ।।३७७।।

टीका – बद्धायु और अबद्धायु की पहली दो पंक्तियों के पांच-पांच स्थान तीर्थंकर और आहारक चतुष्क सहित जानना; इसलिए पहली पंक्ति में से शून्य घटाया। जितनी की उतनी ही प्रकृतियां वहां कही । पुनश्च बद्धायु और अबद्धायु की दूसरी दो पंक्तियों के पांच-पांच स्थान तीर्थंकर प्रकृति रहित जानना; इसलिए दूसरी पंक्ति में से एक-एक प्रकृति घटायी । पुनश्च बद्धायु और अबद्धायु की तीसरी दो पंक्तियों के पांच-पांच स्थान आहारक शरीर-अंगोपांग-बंधन-संघात रहित जानना; इसलिए तीसरी पंक्ति में से चार-चार प्रकृतियां घटायी । पुनश्च बद्धायु और अबद्धायु की चौथी दो पंक्तियों के पांच-पांच स्थान आहारक चतुष्क और तीर्थंकर रहित जानना; इसलिए चौथी पंक्ति में से पांच-पांच प्रकृतियां घटायी ।

इसतरह चार पंक्तिरूप स्थान जानना ।।३७७।।

आगे एक पंक्ति में दो, छह आदि जो प्रकृतियां घटायीं, उनके नाम कहते हैं–

अण्णदरआउसहिया तिरिगाऊ ते च तह य अणसहिया ।
मिच्छं मिस्सं सम्मं कमेण खविदे हवे ठाणा ।।३७८।।

अन्यतरायु:सहितं तिर्यगायुस्ते च तथा च अनसहिते ।
मिथ्यं मिश्रं सम्यक्त्वं क्रमेण क्षपिते भवेत्स्थानं ।।३७८।।

टीका – तिर्यंचायु और एक कोई अन्य आयु - ये दो प्रकृतियां जानना । इन दो प्रकृतियों के साथ अनंतानुबंधी चतुष्क - ये छह जानना । मिथ्यात्वमोहनीय सहित सात जानना । मिश्रमोहनीय सहित आठ जानना । सम्यक्त्वमोहनीय सहित नौ जानना। इसतरह घटायीं हुयी प्रकृतियां जानना ।

भावार्थ – बद्धायु के प्रथम पंक्ति का पहला स्थान दो आयु बिना एक सौ छियालीस प्रकृतिरूप है । दूसरी पंक्ति का पहला स्थान तीर्थंकर बिना, एक सौ पैंतालीस प्रकृतिरूप है । तीसरी पंक्ति का पहला स्थान आहारक चतुष्क बिना एक सौ बयालीस प्रकृतिरूप है । चौथी पंक्ति का पहला स्थान आहारक चतुष्क, तीर्थंकर बिना एक सौ इकतालीस प्रकृतिरूप है । इनमें से बध्यमान आयुरूप एक-एक प्रकृति और घटानेपर अबद्धायु के चार स्थान होते हैं । ऐसे आठ स्थान हुये ।

इन सर्व में से अनंतानुबंधी चतुष्करूप चार प्रकृति घटानेपर दूसरे आठ स्थान होते हैं । इनमें से भी मिथ्यात्व घटानेपर तीसरे आठ स्थान होते हैं । इनमें से भी मिश्रमोहनीय घटानेपर चौथे आठ स्थान होते हैं । इनमें से भी सम्यक्त्वमोहनीय घटानेपर पांचवें आठ स्थान होते हैं । - ऐसे सर्व मिलकर असंयत में चालीस सत्तास्थान *(सत्त्वस्थान)* जानना ।।३७८।।

आगे इनमें जो भंग हैं, उनका दो गाथाओं द्वारा कथन करते हैं –

आदिमपंचट्ठाणे दुगदुगभंगा हवंति बद्धस्स ।
इयरस्सवि णादव्वा तिगतिगइगि तिण्णितिण्णेव ।।३७९।।

आदिमपंचस्थाने द्विकद्विकभंगौ भवंति बद्धस्य ।
इतरस्यापि ज्ञातव्याः त्रिकत्रिकैकं त्रयस्त्रय एव ।।३७९।।

टीका – पहली पंक्ति संबंधी बद्धायु के पांच स्थानों में दो-दो भंग हैं –

ये दस भंग हुये । अबद्धायु के पांच स्थानों में अनुक्रम से तीन, तीन, एक, तीन, तीन भंग हैं - ये तेरह भंग हुये ॥३७९॥

पंक्ति	०	०२	०६	०७	०८	०९	भंग
१	बद्धायु	१४६ २	१४२ २	१४१ २	१४० २	१३९ २	१०
	अबद्धायु	१४५ ३	१४१ ३	१४० १	१३९ ३	१३८ ३	१३
२	बद्धायु	१४५ ५	१४१ ५	१४० ३	१३९ ३	१३८ ४	२०
	अबद्धायु	१४४ ४	१४० ४	१३९ १	१३८ ४	१३७ ४	१७
३	बद्धायु	१४२ २	१३८ २	१३७ २	१३६ २	१३५ २	१०
	अबद्धायु	१४१ ३	१३७ ३	१३६ १	१३५ ३	१३४ ३	१३
४	बद्धायु	१४१ ५	१३७ ५	१३६ ३	१३५ ३	१३४ ४	२०
	अबद्धायु	१४० ४	१३६ ४	१३५ १	१३४ ४	१३३ ४	१७

बिदियस्सवि पणठाणे पण पण तिग तिण्णि चारि बद्धस्स ।
इयरस्स होंति णेया चउचउइगिचारि चत्तारि ॥३८०॥

द्वितीयस्यापि पंचस्थानं पंच पंच त्रिकं त्रयश्चत्वारो बद्धस्य ।
इतरस्य भवंति ज्ञेयाः चतुश्चतुरेकचत्वारश्चत्वारः ॥३८०॥

टीका – दूसरी पंक्ति संबंधी बद्धायु के पांच स्थान, उनमें अनुक्रम से पांच, पांच, तीन, तीन, चार भंग हैं - ये बीस भंग हुये । पुनश्च अबद्धायु के पांच स्थानों में अनुक्रम से चार, चार, एक, चार, चार भंग हैं - ये सत्रह भंग हुये ॥३८०॥

आदिल्लदससु सरिसा भंगेण य तिदियदसयठाणाणि ।
बिदियस्स चउथस्स य दसठाणाणि य समा होंति ॥३८१॥

आद्यदशसु सदृशा भंगेन च तृतीयदशकस्थानानि ।
द्वितीयस्य चतुर्थस्य च दश स्थानानि च समानि भवंति ॥३८१॥

टीका – पहली पंक्ति संबंधी पांच बद्धायु के और पांच अबद्धायु के - ऐसे जो दस स्थान, उनमें जो भंग कहे; उन्हीं के समान तीसरी पंक्ति के दस स्थानों में भी भंग जानना ।

भावार्थ – तीसरी पंक्ति में प्रथम पंक्तिवत् बद्धायु के दस, अबद्धायु के तेरह ~~स्थान~~ भंग जानना ।

पुनश्च दूसरी पंक्ति के और चौथी पंक्ति के दस स्थानों में भंग समान जानना।

भावार्थ – चौथी पंक्ति में द्वितीय पंक्तिवत् बद्धायु के बीस, अबद्धायु के सत्रह भंग जानना ।

इसतरह सर्व मिलकर असंयत में चालीस सत्त्वस्थानों में एक सौ बीस भंग हुये । अब इनका भेद कहते हैं –

बद्धायु असंयत सम्यग्दृष्टि के पहली पंक्ति संबंधी जो पांच स्थान हैं, वे तीर्थंकर प्रकृति सहित हैं और तिर्यंच में तीर्थंकर सत्ता का अभाव है; इसलिए प्रथम पंक्ति का पहला स्थान भुज्यमान और बध्यमान तिर्यंचायु – अर्थात् उनमें से एक तिर्यंचायु और एक कोई अन्य आयु – इन दो बिना, एक सौ छियालीस प्रकृतिरूप है । वहां– १) भुज्यमान मनुष्यायु, बध्यमान नरकायु; २) भुज्यमान मनुष्यायु, बध्यमान देवायु; ३) भुज्यमान नरकायु, बध्यमान मनुष्यायु; ४) भुज्यमान देवायु, बध्यमान मनुष्यायु – ऐसे चार भंग हुये ।

यहां भुज्यमान मनुष्यायु, बध्यमान नरकायु तथा भुज्यमान नरकायु, बध्यमान मनुष्यायु – इन दोनों भंगों में प्रकृतियां समान हैं, इसलिए एक ही भंग ग्रहण किया । उसी प्रकार भुज्यमान मनुष्यायु, बध्यमान देवायु तथा भुज्यमान देवायु, बध्यमान मनुष्यायु इन दोनों भंगों में प्रकृतियां समान हैं, इसलिए एक ही भंग ग्रहण किया – ऐसे दो भंग जानना । प्रथम पंक्ति में, जिसके अनंतानुबंधी का विसंयोजन हुआ है, उसके अनंतानुबंधी

चार, तिर्यंचायु एक, अन्य कोई एक आयु – इन छह बिना एक सौ बयालीस प्रकृतिरूप दूसरा स्थान है । जिसके मिथ्यात्व प्रकृति का क्षय हुआ हो, उसके एक सौ इकतालीस प्रकृतिरूप तीसरा स्थान है । जिसके मिश्रमोहनीय का भी क्षय हुआ हो, उसके एक सौ चालीस प्रकृतिरूप चौथा स्थान है । तथा जिसके सम्यक्त्वमोहनीय का भी क्षय हुआ हो, उसके एक सौ उनतालीस प्रकृतिरूप पांचवां स्थान है ।

इन चारों स्थानों में १) भुज्यमान मनुष्यायु, बध्यमान नरकायु; और २) भुज्यमान मनुष्यायु, बध्यमान देवायु – ये दो-दो भंग जानना ।

पुनश्च अबद्धायु के प्रथम पंक्ति संबंधी पांच स्थानों में से प्रथम स्थान एक सौ पैंतालीस प्रकृतिरूप और अनंतानुबंधी का विसंयोजन होनेपर दूसरा स्थान एक सौ इकतालीस प्रकृतिरूप है । इन दोनों में भुज्यमान – नरकायु, मनुष्यायु, देवायु की अपेक्षा तीन भंग हैं । मिथ्यात्व का क्षय होनेपर तीसरा स्थान एक सौ चालीस प्रकृतिरूप है, वहां भुज्यमान मनुष्यायु – ऐसे एक ही भंग है *(क्योंकि दर्शनमोहनीय की क्षपणा का प्रारंभ मनुष्य में ही होता है)* । मिश्रमोहनीय का क्षय होनेपर एक सौ उनतालीस प्रकृतिरूप चौथा स्थान है; वहां भुज्यमान नरकायु, मनुष्यायु, देवायु की अपेक्षा तीन भंग हैं, क्योंकि कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि तीर्थंकर सत्तावाला मनुष्य मरकर नरकगति, देवगति में उत्पन्न होता है; वहां नरकगति, देवगति में भी ऐसी सत्ता पायी जाती है।

*(**विशेषार्थ –** दर्शनमोहनीय की क्षपणा का प्रारंभ तो कर्मभूमि के मनुष्य में ही होता है । मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व की क्षपणा पूर्ण होनेपर जब अंतर्मुहूर्त प्रमाण सम्यक्त्वमोहनीय के निषेक बाकी रहते हैं, तब उसे कृतकृत्यवेदक कहते हैं। एक अंतर्मुहूर्त में इसका भी क्षय होकर जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि बनता है । कृतकृत्यवेदक अवस्था में मरकर जीव चारों गतियों में उत्पन्न हो सकता है । वहां जाकर उसके क्षपणा की पूर्णता अर्थात् निष्ठापन होता है । यहां तीर्थंकर सत्तावाला होने से वह मनुष्य तिर्यंच में उत्पन्न नहीं होगा, क्योंकि जिसने पहले तिर्यंचायु या मनुष्यायु बांधी हो, उसके तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता ही नहीं ।)*

पुनश्च सम्यक्त्वमोहनीय का अभाव होनेपर एक सौ अड़तीस की सत्तारूप पांचवां स्थान है, वहां भी भुज्यमान नरकायु, मनुष्यायु, देवायु की अपेक्षा तीन भंग पाये जाते हैं ।

वहां मनुष्यायु सहित एक सौ अड़तीस की सत्तावाला यह क्षायिक सम्यग्दृष्टि उसी भव में यदि घातिकर्मों का नाश करके केवली होता है, तो इस जीव के गर्भकल्याणक और जन्माभिषेक कल्याणक नहीं होते, तप आदि तीन ही कल्याणक होते हैं । यदि वह तीसरे भव में घातिकर्म का नाश करता है, तो वह नियम से देवायु को ही बांधता है । वहां देवपर्याय में देवायु सहित एक सौ अड़तीस का सत्त्व पाया जाता है । उसके *(आयु के)* छह महिना अवशेष रहनेपर मनुष्यायु का बंध होता है तथा उसके पांच कल्याणक होते हैं ।

पुनश्च जिसके मिथ्यात्व में नरकायु का बंध हुआ था और पश्चात् तीर्थंकर का सत्त्व हो जाय, तो वह जीव नरकपृथ्वी में उत्पन्न होता है, वहां नरकायु सहित एक सौ अड़तीस का सत्त्व पाया जाता है । उसके आयु के छह महिने अवशेष रहने पर मनुष्यायु का बंध होता है और नारक उपसर्ग का निवारण होता है तथा गर्भकल्याणादि होते हैं ।

पुनश्च दूसरी पंक्ति संबंधी बद्धायु के पांच स्थानों में भुज्यमान, बध्यमान आयु बिना दो आयु और तीर्थंकर – इनके बिना, एक सौ पैंतालीस प्रकृतिरूप प्रथम स्थान है और अनंतानुबंधी का विसंयोजन होनेपर एक सौ इकतालीस प्रकृतिरूप दूसरा स्थान है । इन दोनों में मिथ्यात्व गुणस्थान में एक सौ पैंतालीस के सत्त्वस्थान में, जैसे चारों गति संबंधी बारह भंगों में समभंग, पुनरुक्त भंग बिना पांच भंग कहे थे, वैसे पांच-पांच भंग जानना ।

पुनश्च मिथ्यात्व का क्षय होनेपर एक सौ चालीस प्रकृतिरूप तीसरा स्थान है। वहां भुज्यमान मनुष्यायु और बध्यमान - नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु, देवायु के भेद से चार भंग होते हैं । वहां भुज्यमान मनुष्यायु, बध्यमान मनुष्यायु – यह पुनरुक्त भंग है, क्योंकि एक ही प्रकृति है । इसलिए इसके बिना, तीन भंग जानना । पुनश्च मिश्रमोहनीय का क्षय होनेपर, एक सौ उनतालीस प्रकृतिरूप चौथा स्थान है । वहां भी वैसे ही तीन भंग जानना ।

पुनश्च सम्यक्त्वमोहनीय का क्षय होनेपर एक सौ अड़तीस प्रकृतिरूप पांचवां स्थान है । वहां १) भुज्यमान नरकायु, बध्यमान मनुष्यायु; २) भुज्यमान तिर्यंचायु, बध्यमान देवायु; ३) भुज्यमान मनुष्यायु, बध्यमान नरकायु; ४) भुज्यमान मनुष्यायु, बध्यमान तिर्यंचायु;

५) भुज्यमान मनुष्यायु, बध्यमान मनुष्यायु; ६) भुज्यमान मनुष्यायु, बध्यमान देवायु; ७) भुज्यमान देवायु, बध्यमान मनुष्यायु – इन सात भंगों में से पांचवां भंग तो पुनरुक्त है, क्योंकि एक मनुष्यायु ही है । तथा पहला और तीसरा भंग समान है, छठवां और सातवां भंग समान है, क्योंकि प्रकृतियों की समानता है । इसतरह इन तीन भंगों बिना, चार भंग जानना । चारों गति संबंधी पहले बारह भंग कहे थें, उनमें से यहां पांच भंग नहीं पाये जाते *(क्योंकि यहां बद्धायु क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव की बात है);* इसलिए सात ही कहे हैं ।

पुनश्च दूसरी पंक्ति संबंधी अबद्धायु के जो पांच स्थान हैं, उनमें भुज्यमान आयु बिना, तीन आयु और तीर्थंकर इनसे रहित एक सौ चौवालीस प्रकृतिरूप पहला स्थान है । अनंतानुबंधी का विसंयोजन होनेपर एक सौ चालीस प्रकृतिरूप दूसरा स्थान है। इन दोनों में भुज्यमान चारों आयु की अपेक्षा चार-चार भंग हैं । मिथ्यात्व का क्षय होनेपर एक सौ उनतालीस प्रकृतिरूप तीसरा स्थान है । वहां भुज्यमान मनुष्यायु बिना अन्य भंग का अभाव है; इसलिए एक ही भंग है । पुनश्च मिश्रमोहनीय का क्षय होनेपर एक सौ अड़तीस प्रकृतिरूप चौथा स्थान है । वहां भुज्यमान मनुष्यायु और कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टि की अपेक्षा भुज्यमान-नरकायु, तिर्यंचायु, देवायु – ऐसे चार भंग है । पुनश्च सम्यक्त्वमोहनीय का क्षय होनेपर क्षायिक सम्यग्दृष्टि के एक सौ सैंतीस प्रकृतिरूप पांचवां स्थान है। वहां भुज्यमान चार आयु की अपेक्षा चार भंग हैं ।

पुनश्च तीसरी पंक्ति में पहली पंक्ति के बद्धायु-अबद्धायुरूप दस स्थानों में से आहारक चतुष्करूप चार-चार प्रकृतियां घटानेपर दस स्थान होते हैं; वहां प्रथम पंक्तिरूप तेइस भंग जानना ।

पुनश्च चौथी पंक्ति में दूसरी पंक्ति के बद्धायु-अबद्धायुरूप दस स्थानों में से आहारक चतुष्करूप चार-चार प्रकृतियां घटानेपर दस स्थान होते हैं । वहां द्वितीय पंक्तिवत् सैंतीस भंग जानना ।

इसतरह सर्व मिलकर असंयत में चालीस सत्त्वस्थानों में एक सौ बीस भंग हैं ॥३८१॥

देसतियेसुवि एवं भंगा एक्केक्क देसगस्स पुणो ।
पडिरासि बिदियतुरियस्सादीबिदियम्मि दो भंगा ॥३८२॥

देशत्रयेष्वपि एवं भंगा एकैकं देशकस्य पुनः ।
प्रतिराशि द्वितीयचतुर्थस्यादिद्वितीयस्मिन् द्वौ भंगौ ॥३८२॥

टीका – देशसंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत – इन तीन गुणस्थानों में ऐसे ही असंयतवत् चालीस-चालीस स्थान जानना । वहां सर्व स्थानों में एक-एक भंग जानना। विशेष इतना है कि देशसंयत में बद्धायु-अबद्धायु की दूसरी दो पंक्तियों और चौथी दो पंक्तियों के पहले और दूसरे स्थान में दो-दो भंग हैं । वही कहते हैं –

देशसंयतादि तीन गुणस्थानों में भी असंयतवत् दो, छह, सात, आठ, नौ प्रकृति रहित पांच स्थान बराबर लिखकर उनके नीचे नीचे चार पंक्तियां बद्धायु की करना और उनके नीचे बध्यमान एक-एक आयु घटाकर चार पंक्ति अबद्धायु की करना । उन पंक्तियों में से पहली पंक्ति तीर्थंकर आहारक चतुष्क सहित है, इसलिए शून्य घटाना। दूसरी पंक्ति में तीर्थंकर प्रकृति घटाना । तीसरी पंक्ति में तीर्थंकर प्रकृति मिलाना, आहारक चतुष्क घटाना । चौथी पंक्ति में तीर्थंकर, आहारक चतुष्क घटाना ।

इसतरह बद्धायु-अबद्धायु के आठ पंक्तियों के चालीस स्थान हुये । वहां बद्धायु के जो बीस स्थान हैं, वहां भुज्यमान मनुष्यायु, बध्यमान देवायु ऐसा एक-एक ही भंग है, क्योंकि अन्य तीन आयु का बंध होनेपर देशव्रत-महाव्रत नहीं होते ।

अबद्धायु के जो बीस स्थान है वहां भुज्यमान मनुष्यायु ऐसा एक-एक ही भंग है । वहां इतना विशेष है कि देशसंयत में तीर्थंकर रहित दूसरी पंक्ति के दस स्थानों में और चौथी पंक्ति के दस स्थानों में पहले और दूसरे स्थान में दो-दो भंग हैं। वहां बद्धायु के दूसरी और चौथी पंक्ति के पहले और दूसरे स्थान में तो – १) भुज्यमान मनुष्यायु, बध्यमान देवायु और २) भुज्यमान तिर्यंचायु, बध्यमान देवायु – ऐसे दो-दो भंग हैं ।

अबद्धायु के दूसरी और चौथी पंक्ति के पहले और दूसरे स्थान में – १) भुज्यमान मनुष्यायु २) भुज्यमान तिर्यंचायु – ऐसे दो-दो भंग हैं ।

इसतरह देशसंयत के चालीस स्थानों के अड़तालीस भंग हैं ।

प्रमत्त, अप्रमत्त के चालीस-चालीस स्थानों के चालीस-चालीस भंग हैं ॥३८२॥

आगे उपशमश्रेणी संबंधी चार गुणस्थानों में स्थान और भंग कहना चाहते हैं;

वहां प्रथम अपूर्वकरण में कहते हैं –

दुगछक्कतिण्णिवग्गे णूणापुव्वस्स चउपडिं किच्चा ।
णभमिगिचऊपणहीणं बद्धस्सियरस्स एगूणं ॥३८३॥

द्विकषट्कत्रिवर्गेणोनानि अपूर्वस्य चतुःप्रतिं कृत्वा ।
नभएकचतुः पंचहीनं बद्धस्येतरस्यैकोनं ॥३८३॥

टीका – उपशमक-अपूर्वकरण में दो, छह, तीन का वर्ग नौ इन प्रकृतियों से रहित तीन स्थान, उनकी चार पंक्तियां करना । पूर्ववत् प्रथम पंक्ति में शून्य घटाना। दूसरी पंक्ति में तीर्थंकर एक प्रकृति घटाना । तीसरी पंक्ति में आहारक चतुष्क घटाना। चौथी पंक्ति में तीर्थंकर, आहारक चतुष्क – ये पांच प्रकृतियां घटाना ।

इसतरह बद्धायु के बारह स्थान हुये और अबद्धायु के चारों पंक्तियों के सर्व स्थानों में अपने-अपने नीचे एक-एक बध्यमान आयु घटानेपर बारह स्थान होते हैं।

इसतरह आठ पंक्तियों के प्रत्येक के तीन-तीन स्थान होने से सर्व चौबीस स्थान होते हैं ॥३८३॥

आगे घटायी हुयी प्रकृतियों के नाम और स्थानों में भंग कहते हैं –

णिरयतिरियाउ दोण्णिवि पढमकसायाणि दंसणतियाणि ।
हीणा एदे णेया भंगे एक्केक्कगा होंति ॥३८४॥

निरयतिर्यगायुषी द्वे अपि प्रथमकषाया दर्शनत्रीणि ।
हीनानि एतानि ज्ञेयानि भंगा एकैकका भवंति ॥३८४॥

टीका – नरकायु, तिर्यंचायु – ये दो प्रकृतियां घटानेपर एक सौ छियालीस प्रकृतिरूप प्रथम स्थान है । दो तो ये और अनंतानुबंधी की चार – ये छह प्रकृतियां घटानेपर एक सौ बयालीस प्रकृतिरूप दूसरा स्थान है । छह तो ये और तीन दर्शनमोह – ये नौ घटानेपर *(क्षायिक सम्यग्दृष्टि के)* एक सौ उनतालीस प्रकृतिरूप तीसरा स्थान है । इन तीनों स्थानों की चार पंक्तियां करना ।

वहां प्रथम पंक्ति में तो इतनी-इतनी प्रकृतिरूप ही तीन स्थान जानना । दूसरी पंक्ति में तीर्थंकर एक-एक प्रकृति से हीन तीन स्थान जानना । तीसरी पंक्ति में आहारक

चतुष्करूप चार-चार प्रकृतियों से हीन तीन स्थान जानना । चौथी पंक्ति में आहारक चतुष्क, तीर्थंकर इन पांच-पांच प्रकृतियों से हीन तीन स्थान जानना । ऐसे ये बारह स्थान बद्धायु के हुये ।

इन सर्व में से बध्यमान आयु एक एक घटानेपर अबद्धायु के बारह स्थान होते हैं । इन चौबीसों स्थानों में एक-एक ही भंग है । वहां बद्धायुस्थानों में तो भुज्यमान मनुष्यायु, बध्यमान देवायु ऐसा ही एक भंग जानना और अबद्धायुस्थानों में भुज्यमान मनुष्यायु ऐसा ही एक भंग जानना ।

इसतरह उपशमक-अपूर्वकरण में स्थान चौबीस और भंग भी चौबीस हैं ॥३८४॥

एवं तिसु उवसमगे खवगापुव्वम्मि दसहिं परिहीणं ।
सव्वं चउपडि किच्चा णभमेक्कं चारि पण हीणं ॥३८५॥

एवं त्रिसु उपशमकेषु क्षपकापूर्वे दशभिः परिहीनं ।
सर्वं चतुःप्रति कृत्वा नभमेकं चत्वारि पंच हीनं ॥३८५॥

टीका – इसीतरह उपशमक-अपूर्वकरणवत् उपशमक-अनिवृत्तिकरण, उपशमक-सूक्ष्मसाम्पराय, उपशांतमोह इन तीनों में भी स्थान और भंग चौबीस-चौबीस जानना।

क्षपक-अपूर्वकरण में भुज्यमान मनुष्यायु बिना तीन आयु, अनंतानुबंधी चतुष्क, दर्शनमोहनीय तीन – इन दस से रहित एक सौ अड़तीस प्रकृतिरूप एक सत्त्वस्थान की चार पंक्तियां करना । वहां पूर्ववत् पहली पंक्ति में तो शून्य, दूसरी पंक्ति में तीर्थंकर, तीसरी पंक्ति में आहारक चतुष्क, चौथी पंक्ति में तीर्थंकर, आहारक चतुष्क घटानेपर एक सौ अड़तीस, एक सौ सैंतीस, एक सौ चौंतीस, एक सौ तैंतीस प्रकृतिरूप चार स्थान होते हैं । इनमें भुज्यमान मनुष्यायु ऐसे एक-एक ही भंग हैं । इसलिए भंग भी चार ही हैं ॥३८५॥

एदे सत्तट्ठाणा अणियट्टिस्सवि पुणोवि खविदेवि ।
सोलस अट्ठेक्केक्कं छक्केक्कं एक्कमेक्क तहा ॥३८६॥

एतानि सत्त्वस्थानानि अनिवृत्तेरपि पुनरपि क्षपितेऽपि ।
षोडशाष्टैकैकं षट्कैकमेकमेकं तथा ॥३८६॥

टीका – क्षपक-अपूर्वकरण में ये जो चार स्थान कहे, वे क्षपक-अनिवृत्तिकरण में भी पाये जाते हैं । अनिवृत्तिकरण में अनुक्रम से पूर्वोक्त सोलह, आठ, एक, एक, छह, एक, एक, एक प्रकृति खिपाता है-उसका क्षय करता है; इसलिए एक सौ बाइस, एक सौ चौदह, एक सौ तेरह, एक सौ बारह, एक सौ छह, एक सौ पांच, एक सौ चार, एक सौ तीन प्रकृतिरूप आठ स्थान होते हैं ।

उनकी चार पंक्तियां करके प्रथम पंक्ति में शून्य घटाना । द्वितीय पंक्ति में तीर्थंकर प्रकृति घटाना । तीसरी पंक्ति में आहारक चतुष्क घटाना । चौथी पंक्ति में तीर्थंकर, आहारक चतुष्क घटाना । इसतरह चारों पंक्तियों में बत्तीस स्थान हुये और चार अपूर्वकरणवत् स्थान कहे थे, सर्व मिलकर क्षपक-अनिवृत्तिकरण में छत्तीस स्थान हुये ॥३८६॥

आगे इनमें भंग दो गाथाओं द्वारा कहते हैं –

भंगा एक्केक्का पुण णउंसयक्खविदचउसु ठाणेसु ।
बिदियतुरियेसु दो दो भंगा तित्थयरहीणेसु ॥३८७॥

भंगा एकैकः पुन नपुंसकक्षपितचतुर्षु स्थानेषु ।
द्वितीयतुरीययोर्द्वौ द्वौ भंगौ तीर्थकरहीनयोः ॥३८७॥

टीका – इन क्षपक-अनिवृत्तिकरण के छत्तीस स्थानों में एक एक भंग है । वहां इतना विशेष है कि नपुंसकवेद का जहां क्षय कहा, ऐसे चार पंक्तियों संबंधी चार स्थानों में तीर्थंकर सत्त्व रहित दूसरी और चौथी पंक्ति संबंधी जो दो स्थान हैं उनमें दो-दो भंग हैं ॥३८७॥

वही कहते हैं –

थीपुरिसोदयचडिदे पुव्वं संढं खवेदि थी अत्थि ।
संढस्सुदये पुव्वं थीखविदं संढमत्थित्ति ॥३८८॥

स्त्रीपुरुषोदयचटिते पूर्वं षंढं क्षपयति स्त्री अस्ति ।
षंढस्योदये पूर्वं स्त्रीक्षपितं षंढमस्तीति ॥३८८॥

टीका – जो जीव स्त्रीवेद और पुरुषवेद के उदय सहित क्षपकश्रेणी चढ़ते हैं, वे पहले नपुंसकवेद को खिपाते हैं । उनके तो पूर्वोक्त दोनों स्थानों में *(दूसरी और*

चौथी पंक्ति में) स्त्रीवेद का सत्त्व पाया जाता है । तथा जो नपुंसकवेद के उदय सहित क्षपकश्रेणी चढ़ते हैं वे पहले स्त्रीवेद को खिपाते हैं, उसके पूर्वोक्त दोनों स्थानों में नपुंसकवेद का सत्त्व पाया जाता है । ऐसे दो स्थानों में दो-दो भंग हैं ।

इसतरह क्षपक के छत्तीस स्थानों के अड़तीस भंग हुये और चौबीस उपशमक के थे, सब मिलकर अनिवृत्तिकरण में बासठ भंग हुये ।

*(**विशेषार्थ** – उपशमक-प्रत्येक गुणस्थान में सत्त्वस्थान २४, भंग २४ ।*

	बद्धायु			अबद्धायु		
	२	६	९	२	६	९
१) तीर्थंकर, आहारक सहित	१४६	१४२	१३९	१४५	१४१	१३८
२) तीर्थंकर रहित	१४५	१४१	१३८	१४४	१४०	१३७
३) आहारक चतुष्क रहित	१४२	१३८	१३५	१४१	१३७	१३४
४) तीर्थंकर, आहारक रहित	१४१	१३७	१३४	१४०	१३६	१३३

क्षपक अपूर्वकरण - स्थान ४, भंग ४ ।

१)	१३८
२)	१३७
३)	१३४
४)	१३३

क्षपक अनिवृत्तिकरण	१ला भाग	१६	८	१	१	६	१	१	१
१) तीर्थ. आहा. सहित	१३८	१२२	११४	११३	११२	१०६	१०५	१०४	१०३
२) तीर्थ. रहित	१३७	१२१	११३	११२*	१११*	१०५	१०४	१०३	१०२
३) आहा. रहित	१३४	११८	११०	१०९	१०८	१०२	१०१	१००	९९
४) तीर्थ.आहा. रहित	१३३	११७	१०९	१०८*	१०७*	१०१	१००	९९	९८

* दो भंग, अन्यत्र १-१ भंग

स्थान – ३६, भंग – ३८

इस पक्ष में माया के सत्त्व रहित चार पंक्तियों के चार स्थान कहे हैं । '**चदुसेके बादरे**' इत्यादि गाथा आगे कहेंगे । उस पक्ष से वे चार स्थान पाये जाते हैं, वह

कथन आगे करेंगे ॥३८८॥

आगे क्षपक-सूक्ष्मसाम्पराय और क्षीणमोह में कहते हैं –

अणियट्टिचरिमठाणा चत्तारिवि एक्कहीण सुहुमस्स ।
ते इगिदोण्णिविहीणं खीणस्सवि होंति ठाणाणि ॥३८९॥

अनिवृत्तिचरमस्थानानि चत्वार्यपि एकहीनं सूक्ष्मस्य ।
तानि एकद्विविहीनं क्षीणस्यापि भवंति स्थानानि ॥३८९॥

टीका – क्षपक-अनिवृत्तिकरण में संज्वलन मान रहित एक सौ तीन प्रकृतिरूप स्थान कहा था । उसके चार पंक्तियों में शून्य, एक, चार, पांच घटाने से चार स्थान कहे थे *(१०३, १०२, ९९, ९८)* । इन चारों में से संज्वलन माया घटानेपर एक सौ दो, एक सौ एक, अट्ठानबे, सत्तानबे प्रकृतिरूप चार स्थान क्षपक-सूक्ष्मसाम्पराय के होते हैं । इन चारों स्थानों में संज्वलन लोभ घटानेपर एक सौ एक, सौ, सत्तानबे, छानबे प्रकृतिरूप क्षीणमोह के अंतिम दो समय अवशेष रहे, वहां तक चार स्थान हैं । इन चारों स्थानों में निद्रा, प्रचला - ये दो घटानेपर निन्यानबे, अट्ठानबे, पंचानबे, चौरानबे प्रकृतिरूप चार स्थान क्षीणमोह के अंत समय में होते हैं ॥३८९॥

(विशेषार्थ –

	क्षपक-सूक्ष्मसाम्पराय	क्षपक क्षीणमोह	
		उपांत	अंत
१) तीर्थंकर आहारक सहित	१०२	१०१	९९
२) तीर्थंकर रहित	१०१	१००	९८
३) आहारक रहित	९८	९७	९५
४) तीर्थंकर, आहारक रहित	९७	९६	९४

आगे सयोगी-अयोगी में कहते हैं –

ते चोद्दसपरिहीणा जोगिस्स अजोगिचरिमगेवि पुणो ।
बावत्तरिमडसट्ठिं दुसु दुसु हीणेसु दुगदुगा भंगा ॥३९०॥

तानि चतुर्दशपरिहीनानि योगिन अयोगिचरमकेऽपि पुनः।
द्वासप्ततिरष्टषष्टिः द्वयोर्द्वयो हीनयोः द्विकद्विकौ भंगाः ॥३९०॥

टीका – क्षीणकषाय के अंतिम समय संबंधी उन चार स्थानों में ज्ञानावरण पांच, दर्शनावरण चार, अंतराय पांच – ये चौदह प्रकृतियां घटानेपर पचासी, चौरासी, इक्यासी, अस्सी प्रकृतिरूप सयोगी के और अयोगी के अंतिम दो समय अवशेष रहे वहां तक अयोगी के चार स्थान पाये जाते हैं । उनमें से पहले और दूसरे स्थान में सामान्य सत्ता में कही हुयी बहत्तर प्रकृतियां घटानेपर तेरह और बारह प्रकृतिरूप दो स्थान होते हैं । तथा तीसरे और चौथे स्थान में आहारक चतुष्क बिना अड़सठ प्रकृतियां घटानेपर तेरह और बारह प्रकृतिरूप दो स्थान होते हैं ।

इन चार स्थानों में तेरह-तेरह का स्थान दो बार कहा, इसलिए पुनरुक्त हुआ; इसलिए एक स्थान ही ग्रहण करना । इसीतरह बारह का भी एक स्थान ग्रहण करना। इसतरह अयोगी के अंतिम समय में दो स्थान पाये जाते हैं । वहां जिसके सातावेदनीय का उदय पाया जाता है, उसके सातावेदनीय ही का सत्त्व है, असातावेदनीय का सत्त्व नहीं है और जिसके असातावेदनीय का उदय पाया जाता है, उसके असातावेदनीय ही का सत्त्व है, सातावेदनीय का सत्त्व नहीं है । इसलिए उन दोनों स्थानों में साता-असाता प्रकृति बदलने से दो-दो भंग जानना । इसतरह गुणस्थानों में सत्त्वस्थान भंगसहित कहे ॥३९०॥

(विशेषार्थ –

	सयोगकेवली	*अयोगकेवली - द्विचरम समय तक*	*चरम समय*
१) तीर्थंकर, आहारक सहित	*८५*	*८५*	*१३*
२) तीर्थंकर रहित	*८४*	*८४*	*१२*
३) आहारक रहित	*८१*	*८१*	*१३*
४) तीर्थंकर, आहारक रहित	*८०*	*८०*	*१२*

आगे **'दुगछक्क तिण्णिवग्गे'** इत्यादि गाथा द्वारा पहले अनंतानुबंधी सहित आठ स्थान उपशमश्रेणीवालों के कहे, वे अपने पक्ष में नहीं हैं - इत्यादि विशेष और उनके भंग संख्या को चार गाथाओं द्वारा कहते हैं –

णत्थि अणं उवसमगे खवगापुव्वं खवित्तु अट्ठा य ।
पच्छा सोलादीणं खवणं इदि केइं णिद्दिट्ठं ॥३९१॥

नास्ति अनमुपशमके क्षपकापूर्वं क्षपयित्वा अष्टौ च ।
पश्चात् षोडशादीनां क्षपणमिति कैर्निर्दिष्टं ॥३९१॥

टीका – श्री कनकनंदी सिद्धांतचक्रवर्ती के सम्प्रदाय में ऐसा कहते हैं कि उपशमश्रेणी के चार गुणस्थानों में अनंतानुबंधी के सत्त्व सहित एक सौ छियालीस के सत्त्व से लेकर बद्धायु, अबद्धायु की चार पंक्तियों में आठ स्थान कहे, वे नहीं हैं; इसलिए चौबीस स्थान कहे थे, वे सोलह ही स्थान हैं ।

पुनश्च क्षपक-अनिवृत्तिकरणवाले जीव पहले तो अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान कषायरूप आठ प्रकृतियों का क्षय करते हैं, पश्चात् सोलह आदि प्रकृतियों का क्षय करते हैं, ऐसा कई आचार्यों द्वारा कथन किया जाता है ॥३९१॥

अणियट्टिगुणट्ठाणे मायारहिदं च ठाणमिच्छंति ।
ठाणा भंगपमाणा केई एवं परूवेंति ॥३९२॥

अनिवृत्तिगुणस्थाने मायारहितं च स्थानमिच्छंति ।
स्थानानि भंगप्रमाणानि केचिदेवं प्ररूपयंति ॥३९२॥

टीका – अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में मायाकषाय रहित चार स्थान कई आचार्य कहते हैं । इसप्रकार कई आचार्य स्थान और भंगों का प्रमाण प्ररूपण करते हैं ॥३९२॥

ऐसा होनेपर स्थान और भंगों की संख्या कितनी है ? वह कहते हैं –

अट्ठारह चउ अट्ठं मिच्छतिये उवरि चाल चउठाणे ।
तिसु उवसमगे संते सोलस सोलस हवे ठाणा ॥३९३॥

अष्टादश चत्वारि अष्ट मिथ्यत्रये उपरि चत्वारिंशत् चतुःस्थानानि ।
त्रिषु उपशमके शांते षोडश भवंति स्थानानि ॥३९३॥

टीका – मिथ्यात्वादि तीन गुणस्थानों में क्रम से पूर्वोक्त प्रकार से अठारह, चार, आठ स्थान हैं । पुनश्च ऊपर असंयतादि चार गुणस्थानों में भी पूर्वोक्त चालीस-

चालीस स्थान हैं । उपशमक-अपूर्वकरणादि तीन *(गुणस्थान)* और उपशांतमोह - इनमें अनंतानुबंधी के सत्त्व रहित बद्धायु-अबद्धायु संबंधी चार पंक्तियों के आठ-आठ स्थान हैं; इसलिए सोलह-सोलह स्थान ही हैं । क्षपक-अपूर्वकरण में पूर्वोक्त चार स्थान हैं। क्षपक-अनिवृत्तिकरण में छत्तीस स्थान तो पूर्वोक्त और संज्वलन माया रहित चार स्थान जो सूक्ष्मसाम्पराय में कहे थे, वे अनिवृत्तिकरण में ही कहते हैं, ऐसे चालीस स्थान हैं । क्षपक-सूक्ष्मसाम्पराय में चार, क्षीणमोह में आठ, सयोगी में चार, अयोगी में छह पूर्वोक्त स्थान जानना ॥३९३॥

पण्णेकारं छक्कदि वीससयं अट्ठदाल दुसु तालं ।
वीसडतिण्णं वीसं सोलट्ठ य चारि अट्ठेव ॥३९४॥

पंचाशदेकादश षट्कृतिः विंशशतमष्टचत्वारिंशत् द्वयोश्चत्वारिंशत् ।
विंशाष्टत्रिंशत् विंशं षोडशाष्ट च चत्वारः अष्टैव ॥३९४॥

टीका – उन स्थानों के भंग पूर्वोक्त प्रकार से मिथ्यात्व में पचास, सासादन में बारह, उनमें से अबद्धायुस्थान में देवअपर्याप्त भेद दूर करनेपर ग्यारह भंग होते हैं । यहां जिसके देवायु का बंध हुआ हो, ऐसे द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव का सासादन में मरण नहीं होता - ऐसा कई आचार्य कहते हैं, उनकी अपेक्षा ग्यारह भंग हैं ।

मिश्र में छत्तीस, असंयत में एक सौ बीस, देशसंयत में अड़तालीस, प्रमत्त-अप्रमत्त में चालीस-चालीस, अपूर्वकरण में उपशमक में सोलह स्थान कहे; इसलिए सोलह और क्षपक में चार मिलकर सर्व बीस । अनिवृत्तिकरण में उपशमक में सोलह, क्षपक में पूर्वोक्त छत्तीस स्थानों के नपुंसकवेद क्षपणा के चार स्थानों में तीर्थंकर रहित दूसरे और चौथे स्थान में स्त्रीवेद, नपुंसकवेद प्रकृति बदलने से दो-दो भंग हुये इसलिए अड़तीस भंग और मायारहित चार स्थानों के चार भंग ऐसे बयालीस भंग सर्व मिलकर अट्ठावन *(उपशमक के १६ + क्षपक के ४२=५८ भंग)*।

पुनश्च सूक्ष्मसाम्पराय में उपशमक में सोलह, क्षपक में चार मिलकर सर्व बीस। उपशांतमोह में सोलह, क्षीणमोह में आठ स्थानों के आठ, सयोगी में चार, अयोगी में छह स्थानों के आठ – ऐसे भंग जानना ।

प्रत्यक्ष केवली, श्रुतकेवली के अभाव से एक निश्चय होता नहीं, इसलिए यहां अनेक प्रकार से कथन किया है ॥३९४॥

*(**विशेषार्थ** – यहां दोनों पक्षों के कथन के अनुसार स्थान और भंगों की संख्या गुणस्थानों में कहते हैं ।*

	प्रथम पक्ष		*द्वितीय पक्ष*	
गुणस्थान	*स्थान*	*भंग*	*स्थान*	*भंग*
पहला	*१८*	*५०*	*१८*	*५०*
दूसरा	*४*	*१२*	**४*	*११*
तीसरा	*८*	*३६*	*८*	*३६*
चौथा	*४०*	*१२०*	*४०*	*१२०*
पांचवां	*४०*	*४८*	*४०*	*४८*
छठवां	*४०*	*४०*	*४०*	*४०*
सातवां	*४०*	*४०*	*४०*	*४०*
आठवां-उपशमक	*२४*	*२४*	**१६*	*१६*
आठवां-क्षपक	*४*	*४*	*४*	*४*
नौवां-उपशमक	*२४*	*२४*	**१६*	*१६*
नौवां-क्षपक	*३६*	*३८*	**४०*	*४२*
दसवां-उपशमक	*२४*	*२४*	**१६*	*१६*
दसवां-क्षपक	*४*	*४*	*४*	*४*
ग्यारहवां	*२४*	*२४*	**१६*	*१६*
बारहवां	*८*	*८*	*८*	*८*
तेरहवां	*४*	*४*	*४*	*४*
चौदहवां	*६*	*८*	*६*	*८)*

* जहां कथन में अंतर है ।

एवं सत्तट्ठाणं सवित्थरं वण्णियं मए सम्मं ।
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ णिव्वुदिं सोक्खं ॥३९५॥

एवं सत्त्वस्थानं सविस्तरं वर्णितं मया सम्यक् ।
यः पठति श्रृणोति भावयति स प्राप्नोति निर्वृतिं सौख्यं ।।३९५।।

टीका – इसतरह मैंने सत्त्वस्थान का विस्तार सहित वर्णन किया है । सम्यक् प्रकार से जो पढ़े, सुने, भाये; वह निर्वाण सुख को प्राप्त होता है ।।३९५।।

वरइंदणंदिगुरुणो पासे सोऊण सयलसिद्धंतं ।
सिरिकणयणंदिगुरुणा सत्तट्ठाणं समुद्दिट्ठं ।।३९६।।

वरेंद्रनंदिगुरोः पार्श्वे श्रुत्वा सकलसिद्धांतं ।
श्रीकनकनंदिगुरुणा सत्त्वस्थानं समुद्दिष्टं ।।३९६।।

टीका – आचार्यों में प्रधान ऐसे श्रीमत् इंद्रनंदी नामक भट्टारक, उनके पास सकल सिद्धांत को सुनकर श्री ''कनकनंदी'' नामक सिद्धांतचक्रवर्ती ने इस सत्त्वस्थान का सम्यक् प्रकार से प्ररूपण किया है ।।३९६।।

जह चक्केण य चक्की छक्खंडं साहियं अविग्घेण ।
तह मइचक्केण मया छक्खंडं साहियं सम्मं ।।३९७।।

यथा चक्रेण च चक्रिणा षट्खंडं साधितमविघ्नेन ।
तथा मतिचक्रेण मया षट्खंडं साधितं सम्यक् ।।३९७।।

टीका – जैसे, चक्रवर्ती ने चक्र द्वारा छह खंड क्षेत्र निर्विघ्नपने से साध्य किया, वैसे मैंने मतिरूप चक्र द्वारा जीवस्थान, क्षुद्रकबंध, बंधस्वामी, वेदनाखंड, वर्गणाखंड, महाबंध भेदयुक्त षट्रूप सिद्धांतशास्त्र भले प्रकार से साध्य किया है ।।३९७।।

इति आचार्य श्री नेमिचन्द्रसिद्धांतचक्रवर्ती विरचित गोम्मटसार द्वितीय नाम पंचसंग्रह ग्रंथ की जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका के अनुसार इस सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाषाटीका में कर्मकाण्ड में कनकनंदी आचार्यकृत सत्त्वस्थानभंगप्ररूपण नामक तीसरा अधिकार संपूर्ण हुआ ।।३।।

त्रिचूलिका अधिकार ॥४॥

॥ दोहा ॥

तीन भवन चूडारतन सम श्री जिनके पाय ।
नमत पाइए आप पद सबविधि बंध नसाय ॥४॥

असहाय जिणवदिंदे असहायपरक्कमे महावीरे ।
पणमिय सिरसा वोच्छं तिचूलियं सुणह एयमणा ॥३९८॥

असहायजिनवरेंद्रानसहायपराक्रमान् महावीरान् ।
प्रणम्य शिरसा वक्ष्यामि त्रिचूलिकं श्रृणुतैकमनसः ॥३९८॥

टीका – इन्द्रियादि के सहाय रहित है ज्ञानादि शक्तिरूप पराक्रम जिनका ऐसे महावीर गुरु और वृषभादि जिनवरेन्द्र तीर्थंकर - उनको मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करके नव प्रश्न, पंचभागहार, दसकरण नामक त्रिचूलिका अधिकार कहूंगा, उसे तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो ।

चूलिका किसे कहते हैं ? - जो अर्थ कहा है, नहीं कहा है और विशिष्टरूप से नहीं कहा है, उसका जो चिंतवन, उसे चूलिका कहते हैं । इस अधिकार में तीन चूलिका का व्याख्यान है, इसलिए त्रिचूलिका कहते हैं ॥३९८॥

वहां प्रथम ही नवप्रश्नचूलिका को कहते हैं –

किं बंधो उदयादो पुव्वं पच्छा समं विणस्सदि सो ।
सपरोभयोदयो वा णिरंतरो सांतरो उभयो ॥३९९॥

को बंधो उदयात्पूर्वं पश्चात् समं विनश्यति सः ।
स्वपरोभयोदयो वा निरंतरः सांतर उभयः ॥३९९॥

टीका – पहले जो प्रकृतियां कही, उनमें से – १) उदय की व्युच्छित्ति के पहले बंध की व्युच्छित्ति कौनसी प्रकृतियों की होती है ? २) उदय की व्युच्छित्ति के पश्चात् बंध की व्युच्छित्ति कौनसी प्रकृतियों की होती है ? तथा ३) उदय की

व्युच्छित्ति के साथ युगपत् बंध की व्युच्छित्ति कौनसी प्रकृतियों की होती है ? - ऐसे तीन प्रश्न तो ये हुये ।

पुनश्च १) जिनका अपना उदय होते हुये बंध होता हो, वे प्रकृतियां कौनसी हैं ? २) जिनका अन्य प्रकृतियों का उदय होते हुये बंध होता हो, वे प्रकृतियां कौनसी हैं ? ३) जिनका अपना और अन्य प्रकृतियों का उदय होते हुये बंध होता हो, वे प्रकृतियां कौनसी हैं ? - ऐसे तीन प्रश्न ये हुये ।

पुनश्च १) जिनका निरंतर बंध होता है, वे प्रकृतियां कौनसी हैं ? २) जिनका सांतर बंध होता है, कभी होता हो, कभी न होता हो, वे प्रकृतियां कौनसी हैं ? ३) जिनका निरंतर और सांतर दोनों प्रकार का बंध होता हो, वे प्रकृतियां कौनसी हैं ? - ऐसे तीन प्रश्न ये हुये । ऐसे नौ प्रश्न हैं ॥३९९॥

उनमें से पहले तीन प्रश्नों की प्रकृतियां दो गाथाओं द्वारा कहते हैं –

देवचउक्काहारदुगज्जसदेवाउगाण॰सो पच्छा ।
मिच्छत्तादावाणं णराणुथावरचउक्काणं ॥४००॥

पण्णरकसायभयदुगहस्सदुचउजाइपुरिसवेदाणं ।
सममेक्कत्तीसाणं सेसिगिसीदाण पुव्वं तु ॥४०१॥

देवचतुष्काहारद्विकायशोदेवायुष्काणां स पश्चात् ।
मिथ्यात्वातापानां नरानुस्थावरचतुष्काणां ॥४००॥

पंचदशकषायभयद्विकहास्यद्विचतुर्जातिपुरुषवेदानां ।
सममेकत्रिंशतां शेषैकाशीतेः पूर्वं तु ॥४०१॥

टीका – देवगति और देवानुपूर्वी, वैक्रियिक शरीर और अंगोपांग - ये चार, आहारक शरीर और अंगोपांग, अयशस्कीर्ति, देवायु - इन आठ प्रकृतियों की उदयव्युच्छित्ति के पश्चात् बंधव्युच्छित्ति होती है । वही कहते हैं – देवचतुष्क की उदयव्युच्छित्ति तो असंयत में हुयी और बंधव्युच्छित्ति अपूर्वकरण के छठवें भाग में हुयी । आहारकद्विक की उदयव्युच्छित्ति प्रमत्तसंयत में हुयी, बंधव्युच्छित्ति अपूर्वकरण के छठवें भाग में हुयी। अयशस्कीर्ति की उदयव्युच्छित्ति असंयत में हुयी, बंधव्युच्छित्ति प्रमत्तसंयत में हुयी ।

देवायु की उदयव्युच्छित्ति असंयत में हुयी, बंधव्युच्छित्ति अप्रमत्तसंयत में हुयी ।

ऐसे जिनकी युगपत् बंधव्युच्छित्ति, उदयव्युच्छित्ति है तथा जिनकी बंधव्युच्छित्ति के पश्चात् उदयव्युच्छित्ति है उनका भी कथन गुणस्थानों में उदय, बंध का कथन पहले किया था, इसलिए जान लेना ।

सो मिथ्यात्व, आतप, मनुष्यानुपूर्वी, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, संज्वलन लोभ के बिना अन्य पंद्रह कषाय, भय, जुगुप्सा, हास्य, रति, एकेन्द्रियादि चार जाति, पुरुषवेद इन इकतीस प्रकृतियों की उदयव्युच्छित्ति और बंधव्युच्छित्ति युगपत् होती है।

यहां महाधवल के अनुसार स्थावर, एकेन्द्रिय, विकलत्रय की उदयव्युच्छित्ति मिथ्यात्व में होती है, उस अपेक्षा कथन जानना ।

*(**विशेषार्थ** – इन इकतीस प्रकृतियों की उदयव्युच्छित्ति और बंधव्युच्छित्ति युगपत् कौनसे गुणस्थान में होती है, उसे कहते हैं –*

मिथ्यात्व, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय जाति - इन दस प्रकृतियों की युगपत् बंध और उदय की व्युच्छित्ति मिथ्यात्व गुणस्थान में होती है । अनंतानुबंधी चार कषायों की सासादन गुणस्थान में होती है। मनुष्यानुपूर्वी, अप्रत्याख्यान चार कषाय - इन पांच की असंयत गुणस्थान में होती है। प्रत्याख्यान चार क्रषायों की देशसंयत में होती है । हास्य, रति, भय, जुगुप्सा की अपूर्वकरण गुणस्थान के सातवें भाग में होती है । पुरुषवेद की अनिवृत्तिकरण के पहले भाग में, संज्वलन क्रोध की अनिवृत्तिकरण के दूसरे भाग में, संज्वलन मान की अनिवृत्तिकरण के तीसरे भाग में, संज्वलन माया की अनिवृत्तिकरण के चौथे भाग में युगपत् उदयव्युच्छित्ति और बंधव्युच्छित्ति होती है ।)

पुनश्च अवशेष ज्ञानावरण पांच, दर्शनावरण नौ, वेदनीय दो, संज्वलन लोभ, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, अरति, शोक, नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु, नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक-तेजस-कार्माणशरीर, छह संहनन, औदारिक अंगोपांग, छह संस्थान, वर्णादि चार *(वर्ण-गंध-रस-स्पर्श)*, नारकानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, अगुरुलघु आदि चार *(अगुरुलघु-उपघात-परघात-उच्छ्वास)*, उद्योत, प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगति, त्रस चतुष्क*(त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येक)*, स्थिरद्विक,*(शुभ-अशुभ)*, सुभगद्विक*(सुभग-दुर्भग)*, सुस्वरद्विक*(सुस्वर-दुस्वर)*, आदेयद्विक*(आदेय-अनादेय)*, यशस्कीर्ति, निर्माण, तीर्थंकर, गोत्रद्विक*(उच्च-नीचगोत्र)*,

अंतराय पांच - इन इक्यासी प्रकृतियों की उदयव्युच्छित्ति पश्चात् होती है, पहले बंधव्युच्छित्ति होती है । अभाव होने का नाम व्युच्छित्ति जानना ॥४००-४०१॥

*(**विशेषार्थ** – इन सभी प्रकृतियों की बंधव्युच्छित्ति और उदयव्युच्छित्ति कौनसे गुणस्थानों में होती है, उसे क्रम से दिखाते हैं –*

प्रकृति	*बंधव्युच्छित्ति का गुणस्थान*	*उदयव्युच्छित्ति का गुणस्थान*
नरकगति, नारकानुपूर्वी, नरकायु	*पहला*	*चौथा*
असंप्राप्तासृपाटिका संहनन	*पहला*	*सातवां*
नपुंसकवेद	*पहला*	*नौवां*
हुंडकसंस्थान	*पहला*	*तेरहवां*
तिर्यंचानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय	*दूसरा*	*चौथा*
तिर्यंचगति, तिर्यंचायु, उद्योत, नीचगोत्र	*दूसरा*	*पांचवां*
स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला	*दूसरा*	*छठवां*
अर्धनाराच, कीलित संहनन	*दूसरा*	*सातवां*
स्त्रीवेद	*दूसरा*	*नौवां*
वज्रनाराच, नाराच संहनन	*दूसरा*	*ग्यारहवां*
न्यग्रोधपरिमंडल, स्वाति, कुब्जक, वामन संस्थान, दुस्वर, अप्र. विहायो.	*दूसरा*	*तेरहवां*
मनुष्यगति, मनुष्यायु, औदा. शरीर-अंगोपांग, वज्रवृषभनाराच संह.	*चौथा*	*चौदहवां*
अरति, शोक	*छठवां*	*आठवां*
अस्थिर, अशुभ	*छठवां*	*तेरहवां*
असातावेदनीय	*छठवां*	*चौदहवां*
निद्रा, प्रचला	*आठवां*	*१२वां उपांतसमय*
तेजस-कार्माणशरीर, समचतुरस्र संस्थान, वर्णादि चार,	*आठवां*	*तेरहवां*
अगुरुलघु आदि चार, प्रशस्त विहायोगति, प्रत्येक शरीर,	*,,*	*,,*
स्थिर, शुभ, सुस्वर, निर्माण	*,,*	*,,*
पंचेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, तीर्थंकर	*आठवां*	*चौदहवां*
संज्वलन लोभ	*नौवां*	*दसवां*
ज्ञानावरण पांच, दर्शनावरण चार, अंतराय पांच	*दसवां*	*बारहवां*
यशस्कीर्ति, उच्चगोत्र	*दसवां*	*चौदहवां*
सातावेदनीय	*तेरहवां*	*चौदहवां*

—०—

आगे दूसरे तीन प्रश्नों की प्रकृतियां कहते हैं –

सुरणिरयाऊ तित्थं वेगुव्वियछक्कहारमिदि जेसिं ।
परउदयेण य बंधो मिच्छं सुहुमस्स घादीओ ।।४०२।।

सुरनिरयायुषी तीर्थं वैगूर्विकषट्काहारमिति यासां ।
परोदयेन च बंधो मिथ्यं सूक्ष्मस्य घातिन्यः ।।४०२।।

टीका – देवायु, नरकायु – दो, तीर्थंकर, वैक्रियिक शरीर-अंगोपांग, देवगति-आनुपूर्वी, नरकगति-आनुपूर्वी – ये छह, आहारकशरीर-अंगोपांग – इन ग्यारह प्रकृतियों का पर उदय से संबंध है । इन प्रकृतियों का उदय होते हुये इनका बंध नहीं होता *(स्वोदय से बंध नहीं होता, परोदय से होता है)*।

पुनश्च मिथ्यात्व तथा जिनकी बंधव्युच्छित्ति सूक्ष्मसाम्पराय में हुयी ऐसी पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पांच अंतराय मिलकर घातिकर्म की चौदह । *(सब मिलकर घातिकर्मों की पंद्रह प्रकृतियां स्वोदय से बंधती हैं ।)* ।।४०२।।

तेजदुगं वण्णचऊ थिरसुहजुगलगुरुणिमिणधुवउदया ।
सोदयबंधा सेसा बासीदा उभयबंधाओ ।।४०३।।

तेजोद्विकं वर्णचत्वारि स्थिरशुभयुगलागुरुनिर्माणध्रुवोदयाः ।
स्वोदयबंधाः शेषाः द्व्यशीतिरुभयबंधाः ।।४०३।।

टीका – तेजस, कार्माण, वर्णादि चार, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, अगुरुलघु निर्माण - ये बारह प्रकृतियां ध्रुवोदयी हैं । इनका निरंतर उदय पाया जाता है । इनमें पूर्वोक्त पंद्रह मिलानेपर सत्ताइस प्रकृतियां हुयी, वे स्वोदय हैं - अपना उदय होते हुये ही इनका बंध होता है । परंतु इनका उदय, इनका बंध न होते हुये भी होता है। जैसे चौदह प्रकृतियों का बंध तो दसवें गुणस्थान तक है, उदय बारहवें तक है । ऐसे अन्य प्रकृतियों का भी जानना ।

*(**विशेषार्थ** – तेजस, कार्माण शरीर, वर्णादि चार, स्थिर, शुभ, अगुरुलघु, निर्माण का बंध आठवें तक है, उदय तेरहवें तक है । अस्थिर, अशुभ का बंध छठवें तक और उदय तेरहवें तक है ।)*

पुनश्च अवशेष पांच निद्रा, दो वेदनीय, मोहनीय पच्चीस, तिर्यंचायु, मनुष्यायु, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, पांच जाति, औदारिक शरीर-अंगोपांग, छह संहनन, छह संस्थान, तिर्यंचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगतिद्विक, त्रसद्विक *(त्रस-स्थावर)*, बादरद्विक *(बादर-सूक्ष्म)*, पर्याप्तद्विक *(पर्याप्ति-अपर्याप्ति)*, प्रत्येक, साधारण, सुभगद्विक, सुस्वरद्विक, आदेयद्विक, यशस्कीर्तिद्विक, गोत्रद्विक - ये बयासी प्रकृतियां उभयोदयबंधी हैं । इनका उदय होनेपर भी इनका बंध होता है और इनका उदय न होते हुये भी इनका बंध होता है ॥४०३॥

आगे तीसरे तीन प्रश्नों की प्रकृतियां चार गाथाओं द्वारा कहते हैं –

सत्तेताल धुवावि य तित्थाहाराउगा णिरंतरगा ।
णिरयदुजाइचउक्कं संहदिसंठाणपणपणगं ॥४०४॥

दुग्गमणादावदुगं थावरदसगं असादसंढित्थि ।
अरदीसोगं चेदे सांतरगा होंति चोत्तीसा ॥४०५॥

सप्तचत्वारिंशत् ध्रुवा अपि च तीर्थाहारायुष्का निरंतरका ।
निरयद्विजातिचतुष्कं संहतिसंस्थानपंचपंचकं ॥४०४॥

दुर्गमनातापद्विकं स्थावरदशकमसातषंढस्त्री ।
अरतिः शोकं चैताः सांतरका भवंति चतुस्त्रिंशत् ॥४०५॥

टीका – पांच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, पांच अंतराय, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, भय, जुगुप्सा, तेजसशरीर, कार्माणशरीर, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, वर्णादि चार - इन सैंतालीस प्रकृतियों का अपनी अपनी व्युच्छित्ति तक सदा ~~उदय~~ बंध पाया जाता है - ये ~~ध्रुवोदयी और~~ ध्रुवबंधी हैं । तथा तीर्थंकर, आहारकद्विक, आयु चार - ये सात मिलकर चौवन प्रकृतियां हुयी, वे निरंतर बंधी हैं । वहां सैंतालीस प्रकृतियों का तो व्युच्छित्ति के पहले प्रति समय निरंतर बंध सदैव पाया जाता है और तीर्थंकर, आहारक का प्रारंभ होने के पश्चात् जिन गुणस्थानों में इनका बंध पाया जाता है, वहां निरंतर प्रति समय बंध पाया जाता है । जिस काल में आयुबंध होना योग्य है, वहां आयुबंध होनेपर, उस काल में प्रतिसमय निरंतर बंधती है । इसलिए इनको निरंतरबंधी कहा है ।

नरकगति, नारकानुपूर्वी, एकेन्द्रियादि चार जाति, वज्रवृषभनाराच बिना पांच संहनन, समचतुरस्र बिना पांच संस्थान, अप्रशस्त विहायोगति, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयशस्कीर्ति – ये स्थावर दशक, असातावेदनीय, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, अरति, शोक – ये चौंतीस प्रकृतियां सांतरबंधी हैं ।

जैसे, किसी समय नरकगति का बंध होता है, किसी समय अन्य गतियों का बंध होता है । जाति में किसी समय एकेन्द्रिय जाति का बंध होता है, किसी समय द्वीन्द्रियादि जाति का बंध होता है, आदि । इसतरह ये प्रकृतियां सांतरबंधी जानना ॥४०४-४०५॥

सुरणरतिरियोरालियवेगुव्वियदुगपसत्थगदिवज्जं ।
परघाददुसमचउरं पंचिंदिय तसदसं सादं ॥४०६॥

हस्सरदिपुरिसगोददु सप्पडिवक्खम्मि सांतरा होंति ।
णट्ठे पुण पडिवक्खे णिरंतरा होंति बत्तीसा ॥४०७॥

सुरनरतिर्यगौरालिकवैगूर्विकद्विकप्रशस्तगतिवज्रं ।
परघातद्विसमचतुरस्रं पंचेंद्रियं त्रसदशं सातं ॥४०६॥

हास्यरतिपुरुषगोत्रद्विकं सप्रतिपक्षे सांतरा भवंति ।
नष्ट पुनःप्रतिपक्षे निरंतरा भवंति द्वात्रिंशत् ॥४०६॥

टीका – देवगति और आनुपूर्वी, मनुष्यगति और आनुपूर्वी, तिर्यंचगति और आनुपूर्वी, औदारिक शरीर और अंगोपांग, वैक्रियिक शरीर और अंगोपांग, प्रशस्त विहायोगति, वज्रवृषभनाराच संहनन, परघात, उच्छ्वास, समचतुरस्र संस्थान, पंचेन्द्रिय, त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वर-आदेय-यशस्कीर्ति – ये त्रस दशक, सातावेदनीय, हास्य, रति, पुरुषवेद, गोत्रद्विक – ये बत्तीस प्रकृतियां सांतर और निरंतर उभयबंधी हैं । वहां प्रतिपक्षी होते हुये सांतरबंधी है, प्रतिपक्षी जहां नहीं वहां निरंतरबंधी हैं ।

जैसे, अन्य गति का जहां बंध पाया जाता है, वहां तो देवगति सप्रतिपक्षी है, इसलिए वहां किसी समय देवगति का बंध होता है, किसी समय अन्य गति का बंध होता है, इसलिए सांतरबंधी है । परंतु जहां अन्य गति का बंध नहीं है, मात्र

देवगति का ही बंध है, वहां देवगति निष्प्रतिपक्षी है, इसलिए वहां प्रतिसमय देवगति का ही बंध पाया जाता है, इसलिए निरंतरबंधी है; इसलिए देवगति को उभयबंधी कहते हैं । इसीतरह अन्य प्रकृतियों का उभयबंध जानना ।

ये प्रकृतियां सप्रतिपक्षी कहां हैं ? निष्प्रतिपक्षी कहां हैं ? वह कहते हैं –

देवगति और देवानुपूर्वी मिथ्यात्व में तो नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, मनुष्यद्विक से; सासादन में तिर्यंचद्विक, मनुष्यद्विक से; मिश्र और असंयत में मनुष्यद्विक से सप्रतिपक्ष हैं । ऊपर अपूर्वकरण के छठवें भाग तक और भोगभूमि में मात्र देवद्विक का ही बंध है, इसलिए वहां निष्प्रतिपक्ष है ।

मनुष्यद्विक है वह **'सदरसहस्सारगोत्ति तिरियदुगं'** इस वचन से, आनतादि स्वर्ग और ग्रैवेयकादि में निष्प्रतिपक्ष है । नीचगोत्र और तिर्यंचद्विक सातवीं नरक पृथ्वी में *(मिथ्यात्व, सासादन में)* तथा अग्निकायिक, वायुकायिक में निष्प्रतिपक्ष हैं । औदारिकद्विक है वह नरकगति, देवगति में निष्प्रतिपक्ष है । उच्चगोत्र और वैक्रियिकद्विक - ये मनुष्य, तिर्यंच असंयतादि में और भोगभूमि में निष्प्रतिपक्ष हैं ।

प्रशस्त विहायोगति है, वह अप्रशस्त विहायोगति की सासादन में ही बंधव्युच्छित्ति होने से, मिश्रादि से अपूर्वकरण के छठवें भाग तक निष्प्रतिपक्ष है । वज्रवृषभनाराच मिथ्यात्व, सासादन में सप्रतिपक्ष है; मिश्र, असंयत में निष्प्रतिपक्ष है । परघात और उच्छ्वास – ये अपर्याप्त की अपेक्षा सप्रतिपक्ष है – अपर्याप्त के साथ इनका बंध नहीं होता, और अपर्याप्त प्रकृति की मिथ्यात्व में ही बंधव्युच्छित्ति हुयी । इसलिए परघात, उच्छ्वास प्रकृतियां सासादन से अपूर्वकरण के छठवें भाग तक निष्प्रतिपक्ष हैं ।

आतप प्रकृति मिथ्यात्व में अपर्याप्त प्रकृति के बंध होते समय सप्रतिपक्षी है, क्योंकि अपर्याप्त का बंध होते हुये इसका बंध नहीं होता, अन्यथा बंध होता है। पर्याप्त अपेक्षा निष्प्रतिपक्ष है । समचतुरस्रसंस्थान मिश्र से अपूर्वकरण के छठवें भाग तक निष्प्रतिपक्ष है । पंचेन्द्रिय प्रकृति मिथ्यात्व में सप्रतिपक्ष है; सासादन से अपूर्वकरण के छठवें भाग तक निष्प्रतिपक्ष है। त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक – ये चार मिथ्यात्व में सप्रतिपक्ष हैं क्योंकि वहां स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण का भी बंध है । ऊपर अपूर्वकरण के छठवें भाग तक निष्प्रतिपक्ष है ।

स्थिर, शुभ, यशस्कीर्ति – ये तीन प्रमत्तसंयत तक सप्रतिपक्ष हैं, क्योंकि प्रमत्त तक अस्थिर, अशुभ, अयशस्कीर्ति का बंध है । ऊपर अपूर्वकरण के छठवें भाग तक निष्प्रतिपक्ष हैं, वहां यशस्कीर्ति सूक्ष्मसाम्पराय तक निष्प्रतिपक्ष है । सुभग, सुस्वर, आदेय सासादन तक सप्रतिपक्ष हैं, क्योंकि वहां तक दुर्भगादि तीन का बंध है; मिश्रादि अपूर्वकरण के छठवें भाग तक निष्प्रतिपक्ष हैं । सातावेदनीय है, वह प्रमत्त तक असातावेदनीय का बंध है, इसलिए सप्रतिपक्ष है; ऊपर सयोगकेवली तक निष्प्रतिपक्ष है ।

हास्य, रति – ये दोनों प्रमत्त तक सप्रतिपक्ष हैं, क्योंकि प्रमत्त तक अरति, शोक का बंध है । ऊपर अपूर्वकरण के अंत समय तक निष्प्रतिपक्ष हैं । पुरुषवेद सासादन तक सप्रतिपक्ष है, क्योंकि मिथ्यात्व में नपुंसकवेद, स्त्रीवेद का और सासादन में स्त्रीवेद का भी बंध है । ऊपर अनिवृत्तिकरण के सवेद भाग तक निष्प्रतिपक्ष है। उच्चगोत्र सासादन तक सप्रतिपक्ष है, क्योंकि सासादन तक नीचगोत्र का बंध है । ऊपर सूक्ष्मसाम्पराय तक निष्प्रतिपक्ष है ।

इसतरह जहां स्वजाति की अन्य प्रकृति का भी बंध पाया जाता है, वहां सप्रतिपक्ष कहते हैं, वहां सांतरबंधी है । पुनश्च जहां मात्र अपना ही बंध पाया जाता है, वहां निष्प्रतिपक्ष कहते हैं, इसलिए वहां निरंतरबंधी है ।

इसतरह उभयबंधी प्रकृति जानना ॥४०६-४०७॥

॥ इति नवप्रश्नचूलिका समाप्ता ॥

पंचभागहारचूलिका

जत्थ वरणेमिचंदो महणेण विणा सुणिम्मलो जादो ।
सो अभयणंदिणिम्मलसुओवही हरउ पावमलं ॥४०८॥

यत्र वरनेमिचंद्रो मथनेन विना सुनिर्मलो जातः ।
स अभयनंदिनिर्मलश्रुतोदधिर्हरतु पापमलं ॥४०८॥

टीका – जिसमें उत्कृष्ट नेमिचन्द्र, मंथन बिना ही निर्मल हुआ, वह अभयनंदी का निर्मल शास्त्रसमुद्र है, वह जीवों के पापमल दूर करो ।

भावार्थ – लोकोक्ति ऐसी है कि समुद्र का मंथन करके चन्द्रमा निकला है। यहां अभयनंदी नामक आचार्य द्वारा उपदेशित शास्त्रसमुद्र में से बिना ही मंथन किये, नेमिचन्द्र-आचार्यरूपी निर्मल चन्द्रमा प्रकट हुआ । उस शास्त्र का बहुत अभ्यास नहीं किया, थोडे ही अभ्यास से निर्मल हुआ । ऐसा निर्मलता का कारण वह शास्त्रसमुद्र है, वह सब जीवों के पापमल को हरो, ऐसा आशीर्वादात्मक मंगल यहां किया है।।४०८।।

उव्वेलणविज्झादो अधापवत्तो गुणो य सव्वो य ।
संकमदि जेहिं कम्मं परिणामवसेण जीवाणं ।।४०९।।

उद्वेल्लनविद्यातः अधःप्रवृत्तः गुणश्च सर्वश्च ।
संक्रामति यैः कर्म परिणामवशेन जीवानां ।।४०९।।

टीका – जिन भागहारों द्वारा शुभकर्म और अशुभकर्म, संसारी जीवों के अपने परिणामों के वश से संक्रमण करते हैं - अन्य प्रकृतिरूप होकर परिणमते हैं, वे भागहार पांच प्रकार के हैं - उद्वेलन, विध्यात, अधःप्रवृत्त, गुणसंक्रमण, सर्वसंक्रमण - ये पांच भागहारों के नाम हैं ।

भावार्थ – जो उद्वेलनप्रकृति है, उसके जितने परमाणु हैं, उनको उद्वेलन नामक भागहार का जो प्रमाण, उसका भाग देनेपर जो प्रमाण आये, उतने परमाणु जहां अन्य प्रकृतिरूप होकर परिणमते हैं, वहां उद्वेलन जानना । इसीप्रकार अन्य भागहारों का स्वरूप जानना । इनका प्रमाण आगे कहेंगे ।।४०९।।

संक्रमण का स्वरूप कहते हैं –

बंधेसंकामिज्जदि णोबंधे णत्थि मूलपयडीणं ।
दंसणचरित्तमोहे आउचउक्के ण संकमणं ।।४१०।।

बंधे संक्रामति नोबंधे नास्ति मूलप्रकृतीनां ।
दर्शनचारित्रमोहे आयुश्चतुष्के न संक्रमणं ।।४१०।।

टीका – 'बंधे' अर्थात् जिस प्रकृति का बंध होता हो, उस प्रकृति में संक्रमण होकर अन्य प्रकृति तद्रूप होकर परिणमति है, यह सामान्य कथन है, क्योंकि कहीं पर जिसका बंध न हो, उसमें भी संक्रमण होता है । पुनश्च **'नोबंधे'** अर्थात् जिसका

बंध नहीं, उसमें संक्रमण नहीं करता । ऐसा वचन कहने का अभिप्राय यह है कि दर्शनमोहनीय बिना अवशेष प्रकृति जिसका बंध होता हो, उसमें संक्रमण होता है, ऐसा नियम जानना ।

पुनश्च मूलप्रकृतियों का परस्पर संक्रमण नहीं होता । ज्ञानावरण दर्शनावरणादिरूप नहीं होता, इत्यादि जानना ।

पुनश्च उत्तरप्रकृति में संक्रमण है । ज्ञानावरण की पांच प्रकृतियों में परस्पर संक्रमण है । ऐसा सभी में जानना ।

वहां भी दर्शनमोह और चारित्रमोह में परस्पर संक्रमण नहीं है । दर्शनमोह की प्रकृति चारित्रमोह की प्रकृतिरूप होकर परिणमित नहीं होती, चारित्रमोह की प्रकृति दर्शनमोह की प्रकृतिरूप होकर परिणमित नहीं होती ।

पुनश्च चार आयु का परस्पर संक्रमण नहीं है । देवायु मनुष्यायु आदिरूप होकर परिणमित नहीं होती इत्यादि ।

इसतरह संक्रमण का स्वरूप जानना ॥४१०॥

सम्मं मिच्छं मिस्सं सगुणट्ठाणम्मि णेव संकमदि ।
सासणमिस्से णियमा दंसणतियसंकमो णत्थि ॥४११॥

सम्यं मिथ्यं मिश्रं स्वगुणस्थाने नैव संक्रामति ।
सासनमिश्रे नियमाद्दर्शनत्रिकसंक्रमो नास्ति ॥४११॥

टीका – सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय अपने अपने असंयतादि *(चोथे, पांचवे, छठवें, सातवें)* और मिथ्यात्व और मिश्र गुणस्थान में संक्रमण नहीं करते । सासादन और मिश्र में नियम से तीनों ही दर्शनमोह का संक्रमण नहीं है, असंयतादि चार गुणस्थानों में संक्रमण है ॥४११॥

मिच्छे सम्मिस्साणं अधापवत्तो मुहुत्तअंतोत्ति ।
उव्वेलणं तु तत्तो दुचरिमकंडोत्ति णियमेण ॥४१२॥

मिथ्ये सम्यग्मिश्रयोरधःप्रवृत्तो मुहूर्तांतरिति ।
उद्वेलनं तु ततो द्विचरमकांड इति नियमेन ॥४१२॥

टीका – मिथ्यात्व को प्राप्त होनेपर अंतर्मुहूर्त तक सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय का अधःप्रवृत्त नामक संक्रमण होता है । उद्वेलनाभागहार नामक संक्रमण नियम से उपांत कांडक तक होता है । वहां अधःप्रवृत्तसंक्रमण फालिरूप से होता है और उद्वेलनासंक्रमण कांडकरूप से होता है । एक समय में संक्रमण हो उसे फाली कहते हैं । अनेक समय-समुदाय में संक्रमण हो, उसे कांडक कहते हैं ।

इसका विशेष वर्णन आगे इस भाषाटीका में लब्धिसार, क्षपणासार अनुसार कथन लिखेंगे, वहां जानना ॥४१२॥

उव्वेलणपयडीणं गुणं तु चरिमम्हि कंडये णियमा ।
चरिमे फालिम्मि पुणो सव्वं च य होदि संकमणं ॥४१३॥

उद्वेलनप्रकृतीनां गुणं तु चरमे कांडके नियमात् ।
चरमे फालौ पुनः सर्वं च भवति संक्रमणं ॥४१३॥

टीका – जो उद्वेलना प्रकृतियां हैं उनके द्विचरम कांडक तक तो उद्वेलनसंक्रमण है । तथा अंतिम कांडक में नियम से गुणसंक्रमण है । पुनश्च अंतिम फाली में सर्वसंक्रमण है । सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय भी उद्वेलनप्रकृति है, इसलिए इनके भी चरम कांडक में गुणसंक्रमण और चरम फाली में सर्वसंक्रमण सिद्ध हुआ । यहां पांच प्रकार के संक्रमण का स्वरूप कहते हैं –

१) अधःप्रवृत्तकरण आदि तीन करणरूप परिणामों के बिना ही कर्मप्रकृति के परमाणुओं का अन्य प्रकृतिरूप परिणमना, वह उद्वेलनसंक्रमण है ।

२) **'विध्यातविशुद्धकस्से'** अर्थात् मंद है विशुद्धता जिसके, ऐसा जो जीव, उसके स्थिति-अनुभाग घटानेरूप कांडक और गुणश्रेणी आदि परिणाम उनके हो जाने के पश्चात् जो प्रवर्ते, वह विध्यातसंक्रमण है ।

३) बंधरूप हुयी प्रकृतियों के, अपने बंध में पायी जानेवाली प्रकृतियों में, परमाणुओं का जो संक्रमण होना, वह अधःप्रवृत्त संक्रमण है ।

४) जहां प्रतिसमय श्रेणी अर्थात् पंक्तिरूप असंख्यात-असंख्यातगुणा परमाणु अन्य प्रकृतिरूप होकर परिणमते हैं, वह गुणसंक्रमण है ।

५) अंतिम कांडक की अंतिम फाली अर्थात् सर्व प्रदेशों में से आखिर में आखिर जो अन्य प्रकृतिरूप न हुये हो, ऐसे सब परमाणुओं का अन्य प्रकतिरूप होना, वह सर्वसंक्रमण है ।

ऐसे पांच संक्रमण जानना ॥४१३॥

आगे सर्वसंक्रमण प्रकृतियों में तिर्यक् एकादश है, उसको कहते हैं –

तिरियदुजाइचउक्कं आदावुज्जोवथावरं सुहुमं ।
साहारणं च एदे तिरियेयारं मुणेदव्वा ॥४१४॥

तिर्यग्द्विजातिचतुष्कमातापोद्योतस्थावरं सूक्ष्मं ।
साधारणं चैताः तिर्यगेकादश मंतव्याः ॥४१४॥

टीका – तिर्यंचगति और आनुपूर्वी, एकेन्द्रियादि चार जाति, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण - इन ग्यारह प्रकृतियों का तिर्यंच में ही उदय है, इसलिए इनका तिर्यक् एकादश नाम जानना ॥४१४॥

आगे उद्वेलनाप्रकृति कहते हैं –

आहारदुगं सम्मं मिस्सं देवदुग णारयचउक्कं ।
उच्चं मणुदुगमेदे तेरस उव्वेलणा पयडी ॥४१५॥

आहारद्विकं सम्यं मिश्रं देवद्विक नारकचतुष्कं ।
उच्चं मनुद्विकमेताः त्रयोदश उद्वेल्लनाप्रकृतयः ॥४१५॥

टीका – आहारकद्विक, सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, देवगति और आनुपूर्वी, नरकगति और आनुपूर्वी, वैक्रियिक शरीर और अंगोपांग - ये चार, उच्चगोत्र, मनुष्यगति और आनुपूर्वी - ये तेरह उद्वेलन प्रकृतियां हैं ॥४१५॥

बंधे अधापवत्तो विज्झादं सत्तमोत्ति हु अबंधे ।
एत्तो गुणो अबंधे पयडीणं अप्पसत्थाणं ॥४१६॥

बंधे अधःप्रवृत्तो विध्यातः सप्तम इति हि अबंधे ।
इतो गुणः अबंधे प्रकृतीनामप्रशस्तानां ॥४१६॥

टीका – प्रकृतियों का बंध होते हुये, अपनी-अपनी बंधव्युच्छित्ति तक अधःप्रवृत्त संक्रमण है । वहां मिथ्यात्व का नहीं है, **'सम्मं मिच्छमिस्सं'** इत्यादि गाथा में मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व के संक्रमण का निषेध किया है और मिथ्यात्व का बंध मिथ्यात्व गुणस्थान में ही है, इसलिए मिथ्यात्व को नहीं कहा है ।

पुनश्च बंध की व्युच्छित्ति होते हुये, असंयत से अप्रमत्त तक विध्यात नामक संक्रमण है । इससे अप्रमत्त गुणस्थान के ऊपर उपशांतमोह तक, बंध रहित जो अप्रशस्त प्रकृतियां, उनका गुणसंक्रमण है; इसलिए अन्यत्र भी प्रथमोपशम सम्यक्त्व के ग्रहण के प्रथम समय से लेकर अंतर्मुहूर्त तक गुणसंक्रमण है । पुनश्च मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय के पूरण काल में मिथ्यात्व का क्षय करने में अपूर्वकरण परिणाम हैं; इसलिए मिथ्यात्व के अंतिम कांडक के द्विचरम फालि तक गुणसंक्रमण है, चरम फालि में सर्वसंक्रमण है ।।४१६।।

उन सर्वसंक्रमणरूप प्रकृतियों का कथन करते हैं –

तिरियेयारुव्वेल्लणपयडी संजलणलोहसम्ममिस्सूणा ।
मोहा थीणतिगं च य बावण्णे सव्वसंकमणं ।।४१७।।

तिर्यगेकदशोद्वेल्लन प्रकृतयः संज्वलनलोभसम्यग्मिश्रोनाः ।
मोहाः स्त्यानत्रिकं च द्वापंचाशत् सर्वसंक्रमणं ।।४१७।।

टीका – पूर्वोक्त तिर्यक् एकादश की ग्यारह, उद्वेलना प्रकृतियां तेरह, संज्वलन लोभ, सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय इन तीन बिना मोहनीय की पच्चीस, स्त्यानगृद्धि आदि तीन – इन बावन प्रकृतियों में सर्वसंक्रमण होता है ।।४१७।।

आगे प्रकृतियों का संक्रमण का नियम कहते हैं –

उगुदालतीससत्तयवीसे एक्केक्कबारतिचउक्के ।
इगिचदुदुगतिगतिगचदु पणदुगदुगतिण्णि संकमणा ।।४१८।।

एकोनचत्वारिंशत्त्रिंशत्सप्तकविंशे एकैकद्वादशत्रिचतुष्के ।
एकचतुर्द्विकत्रिकत्रिक चतुः पंचद्विकत्रयःसंक्रमणाः ।।४१८।।

टीका – उनतालीस प्रकृतियों में, तीस में, सात में, बीस में, एक में, एक

में, बारह में, चार में, चार में, चार में अनुक्रम से एक, चार, दो, तीन, तीन, चार, पांच, दो, दो, तीन संक्रमण पाये जाते हैं ॥४१८॥

आगे उन प्रकृतियों को क्रम से सात गाथाओं द्वारा कहते हैं –

सुहुमस्स बंधघादी सादं संजलणलोह पंचिंदी ।
तेजदुसमवण्णचऊ अगुरुगपरघादउस्सासं ॥४१९॥

सत्थगदी तसदसयं णिमिणुगुदाले अधापवत्तो दु ।
थीणतिबारकसाया संढित्थी अरइ सोगो य ॥४२०॥

सूक्ष्मस्य बंधघातिन्यः सातं संज्वलनलोभ पंचेंद्रियं ।
तेजोद्विसमवर्णचतुरगुरुकपरघातोच्छ्वासं ॥४१९॥

शस्तगतिः त्रसदशकं निर्माणमेकोनचत्वारिंशत्सु अधः प्रवृत्तस्तु ।
स्त्यानत्रिद्वादशकषायाः षंढस्त्री अरतिः शोकश्च ॥४२०॥

टीका – पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पांच अंतराय, सातावेदनीय, संज्वलन लोभ, पंचेन्द्रिय, तेजसशरीर, कार्माणशरीर, समचतुरस्रसंस्थान, वर्णादि चार, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वर-आदेय-यशस्कीर्ति – ये दस, निर्माण – ये उनतालीस प्रकृतियां उद्वेलन रहित हैं, इसलिए इनमें उद्वेलनसंक्रमण नहीं है । पुनश्च **'विज्झादं सत्तमोत्ति हु अबंधे'** इस अनुसार अप्रमत्त गुणस्थान के नीचे इनकी बंधव्युच्छित्ति नहीं है; इसलिए विध्यातसंक्रमण भी इनमें नहीं है ।

पुनश्च **'एत्तो गुणे अबंधे'** इस अनुसार उनमें गुणसंक्रमण भी नहीं है । बावन प्रकृतियां सर्वसंक्रमणरूप कहीं हैं, उनमें ये प्रकृतियां नहीं कही; इसलिए इनमें सर्वसंक्रमण भी नहीं है । इन उनतालीस प्रकृतियों में एक अधःप्रवृत्त नामक संक्रमण ही पाया जाता है ।

इसीतरह अन्य प्रकृतियों में संक्रमण कहते हैं, वहां भी विचार कर लेना ।

मिथ्यात्व का मिथ्यात्व गुणस्थान में अधःप्रवृत्तसंक्रमण क्यों नहीं कहते ?

उसका उत्तर – **'सम्मं मिच्छं मिस्सं सगुणट्ठाणम्मि णेव संकमदि'** *(गाथा*

४११) इस गाथा द्वारा पहले ही कहा था, वह जानना ।

पुनश्च स्त्यानगृद्धि आदि तीन, बारह कषाय, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, अरति, शोक, और.... ॥४१९-४२०॥

आगे कहते हैं –

तिरियेयारं तीसे उव्वेलणहीणचारि संकमणा ।
णिद्दा पयला असुहं वण्णचउक्कं च उवघादे ॥४२१॥

सत्तण्हं गुणसंकममधापवत्तो य दुक्खमसुहगदी ।
संहदिसंठाणदसं णीचापुण्णथिरछक्कं चं ॥४२२॥

तिर्यगेकादश त्रिंशत्सु उद्वेल्लनहीनचत्वारः संक्रमणाः ।
निद्रा प्रचला अशुभं वर्णचतुष्कं च उपघातं ॥४२१॥

सप्तानां गुणसंक्रमोऽधःप्रवृत्तश्च दुःखमशुभगतिः ।
संहतिसंस्थान दशं नीचा पूर्णमस्थिरषट्कं च ॥४२२॥

टीका – तिर्यक् एकादश की ग्यारह - इन तीस में उद्वेलना बिना चार संक्रमण पाये जाते हैं । पुनश्च निद्रा, प्रचला, अशुभ वर्णादि चार, उपघात – इन सातों में गुणसंक्रमण और अधःप्रवृत्तसंक्रमण ये दो पाये जाते हैं । पुनश्च असातावेदनीय, अप्रशस्त विहायोगति, पहले बिना पांच संहनन, पांच संस्थान, नीचगोत्र, अपर्याप्त, अस्थिर-अशुभ-दुर्भग-दुस्वर-अनादेय-अयशस्कीर्ति ये छह – ऐसे बीस हुयी .....॥४२१-४२२॥

वीसण्हं विज्झादं अधापवत्तो गुणो य मिच्छत्ते ।
विज्झादगुणे सव्वं सम्मे विज्झादपरिहीणा ॥४२३॥

विंशानां विध्यातोऽधःप्रवृत्तो गुणश्च मिथ्यात्वे ।
विध्यातगुणौ सर्वः सम्यञ्चि विध्यातपरिहीनाः ॥४२३॥

टीका – उन बीस में विध्यात, अधःप्रवृत्त, गुणसंक्रमण ये तीन पाये जाते हैं । मिथ्यात्व में विध्यातसंक्रमण, गुणसंक्रमण, सर्वसंक्रमण ये तीन पाये जाते हैं । सम्यक्त्वमोहनीय में विध्यात बिना चार संक्रमण पाये जाते हैं ॥४२३॥

सम्मविहीणुव्वेल्ले पंचेव य तत्थ होंति संकमणा ।
संजलणतिये पुरिसे अधापवत्तो य सव्वो य ॥ ४२४॥

सम्यग्विहीनोद्वेल्ये पंचैव च तत्र भवंति संक्रमणाः ।
संज्वलनत्रये पुरुषे अधःप्रवृत्तश्च सर्वश्च ॥४२४॥

टीका – सम्यक्त्वमोहनीय बिना उद्वेलना प्रकृतियां बारह, उनमें पांचों संक्रमण पाये जाते हैं । पुनश्च संज्वलन क्रोध, मान, माया, पुरुषवेद - इन चारों में अधःप्रवृत्त, सर्वसंक्रमण - ये दो पाये जाते हैं । इन प्रकृतियों की बंधव्युच्छित्ति होनेपर भी गुणसंक्रमण की प्राप्ति नहीं है ॥४२४॥

ओरालदुगे वज्जे तित्थे विज्झादधापवत्तो य ।
हस्सरदिभयजुगुच्छे अधापवत्तो गुणो सव्वो ॥४२५॥

औरालकद्विके वज्रे तीर्थे विध्यातोऽधःप्रवृत्तश्च ।
हास्यरतिभयजुगुप्सायामधःप्रवृत्तो गुणः सर्वः ॥४२५॥

टीका – औदारिक शरीर और अंगोपांग, वज्रवृषभनाराच, तीर्थंकर - इनमें विध्यात-संक्रमण, अधःप्रवृत्तसंक्रमण ये दो पाये जाते हैं । ये प्रशस्त प्रकृतियां हैं, इसलिए इनमें गुणसंक्रमण नहीं है । यहां तीर्थंकर प्रकृति में विध्यातसंक्रमण कहा है, वह नरक जाने के सन्मुख हुआ मनुष्य और मरकर हुये नारकी अपर्याप्त मिथ्यादृष्टि के जानना। पुनश्च हास्य, रति, भय, जुगुप्सा – इन चार में अधःप्रवृत्तसंक्रमण, गुणसंक्रमण, सर्वसंक्रमण -ये तीन पाये जाते हैं ।

इसतरह प्रकृतियों में संक्रमण कहा ॥४२५॥

सम्मत्तूणुव्वेल्लणथीणतितीसं च दुक्खवीसं च ।
वज्जोरालदुतित्थं मिच्छं विज्झादसत्तट्ठी ॥४२६॥

सम्यक्त्वोनोद्वेल्लनस्त्यानत्रिंत्रिंशच्च दुःखविंशच्च ।
वज्रोरालद्वितीर्थं मिथ्यं विध्यातसप्तषष्टिः ॥४२६॥

टीका – सम्यक्त्वमोहनीय बिना बारह उद्वेलना प्रकृतियां, स्त्यानगृद्धित्रय आदि तीस, असातावेदनीय आदि बीस, वज्रवृषभनाराच, औदारिकद्विक, तीर्थंकर, मिथ्यात्व -

ये सड़सठ प्रकृतियां विध्यातसंक्रमण संयुक्त जानना ॥४२६॥

मिच्छूणिगिवीससयं अधापवत्तस्स होंति पयडीओ ।
सुहुमस्स बंधघादिप्पहुदी उगुदालुरालदुगतित्थं ॥४२७॥

मिथ्योनैकविंशशतमधःप्रवृत्तस्य भवंति प्रकृतयः ।
सूक्ष्मस्य बंधघातिप्रभृतयः एकोनचत्वारिंशदौरालद्विकतीर्थं ॥४२७॥

टीका – मिथ्यात्व बिना एक सौ इक्कीस प्रकृतियां अधःप्रवृत्तसंक्रमण सहित जानना । पुनश्च सूक्ष्मसाम्पराय में जिनका बंध है ऐसी घातिकर्म की चौदह प्रकृतियां आदि उनतालीस प्रकृतियां, औदारिकद्विक, तीर्थंकर..... ॥४२७॥

वज्जं पुंसंजलणति ऊणा गुणसंकमस्स पयडीओ ।
पणहत्तरिसंखाओ पयडीणियमं विजाणाहि ॥४२८॥

वज्रं पुंसंज्वलनत्रिकमूना गुणसंक्रमस्य प्रकृतयः ।
पंचसप्ततिसंख्याः प्रकृतिनियमं विजानीहि ॥४२८॥

टीका – वज्रवृषभनाराच संहनन, पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया - इन सैंतालीस बिना, एक सौ बाइस प्रकृतियों में से पचहत्तर प्रकृतियां गुणसंक्रमण संयुक्त जानना । इसतरह प्रकृतियों में नियम जानना ॥४२८॥

आगे स्थिति-अनुभाग बंध के और प्रदेशबंध के संक्रमण के गुणस्थानों की संख्या कहते हैं –

ठिदिअणुभागाणं पुण बंधो सुहुमोत्ति होदि णियमेण ।
बंधपदेसाणं पुण संकमणं सुहुमरागोत्ति ॥४२९॥

स्थित्यनुभागयोः पुनः बंधः सूक्ष्म इति भवति नियमेन ।
बंधप्रदेशानां पुनः संक्रमणं सूक्ष्मराग इति ॥४२९॥

टीका – स्थिति-अनुभाग का बंध सूक्ष्मसाम्पराय तक ही है, क्योंकि स्थिति-अनुभाग का कारण कषाय ही है । सूक्ष्मसाम्पराय के ऊपर सातावेदनीय का बंध भी है, वह प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध मात्र ही है । तथा बंधरूप हुये जो परमाणु, उनका संक्रमण

भी सूक्ष्मसाम्पराय तक ही है । **'बंधे अधापवत्तो'** *(गाथा ४१६)* इस सूत्र के अभिप्राय से स्थितिबंध तक ही यह संक्रमण पाया जाता है ।।४२९।।

आगे पांच भागहारों का अल्पबहुत्व छह गाथाओं द्वारा कहते हैं –

सव्वस्सेक्कं रूवं असंखभागो दु पल्लचेदाणं ।
गुणसंकमो दु हारो ओकड्डुक्कड्डणं तत्तो ।।४३०।।

हारं अधापवत्तं तत्तो जोगम्हि जो दु गुणगारो ।
णाणागुणहाणिसला असंखगुणिदक्कमा होंति ।।४३१।।

तत्तो पल्लसलायच्छेदहिया पल्लछेदणा होंति ।
पल्लस्स पढममूलं गुणहाणीवि य असंखगुणिदकमा ।।४३२।।

अण्णोण्णब्भत्थं पुण पल्लमसंखेज्जरूवगुणिदकमा ।
संखेज्जरूवगुणिदं कम्मुक्कस्सट्ठिदी होदि ।।४३३।।

अंगुलअसंखभागं विज्झादुव्वेल्लणं असंखगुणं ।
अणुभागस्स य णाणागुणहाणिसला अणंताओ ।।४३४।।

गुणहाणिअणंतगुणं तस्स दिवड्ढं णिसेयहारो य ।
अहियकमाणण्णोण्णब्भत्थो रासी अणंतगुणो ।।४३५।।

सर्वस्यैकं रूपमसंख्यभागस्तु पल्यच्छेदानां ।
गुणसंक्रमस्तु हारः अपकर्षणोत्कर्षणं ततः ।।४३०।।

हारोऽधःप्रवृत्तस्ततो योगे यस्तु गुणकारः ।
नानागुणहानिशला असंख्यगुणितक्रमा भवंति ।।४३१।।

ततः पल्यशलाकच्छेदाधिकाः पल्यच्छेदना भवंति ।
पल्यस्य प्रथममूलं गुणहानिरपि चासंख्यगुणितक्रमा ।।४३२।।

अन्योन्यभ्यस्तं पुनः पल्यमसंख्येयरूपगुणितक्रमं ।
संख्येयरूपगुणिता कर्मोत्कृष्टस्थितिर्भवति ।।४३३।।

अंगुलासंख्यभागं विध्यातोद्वेल्लनमसंख्यगुणं ।
अनुभागस्य च नानागुणहानिशला अनंताः ॥४३४॥

गुणहान्यनंतगुणा तस्या द्व्यर्धं निषेकहारश्च ।
अधिकक्रमाणामन्योन्याभ्यस्तो राशिरनंतगुणः ॥४३५॥

टीका – १) सर्वसंक्रमण भागहार सबसे अल्प है, उसका प्रमाण एक रूप है। अंतिम फाली में जितने परमाणु अवशेष रहे थे, उसको इस भागहार का प्रमाण एक, उसका भाग देनेपर सर्व परमाणु आये, वे अन्य प्रकृतिरूप परिणमते हैं, वहां सर्वसंक्रमण जानना ।

इससे असंख्यातगुणा ऐसा पल्य के अर्धच्छेदों के असंख्यातवें भागप्रमाण २) गुणसंक्रमण भागहार है । गुणसंक्रमणरूप जो प्रकृति है, उसके जो परमाणु हैं उनको, इस भागहार के प्रमाण का भाग देनेपर जो प्रमाण आता है, उतने परमाणु यथायोग्य काल में प्रतिसमय असंख्यातगुणा होकर अन्य प्रकृतिरूप परिणमते हैं, वहां गुणसंक्रमण कहते हैं । इससे ३) उत्कर्षण भागहार और अपकर्षण भागहार असंख्यातगुणे हैं, तथापि ये दोनों जुदे-जुदे पल्य के अर्धच्छेदों के असंख्यातवें भागप्रमाण है । इन पांच भागहारों में इनका कथन नहीं है, तथापि, जहां उत्कर्षण भागहार और अपकर्षण भागहार का कथन आये, वहां ऐसा प्रमाण जानना ।

इससे ४) अधःप्रवृत्तसंक्रमण भागहार असंख्यातगुणा है, तथापि वह भी पल्य के अर्धच्छेदों के असंख्यातवें भागप्रमाण है, इसलिए जो अधःप्रवृत्तसंक्रमणरूप प्रकृति है, उसके परमाणुओं को इसका भाग देनेपर जो प्रमाण आये, उतने परमाणु अन्य प्रकृतिरूप होकर जहां परिणमते हैं, वहां अधःप्रवृत्तसंक्रमण कहते हैं । इससे ५) योगों के कथन में जो गुणकार कहा, वह असंख्यातगुणा है, तथापि वह भी पल्य के अर्धच्छेदों के असंख्यातवें भाग ही है । जघन्य योगस्थान को इससे गुणा करनेपर उत्कृष्ट योगस्थान होता है ।

इससे ६) कर्म की जो स्थिति, उसकी नानागुणहानिशलाका का प्रमाण असंख्यातगुणा है, जो पल्य की वर्गशलाका के अर्धच्छेद पल्य के अर्धच्छेदों में से घटानेपर जो प्रमाण शेष रहे उतना है । इससे ७) पल्य के अर्धच्छेदों का प्रमाण अधिक है; वह पल्य की वर्गशलाका के जितने अर्धच्छेद हैं, उतना अधिक है । इससे पल्य

का प्रथम वर्गमूल असंख्यातगुणा है, क्योंकि द्विरूपवर्गधारा में पल्य के अर्धच्छेदरूप स्थान से असंख्यात स्थान जानेपर पल्य का प्रथम वर्गमूल होता है ।

इससे ९) कर्म की स्थिति के एक गुणहानि के समयों का प्रमाण असंख्यातगुणा है, क्योंकि सात सौ को चार बार करोड (कोडि = कोटि) से गुणा करके जो प्रमाण हो उससे गुणित पल्य को स्थिति की नानागुणहानि के प्रमाण से भाग देनेपर यह प्रमाण आता है ।

*(**विशेषार्थ** – स्थिति÷नानागुणहानि = एक गुणहानि आयाम ।*

कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोडाकोडी सागर = दो बार करोड से गुणित सत्तर । १ सागर = १० कोडाकोडी पल्य । इसलिए ७० कोडाकोडी सागर = ७० कोडाकोडी × १० कोडाकोडी पल्य = ७०० कोडाकोडीकोडाकोडी पल्य = सात सौ को चार बार करोड से गुणा करके जो प्रमाण आये, उससे गुणित पल्य ।)

इससे १०) कर्म की स्थिति की अन्योन्याभ्यस्तराशि असंख्यातगुणा है, क्योंकि नानागुणहानिप्रमाण दो का अंक लिखकर परस्पर गुणा करनेपर अन्योन्याभ्यस्तराशि का प्रमाण आता है।

पुनश्च इससे ११) पल्य का प्रमाण असंख्यातगुणा है, क्योंकि उस अन्योन्याभ्यस्त राशि के प्रमाण को पल्य की वर्गशलाका से गुणा करनेपर पल्य होता है । इससे १२) कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण संख्यातगुणा है, क्योंकि एक सागर के दस कोडाकोडी पल्य हैं, तो सत्तर कोडाकोडी सागरों के चार बार करोड से सात सौ को गुणा करे, इतने पल्य होते हैं ।

इससे १३) विध्यातसंक्रमण भागहार असंख्यातगुणा है, वह सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण है । विध्यातसंक्रमणरूप प्रकृतियों के परमाणुओं को इसका भाग देनेपर जो प्रमाण आता है, उतने परमाणु अन्य प्रकृतिरूप होकर जहां परिणमते हैं, वहां विध्यातसंक्रमण जानना ।

इससे १४) उद्वेलनभागहार असंख्यातगुणा है, वह भी सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण है । उद्वेलन प्रकृतियों के परमाणुओं को उसका भाग देनेपर जो प्रमाण आये, उतने परमाणु जहां अन्य प्रकृतिरूप होकर परिणमते हैं, वहां उद्वेलनसंक्रमण जानना।

इससे १५) कर्मों के अनुभाग के कथन में नानागुणहानिशलाका अनंतगुणा है। इससे १६) उस अनुभाग की एक गुणहानि का आयाम का प्रमाण अनंतगुणा है। इससे १७) उसीकी डेढ़ गुणहानि का प्रमाण उसके आधे प्रमाण से अधिक है । इससे १८) उसीकी दो गुणहानि का प्रमाण आधे गुणहानि के आयाम के प्रमाण से अधिक है । इससे १९) उस अनुभाग की अन्योन्याभ्यस्तराशि का प्रमाण अनंतगुणा जानना।

इसतरह पांच भागहारों के अल्पबहुत्व का प्रसंग पाकर अन्य का भी अल्पबहुत्व निरूपण किया ॥४३०-४३१॥

।। इति पंचभागहार चूलिका समाप्ता ।।

दशकरण चूलिका

अथ दशकरण चूलिका चौदह गाथाओं द्वारा कहने का उद्यम करते हैं । वहां प्रथम ही अपने श्रुतगुरु को नमस्कार करते हैं –

जस्स य पायपसायेणणंतसंसारजलहिमुत्तिण्णो ।
वीरिंदणंदिवच्छो णमामि तं अभयणंदिगुरुं ॥४३६॥

यस्य च पादप्रसादेनानंतसंसारजलधिमुत्तीर्णः ।
वीरेंद्रनंदिवत्सो नमामि तमभयनंदिगुरुं ॥४३६॥

टीका – जिस शास्त्र-शिक्षादायक गुरु के चरणों के प्रसाद से, वीरेन्द्रनंदि नामक आचार्य का वत्स-शिष्य मैं (ग्रंथकर्ता) संसार समुद्र को पार हुआ, उस ''अभयनंदि'' नामक श्रुतगुरु को मैं नमस्कार करता हूँ ॥४३६॥

बंधुक्कड्डणकरणं संकममोकड्डुदीरणा सत्तं ।
उदयुवसामणिधत्ती णिकाचणा होदि पडिपयडी ॥४३७॥

बंधोत्कर्षणकरणं संक्रममपकर्षणोदीरणा सत्त्वं ।
उदयोपशांतनिधत्ति निष्काचना भवति प्रतिप्रकृति ॥४३७॥

टीका – १) बंध, २) उत्कर्षण, ३) संक्रमण, ४) अपकर्षण, ५) उदीरणा, ६) सत्त्व, ७) उदय, ८) उपशम, ९) निधत्ति, १०) निकाचना - ए दसकरण प्रकृति-

प्रकृति प्रति पाये जाते हैं ॥४३७॥

कम्माणं संबंधो बंधो उक्कड्डणं हवे वड्ढी ।
संकमणमणत्थगदी हाणी ओकड्डणं हवे णाम ॥४३८॥

कर्मणां संबंधो बंध उत्कर्षणं भवेद्वृद्धि ।
संक्रमणमन्यत्रगतिर्हानिरपकर्षणं नाम ॥४३८॥

टीका – १) मिथ्यात्वादि परिणामों से जो पुद्गल द्रव्य, ज्ञानावरणादिरूप होकर परिणमता है, वह ज्ञानादि को आवरित करता है, इत्यादि संबंध का होना इसे बंध कहते हैं । २) पहले जो स्थिति-अनुभाग था, उससे स्थिति-अनुभाग की वृद्धि अर्थात् अधिकता का होना, उसे उत्कर्षण कहते हैं । ३) जो प्रकृति पहले बंधने में आयी थी, वह प्रकृति अन्य प्रकृतिरूप होकर परिणमे अर्थात् उस प्रकृति के परमाणु अन्य प्रकृतिरूप हो जाये, उसे संक्रमण कहते हैं । ४) जो स्थिति-अनुभाग पहले था, उससे स्थिति-अनुभाग की हानि अर्थात् घटना, उसे अपकर्षण कहते हैं ॥४३८ ॥

अण्णत्थठियस्सुदये संथुहणमुदीरणा हु अत्थित्तं ।
सत्तं सकालपत्तं उदओ होदित्ति णिद्दिट्ठो ॥४३९॥

अन्यत्र स्थितस्योदये संस्थापनमुदीरणा हि अस्तित्वं ।
सत्त्वं स्वकालप्राप्तमुदयो भवतीति निर्दिष्टः ।।४३९॥

टीका – ५) उदयावली के बाहर स्थित द्रव्य को अपकर्षण के वश से उदयावली में मिलाना, उसे उदीरणा कहते हैं ।

भावार्थ – जिन प्रकृतियों के निषेकों का उदयकाल न आया हो, उदयावली से अधिक काल हो, उनकी स्थिति को घटाकर जो निषेक आवली मात्र काल में उदय में आनेवाले हैं, इनमें उनके परमाणुओं को मिलाना, इनके साथ उनका भी उदय होना, वह उदीरणा है ।

६) अस्तित्व अर्थात् पुद्गलों का कर्मरूप से रहना, उसे सत्त्व कहते हैं । ७) जो कर्म की स्थिति है, उस स्थिति को प्राप्त होना, उसे उदय कहते हैं - ऐसा कहा है ॥४३९॥

उदये संकममुदये चउसुवि दादुं कमेण णो सक्कं ।
उवसंतं च णिधत्तिं णिकाचिदं होदि जं कम्मं ॥४४०॥

उदये संक्रमोदययोः चतुर्ष्वपि दातुं क्रमेण नो शक्यं ।
उपशांत च निधत्तिः निकाचितं भवति यत्कर्म ॥४४०॥

टीका – ८) जो कर्म उदयावली में प्राप्त करने को समर्थ नहीं है, उसे उपशांत कहते हैं । ९) जो कर्म उदयावली में प्राप्त करने को और अन्य प्रकतिरूप संक्रमण करने को समर्थ न हो *(उदीरणा और संक्रमण जिसमें न होता हो)*, उसे निधत्ति कहते हैं । १०) जो कर्म उदयावली में प्राप्त करने को, अन्य प्रकतिरूप संक्रमण करने को, उत्कर्षण और अपकर्षण करने को समर्थ न हो *(जिसमें उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण नहीं होता हो)* उसे निकाचित कहते हैं ॥४४०॥

ऐसे दस करण निरूपित करके प्रकृतियों में और गुणस्थानों में जो करण पाये जाते हैं, उनका कथन करते हैं –

संकमणाकरणूणा णवकरणा होंति सव्वआऊणं ।
सेसाणं दसकरणा अपुव्वकरणोत्ति दसकरणा ॥४४१॥

संक्रमणकरणोनानि नवकरणानि भवंति सर्वायुषां ।
शेषाणां दशकरणान्यपूर्वकरण इति दशकरणानि ॥४४१॥

टीका – चार आयु में संक्रमणकरण बिना नौ करण पाये जाते हैं, क्योंकि चारों आयु परस्पर में परिणमित नहीं होती । अवशेष सर्व प्रकृतियों के दसकरण पाये जाते हैं । मिथ्यात्व से अपूर्वकरण तक तो दसकरण पाये जाते हैं ॥४४१॥

आदिमसत्तेव तदो सुहुमकसाओत्ति संकमेण विणा ।
छच्च सजोगित्ति तदो सत्तं उदयं अजोगित्ति ॥४४२॥

आदिमसप्तैव ततः सूक्ष्मकषाय इति संक्रमेण विना ।
षट् च सयोगीति ततः सत्त्वमुदयः अयोगीति ॥४४२॥

टीका – उस अपूर्वकरण गुणस्थान के ऊपर सूक्ष्मसाम्पराय तक उपशांत, निधत्ति,

निकाचित बिना आदि के सात करण ही पाये जाते हैं । वहां भी संक्रमणकरण बिना सयोगी तक छह करण ही पाये जाते हैं । उससे ऊपर अयोगी में सत्त्व और उदय -ये दो ही करण पाये जाते हैं ॥४४२॥

णवरि विसेसं जाणे संकममवि होदि संतमोहम्मि ।
मिच्छस्स य मिस्सस्स य सेसाणं णत्थि संकमणं ॥४४३॥

नवरि विशेषं जानीहि संक्रममहि भवति शांतमोहे ।
मिथ्यस्य च मिश्रस्य च शेषाणां नास्ति संक्रमणं ॥४४३॥

टीका – उपशांतमोह में विशेष है, वह क्या है ? मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्रमोहनीय) इन दोनों प्रकृतियों का वहां संक्रमणकरण भी पाया जाता है । इनके परमाणुओं को सम्यक्त्वमोहनीयरूप परिणमाते है । अवशेष प्रकृतियों के छह ही करण हैं । इसतरह अपूर्वकरण में तो उपशम, निधत्ति, निकाचित - ये तीन करण व्युच्छित्ति हुये । अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय में व्युच्छित्ति शून्य । उपशांतमोह में मिथ्यात्व, मिश्रमोहनीय के सात करण, अन्य के संक्रमण बिना छह करण हैं । क्षीणमोह में व्युच्छित्ति शून्य । सयोगकेवली में बंध, उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा - ये चार करण व्युच्छित्ति हुये । अयोगकेवली में सत्त्व, उदय - ये दो करण व्युच्छित्ति हुये । अवशेष सर्व कथन सुगम है ॥४४३॥

बंधुक्कड्ढकरणं सगसगबंधोत्ति होदि णियमेण ।
संकमणं करणं पुण सगसगजादीणं बंधोत्ति ॥४४४॥

बंधोत्कर्षणकरणं स्वकस्वकबंध इति भवति नियमेन ।
संक्रमणं करणं पुनः स्वकस्वकजातीनां बंध इति ॥४४४॥

टीका – जिस-जिस प्रकृति की जहां बंधव्युच्छित्ति हुयी, उस-उस प्रकृति के नियम से वहीं तक बंधकरण और उत्कर्षणकरण – ये दो करण जानना । पुनश्च जिस-जिस प्रकृति की जो-जो स्वजाति हैं, जैसे – ज्ञानावरण की पांचों प्रकृति परस्पर स्वजाति हैं – ऐसे स्वजाति प्रकृतियों की बंधव्युच्छित्ति यहां हुयी, वहां तक उन प्रकृतियों का संक्रमणकरण जानना ॥४४४॥

ओक्कड्डणकरणं पुण अजोगिसत्ताण जोगिचरिमोत्ति ।
खीणं सुहुमंताणं खयदेसं सावलीयसमयोत्ति ।।४४५।।

अपकर्षणकरणं पुनरयोगिसत्त्वानां योगिचरम इति ।
क्षीण सूक्ष्मांतानां क्षयदेशं सावलिक समय इति ।।४४५।।

टीका – अयोगकेवली में सत्त्वरूप हुयी पचासी प्रकृतियों का सयोगकेवली के अंतिम समय तक अपकर्षणकरण जानना । पुनश्च क्षीणमोह में सत्त्व से व्युच्छित्ति हुयी सोलह और सूक्ष्मसाम्पराय में सत्त्व से व्युच्छित्ति हुआ सूक्ष्मलोभ – इन सत्रह प्रकृतियों का क्षयदेश तक अपकर्षणकरण जानना ।

वहां क्षयदेश क्या है ? वह कहते हैं –

जो प्रकृतियां अन्य प्रकृतिरूप से उदय में आकर नष्ट होती हैं ऐसी परमुखोदयी प्रकृति हैं, उनके तो अंतिम कांडक की अंतिम फाली क्षयदेश है । तथा अपने ही रूप से उदय में आकर नष्ट होती हैं – ऐसी स्वोमुखोदयी प्रकृतियों के एक-एक समय अधिक आवली प्रमाण काल क्षयदेश है, इसलिए उन सत्रह प्रकृतियों का एक समय अधिक आवली काल तक अपकर्षणकरण पाया जाता है ।।४४५।।

उवसंतोत्ति सुराऊ मिच्छत्तिय खवगसोलसाणं च ।
खयदेसोत्ति य खवगे अट्ठकसायादिवीसाणं ।।४४६।।

उपशांतइति सुरायुर्मिथ्यत्रयं क्षपकषोडशानां च ।
क्षयदेश इति च क्षपके अष्टकषायादिविंशानां ।।४४६।।

टीका – उपशांतमोह तक देवायु का अपकर्षणकरण है । मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति ये तीन और **'णिरयतिरिक्ख'** इत्यादि सूत्रोक्त अनिवृत्तिकरण में क्षय हुयी सोलह प्रकृतियां इनके क्षयदेश तक अपकर्षणकरण है अर्थात् अंतिम कांडक के अंतिम फाली तक है ऐसा अर्थ जानना । पुनश्च आठ कषाय आदि अनिवृत्तिकरण में क्षय हुयी ऐसी बीस प्रकृतियों के अपने-अपने क्षयदेश तक अपकर्षणकरण है । जिस स्थान में क्षय हुआ, उसे क्षयदेश कहते हैं ।।४४६।।

मिच्छतियसोलसाणं उवसमसेढिम्मि संतमोहोत्ति ।
अट्ठकसायादीणं उवसमियट्ठाणगोत्ति हवे ॥४४७॥

मिथ्यत्रयषोडशानामुपशमश्रेण्यां शांतमोह इति ।
अष्टकषायादीनामुपशमिकस्थानक इति भवेत् ॥४४७॥

टीका – उपशमश्रेणी में मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति – ये तीन और नरकद्विकादि सोलह *(गाथा ३३८)* इनके उपशांतमोह तक अपकर्षणकरण है । पुनश्च आठ कषाय आदि के अपने अपने उपशमने के स्थान तक अपकर्षणकरण है। प्रकृतियों के नाम पहले सत्ता कथन में कहे ही थे ॥४४७॥

पढमकसायाणं च विसंजोजकं वोत्ति अयददेसोत्ति ।
णिरयतिरियाउगाणमुदीरणसत्तोदया सिद्धा ॥४४८॥

प्रथमकषायाणां च विसंयोजकं वा इति अयतदेश इति ।
निरयतिर्यगायुषोरुदीरणसत्वोदयाः सिद्धाः ॥४४८॥

टीका – अनंतानुबंधी चतुष्क के असंयत, देशसंयत, प्रमत्त, अप्रमत्त में यथासंभव जहां विसंयोजन हो, वहां तक अपकर्षणकरण है । नरकायु के असंयत तक, तिर्यंचायु के देशसंयत तक उदीरणाकरण, सत्त्वकरण, उदयकरण प्रसिद्ध हैं – पहले कथन किया ही था ॥४४८॥

मिच्छस्स य मिच्छोत्ति य उदीरणा उवसमाहिमुहियस्स ।
समयाहियावलित्ति य सुहुमे सुहुमस्स लोहस्स ॥४४९॥

मिथ्यस्य च मिथ्येति चोदीरणा उपशमाभिमुखस्य ।
समयाधिकावलीति च सूक्ष्मे सूक्ष्मस्य लोभस्य ॥४४९॥

टीका – मिथ्यात्व प्रकृति का मिथ्यात्व गुणस्थान में उपशमसम्यक्त्व के सन्मुख हुये जीव के एक समय अधिक आवली काल तक उदीरणाकरण होता है, उतने तक ही उसका उदय है *(उदयावली शेष रहनेपर उदीरणा संभव नहीं है)* । सूक्ष्मलोभ का सूक्ष्मसाम्पराय में ही उदीरणाकरण है, क्योंकि अन्यत्र उसका उदय नहीं है ॥४४९॥

उदये संकममुदये चउसुवि दादुं कमेण णो सक्कं ।
उवसंतं च णिधत्तिं णिकाचिदं तं अपुव्वोत्ति ।।४५०।।

उदये संक्रमोदययोः चतुर्ष्वपि दातुं क्रमेण नो शक्यं ।
उपशांतं च निधत्तिः निकाचितं तत् अपूर्व इति ।।४५०।।

टीका – जो उदयावली में प्राप्त करने के योग्य (समर्थ) न हो ऐसा उपशांतद्रव्य, जो संक्रमण और उदय को प्राप्त करने के योग्य न हो ऐसा निधत्तिकरणद्रव्य, जो उदयावली, संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण को प्राप्त करने को समर्थ न हो ऐसा निकाचितकरणद्रव्य - ये तीनों अपूर्वकरण गुणस्थान तक ही हैं, ऊपर यथासंभव उदयावली आदि में प्राप्त करने को समर्थ हो ऐसे ही कर्मपरमाणु पाये जाते हैं ।।४५०।।

।। इति दशकरण चूलिका ।।

इति आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती विरचित गोम्मटसार द्वितीय नाम पंचसंग्रह ग्रंथ की
जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका के अनुसार सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका
नामक भाषाटीका में कर्मकाण्ड में त्रिचूलिका नामक
चौथा अधिकार संपूर्ण हुआ ।।४।।